श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित कृति

बारस अणुवेक्खा

सर्वोदया टीका

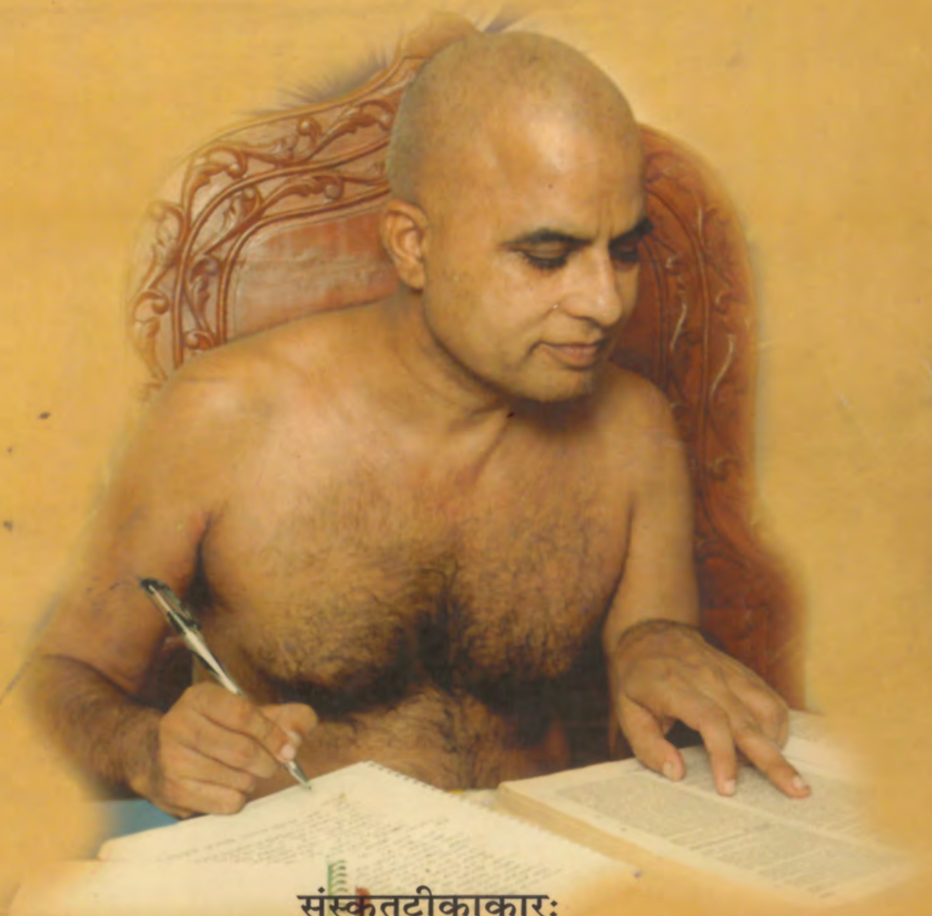

संस्कृतटीकाकारः

प. पू. गणाचार्य श्री 108 डॉ. विरागसागर जी महाराज

सम्पादन एवं अनुवाद

प्रो. दामोदर शास्त्री

बारस अणुवेक्खा

सम्यग्ज्ञात तत्त्वों का मन में बारम्बार अभ्यास करना या चिन्तन-मनन करना अनुप्रेक्षा है। इसके बल पर ही ध्याता धर्मध्यान में स्थिर हो पाता है, उससे च्युत नहीं होता। अनुप्रेक्षा के विषय भेद की दृष्टि से बारह भेद प्रसिद्ध हैं—अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म एवं बोधिदुर्लभ।

इन बारह अनुप्रेक्षाओं के विस्तृत स्वरूप को हृदयंगम कराने के लिए आज से दो हजार वर्ष पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द ने 'बारस अणुवेक्खा' नामक प्राकृत ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थरत्न संसार, शरीर और भोगों के यथार्थ स्वरूप का चित्रण उपस्थित करता है और निज स्वरूप से प्रीति कराकर वैराग्य भावना को पुष्ट करता है।

'बारस अणुवेक्खा' पर अभी तक संस्कृत या अन्य भाषा में कोई टीका उपलब्ध नहीं थी। इस कमी को अनुभव करके वर्तमान युग के गणाचार्य श्री विरागसागर महाराज ने एक विस्तृत संस्कृत टीका 'सर्वोदया' लिखी है। यह टीका वस्तुत: 'गागर में सागर' की उक्ति को चरितार्थ करती है। इसमें जैन परम्परा के महनीय ग्रन्थों का सार समाया हुआ है। यथाप्रसंग, प्रामाणिकता हेतु टीकाकार ने अनेक ग्रन्थों के उद्धरण भी प्रस्तुत किये हैं। ग्रन्थ के स्तरीय प्रकाशन के प्रेरक हैं— उपाध्यायश्री प्रज्ञसागर मुनिराज। सम्पूर्ण ग्रन्थ सुयोग्य सम्पादन एवं हिन्दी अनुवाद सहित करीब हजार पृष्ठों में समाहित है।

बारह अनुप्रेक्षा (भावना) जैसे महत्त्वपूर्ण विषय और आचार्य कुन्दकुन्द जैसे महनीय आचार्य —इन दोनों से जुड़े होने के कारण 'बारस अणुवेक्खा' ग्रन्थरत्न सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होने से तत्त्वज्ञानियों, मुमुक्षुओं और अध्येताओं के लिए आवश्यक रूप से पठनीय व मननीय है।

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित कृति

बारस अणुवेक्खा

सर्वोदया टीका

संस्कृतटीकाकारः

प. पू. गणाचार्य श्री 108 डॉ. विरागसागर जी महाराज

सम्पादन एवं अनुवाद

प्रो. दामोदर शास्त्री

भारतीय ज्ञानपीठ

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचित-कृति

बारस अणुवेक्खा

(द्वादश अनुप्रेक्षाः)

तदुपरि रचिता संस्कृत टीका

सर्वोदया

(पूर्वार्द्धः)

'सर्वोदया' संस्कृतटीकाकारः

प. पू. गणाचार्य श्री 108 डॉ. विरागसागर जी महाराज

सम्पादकोऽनुवादकश्च

प्रो. डॉ. दामोदर शास्त्री

भारतीय ज्ञानपीठ

द्वितीय संस्करण : 2015 ❑ मूल्य : 490 रुपये

ISBN 978-81-263-4071-2 (Set)
978-93-263-5435-6 (Vol.I)

भारतीय ज्ञानपीठ

(स्थापना : फाल्गुन कृष्ण 9; वीर नि. सं. 2470; विक्रम सं. 2000; 18 फरवरी 1944)

पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवी की स्मृति में
साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित
एवं
उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमा जैन द्वारा सम्पोषित

मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध विषयक जैन साहित्य का अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उनके मूल और यथासम्भव अनुवाद आदि के साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारों की ग्रन्थसूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, कला एवं स्थापत्य पर विशिष्ट विद्वानों के अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन साहित्य ग्रन्थ भी इस ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहे हैं।

•

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर ऐण्ड प्रिण्टर्स, दिल्ली-110 032

© भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित

बारस अणुवेक्खा

प्रथम खण्ड (गाथा-1 से 46 तक)

अनुक्रमणिका

प्रस्तुति

प्रस्तावना

सम्पादकीय

मूल ग्रन्थ एवं टीका

1. मङ्गलाचरण (गाथा-1) 1

2. पूर्वपीठिका (गाथा-2) 24

3. प्रथम अधिकार : अध्रुवानुप्रेक्षा (गाथा-3-7) 45

4. द्वितीय अधिकार : अशरणानुप्रेक्षा (गाथा-8-13) 79

5. तृतीय अधिकार : एकत्वानुप्रेक्षा (गाथा-14-20) 139

6. चतुर्थ अधिकार : अन्यत्वानुप्रेक्षा (गाथा-21-23) 199

7. पञ्चम अधिकार : संसारानुप्रेक्षा (गाथा-24-38) 219

8. षष्ठ अधिकार : लोकानुप्रेक्षा (गाथा-39-42) 389

9. सप्तम अधिकार: अशुचित्वानुप्रेक्षा (गाथा-43-46) 441

परिशिष्ट : (गाथानुक्रमणिका, उद्धृत पद्यों/गाथाओं की अनुक्रमणिका) 473

2000 वर्ष प्राचीन श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित ''बारस अणुवेक्खा'' ग्रंथ पर प.पू. गणाचार्य श्री विरागसागरजी महाराज सर्वप्रथम संस्कृत में ''सर्वोदया टीका'' का लेखन प्रारंभ करते हुए 23 फरवरी, 2008, नागेवाडी, सांगली (महाराष्ट्र) प्रारम्भ एवं 08 जून, 2008 नंदीश्वर द्वीप, बोरीवली-मुम्बई में श्रुतपंचमी के अवसर पर महोत्सव के साथ लेखन पूर्ण करते हुए

प.पू. वात्सल्य रत्नाकर आचार्य श्री 108 विमलसागरजी महाराज

प.पू. तपस्वी सम्राट आचार्य श्री 108 सन्मतिसागरजी महाराज

(1) प.पू. गणाचार्य श्री विरागसागरजी महाराज सर्वप्रथम संस्कृत में ''सर्वोदया टीका'' का लेखन प्रारम्भ करते हुए 23 फरवरी, 2008 नागेवाड़ी : सांगली (महाराष्ट्र)
(2) सर्वोदया टीका का हस्तलिखित प्रथम पृष्ठ, (3) लिखी गई कुल कॉपीयाँ, (4) समापन पर अंतिम पुष्पिका लिखते हुए प.पू. गणाचार्यश्री 23 फरवरी, 2008 नंदीश्वर द्वीप, बोरीवली-मुम्बई में श्रुतपंचमी के अवसर पर महोत्सव के साथ लेखन पूर्ण करते हुए
(5) प्रतिलिपी कॉपियाँ एवं विरागवाणी में प्रकाशित प्रथम पृष्ठ 6-11, चाँदी के रथ पर सर्वोदया टीका को विराजमान कर निकाला गया भव्य जुलुस एवं पूजा

Moortidevi Jain Granthamala : Prakrit Grantha No. 27

BĀRASA AṆUVEKKHĀ

of

ĀCHĀRYA KUNDAKUNDA

with

Sarvodaya

Sanskrit Commentary and Hindi Translation

Vol. I

'Sarvodaya' Sanskrit Commentary by

Parampujya Ganacharya Shri 108 Dr. Viragsagar Ji Maharaj

Edited and Translated by

Prof. Dr. Damodar Shastri

BHARATIYA JNANPITH

Second Edition : 2015 ☐ Price : Rs. 490

ISBN 978-81-263-4071-2 (Set)
978-93-263-5435-6 (Vol.I)

BHARATIYA JNANPITH

(Founded on Phalguna Krishna 9; Vira N. Sam. 2470; Vikrama Sam. 2000; 18th Feb. 1944)

MOORTIDEVI GRANTHAMALA

FOUNDED BY

Sahu Shanti Prasad Jain

In memory of his illustrious mother Smt. Moortidevi

and

promoted by his benevolent wife

Smt. Rama Jain

In this Granthamala critically edited Jain agamic, philosophical, puranic, literary, historical and other original texts in Prakrit, Sanskrit, Apabhramsha, Hindi, Kannada, Tamil etc. are being published in the original form with their translations in modern languages. Catalogues of Jain bhandaras, inscriptions, studies on art and architecture by competent scholars and popular Jain literature are also being published.

•

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110 003

Printed at : Vikas computer and Printers, Delhi-110 032

© All Rights Reserved by Bharatiya Jnanpith

प्रस्तुति

भारतीय संस्कृति की दो प्रमुख धाराएँ हैं — वैदिक और श्रमण। भारतीय संस्कृति के सर्वांगीण विकास में इन दोनों की अपनी-अपनी विशिष्ट भूमिका रही है और भारतीय साहित्य भण्डार की श्रीवृद्धि करने में भी इनका योगदान निर्विवाद रहा है। श्रमणपरम्परा में भी जैन परम्परा का एक विशिष्ट स्थान रहा है।

साहित्य रचना की जितनी भी विधाएँ हैं, प्राय: उन सभी में जैन आचार्यों व मनीषियों की लेखनी निर्बाध चली है। वे किसी भाषाविशेष के आग्रह से भी नहीं बँधे, अपितु उन्होंने समयानुरूप प्राकृत, संस्कृत व अपभ्रंश आदि भाषाओं को यथासमय अपना माध्यम बनाया। उनके द्वारा प्रसूत साहित्य संख्या व गुणवत्ता —दोनों दृष्टियों से समृद्ध रहा है। उक्त विशाल साहित्य को क्रमश: प्रकाशित कर सर्वजन-सुलभ बनाने के इस कार्य को आगे बढ़ाने की दृष्टि से 1944 ई. में भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना हुई और यह प्रसन्नता का विषय है कि जैन साहित्य के प्राचीन, दुर्लभ व महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशन में यह संस्था निरन्तर अग्रसर रही है। यह संस्था अब तक भारतीय चिन्तन, अध्यात्म, धर्म-दर्शन, संस्कृति आदि से सम्बन्धित प्राकृत-संस्कृत-अपभ्रंश-कन्नड़ आदि अनेक प्राचीन भाषाओं के अनेकानेक दुर्लभ ग्रन्थों का सम्पादन व अनुवाद के साथ प्रकाशन कर स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करती है। इन ग्रन्थों में जैन दर्शन, न्याय, आचार, पुराण, काव्य, इतिहास, स्थापत्य कला, ज्योतिष आदि विषयों के ग्रन्थ भी समाहित हैं, जो सर्वसाधारण से लेकर विद्वद्वर्ग तक समादृत हुए हैं।

भारतीय ज्ञानपीठ की मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला की प्राकृत सीरीज के अन्तर्गत **सर्वोदया** टीका के साथ '**बारस अणुवेक्खा**' नामक ग्रन्थ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। यह ग्रन्थ अतिप्राचीन तो है ही, अपनी विषयवस्तु की दृष्टि से अत्यन्त उपादेय भी है। इस ग्रन्थ की महत्ता यह है कि यह आज से करीब दो हजार वर्ष पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित है। आचार्य कुन्दकुन्द समयप्रभावक आचार्यों में प्रमुख माने जाते हैं और जिन्हें जैन परम्परा में, विशेष कर, अध्यात्म व दर्शन के क्षेत्र में अत्यन्त आदरणीय स्थान प्राप्त रहा है। इस ग्रन्थ की रचना उन्होंने अपने आचार्य पद पर आसीन होने के बाद की है, अत: इसकी प्रौढ़ता निर्विवाद है। यह एक प्रकरण ग्रन्थ है और 'अनुप्रेक्षा' विषय पर अद्यावधि उपलब्ध समस्त कृतियों में सर्वप्राचीन रचना होने का गौरव भी इसे प्राप्त है।

अध्यात्म-मार्ग में वैराग्य की स्थिरता, सांसारिक अनासक्ति और लक्ष्य के प्रति पूर्ण निष्ठा व धैर्य की आवश्यकता होती है और इस आवश्यकता की पूर्ति 'अनुप्रेक्षा' (विशिष्ट चिन्तन) के माध्यम से सम्पन्न होती है। यह ग्रन्थ उन्हीं अनुप्रेक्षाओं का सांगोपांग निरूपण करता है, अतः प्रत्येक अध्यात्मप्रेमी व्यक्ति के लिए यह आवश्यक रूप से पठनीय व मननीय है। यह कृति मूलतः प्राकृत भाषा में निबद्ध है। आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि इसमें विषयवस्तु को नपे-तुले शब्दों में प्रस्तुत करने की रही है। अतः यह ग्रन्थ एक प्रौढ़ व विस्तृत व्याख्यान की अपेक्षा रखता है। इस अपेक्षा की पूर्ति इसकी **सर्वोदया** टीका द्वारा सम्पन्न हुई है, जिसके रचयिता हैं — वर्तमान में जैन परम्परा के एक विशिष्ट **आचार्य श्री विरागसागर महाराज**।

इस सर्वोदया संस्कृत टीका की विशेषता यह है कि इसमें विविध दृष्टियों से, विषयवस्तु के प्रत्येक पक्ष-विपक्ष का व्यापक विवेचन किया गया है। जैन अध्यात्म, तत्त्वविज्ञान, आचार, क्रियाकाण्ड आदि विषयों पर जैन आचार्यों ने अद्यावधि जो भी उपयोगी विचार प्रस्तुत किये हैं, उन सबको, अनावश्यक विस्तार से बचते हुए साररूप में प्रस्तुत करने में टीकाकार सफल हुए हैं। महनीय पूर्वाचार्यों के उद्धरणों से ओतप्रोत यह संस्कृत टीका पद-पद पर अपनी प्रामाणिकता को स्थापित करती हुई आगे बढ़ती है। इस टीका का सरल व मूलस्पर्शी हिन्दी अनुवाद बहुश्रुत विद्वान प्रो. दामोदर शास्त्री द्वारा किया गया है, अतः यह संस्कृत टीका भी पाठकों के लिए सहज बोधगम्य हो गयी है।

समग्र ग्रन्थ प्रायः एक हजार पृष्ठों में समाहित हो पाया है। इसकी विशालता को ध्यान में रखकर इसे दो भागों में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया।

इस ग्रन्थ के आन्तरिक सम्पादन, निर्दोष व सुचारु प्रकाशन एवं पूर्ण संशोधन आदि में हमारे प्रकाशन-अधिकारी डॉ. गुलाबचन्द्र जैन तथा श्री राकेश जैन शास्त्री की विशेष भूमिका रही है, अतः मैं उन्हें धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

अन्त में, मैं **श्रीमद् गणाचार्य विरागसागर जी महाराज** के प्रति भी अपना हार्दिक श्रद्धाभाव व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने भारतीय ज्ञानपीठ संस्था को इस ग्रन्थराज के प्रकाशन का सुअवसर प्रदान कर गौरवान्वित किया है।

ऋषभदेव जयन्ती
15 मार्च, 2012

साहू अखिलेश जैन
प्रबन्ध न्यासी, भारतीय ज्ञानपीठ

प्रस्तावना

सर्वोदया संस्कृत टीका और उसका वैशिष्ट्य

मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। इसी चिन्तनशीलता के कारण उसने ज्ञान, विज्ञान, तत्त्वज्ञान, अध्यात्म और संयम साधना के विविध क्षेत्रों में विकास के नये-नये कीर्तिमान स्थापित किये हैं। फिर भी इन सभी क्षेत्रों में उसकी विकास यात्रा बिना थके अविराम जारी है। इस विकास यात्रा की आधारशिला हमारे गौरवशाली अतीत, उसमें सृजित उच्चतम साहित्य और अक्षय सम्यक्-ज्ञान की परम्पराओं पर आधारित है। इस क्षेत्र में हमारे प्रिय भारतवर्ष की गौरवगाथा प्राचीनकाल से ही विश्वविख्यात रही है और इसी सबके कारण हमारे देश को विश्वगुरु माना जाता रहा है। हमारा देश विविधताओं में एकता और तादात्म्य भाव को समेटे हुए है। और यह भाव ही उस मणिमाला के समान है, जो इस देश में जन्मी और पली-बढ़ी विभिन्न संस्कृतियों, परम्पराओं और चिन्तनधाराओं को एक सूत्र में पिरोये हुए सुशोभित होती है। इसीलिए हमारी एकता की यह विशेषता रही कि लम्बे इतिहास में अनेक उतार-चढ़ाव एवं परिवर्तनों के बावजूद इसे कोई न हिला सका और न मिटा सका। यही कारण है कि हमारे देश की धर्म-दर्शन विषयक विभिन्न चिन्तनधाराएँ आज भी पूर्ववत् जीवन्त हैं।

ऐसी ही भारतीय संस्कृति की प्रमुख दो धाराएँ—वैदिक और श्रमण परम्पराएँ प्राचीन काल से ही सुविख्यात हैं। इनमें भी श्रमणधारा के अनेक प्राचीन मनीषियों ने आध्यात्मिक विकास की उस पराकाष्ठा प्राप्ति हेतु ऐसे साहित्य का सृजन किया, जिस पर चलकर अनेक भव्य प्राणियों ने आत्मकल्याण किया और आज भी ऐसे ही मार्ग को अनेक भव्य अपनाये हुए उसी लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं।

वस्तुतः जब भी हम जैन परम्परा के प्रथमानुयोग सहित चारों अनुयोगों में विशेषकर करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग विषयक विशाल वाङ्मय के मूल शास्त्रों और उन पर प्राचीन आचार्यों द्वारा लिखित गौरवशाली विविध व्याख्याओं/टीकाओं का स्वाध्याय करते हैं तब-तब उनके अगाध ज्ञान, श्रद्धा, साधना और उस गंभीर ज्ञानधारा के गूढ़ विषयों को व्याख्याओं के माध्यम से आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए सरस-सरल भाव भाषा में समझाने की प्रबल भावना को देखते हैं तो उनके इस उपकार के प्रति इतना आत्मीय बहुमान आता है कि उसे सोचकर हमारा रोम-रोम पुलकित हुए बिना नहीं रहता। किन्तु दूसरी ओर यह सोचकर चिन्ता भी होती है कि क्या वर्तमान में ऐसे मनीषियों का अभाव हो गया है कि जिन प्राचीन मूलशास्त्रों पर टीकाएँ उपलब्ध नहीं हैं, उन पर अब वैसी संस्कृत भाषा में टीकाएँ नहीं लिखी जा सकती? यह चिन्ता बीसवीं सदी के आरम्भिक दो-चार दशकों तक कुछ-कुछ यथार्थ रही, किन्तु जैसे ही इस सदी का अन्तिम दशक और इक्कीसवीं सदी का प्रथम दशक सामने आया, उसी समय से दिगम्बर परम्परा के कुछ श्रमणों और आर्यिकाओं की ओर से अनेक प्राकृत-संस्कृत भाषा में लिखित प्राचीन मूलग्रन्थों में से कुछ पर प्रौढ़ संस्कृत भाषा में लिखित युगीन और श्रेष्ठ टीकाएँ सामने आयीं, जिनपर हम गौरव कर सकते हैं।

वर्तमान में प्रौढ़ संस्कृत भाषाओं में उत्कृष्ट टीकाएँ लिखने वालों की श्रृंखला में मुख्यत: गणाचार्य श्री विरागसागर जी, मुनिश्री प्रणम्य सागर जी, गणिनी आर्यिकारत्न ज्ञानमती माताजी आदि तथा कुछेक विद्वानों के नाम गौरव के साथ लिये जा सकते हैं। इसी श्रृंखला में उन अनेक श्रेष्ठ संयमी जनों एवं विद्वानों के नाम भी गौरव के साथ जोड़ना उचित होगा, जिन्होंने प्राकृत-संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं के अनेक प्राचीन मूलग्रन्थों की सरल हिन्दी तथा आधुनिक तथा दक्षिण भारत की भाषाओं में व्याख्याएँ, अनुवाद और सम्पादनादि के बृहद् कार्य करके उन प्राचीन मूल क्लिष्ट ग्रन्थों को वर्तमान युग के अनुरूप सरल-सुगम बनाकर हम सभी का महान् उपकार किया है।

प्राचीन जैनाचार्यों में प्रथम शती के महान् आचार्य कुन्दकुन्द का विशिष्ट स्थान है। इसीलिए तो तीर्थंकर महावीर की परम्परा में गौतम गणधर के बाद आचार्य कुन्दकुन्ददेव का नाम स्मरण करते हुए मंगलाचरण किया जाता है—

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।

शौरसेनी प्राकृत साहित्य के पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड़, बारस अणुवेक्खा तथा दस भक्तियाँ जैसे अनेक उत्कृष्ट आगमिक ग्रन्थरत्नों के सर्जक हैं आचार्य कुन्दकुन्द। इनमें भी इनका समयसार ग्रन्थ तो एकमात्र अध्यात्म प्रधान ऐसा उत्कृष्ट ग्रन्थ है, जिसकी सम्पूर्ण विश्व साहित्य में कोई तुलना ही नहीं है। इसी तरह इनके अन्य सभी ग्रन्थ अपने-अपने विषय के बेजोड़ ग्रन्थ हैं।

इनके प्रमुख ग्रन्थों पर आचार्य अमृतचन्द्र, आचार्य जयसेन, आचार्य पद्मप्रभमलधारीकृत बड़ी ही महत्त्वपूर्ण संस्कृत टीकाएँ उपलब्ध होती हैं, पर मेरी दृष्टि में इनके बारस अणुवेक्खा ग्रन्थ पर अब तक संस्कृत भाषा में कोई प्राचीन टीका देखने में नहीं आयी। किन्तु दो हजार वर्ष के लम्बे अन्तराल के बाद इस ग्रन्थ पर वर्तमान के आगममर्मज्ञ, ज्ञानोपयोगी आचार्य श्री विरागसागर ने इक्कीसवीं सदी के प्रारम्भ में इस कमी की पूर्ति सर्वोदया नामक प्रौढ़ संस्कृत टीका लिखकर की और एक विशेष कीर्तिमान् स्थापित किया है।

यह शुभलक्षण है कि इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक का, कि जिस प्रकार प्राचीनकाल में उत्कृष्ट मूल ग्रन्थों पर महान् आचार्यों ने अच्छी संस्कृत टीकाएँ लिखकर मूल ग्रन्थों के विषयों का विस्तार कर उनका खुलासा किया, उसी तरह वर्तमान में प्राचीन परम्परा का निर्वाह सुखद आश्चर्य का विषय है। यद्यपि हिन्दी आदि वर्तमान की भाषाओं में तो प्राचीन ग्रन्थों का अनुवाद और विस्तृत विवेचन काफी उपलब्ध है, किन्तु अब संस्कृत भाषा में टीकाओं (व्याख्याओं) के लेखन की परम्परा जैन समाज में प्राय: दुर्लभ ही हो चली थी कि ऐसे समय में आचार्य कुन्दकुन्द जैसे महान् समर्थ आचार्य के बारस अणुवेक्खा ग्रन्थ पर टीका की कमी पूर्ति करना एक सुखद स्वप्न को साकार करने जैसा कार्य है। अत: निश्चित रूप में पूज्य आचार्य श्री विरागसागर जी महाराज की यह सर्वोदया संस्कृत टीका एक विशेष उपलब्धि युक्त स्तुत्य कार्य है।

वस्तुत: किसी प्राचीन ग्रन्थ की टीका, व्याख्या या अनुवाद करने का कार्य परकाया प्रवेश की प्रक्रिया के सदृश है। क्योंकि टीकाकार को मूल ग्रन्थकर्ता के भावों के साथ एकाकार हो जाना होता है। परकाया-प्रवेश की प्रक्रिया में भी मूलग्रन्थ और उसकी भाषा-संस्कृति रूप आत्मा एवं शरीररूप अर्थ तथा शैली तत्त्वों में अन्तरण एवं एकीकरण जैसा हो जाना होता है। इसीलिए पद्य की अपेक्षा गद्यशैली में टीकाएँ लिखना

बेहद जिम्मेदारी का काम है। क्योंकि मूल ग्रन्थकर्ता और उसके प्रतिपाद्य विषय एवं भावों के प्रति ईमानदार होना एक सफल टीकाकार के लिए पहली शर्त है। चूँकि मूल ग्रन्थकार के भावों की गहनता को बिना परिवर्तित किये अपनी स्वतन्त्र शैली एवं भावों द्वारा पाठकों तक आवश्यकतानुसार विस्तृत स्पष्टीकरण के साथ सरलता, सहजता के साथ पहुँचाना एक बड़े सेतु के कार्य की तरह होता है। क्योंकि पाठकों की श्रद्धा टीकाकार के प्रति मूल ग्रन्थकार से किसी मायने में कम नहीं होती, अपितु टीकाकार के प्रति विशेष बहुमान तो इसलिए भी होता है, चूँकि मूल ग्रन्थकार के गहन विचारों का निचोड़ तो टीकाकार के माध्यम से ही उसे सरल, सुबोध शैली में प्राप्त होता है। इन सब दृष्टियों से बारस अणुवेक्खा जैसे प्राचीन भाषा के ग्रन्थ पर इस इक्कीसवीं सदी में संस्कृत भाषा में लिखित प्रस्तुत सर्वोदया टीका पूर्णतः सफल और श्रेष्ठ टीका है।

जैनधर्म में द्वादश अनुप्रेक्षाओं के नित्य बारम्बार चिन्तवन का श्रमण और श्रावक इन दोनों के जीवन में आत्मिक वैराग्य वृद्धि हेतु बहुत ही महत्व है। इन्हें बारह भावनाएँ भी कहते हैं। इसीलिए आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि (9/25/868) में कहा है *''अधिगतार्थस्य मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा''* अर्थात् जाने हुए अर्थ का मन में अभ्यास करना तथा *''शरीरादीनां स्वानुभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा''* अर्थात् शरीरादि के स्वभाव का पुनः पुनः चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है अतः अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि—इन बारह के स्वरूप की अनुप्रेक्षा (निरन्तर बारम्बार चिन्तन) द्वारा श्रमण अपने वैराग्य भाव को सुदृढ़ करता है। इनके माध्यम से आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने श्रमण जीवन की सफलता के अनेक सूत्र प्रस्तुत किये हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने इसी ग्रन्थ (गाथा 62) में कहा भी है कि हिंसादि पाँच प्रकार के अविरमण का निरोध नियम से हो जाता है। अर्थात् इसे संवर का कारण बतलाया है। इस दृष्टि से यहाँ शुभयोग को निःसार कहने वालों को आचार्य कुन्दकुन्द के इस कथन पर विचार करना चाहिए कि इससे अशुभयोग का निराकरण तो होता ही है, साथ ही शुद्धोपयोग से शुभोपयोग का भी निराकरण होता है। इसीलिए बारस अणुवेक्खा (गाथा 63) में आचार्य कुन्दकुन्द इस तरह कहते हैं—

सुहजोगस्स पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण संभवदि।।

अर्थात् शुभयोग की प्रवृत्ति अशुभयोग का संवर करती है और शुद्धोपयोग द्वारा शुभयोग का निरोध हो जाता है।

पूर्वोक्त गाथा की सर्वोदया टीका में इसके प्रमाणस्वरूप अनेक ग्रन्थों की गाथाएँ प्रस्तुत करते हुए पूर्वोक्त विषय की आगमों द्वारा पुष्टि की गयी है। इतना ही नहीं, अपितु सर्वोदया टीका के कर्ता आचार्यश्री ने बड़ी ही सजगता से यह भी ध्यान दिलाया है कि—शुभयोग को शुभोपयोग और अशुभयोग को अशुभोपयोग मत समझ लेना। क्योंकि इनमें पर्याप्त अन्तर है। इसीलिए इस टीका में उन्होंने लिखा भी है कि—*''अत्र शुभयोगस्य संवरः प्रोक्तः, न तु शुभोपयोगस्य। योग- उपयोगयोरन्तरमस्तीति विज्ञेयम्। यथा-शुभोपयोगस्य स्वामिनस्तु असंयत सम्यग्दृष्टि-गुणस्थानादारभ्य प्रमत्तसंयतगुणस्थानवर्तिनः प्रोक्ताः* (बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा 34 टीका), समयसारस्य (गाथा 12) *टीकायां तात्पर्यवृत्तौ सप्तमेऽप्रमत्त-गुणस्थानेऽपि शुभोपयोग उद्दिष्टः। शुभयोगस्तु मिथ्यादृष्टेरपि सम्भवति। सोऽपि शुभयोगेन पुण्यार्जनं करोति, अन्यथा मिथ्यादृष्टीनां कदाचिदपि पुण्याभावात् स्वर्गादि प्राप्तिर्न स्यात्, किन्तु मिथ्यादृष्टयोऽपि बालतपश्चर्या-अकामनिर्जरादिभिः देवत्वं प्राप्नुवन्तीति शास्त्रेषु*

(तत्त्वार्थसूत्र 6/20 तथा तट्टीकासु च) *प्रत्यपादि। किंच, शुभोपयोगेऽपि शुभयोगः, अशुभयोगो वा-द्वयोरपि (अन्यतरस्य) सदभावः सम्भवति* (गाथा 63 की सर्वोदया टीका, पृष्ठ 614)।

प्रस्तुत सर्वोदया टीका के पूर्वोक्त अंश के उदाहरण के माध्यम से जहाँ हम इस टीका की लेखन एवं इसकी सरल भाषा-भाव आदि शैली को समझ सकते हैं, वहीं हम इसमें प्रस्तुत अन्यान्य आगमों के प्रमाण को प्रस्तुत करने के ढंग को भी जान सकते हैं।

प्रायः प्रत्येक टीकाकार मूलग्रन्थ के आरम्भिक मंगलाचरण के पूर्व अपनी टीका लेखन के आरम्भ में भी अपनी ओर से मंगलाचरण करता है। इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए प्रस्तुत सर्वोदया टीका में भी देव, शास्त्र (श्रुतदेवी भारती) और गुरु स्वरूप आरम्भिक मंगलाचरण इस प्रकार किया है—

1. वीतरागी देवों के प्रति—

वीतरागस्वभावाय सिद्धाय परमेष्ठिने।
वीतरागत्वलब्ध्यर्थं त्रियोगेन नमो नमः॥ 1॥

अनादिसंसारसमुद्रमग्नान् भव्यान् जनान् तारयितुं समर्था।
वाणी यदीया, परमा पवित्रा, तीर्थंकारांस्तान् प्रणमामि भक्त्या॥ 2॥

2. जिनवाणी माँ भारती (शास्त्र) के प्रति—

वीतरागमुखोत्पन्ना, भारती मोक्षदायिनी।
ममोपरि प्रसन्ना स्यात्, वागर्थप्रतिपत्तये॥ 3॥

3. गुरुस्वरूप मूलग्रन्थकर्ता आचार्य कुन्दकुन्द और उनके इस आधार ग्रन्थ के प्रति—

श्री कुन्दकुन्देन हि बारसाणुवेक्खाभिधा या रचना व्यधायि।
विधीयते तद्विशदार्थयुक्ता, सर्वोदया नामकवृत्तिरेषा॥ 4॥

4. दीक्षा गुरु तथा उनकी गुरु परम्परा, उस समय वर्तमान आचार्य के प्रति—

वीतरागप्रभोर्भक्ताः अध्यात्मसाधनोद्यताः।
विमलसन्मतिप्राज्ञाः सद्गुरूंस्तान् नमाम्यहम्॥ 5॥

इन मंगलाचरणों के बाद सर्वोदया टीका में भूमिका स्वरूप 'मंगल' शब्द को विविध रूपों में परिभाषित करते हुए 'बारस अणुवेक्खा' इस ग्रन्थ नाम की सार्थकता प्रस्तुत की गयी है। इस मूलग्रन्थ के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द के विदेहगमन, वहाँ से श्रीमन्दर स्वामी से प्राप्त ज्ञान के आधार पर प्रस्तुत ग्रन्थ रचना का उल्लेख भी टीका में हुआ है।

बारस अणुवेक्खा में आचार्य कुन्दकुन्द की मंगलाचरण स्वरूप प्रथम गाथा और उसकी सर्वोदया टीका प्रस्तुत की जा रही है। जिस तरह आचार्य जयसेन ने आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसारादि ग्रन्थ की टीका में गाथा के प्रमुख पदों को प्रस्तुत कर उसकी व्याख्या प्रस्तुत की है। आचार्य श्री विरागसागर ने भी अपनी सर्वोदया टीका में इसका अनुकरण करते हुए उस गाथा के भावों की विशेष व्याख्या प्रस्तुत की है। यथा—

णमिदूण सव्वसिद्धे, झाणुत्तमखविददीहसंसारे।
दस-दस दो-दो य जिणे, दस दो अणुपेहणं वोच्छे॥ 1॥

सर्वोदया टीका—

झाणुत्तमखविददीहसंसारे — *ध्यानोत्तमेन उत्कृष्टशुक्लध्यानेन क्षपितः नाशितः-दीर्घसंसारः अनादिजन्ममरणसुदीर्घपरम्परात्मकः यैः तान्* **(सव्वसिद्धे)** *सर्वसिद्धान्, समस्तान् सिद्धावस्थां प्राप्तान् आत्मनः, तथा* **दस-दस दो-दो य जिणे** — *दश दश द्वौ द्वौ च मिलित्वा चतुर्विंशतिसंख्या सम्पद्यते तत्संख्याकान् जिनान् तीर्थंकरावस्थां प्राप्तान् ऋषभादि महावीरपर्यन्तान् इत्यर्थः। जयति रागादीन् कर्माणि च यः जिनः तान् वीतरागान्* **णमिदूण** — *नत्वा, द्रव्यतो भावतश्च वन्दनादिकं विधाय,* **दस-दो**- *दश द्वे च मिलित्वा द्वादशसंख्या पूर्णा भवति, एवं द्वादशसंख्यावन्ति* **अणुपेहणं**-*अनुप्रेक्षणानि, द्वादशानुप्रेक्षानामकग्रन्थरूपेण* **(वोच्छे)** *वक्ष्ये निरूपयिष्यामि व्याख्यास्यामि, द्वादशानाम् अनुप्रेक्षणं क्रमशः कथनं करिष्ये-इत्यर्थः।*

इस तरह हम सर्वोदया टीका की विश्लेषण पद्धति समझ सकते हैं। इसकी यह भी विशेषता है कि इस सब विश्लेषण के समर्थन में विद्वान् टीकाकार ने अनेक ग्रन्थों के उद्धरण भी प्रस्तुत किये हैं।

प्राचीन टीकाओं की तरह सर्वोदया टीका के अन्त में अन्त्य मंगल प्रशस्ति विविध सोलह छन्दों में प्रस्तुत की गयी है। इसमें सर्वप्रथम अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान के बाद क्रमशः गौतम गणधर और बारस अणुवेक्खा के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द को नमन करते हुए टीकाकार ने अपनी गुरु परम्परा के आचार्यों का नाम सहित गुणानुवाद प्रस्तुत किया है। अन्त के कुछ छन्दों में अपनी अल्पज्ञता प्रकट करते हुए भावना प्रकट की है कि यदि कोई त्रुटि दिखे तो विज्ञजन उसका सम्यक् अवलोकनपूर्वक संशोधन कर लेंगे।

अन्त में टीकाकार ने वीर निर्वाण संवत् 2534, ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी (श्रुतपंचमी पर्व) के दिन मुम्बई नगरी के बोरीबली स्थित नन्दीश्वर द्वीप जिनालय में यह सर्वोदया टीका पूर्णता को प्राप्त हुई है—यह सूचना अपने निम्नलिखित छन्द में इस प्रकार प्रस्तुत की है—

या मुम्बईति प्रथिता पुरीद्धा, तत्क्षेत्रकं बोरिवलीतिसंज्ञम्।
नन्दीश्वर द्वीपमिति प्रसिद्धम्, तीर्थं जिनक्षेत्रवरं च तत्र ॥13॥

टीकाकार ने अन्तिम दो महत्त्वपूर्ण अनुष्टुप् छन्दों में जिनशासनवर्द्धिनी अपनी इस सर्वोदया टीका द्वारा 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' तक भव्य पाठकों को मोक्षमार्ग का पथ प्रशस्त करते रहने की कामना करते हुए कहा है—

यावन्नभसि सूर्येन्दू यावच्च जिनशासनम्।
तावत्सर्वोदया टीका विद्वन्मनसि राजताम् ॥15॥
भव्यानां पाठकानां या मोक्षमार्गोपदेशिका।
जीयात् सर्वोदया टीका जिनशासनवर्द्धिनी ॥16॥

प्रस्तुत सर्वोदया टीका में टीकाकार आचार्यश्री विरागसागर की श्रेष्ठ संस्कृत गद्यविधा के तो दर्शन होते ही हैं। आरम्भिक कुछ एवं अन्तिम सोलह छन्दों के माध्यम से उनकी एक श्रेष्ठ पद्यविधा के भी दर्शन हम सहज ही कर लेते हैं। इससे लगता है कि उसमें महाकवि की प्रतिभा भी बखूबी विद्यमान है।

इस प्रकार एक प्राचीन आचार्य की तरह प्रस्तुत सर्वोदया नामक एक सफल एवं श्रेष्ठ टीका का आपके द्वारा सृजन हुआ है, जो संस्कृत के जैन व्याख्या साहित्य के लिए एक बहुमूल्य उपहार तो है ही, साथ ही जैन साहित्य के लिए इक्कीसवीं सदी के आरम्भ की यह एक विशेष उपलब्धि भी मानी जाएगी।

अनेक विशेषताओं के साथ ही सर्वोदया टीका की एक बहुत बड़ी विशेषता यह भी है कि टीकाकार ने अपने विवेच्य विषय की पुष्टि हेतु प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्त ग्रन्थों से प्रमाण स्वरूप अनेक गाथाओं, श्लोकों आदि के जो भी सन्दर्भ उद्धृत किये हैं, उन ग्रन्थों या आचार्यों के अथवा दोनों के नाम, संख्या आदि के विवरण भी पूर्ण निष्ठापूर्वक सन्दर्भित किए हैं। इससे टीका में प्रतिपाद्य विषय की प्रामाणिकता तो सिद्ध हो ही जाती है, साथ ही सन्दर्भ ग्रन्थ के साथ उस विषय के तुलनात्मक अध्ययन का लाभ भी पाठकों को मिल जाता है।

यद्यपि विभिन्न शताधिक जैन मूल सिद्धान्त ग्रन्थों के सन्दर्भों को अपने प्रतिपाद्य विषय के प्रमाण हेतु प्रस्तुत करना कोई सहज कार्य नहीं है, यह तो वही कर सकता है, जिसे इतने शास्त्रों का अभ्यास हो। इतना ही नहीं इस टीका में तो वैदिक और बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों के भी सन्दर्भ हैं। इससे भी टीकाकार के ज्ञान सम्बन्धी व्यापक क्षेत्रों का परिज्ञान होता है। उदाहरण के रूप में प्रस्तुत ग्रन्थ की गाथा संख्या 4 (पृ. 53) की सर्वोदया टीका में नारदीय शिक्षा नामक ग्रन्थ का सन्दर्भ उद्धृत करते हुए संगीत शास्त्र के सप्त स्वरों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

इसी तरह इस टीका (पृ. 110) में प्राकृत व्याकरण के सूत्रों को भी प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत करते हुए आचार्यश्री ने पंचपरमेष्ठी के स्वरूप प्रतिपादन सम्बन्धी गाथा संख्या 12 में अर्हन्त के लिए प्रयुक्त 'अरुहा' शब्द प्राकृत व्याकरण से सिद्ध किया है। आम पाठक इस शब्द से अपरिचित हैं। क्योंकि अर्हन्त के लिए 'अरुहा' शब्द प्रचलन में नहीं है। अत: टीकाकार ने 'अर्हन्त' के लिए जितने शब्दों का प्रयोग आगमों में मिलता है, उतने सभी शब्दों को यहाँ उद्धृत कर दिया है। जैसे अरुहो, अरिहो, अरहो, अरहंतो, अरुहंतो, अरिहन्तो। ये सभी शब्द व्याकरण सिद्ध शब्द होने से सही हैं।

इस तरह यह सर्वोदया टीका इतनी महत्त्वपूर्ण और स्तरीय बन गयी है कि इसका स्वाध्याय करते समय यह लगता ही नहीं कि यह टीका वर्तमान की इक्कीसवीं सदी में लिखी गयी है। अपितु यह तो आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के प्राचीन टीकाकारों में विशेषकर आचार्य जयसेन प्रणीत टीका के सदृश है। पू. आचार्यश्री विरागसागर द्वारा प्रणीत सर्वोदया टीका के अध्ययन से मुझे विशेष प्रसन्नता इसलिए भी हुई है कि आज जबकि प्राकृत-संस्कृत जैसी प्राचीन भाषाओं को जानने वाले जहाँ दुर्लभ होते जा रहे हैं, वहीं इस भाषा-संकट के युग में भी पूज्य आचार्य श्री ने यह संस्कृत टीका लिखकर एक बहुत बड़ी कमी की पूर्ति तो की ही है, साथ ही एक महान् आदर्श भी उपस्थित किया है, ताकि इससे प्रेरणा ग्रहण कर अन्य पूज्य मुनिगण, आर्यिकाएँ एवं श्रावक विद्वान् भी इसी प्रकार व्याख्या साहित्य सृजन करते हुए इसकी श्रीवृद्धि की ओर प्रवृत्त होते रहें।

अन्त में सर्वोदया जैसी प्रौढ़ संस्कृत टीका के सफल, श्रेष्ठ और सहज भाषा में हिन्दी अनुवाद करने के लिए वैदिक और श्रमण धर्मदर्शन, साहित्य तथा प्राकृत संस्कृत भाषाओं के सुविख्यात विद्वान, मेरे आत्मीय अभिन्न मित्र और अग्रज प्रो. दामोदर शास्त्री को विशेष बधाई प्रेषित कर रहा हूँ, कि उन्होंने इस सर्वोदया टीका के प्रथम प्रकाशन के साथ ही अपना यह राष्ट्रभाषा में श्रेष्ठतम अनुवाद भी प्रकाशित कर स्वाध्यायी जनों का बहुत बड़ा उपकार किया है।

—प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी
निदेशक, बी. एल. इंस्टीट्यूट ऑव इंडोलॉजी, दिल्ली

सम्पादकीय

प्रत्येक जीव सुख प्राप्त करना चाहता है। वह सांसारिक विषय-सुखों के प्रति आकृष्ट होता है। मन व इन्द्रियाँ उसे विषय-भोगों की ओर बरबस खींच ले जाते हैं। किन्तु परिणाम दुःखप्रद ही होता है।

(सांसारिक सुख 'सुखाभास')— जिसे हम सांसारिक सुख कहते हैं, वह सुख नहीं, सुखाभास (नकली सुख) है, क्योंकि लौकिक सुख स्थायी नहीं होता। जो सुख मिलता भी है तो उसमें दुःख की मात्रा जुड़ी रहती है। इसके अनेक कारण हैं। जैसे— विषयभोग की इच्छा कभी मिटती नहीं। संसार की समस्त वस्तुएँ भी एक व्यक्ति के मन की इच्छाओं को पूर्ण करने में, उसे तृप्त, संतुष्ट करने में सक्षम नहीं हो पातीं। इन्द्रियाँ क्रमशः क्षीण होती जाती हैं, शारीरिक भोग की क्षमता कम होती जाती है, विषय-सुख के साधन सीमित, अल्प प्रतीत होने लगते हैं, और सीमित मात्रा में जो अभीष्ट भोग्य वस्तु मिल भी पाती है, उसमें अनेक प्रतिरोधों का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार संघर्षमय जीवन का प्रारम्भ हो जाता है। क्रोध, द्वेष आदि कषायों के कारण व्यक्ति अन्दर ही अन्दर जलने लगता है। अभीष्ट वस्तु पर्याप्त मात्रा में मिलती नहीं, अनिष्ट पदार्थों की प्राप्ति होती है- ऐसी स्थिति में अप्रशस्त ध्यान का आवेश स्वतः हो जाता है और दुःखमय जीवन व्यतीत करते हुए व्यक्ति पाप कर्मों का ही बन्ध करता है और सुख की बजाय दुःखों की परम्परा का स्वयं निर्माता बन जाता है। निस्कर्षतः, जीवन की नश्वरता, विषय-सुख के साधनों की अल्पता व नश्वरता आदि कारणों से व्यक्ति दुःखमय जीवन-परम्परा को न चाहते हुए भी वरण करने को बाध्य होता है। पंचाध्यायीकार का कथन है- **तत्सुखं यत्र नासुखम्** । (पंचा. 2/244) अर्थात् जिसमें दुःख किंचिन्मात्र भी न हो, वही वास्तविक सुख होता है। अतः सांसारिक सुख को वास्तविक सुख नहीं कहा जा सकता। जो इसे सुख मानते हैं, वे तो मूढ़ ही हैं। इसी दृष्टि से शास्त्रकारों ने कहा है-

ऐहिकं यत्सुखं नाम सर्वं वैषयिकं स्मृतम्।
न तत्सुखं सुखाभासं, किन्तु दुःखमसंशयम्।।

(पंचाध्यायी-2/238)

निस्सारे खलु संसारे सुखलेशोऽपि दुर्लभः।
दुःखमेव महत् तस्मिन् सुखं काम्यति मन्दधीः।।

(आदिपुराण-17/17)

(वास्तविक सुख और उसका मार्ग)— सौभाग्यवश मनुष्य-भव की प्राप्ति तथा किसी सद्गुरु या सच्छास्त्र के श्रवण का सुअवसर प्रास हो जाने पर व्यक्ति को सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि वास्तविक सुख तो 'मोक्ष' में है। अतः उस सुखार्थी व्यक्ति के लिए 'मोक्ष' पुरुषार्थ की सिद्धि हेतु प्रवृत्त होना एकमात्र

विकल्प अवशिष्ट रहता है।

संसार व मोक्ष —ये दोनों परस्पर-विरुद्ध दिशाएँ हैं। रागद्वेषमय जीवन संसार की यात्रा है और वीतरागता का वरण मोक्ष-यात्रा है। कहा भी है-

रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुंचति। (ज्ञानार्णव- 21/21/1129)

वीतरागता के मार्ग पर चलने का अर्थ है- उन कार्यों को नकारना जिससे कर्म बँधते हैं, और उन कर्मों को करना जिनसे कर्मों का बँध रुके या पुराने बाँधे कर्म क्षीण हों। इस मार्ग में प्रारम्भ में पाप-कर्मों से बचने का प्रयत्न होता है और क्रमशः शुभ कर्मों को बाँधने की अपेक्षा कर्म-क्षय को अधिक महत्त्व देते हुए शुद्धात्म-स्वरूप स्थिति की ओर अग्रसर हुआ जाता है। वीतराग मार्ग से सम्बन्धित अनेकानेक आचारों में सर्वाधिक सक्षम कोई साधन है, तो वह है- प्रशस्त ध्यान। तिलोयपण्णत्ति (9/48) में कहा भी गया है— **जो इच्छदि णिस्सरिदुं संसारमहण्णवस्स रुद्दस्स। सो एवं जाणित्ता परिझायदि अप्पयं सुद्धं।।** अर्थात् शुद्धात्म-ध्यान ही संसार सागर से पार उतरने में सहायक सिद्ध होता है।

धर्मध्यान व शुक्ल ध्यान —इन दो प्रशस्त ध्यानों के अनुष्ठानों की पूर्णता हो तो कर्म-निर्जरा होकर मोक्ष मिलता ही है। अतः आर्त व रौद्र —इन दो अप्रशस्त ध्यानों से बचना और प्रारम्भिक स्तर पर धर्मध्यान करते हुए शुक्ल ध्यान की ओर क्रमशः बढ़ना —यह मोक्षमार्ग का सार सिद्ध होता है।

प्रशस्त ध्यान की सहायक- अनुप्रेक्षा

अनुप्रेक्षाएँ प्रशस्त ध्यान की सहायिका हैं। 'अनुप्रेक्षा' शब्द की निर्युक्ति भी यही है- प्रेक्षा यानी ध्यान, उसमें जो अनुकूल हो या अनुगत (समीपवर्ती) हो, वह 'अनुप्रेक्षा' है। भगवती-आराधना (गाथा-1867) में कहा गया है-

इय आलम्बणमणुप्पेहाओ धम्मस्स होंति झाणस्स।
झायंतो ण विणस्सदि झाणे आलंबणेहिं मुणी।

अर्थात् अनुप्रेक्षाएँ धर्मध्यान की आलम्बन (आधार) होती हैं। अनुप्रेक्षा के बल पर ही ध्याता धर्मध्यान में स्थिर हो पाता है, उससे च्युत नहीं होता।

राजवार्तिक (9/36/12) में अनुप्रेक्षा को धर्मध्यान में ही अन्तर्भूत बताते हुए उनमें यह अन्तर भी बताया है कि जब अनित्य आदि विषयों में बार-बार चिन्तन-धारा चालू रहती है तो वह 'अनुप्रेक्षा' है और जब एकाग्रनिरोध होकर चिन्तनधारा का केन्द्रीकरण होता है तो वह 'ध्यान' हो जाता है। धवला (13/5, 4 सू. 26) में भी कहा गया है कि परिणामों की स्थिरता ध्यान है और चित्त का एक पदार्थ से दूसरे पदार्थों में चलायमान होना या तो भावना है या अनुप्रेक्षा आदि है। मूलाचार (गाथा-402) में अनुप्रेक्षाओं को संस्थानविचय नामक धर्मध्यान से जोड़कर ही वर्णित किया गया है।

(अनुप्रेक्षा-स्वरूप)— अनुप्रेक्षा से तात्पर्य है— सम्यग्ज्ञात तत्त्वों का मन में अभ्यास करना या चिन्तन-मनन करना। हृदयगत श्रुतज्ञान के परिशीलन को भी अनुप्रेक्षा कहा जाता है। शरीर आदि के स्वभाव का बार-बार चिन्तन करना —यह भी अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षाओं के विषयों की दृष्टि से बारह भेद माने जाते हैं।

वे हैं— अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, बोधिदुर्लभ। अनुप्रेक्षाओं को भावना भी कहा जाता है।

(अनुप्रेक्षा-महत्त्व)— अनुप्रेक्षा धर्मध्यान को स्थिर करती हैं। साथ ही आनुषङ्गिक अन्य सुपरिणाम भी प्राप्त कराती हैं। सर्वार्थसिद्धि (9/7) के अनुसार अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करते हुए जीव उत्तम क्षमा आदि धर्मों का सम्यक्तया पालन करने में तथा परीषहों पर विजय प्राप्त करने में उत्साहित होता है।

ध्यान के पाँच हेतु माने गये हैं— वैराग्य, तत्त्वज्ञान, निर्ग्रन्थता, समचित्तता व परीषहजय (वृ. द्रव्यसंग्रह-57 की टीका)। इन पाँचों में अनुप्रेक्षाएँ साक्षात् या परम्परया साधक होती हैं। अनुप्रेक्षा व्यक्ति को अशुभ भावों से हटाकर पाप का संवरण करती हैं और शुभ भावों या परिणामों को पुष्ट करती हैं (रयणसार, गाथा-64-65)। पद्मनन्दिपंचविंशतिका (6/42) के अनुसार अनुप्रेक्षा या भावनाएँ कर्मक्षय की कारण हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने तत्त्वार्थसार (6/43) में कहा है कि भावनाओं से अप्रमत्त साधु के धर्म में पुरुषार्थ तथा कर्मों का संवरण होता है—

एवं भावयतः साधोर्भवेद्धर्ममहोद्यमः।
ततो हि निष्प्रमादस्य महान् भवति संवरः।।

ज्ञानार्णव (2/192/245) के अनुसार, भावनाओं के अभ्यास से कषायरूपी अग्नि बुझ जाती है और अज्ञान का अन्धकार दूर होकर सम्यग्ज्ञान रूपी दीपक प्रकाशित हो जाता है।

(आचार्य कुन्दकुन्द कृत 'बारस अणुवेक्खा')— उक्त बारह अनुप्रेक्षाओं के विस्तृत स्वरूप को हृदयंगम कराने हेतु आचार्य कुन्दकुन्द ने 'बारस अणुवेक्खा' नामक प्राकृत ग्रन्थ की रचना की है। कुछ संस्करणों में अणुपेक्खा या अणुप्पेक्खा नाम भी प्राप्त होते हैं। इस ग्रन्थ में कुल इक्यानवें गाथाएँ हैं। आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित यह ग्रन्थरत्न संसार, शरीर एवं भोगों के यथार्थ स्वरूप का चित्रण उपस्थित करता है और वैराग्य भावना को पुष्ट करता है। प्रशस्त ध्यान में स्थिरता प्राप्ति हेतु यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। सभी अनुप्रेक्षाएँ व्यक्ति को सांसारिक विषयों के प्रति होने वाली आसक्ति को हटा कर अन्तर्मुख बनाती हैं और आत्मकल्याण के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती हैं।

ग्रन्थ (गाथा-89-90) में स्वयं ग्रन्थकार (आ. कुन्दकुन्द) अनुप्रेक्षा के माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि "अनादि काल से आज तक जो भी मोक्ष गये हैं, वे इन बारह भावनाओं का सम्यक् चिन्तन करके ही गये हैं। अधिक कहने से क्या? भूतकाल में भी जो सिद्ध हुए हैं और जो भी भविष्य में सिद्ध होंगे, उनकी सिद्धि में सब अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन का ही माहात्म्य जानना चाहिए।"

ग्रन्थ के अन्त (गाथा-91) में भी यह भावना व्यक्त की गई है कि इन अनुप्रेक्षाओं की भावना जो भी करेगा, वह परम निर्वाण प्राप्त करेगा।

(ग्रन्थ की महनीयता)— जैन परम्परा में, विशेष कर दिगम्बर परम्परा में, आचार्य कुन्दकुन्द का अनुपम व सर्वोत्कृष्ट स्थान है। सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी तथा उनके साक्षात् गणधर गौतम के बाद यदि कोई परम श्रद्धा का पात्र आचार्य परमेष्ठी है तो वह आचार्य कुन्दकुन्द ही हैं। बारह अनुप्रेक्षा जैसा

महत्त्वपूर्ण विषय और आचार्य कुन्दकुन्द जैसे महनीय आचार्य —इन दोनों से जुड़े होने के कारण 'बारस अणुवेक्खा' नामक यह ग्रन्थरत्न सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होने से तत्त्वज्ञानियों व मुमुक्षुओं और अध्येताओं के लिए आवश्यक रूप से पठनीय व मननीय रहा है। इसी ग्रन्थ की विषयवस्तु वाला एक अन्य प्राकृत ग्रन्थ 'स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा' नामक उपलब्ध है, जिसमें कुल चार सौ इक्यानवे (491) गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थ का काल पूर्णत: निर्णीत नहीं हो सका है, किन्तु सामान्यत: इसे परवर्ती ही माना जाता है।

बारह अनुप्रेक्षाओं पर उक्त दोनों ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं और विद्वानों व अध्येताओं द्वारा आदर से पढ़े-सुने जाते रहे हैं। आचार्य कुन्दकुन्द कृत इस ग्रन्थ के कई संस्करण उपलब्ध हैं जिनमें हिन्दी व अंग्रेजी अनुवाद भी सम्मिलित हैं। किन्तु जहाँ कार्तिकेयानुप्रेक्षा पर आचार्य शुभचन्द्र द्वारा रचित विस्तृत संस्कृत टीका तथा हिन्दी अनुवाद आदि उपलब्ध हैं, वहाँ आचार्य कुन्दकुन्दकृत 'बारस अणुवेक्खा' पर कोई संस्कृत टीका उपलब्ध नहीं रही है।

उक्त कमी को अनुभव करते हुए परमपूज्य राष्ट्रसन्त 'प्रशान्तमूर्ति' गणाचार्य श्री विरागसागर जी महाराज ने एक विस्तृत संस्कृत टीका 'सर्वोदया' लिखी। इस टीका से पूर्व भी, आचार्यश्री के अनेकानेक परमोपयोगी ग्रन्थ प्रकाश में आ चुके हैं। एक विशाल मुनि-संघ के आचार्य जैसे महत्त्वपूर्ण दुर्धर उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए और दिगम्बर श्रमण-परम्परा के उत्कृष्ट व निष्कलंक आदर्शों के अनुरूप श्रमणचर्या का पालन करते हुए, अपने व्यस्ततम समय में से समय निकालना तथा उत्कृष्ट साहित्य की रचना करना एक चुनौती भरा कार्य है, जिसे आचार्यश्री विरागसागरजी महाराज सहजता से सम्पन्न करते रहे हैं। यह सब उनकी अद्‌भुत कार्यकुशलता तथा गम्भीर विद्वत्ता की सहज अभिव्यक्ति मात्र है। उनके द्वारा अनेक वैदुष्यपूर्ण व शोधपरक ग्रन्थ रचित हैं, जिनमें शुद्धोपयोग आदि कृतियां प्रमुख हैं। उनकी कृतियों में आगमीय ज्ञान-गाम्भीर्य व निर्मल श्रद्धान पदे-पदे अभिव्यक्त होता है। महान् धर्मप्रभावक के रूप में भी उनका नाम सर्वतोभावेन प्रशंसित व निर्विवाद रहा है।

ऐसे महान् संत के मैंने पहली बार दर्शन लोहारिया (बांसवाड़ा, राज.) में उनके 2010 ई. के चातुर्मास में किये। वहाँ मुझे **बारस अणुवेक्खा** पर रचित सर्वोदया संस्कृत टीका को भी देखने व चर्चा करने का अवसर मिला। मैंने इसे सुयोग्य सम्पादन एवं हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित करने की आवश्यकता व्यक्त की। उन्होंने तुरन्त समस्त पाण्डुलिपि मुझे सौंप दी और सम्पादन व हिन्दी अनुवाद करने का आदेश दिया। मैंने उस समय स्वयं को गौरवान्वित अनुभव किया था।

यथासमय हिन्दी अनुवाद कार्य पूर्ण हुआ। अनुवाद कार्य के दौरान इस टीका का समग्र अवलोकन स्वत: हो गया। मेरी दृष्टि में यह टीका वस्तुत: 'गागर में सागर' की उक्ति को चरितार्थ करती है। इसमें जैन परम्परा के महनीय ग्रन्थों का सार समाया हुआ है। यथाप्रसंग, वाक्य की प्रामाणिकता हेतु टीकाकार ने ग्रन्थों के उद्धरण भी प्रस्तुत किये हैं। संभवत: प्राचीन संस्कृत व प्राकृत के 60 से अधिक ग्रन्थों के उद्धरण इसमें प्राप्त हैं। अत: यह टीकाग्रन्थ भी एक मौलिक ग्रन्थ की तरह पठनीय हो गया है। समस्त टीका-ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद के साथ करीब 1000 पृष्ठों में समाहित हो पाया है।

टीका का नाम प्रारम्भ में 'सर्वोदयी' रखा गया था, किन्तु संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से इसका शुद्ध रूप 'सर्वोदया' अंतिम रूप से स्वीकृत हुआ। हिन्दी अनुवाद में मेरा यह प्रयत्न रहा है कि मूल भाव और

उसकी प्रभावकता को सुरक्षित रखा जाय और अनुवाद में सरलता व बोधगम्यता भी बनी रहे। हिन्दी अनुवाद की पूर्णता के बाद, इस विशालकाय ग्रन्थ का प्रकाशित किया जाना भी एक चुनौतीपूर्ण कार्य था। विद्वानों का विचार था कि इस महनीय ग्रन्थ का प्रकाशन भी किसी महनीय संस्था द्वारा कराया जाय। अनेक विकल्पों पर विचार-मंथन करने के बाद, '**भारतीय ज्ञानपीठ**' पर दृष्टि केन्द्रित हुई। यह प्रकाशन-संस्था संस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओं में भारतीय विद्या व जैनविद्या के महनीय व उपयोगी ग्रन्थों के मौलिक लेखन, सम्पादन, अनुवाद व प्रकाशन आदि कार्य में सतत अग्रसर रही है और अनेक दृष्टियों से प्रकाशन की दृष्टि से इसने कीर्तिमान स्थापित किये हैं। इस संस्था के पदाधिकारियों को ग्रन्थ की पाण्डुलिपि सौंप दी गई और उन्होंने इसका समग्र अवलोकन कर प्रकाशित करने की स्वीकृति भी प्रदान की।

प्रस्तुत ग्रन्थराज को सुव्यवस्थित रूप में तथा अल्प समय में प्रकाशित कर इसे जनसामान्य के लिए सुलभ बनाने में 'भारतीय ज्ञानपीठ' का, विशेषकर इसके प्रबन्ध-न्यासी माननीय श्री साहू अखिलेश जैन का प्रमुख योगदान है, इसके लिए मैं समस्त विद्वज्जनों की ओर से उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। वास्तव में उनकी उदार दृष्टि से ही इसका प्रकाशन में आना संभव हो पाया है।

प्रकाशन की दृष्टि से प्रस्तुत कृति निर्दोष व उत्तम स्तर की हो- इस दृष्टि से 'भारतीय ज्ञानपीठ' के मुख्य प्रकाशन-अधिकारी डॉ. गुलाबचन्द्र जैन का समय-समय पर बहुमूल्य परामर्श व सहयोग प्राप्त होता रहा, अतः उनके प्रति मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ। इसी क्रम में भारतीय ज्ञानपीठ के श्री राकेश जैन के सहयोग को कैसे भुला सकता हूँ, क्योंकि उन्होंने इस टीका-ग्रन्थ की प्रत्येक पंक्ति का सावधानीपूर्वक अवलोकन किया और अनेकानेक त्रुटियों व अपूर्णताओं की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया। उनके अमूल्य सुझावों को समाहित करने से इस प्रकाशन में अधिकाधिक निखार आया है- ऐसा मैं मानता हूँ। अतः उनके प्रति हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

मेरे मित्रवर तथा प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. फूलचंद जैन 'प्रेमी' से इस ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखने का अनुरोध किया गया था। उनकी विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना हमें अविलम्ब प्राप्त हुई, उनके प्रति भी मैं अपना हार्दिक आभार प्रकट करना परम कर्तव्य समझता हूँ। यह ग्रन्थराज विद्वद्वर्ग तथा सामान्य अध्येताओं- दोनों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। अन्त में मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि हम सब छद्मस्थ हैं, अतः कहीं भी त्रुटि होना अत्यन्त स्वाभाविक है। विद्वान् लोगों को कोई भी त्रुटि इस ग्रन्थ में दृष्टिगत हो तो वे सूचित करेंगे ताकि परवर्ती संस्करण में उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जाएगा।

प्रो. डॉ. दामोदर शास्त्री

जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ (राजस्थान)

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैर्विरचिता कृतिः

बारस अणुवेक्खा

तदुपरि

सर्वोदया टीका

[श्रीमद्गणाचार्यश्रीडॉ.विरागसागरमुनीन्द्रैः रचिता सर्वोदयानाम्नी संस्कृत-टीका]

('सर्वोदया'-टीकायाः मङ्गलाचरणम्)

वीतरागस्वभावाय सिद्धाय परमेष्ठिने।
वीतरागत्वलब्ध्यर्थं त्रियोगेन नमो नमः॥ १॥ (अनुष्टुप्)

अनादिसंसारसमुद्रमग्नान्, भव्यान् जनान् तारयितुं समर्था।
वाणी यदीया परमा पवित्रा, तीर्थंकरांस्तान् प्रणमामि भक्त्या॥ २॥ (उपजाति)

वीतरागमुखोत्पन्ना, भारती मोक्षदायिनी।
ममोपरि प्रसन्ना स्यात्, वागर्थप्रतिपत्तये॥ ३॥ (अनुष्टुप्)

हिन्दी अनुवाद

('सर्वोदया' टीका का मङ्गलाचरण)

वीतरागस्वभावी सिद्ध परमेष्ठी के प्रति वीतरागता की प्राप्ति हेतु मन-वचन-काय योग पूर्वक मेरा (गणाचार्य विरागसागर का) बारम्बार नमस्कार है।

जिनकी परम पवित्र वाणी अनादि संसार-समुद्र में डूब रहे भव्य प्राणियों के उद्धार में समर्थ है, उन सभी तीर्थंकरों को मैं (गणाचार्य विरागसागर) भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ।

वीतराग देव के मुखारविन्द से निःसृत एवं मोक्षदायिनी भारती (जिनवाणी) मुझ पर प्रसन्न हों, जिससे मुझे (गणाचार्य विरागसागर को) शब्द व अर्थ (की संपत्ति) की उपलब्धि हो।

श्रीकुन्दकुन्देन हि बारसाणुवेक्खाभिधा या रचना व्यधायि।
विधीयते तद्विशदार्थयुक्ता, सर्वोदयानामकवृत्तिरेषा॥ ४॥ (उपजाति)

वीतरागप्रभोर्भक्ता:, अध्यात्मसाधनोद्यता:।
विमलसन्मतिप्राज्ञा:, सद्गुरूंस्तान् नमाम्यहम्॥ ५॥ (अनुष्टुप्)

भव्यवरपुण्डरीकबोधनार्थं, तथा संसारचक्रपरिभ्रमणभीरूणां नित्यनिरञ्जनशुद्धात्म-सुधारसपिपासूनां मुमुक्षूणां हिताय, श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः विरचितस्य 'बारस अणुवेक्खा'-ग्रन्थवरस्य मम निजयोगोपयोगसदुपयोगाय, दुर्ध्यानवञ्चनार्थं श्रुतसेवार्थं वा, सर्वोदयानाम्नीं टीकां स्वल्पबुद्ध्यनुसारेण विदधे।

अस्यां टीकायां प्राथमिकशिष्यसुखबोधाय प्रचुरतया पदानां सन्धिर्न कृतः। समासेऽपि सन्धिराहित्यं कृतं सुखावबोधाय। *'असंहितानिर्देशोऽसन्देहार्थः'* **इति राजवार्तिके** *(4/7/3)* **कथनं**

आचार्य कुन्दकुन्द भगवंत ने 'बारस अणुवेक्खा' (द्वादश अनुप्रेक्षा) नामक कृति की रचना की है। उसी ग्रन्थ पर मेरी (गणाचार्य विरागसागर की) यह 'सर्वोदया' नामक वृत्ति (टीका) है, जिसमें उस ग्रन्थ का अर्थ स्पष्ट किया गया है।

वीतराग प्रभु के आराधक एवं अध्यात्म-साधना में उद्यत सद्गुरु **निमित्तज्ञानी आचार्य श्री विमलसागर जी महाराज** तथा **प्रज्ञासम्पन्न तपस्वी-सम्राट् आचार्य श्री सन्मतिसागर जी महाराज** को मैं (गणाचार्य विरागसागर) प्रणति —वन्दना करता हूँ।

भव्य जन रूपी कमलों को प्रबोधित (विकसित) करने हेतु, तथा जो संसार-चक्र में परिभ्रमण से भयभीत हैं और नित्य, निरञ्जन शुद्धात्मा रूपी सुधा-रस के प्यासे हैं— ऐसे मुमुक्षुजनों के हितार्थ, मैं आचार्य भगवन्त श्री कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा विरचित 'बारस अणुवेक्खा' (द्वादश अनुप्रेक्षा) नामक ग्रन्थ पर अपने योग-उपयोग के सदुपयोग हेतु एवं दुर्ध्यानों से बचने के लिए और श्रुत-सेवा के लिए अपनी स्वल्प बुद्धि के अनुसार 'सर्वोदया' नामक टीका की रचना कर रहा हूँ।

इस टीका में प्राथमिक शिष्यों को सुखपूर्वक बोध हो —इस दृष्टि से प्रचुरता से पदों में सन्धि नहीं की गई है। समास में भी (पृथक्-पृथक् पदों को ज्यों का त्यों रखकर) सन्धि नहीं की गई है ताकि सुखपूर्वक (स्पष्ट) बोध हो। संहिता (सन्धि) रहित निर्देश सन्देह-निवृत्ति हेतु होता है— ऐसा राजवार्तिक (4/7/3) में किया गया कथन भी इसी का समर्थन कर रहा है। पूर्वाचार्यों में भी कुछ ने इस विधि को

चैतत्समर्थयति। पूर्वाचार्यैरपि कैश्चिदेष विधिः स्वीकृतः। पंचास्तिकायस्य समयसारस्य च तात्पर्यवृत्तिटीकायां तथा बृहद्द्रव्यसंग्रहस्य ब्रह्मदेवकृतवृत्तौ च रीतिरेषा स्वीकृता।

अस्य ग्रन्थस्य प्रथमं समुदायपातनिका निर्दिश्यते। तत्र 'णमिदूण सव्वसिद्धे' **इत्यादिका मङ्गलाचरणात्मिका गाथा वर्तते। तदनन्तरं पूर्वपीठिकायाम्** 'अद्धुवमसरणमेयत्त' **इत्यादिका गाथा द्वादशानुप्रेक्षानामनिर्देशकथनरूपा वर्तते। ततः पश्चात्** 'वरभवणजाणवाहण' **—इत्यादिकां गाथामादिं कृत्वा** 'परमट्ठेण हु आदा' **इत्यादिगाथां यावत् पञ्चगाथात्मकः** 'अध्रुवानुप्रेक्षा'-**संज्ञकः प्रथमोऽधिकारो ज्ञेयः। ततश्च** 'मणिमंतोसहरक्खा' **इत्यादिकां गाथामारभ्य** 'सम्मत्तं सण्णाणं' **इत्यादिकां गाथां यावत् गाथाषट्कात्मकः** 'अशरणानुप्रेक्षा'-**नामको द्वितीयोऽधिकारो विज्ञेयः। तदनन्तरं** 'एक्को करेदि कम्मं' **इत्यादिगाथामादिं कृत्वा** 'एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो' **इत्यादिगाथां यावत् सप्तगाथात्मकः** 'एकत्वानुप्रेक्षा'-**संज्ञकस्तृतीयोऽधिकारो विज्ञेयः। ततश्च** 'मादापिदासहोदर' **इत्यादिकां गाथामारभ्य** 'अण्णं इमं सरीरादिगं' **इत्यादिकां गाथां यावत् गाथात्रयात्मकः** 'अन्यत्वानुप्रेक्षा' **नामकः चतुर्थोऽधिकारः।**

स्वीकार किया है। (जैसे—) पंचास्तिकाय व समयसार की (आ. जयसेनकृत) तात्पर्यवृत्ति टीका में तथा बृहद् द्रव्यसंग्रह की ब्रह्मदेवकृत वृत्ति में इस रीति को अपनाया गया है (द्र. वृ. द्रव्यसंग्रह-वृत्ति का उपसंहार, समयसार तात्पर्यवृत्ति का उपसंहार, पंचास्तिकाय-तात्पर्यवृत्ति, गाथा-1)।

पहले इस ग्रन्थ की समुदाय-पातनिका बताई जा रही है। **'णमिदूण सव्वसिद्धे'** इत्यादि मङ्गलाचरण रूप पहली गाथा है। इसके बाद, पूर्वपीठिका के अन्तर्गत **'अद्धुवमसरणमेयत्त'** इत्यादि गाथा (सं. 2) है, जो बारह अनुप्रेक्षाओं का नाम-निर्देश करती है। इसके अनन्तर, **'वरभवणजाणवाहण'** इत्यादि गाथा (सं. 3) से लेकर **'परमट्ठेण हु आदा'** इत्यादि गाथा (सं. 7) तक पाँच गाथाओं वाला **'अध्रुवानुप्रेक्षा'** नाम का प्रथम अधिकार है। उससे आगे, **'मणिमंतोसहरक्खा'** इत्यादि गाथा (सं. 8) से लेकर **'सम्मत्तं सण्णाणं'** इत्यादि गाथा (सं. 13) तक छः गाथाओं वाला **'अशरणानुप्रेक्षा'** नामक दूसरा अधिकार जानना चाहिए। इसके अनन्तर, **'एक्को करेदि कम्मं'** इत्यादि गाथा (सं. 14) से लेकर **'एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो'** इत्यादि गाथा (सं. 20) तक सात गाथाओं वाला **'एकत्वानुप्रेक्षा'** नामक तीसरा अधिकार जानना चाहिए। इससे आगे, **'मादापिदासहोदर'** इत्यादि गाथा (सं. 21) से लेकर **'अण्णं इमं सरीरादिगं'** इत्यादि गाथा (सं. 23) तक तीन गाथाओं वाला **'अन्यत्वानुप्रेक्षा'** नामक चतुर्थ अधिकार है।

तत्पश्चात् 'पंचविहे संसारे' **इत्यादिकां गाथामारभ्य** 'संसारमदिक्कंतो' **इत्यादिकां गाथां यावत् पञ्चदशगाथात्मकः** 'संसारानुप्रेक्षा'-**नामकः पञ्चमोऽधिकारो विज्ञेयः। तदनन्तरं** 'जीवादिपयत्थाणं' **इत्यादिकां गाथामारभ्य** 'असुहेण णिरय-तिरयं' **इत्यादिकां गाथां यावत् गाथाचतुष्टयात्मको** 'लोकानुप्रेक्षा'-**नामकः षष्ठोऽधिकारो विज्ञेयः। तत्पश्चात्** 'अट्ठीहिं पडिबद्धं' **इत्यादिकां गाथामारभ्य** 'देहादो वदिरित्तो' **इत्यादिगाथां यावत् गाथाचतुष्टयात्मकः** 'अशुचित्वानुप्रेक्षा'-**नामकः सप्तमोऽधिकारो विज्ञेयः। ततोऽनन्तरं** 'मिच्छत्तं अविरमणं' **इत्यादिगाथात आरभ्य** 'पुव्वुत्तासवभेदा' **इत्यादिकां गाथां यावत् चतुर्दशगाथात्मकः** 'आस्रवानुप्रेक्षा'-**नामकोऽष्टमोऽधिकारो विज्ञेयः। ततः परं** 'चलमलिणमगाढं' **इत्यादिकां गाथामादिं कृत्वा** 'जीवस्स ण संवरणं' **इत्यादिगाथां यावत् पञ्चगाथासमन्वितः** 'संवरानुप्रेक्षा'-**नामको नवमोऽधिकारो विज्ञेयः। ततोऽनन्तरं** 'बंधपदेसग्गलणं' **इत्यादिगाथामारभ्य** 'सा पुण दुविहा णेया' **इत्यादिगाथां यावत् गाथाद्वयात्मको** 'निर्जरानुप्रेक्षा'-**संज्ञको दशमोऽधिकारो विज्ञेयः। ततश्च,** 'एयारसदसभेयं' **इत्यादिगाथात आरभ्य** 'णिच्छयणएण जीवो' **इत्यादिकां गाथां यावत् पञ्चदशगाथात्मको** 'धर्मानुप्रेक्षा'-**नामक एकादशोऽधिकारो भवति।**

इसके बाद, **'पंचविहे संसारे'** इत्यादि गाथा (सं. 24) से लेकर **'संसारमदिक्कंतो'** इत्यादि गाथा (सं. 38) तक पन्द्रह गाथाओं वाला **'संसारानुप्रेक्षा'** नामक पञ्चम अधिकार जानना चाहिए। इसके बाद, **'जीवादिपयत्थाणं'** इत्यादि गाथा (सं. 39) से लेकर **'असुहेण णिरय-तिरयं'** इत्यादि गाथा (सं. 42) तक चार गाथाओं वाला **'लोकानुप्रेक्षा नामक'** छठा अधिकार जानना चाहिए। इसके बाद, **'अट्ठीहिं पडिबद्धं'** इत्यादि गाथा (सं. 43) से लेकर **'देहादो वदिरित्तो'** इत्यादि गाथा (सं. 46) तक चार गाथाओं वाला **'अशुचित्वानुप्रेक्षा'** नामक सातवाँ अधिकार जानना चाहिए। इसके बाद, **'मिच्छत्तं अविरमणं'** इत्यादि गाथा (सं. 47) से लेकर **'पुव्वुत्तासवभेदा'** इत्यादि गाथा (सं. 60) तक चौदह गाथाओं वाला **'आस्रवानुप्रेक्षा'** नामक आठवाँ अधिकार जानना चाहिए। इसके आगे, **'चलमलिणमगाढं'** इत्यादि गाथा (सं. 61) से लेकर **'जीवस्स ण संवरणं'** इत्यादि गाथा (सं. 65) तक पाँच गाथाओं वाला **'संवरानुप्रेक्षा'** नामक नवम अधिकार जानना चाहिए। इसके बाद, **'बंधपदेसग्गलणं'** इत्यादि गाथा (सं. 66) से लेकर **'सा पुण दुविहा णेया'** इत्यादि गाथा (सं. 67) तक दो गाथाओं वाला **'निर्जरानुप्रेक्षा'** नामक दसवाँ अधिकार जानना चाहिए। इसके आगे, **'एयारसदसभेयं'** इत्यादि गाथा (सं. 68) से लेकर **'णिच्छयणएण जीवो'** इत्यादि गाथा (सं. 82) तक पन्द्रह गाथाओं वाला **'धर्मानुप्रेक्षा'** नामक ग्यारहवाँ अधिकार है।

तदनन्तर 'उप्पज्जदि सण्णाणं' **इत्यादिगाथात आरभ्य** 'एवं जायदि सण्णाणं' **इत्यादिकां गाथां यावत् गाथाचतुष्टयात्मको** 'बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा'**-नामको द्वादशोऽधिकारो ज्ञेयः। तत्पश्चात्** 'बारस अणुपेक्खाओ' **इत्यादिगाथामारभ्य** 'इदि णिच्छयववहारं' **इत्यादिगाथां यावत् गाथापञ्चकात्मको द्वादशानुप्रेक्षा-माहात्म्यनिरूपकः त्रयोदशाधिकारो भवतीति विज्ञेयम्।**

एवं 'णमिदूण सव्वसिद्धे' **इत्यादिगाथामारभ्य** 'बारस अणुपेक्खाओ' **इत्यादिगाथां यावत् एकनवतिगाथात्मकस्य त्रयोदशाधिकारसमन्वितस्य सर्वोदया-टीकायां समुदायपातनिका निर्दिष्टा।**

तत्र प्रथमगाथा मङ्गलाचरणात्मिका वर्तते। तस्याः व्याख्यानात् प्राक् षडधिकारकथन-पूर्वकशास्त्रारम्भः कर्तव्य इति प्राचीनाचार्यपरम्परा अनुसर्यते। शास्त्रारम्भे सर्वत्र तेषां षण्णां निरूपणमौचितीं वहतीति मन्यते। यथोक्तं धवलाग्रन्थे *(पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1)*—

मंगल-णिमित्त-हेऊ परिमाणं णाम तह य कत्तारं।
वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमायरिओ॥

इसके बाद, '**उप्पज्जदि सण्णाणं**' इत्यादि गाथा (सं. 83) से लेकर '**एवं जायदि सण्णाणं**' इत्यादि गाथा (सं. 86) तक चार गाथाओं वाला '**बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा**' नामक बारहवाँ अधिकार है। इसके बाद, '**बारस अणुपेक्खाओ**' इत्यादि गाथा (सं 87) से लेकर '**इदि णिच्छयववहारं**' इत्यादि गाथा (सं. 91) तक पाँच गाथाओं वाला '**द्वादशानुप्रेक्षा-माहात्म्य**' बताने वाला तेरहवाँ अधिकार है —यह जानें।

इस प्रकार, '**णमिदूण सव्वसिद्धे**' इत्यादि गाथा (सं. 1) से लेकर '**इदि णिच्छयववहारं**' इत्यादि गाथा (सं. 91) तक इकानवे गाथाओं वाले तेरह अधिकारों से युक्त इस ग्रन्थ की सर्वोदया टीका में समुदायपातनिका बताई गई है।

यहाँ प्रथम गाथा मङ्गलाचरण रूप है। उसके व्याख्यान से पूर्व छः अधिकारों (विषयों) के कथनपूर्वक ही शास्त्र का प्रारम्भ करना चाहिए —इस प्राचीन आचार्यों की परम्परा का अनुसरण किया जा रहा है। शास्त्र के आरम्भ में सर्वत्र उन छः अधिकारों का निरूपण करना उचित होता है —ऐसा माना गया है। जैसा कि श्रीधवला ग्रन्थ (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1) में कहा भी है—

"(1) मङ्गल, (2) निमित्त, (3) हेतु, (4) परिमाण, (5) नाम तथा (6) कर्ता —इन छः बातों का स्पष्टीकरण करने के बाद ही आचार्य को शास्त्र का व्याख्यान करना चाहिए।"

मङ्गलाचरणं, शास्त्ररचनाया निमित्तकारणं, ग्रन्थपरिमाणं, ग्रन्थरचनाया मुख्यहेतुः, ग्रन्थनाम, ग्रन्थकर्ता, एतेषां षण्णामधिकृतपदार्थानां निरूपणं विधायैव शास्त्रविशेषस्य व्याख्यानं विधीयते —इत्याचार्यपरम्परामनुसृत्य ग्रन्थस्यास्य षडधिकारान् कथयामि।

मङ्गम्- उत्कृष्टसुखं लाति इति मङ्गलम्, अथवा मां पापं गालयति इति मङ्गलम् —इति निर्युक्तिः। कस्यचित् शास्त्रविशेषस्य प्रारम्भे मङ्गलाभिधानमवश्यं कर्तव्यम् इति पुरातनाचार्य-परम्पराबोधितमस्ति। उक्तं च श्रीमद्भिः यतिवृषभाचार्यवरैः तिलोयपण्णत्तिग्रन्थे *(1/16)*—

पुव्विलाइरिएहिं मंगं पुव्वत्थ वाचयं भणियं।
तं लादि हु आदत्ते जदो तदो मंगलं पवरं॥

अर्थात् मङ्गलाचरण, शास्त्र-रचना का निमित्त कारण, ग्रन्थ का परिमाण, ग्रन्थ-रचना का मुख्य हेतु, ग्रन्थ का नाम, ग्रन्थ के कर्ता का नाम —इन छः अधिकृत (विचारणीय) पदार्थों का निरूपण करने के बाद ही शास्त्र-विशेष का व्याख्यान करना चाहिए —इस आचार्य-परम्परा का अनुसरण करते हुए इस (प्रस्तुत) ग्रन्थ (बारस अणुवेक्खा) से सम्बन्धित छः अधिकारों का कथन कर रहा हूँ।

'मङ्गल' में मङ्ग और ल —ये दो पद हैं। मङ्ग का अर्थ उत्कृष्ट सुख है और 'ल' का अर्थ है— लाने वाला, देने वाला। इस प्रकार 'मङ्गल' का अर्थ हुआ— उत्कृष्ट सुख को लाने या देने वाला। अथवा इसमें 'मं' (मां) और 'गल' ये दो पद हैं। 'मं' (मां) का अर्थ है— पाप को, और 'गल' का अर्थ है— गलाने वाला, नष्ट करने वाला। इस प्रकार 'मङ्गल' का अर्थ हुआ —पाप का नाशक। यह 'मङ्गल' शब्द का निर्वचन (व्युत्पत्तिलभ्य, व्याकरण-लभ्य अर्थ) हुआ। किसी भी विशेष शास्त्र के प्रारम्भ में मङ्गल-कथन (मङ्गलाचरण) अवश्य करना चाहिए— ऐसी प्राचीन आचार्य-परम्परा चली आ रही है। उसी से यह ज्ञात होता है कि शास्त्र के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करना चाहिए। पूज्य श्री यतिवृषभाचार्य ने तिलोयपण्णत्ति (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) (1/16) नामक ग्रन्थ में कहा भी है—

"पूर्व के आचार्यों ने मङ्गलाचरण-पूर्वक ही शास्त्र की वाचना या व्याख्यान किये हैं। चूँकि 'मङ्गल' मङ्ग (उत्कृष्ट सुख) को लाता है या उसे प्रदान करता है, इसलिए 'मङ्गल' की श्रेष्ठता है।"

मङ्गलस्यानेके भेदाः सन्ति। सामान्यतया तदेकविधम्, द्रव्यभावभेदेन द्विविधम्, अथवा निबद्धानिबद्धभेदेन द्विप्रकारम्, मुख्यगौणरूपेण च द्विविधम्, सम्यग्दर्शनादिभेदेन त्रिविधं च भवति। एवमेव, अरहंत-सिद्ध-साधु-धर्म-भेदात् चतुर्विधम्, ज्ञान-दर्शन-त्रिगुप्तिभेदात् पञ्चविधम्, अर्हत्-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय-साधु-नामोच्चारणभेदात् पञ्चविधम्, किंच नामस्थापनादिभेदात् षड्विधम्, इत्यादिरीत्या नानाविधं मङ्गलं भवति।

श्रीमद्वीरसेनाचार्यदेवैरपि श्रीधवलाग्रन्थे मङ्गलसम्बन्धेऽपि षडधिकाराः संकेतिताः। यथा- मङ्गलं (मङ्गलस्वरूपम्), मङ्गलकर्ता, मङ्गलकरणीयम्, मङ्गलोपायः, मङ्गलविधानम्, मङ्गल-फलमिति च। तत्र मङ्गलस्य अर्थस्तु पूर्वं निरूपित एव। मङ्गलकर्ता चतुर्दशविद्यास्थानपारंगताचार्यः, मङ्गलकरणीयरूपाः भव्यजनाः, मङ्गलोपायः रत्नत्रयसाधनानि, मङ्गलविधानम्— मङ्गलस्य द्वित्रिप्रभृतिभेदाः —इत्येवं बोध्यम्।

मङ्गल के अनेक भेद (सम्भव) हैं। सामान्यतया वह एक प्रकार का है। द्रव्यमङ्गल और भावमङ्गल —ये दो भेद भी हैं। अथवा निबद्ध मङ्गल और अनिबद्ध मङ्गल —इस रूप में, या मुख्य मङ्गल और गौणमङ्गल —इस रूप में दो-दो भेद भी होते हैं। सम्यग्दर्शन (सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र) आदि रूप से मङ्गल तीन प्रकार का भी होता है। इसी प्रकार, अरहंत, सिद्ध, साधु, धर्म —इन चारों के रूप में मङ्गल चतुर्विध भी है। ज्ञान, दर्शन और तीन (मन, वचन व काय) गुप्तियों के रूप में मङ्गल के पाँच प्रकार भी हैं। अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु —इनके (प्रत्येक के) नाम का उच्चारण (मङ्गल रूप होता है, इस) को दृष्टि में रखें तो मङ्गल पाँच प्रकार का है। नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, क्षेत्र व काल —इन छहों के आधार पर मङ्गल के छः प्रकार भी होते हैं। इस प्रकार मङ्गल की अनेकविधता मानी गई है।

श्रीमद् वीरसेनाचार्य ने श्रीधवला ग्रन्थ में मङ्गल-सम्बन्धी छः अधिकारों का संकेत किया भी है। जैसे— मङ्गल (मङ्गल-स्वरूप, अर्थ), मङ्गल के कर्ता, मङ्गल करने योग्य (अर्थात् मङ्गल-भावना के पात्र), मङ्गल-सम्बन्धी उपाय, मङ्गल के भेद, और मङ्गल-सम्बन्धी फल। इनमें 'मङ्गल' का अर्थ— तो पहले बता ही दिया गया है। चतुर्दश विद्या-स्थानों में पारंगत आचार्य परमेष्ठी (भूतबली आचार्य आदि) मङ्गलकर्ता हैं। भव्य प्राणी मङ्गल के पात्र (फलभोक्ता) हैं। रत्नत्रय रूप साधन ही मङ्गल-सम्बन्धी उपाय हैं। मङ्गल के भेदों—इसके दो-तीन आदि भेदों— का कथन किया जा चुका है, इस प्रकार मङ्गल-सम्बन्धी छः अधिकारों के विषय में जानना चाहिए।

ननु ग्रन्थादौ मङ्गलाचरणं किमर्थं विधीयते? इति प्रश्नस्य द्रव्यसंग्रहस्य *(गाथा-1)* **टीकायां समाधानं विहितम्—**

नास्तिकत्वपरीहार:, शिष्टाचारप्रपालनम्।
पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादौ तेन संस्तुति:॥

अथवा

श्रेयोमार्गस्य संसिद्धि: प्रसादात् परमेष्ठिन:।
इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवा:॥

ननु शास्त्रेषु मङ्गलं कदा-कदा करणीयं भवति? अत्र समाधानम्— शास्त्रादौ शास्त्रमध्ये शास्त्रान्ते च —इति त्रिषु स्थानेषु मङ्गलाचरणीयं करणीयं भवति। प्रोक्तेषु त्रिषु स्थानेषु कृतानां मंगलाचरणानां किं किं विशिष्टं फलम्?

तत्समाधानमुक्तं तिलोयपण्णत्तिग्रन्थे *(1/29)*—

ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण क्यों किया जाता है? इस प्रश्न का द्रव्यसंग्रह (गाथा-1) पर ब्रह्मदेवकृत वृत्ति में इस प्रकार समाधान किया गया है—

"नास्तिकता का त्याग, सभ्य पुरुषों के सदाचार का पालन (अनुसरण), पुण्य की प्राप्ति और विघ्न-नाश —(ये चार प्रयोजन) इससे सिद्ध होते हैं, इसलिए मुनिराजों द्वारा शास्त्रों में (इष्ट देवता की) स्तुति की जाती है।"

अथवा

"(अर्हत् आदि) परमेष्ठियों के प्रसाद से मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है, इसलिए प्रधान मुनियों द्वारा शास्त्र के प्रारम्भ में उन (परमेष्ठी) के गुणों की स्तुति की जाती है।"

(शंका—) शास्त्र में मङ्गल कहाँ-कहाँ (या कब-कब) करना चाहिए? इसका समाधान इस प्रकार है— शास्त्र के आदि, मध्य और अन्त —इन तीन स्थानों में मङ्गलाचरण करना होता है। उपर्युक्त तीनों स्थानों में किये गये मङ्गलाचरणों का क्या-क्या विशिष्ट फल प्राप्त होता है?

इसी का उत्तर तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ (1/29) में इस प्रकार दिया गया है—

पढमे मंगलवयणे सिस्सा सत्थस्स पारगा होंति।
मज्झिम्मे णीविग्घं विज्जा विज्जाफलं चरिमे॥

श्रीमद्भिः वीरसेनाचार्यैरपि निरूपितम्— *"कय कोउय मंगलपायच्छित्ता विणयोवगया सिस्सा अज्झेदारो सोदारो वत्तारो आरोग्गमविग्घेण विज्जं विज्जाफलं हि पावेंतु त्ति।"* (*धवला, पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, पृ. 41*) **(अर्थात्) मङ्गलसम्बन्धि-आवश्यककृतिकारकाः, तथैव मङ्गल-सम्बन्धिप्रायश्चित्त-अनुष्ठातारः, तथैव विनयशीलाः शिष्याः, अध्येतारः, वक्तारश्च क्रमेण आरोग्यं, निर्विघ्नविद्यां विद्याफलं च क्रमेण प्राप्नुवन्तु —इत्येतदर्थं शास्त्रस्य आदौ, मध्ये, अन्ते चेति त्रिषु स्थानेषु मङ्गलाचरणस्य उपदेशो विहितः। एवं मङ्गलविधानस्य कर्तव्यतां मनसि निधाय ग्रन्थस्यास्य रचयितृभिः अध्यात्मविद्यापारगैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यवर्यैरपि ग्रन्थप्रारम्भे सर्वसिद्धान्, तथैव चतुर्विंशतितीर्थंकरानपि प्रति प्रणतिरूपं मङ्गलाचरणं विहितमस्ति।**

इत्थं प्रथमाधिकारनिरूपणं कृतम्। सम्प्रति निमित्ताधिकारो निरूप्यते। निमित्तम्, अर्थात् कारणम्। मुख्यतः स्वपरकल्याणसम्पादनमत्र ग्रन्थनिर्माणे निमित्तम्।

"प्रथम (आदि) मङ्गलाचरण करने पर शिष्य शास्त्र के ज्ञाता होते हैं। मध्यमङ्गल करने पर निर्विघ्न विद्या की प्राप्ति होती है। और अन्तिम मङ्गल से विद्या सफल होती है।"

श्रीमान् आचार्य वीरसेन स्वामी ने भी (धवला, पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, पृ. 41 में) कहा है— "मङ्गल-सम्बन्धी आवश्यक कृतिकर्म करने वाले तथा मङ्गल-सम्बन्धी प्रायश्चित्त करने वाले, एवं विनीत शिष्य, अध्येता (शास्त्र पढ़ने वाले), श्रोता और वक्ता क्रम से आरोग्य को, निर्विघ्न विद्या को और विद्या के फल को प्राप्त करें —इसलिए शास्त्र के आदि, मध्य एवं अन्त —इन तीन स्थानों में मङ्गलाचरण करने का उपदेश दिया गया है।" इस प्रकार मङ्गलाचरण की कर्तव्यता को मन में रखकर इस ग्रन्थ के रचयिता अध्यात्मविद्यापारंगत श्रीमान् कुन्दकुन्दाचार्य जी ने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में समस्त सिद्धों, तथा चौबीस तीर्थंकरों के प्रति प्रणति-निवेदन पूर्वक मङ्गलाचरण किया है।

इस प्रकार प्रथम (मङ्गल) अधिकार का निरूपण सम्पन्न हुआ। अब निमित्त नामक (द्वितीय) अधिकार का निरूपण किया जा रहा है। निमित्त अर्थात् (ग्रन्थ-निर्माण का) कारण। यहाँ इस ग्रन्थ के निर्माण में स्व-पर कल्याण करने की भावना ही मुख्यतः निमित्त है।

विनेयविशेषोपरि अनुग्रहबुद्ध्या ग्रन्थरचना यदि क्रियेत चेत् तर्हि तस्यापि निमित्तता स्वीक्रियते। यथा, पञ्चास्तिकाय-तात्पर्यवृत्तिटीकायां प्रतिपादितं यदाचार्यकुन्दकुन्ददेवाः शिवकुमारमहाराजशिष्यं प्रतिबोधयितुं पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रं रचितवन्तः इति। एवमेव आचार्ययोगीन्दुः परमात्मप्रकाशरचनां भट्टप्रभाकरनिमित्तेन कृतवान्। किन्तु एतद्ग्रन्थरचनायां तादृशं किं निमित्तमिति न विज्ञायते। मम सर्वोदयाटीकाया अस्याः करणे तु निमित्तभूता अनेके शिष्याः सन्ति —यथा मुनिः विश्वस्तसागरः, मुनिः विवर्धनसागरः, मुनिः विशेषसागरः, मुनिः विश्रुतसागरः, तथैव आर्यिका विशिष्टश्रीः, विदुषीश्रीः, विभूतिश्रीः इत्यादिकाः।

हेतु-अधिकारो निरूप्यते— हेतुरत्र प्राप्यफलमेव। प्रोक्तनिमित्तमाश्रित्य क्रियमाणेन शास्त्रेण कर्तुरध्येतुश्च योगोपयोगसदुपयोगो भवति। धर्मध्यानं च सम्पद्यते। दुर्ध्यानं तु निरवकाशं भवति। परिणामविशुद्ध्या च असंख्यातगुणश्रेणिकर्मनिर्जरा जायते— इत्यादिकानि साक्षात् हेतुरूपाणि (प्राप्यफलरूपाणि) वा ऊह्यानि। अभ्युदयसुखादिप्राप्तिस्तु परोक्षहेतुः (परोक्षफलं वा) वर्तते इति विज्ञेयम्।

किसी शिष्य-विशेष पर यदि अनुग्रह रखकर किसी ग्रन्थ की रचना की जाती है तो वह (शिष्य आदि) भी ग्रन्थनिर्माण में निमित्त माना जाता है। उदाहरणार्थ, पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति टीका में प्रतिपादित है कि आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने शिष्य शिवकुमार महाराज को प्रतिबोधित करने के निमित्त से पञ्चास्तिकाय की रचना की थी। इसी प्रकार आचार्य योगीन्दु ने परमात्मप्रकाश की रचना प्रभाकरभट्ट के निमित्त से की थी। किन्तु इस (प्रस्तुत बारस अणुवेक्खा) ग्रन्थ की रचना में वैसा कोई निमित्त है —यह ज्ञात नहीं है। मेरे द्वारा रचित की जा रही इस (सर्वोदया नामक) टीका की रचना में तो मेरे अनेक शिष्य निमित्त बने हैं, जैसे— मुनि विश्वस्तसागर, मुनि विवर्धनसागर, मुनि विशेषसागर, मुनि विश्रुतसागर, इसी प्रकार आर्यिका विशिष्टश्री, विदुषीश्री, विभूतिश्री आदि।

अब हेतु अधिकार का निरूपण इस प्रकार है। यहाँ हेतु से तात्पर्य है— प्राप्त होने वाला फल। पूर्वोक्त (स्व-पर कल्याण-सम्पादन) निमित्त का आश्रय लेकर किये जा रहे (प्रस्तुत) शास्त्र के द्वारा इसके कर्ता व पाठक —दोनों के योग (मन-वचन-काय की प्रवृत्ति) एवं उपयोग (चेतना-व्यापार) का सदुपयोग होता है, धर्मध्यान भी संपन्न होता है, दुर्ध्यान (आर्त व रौद्र) का कोई अवसर ही नहीं रह जाता, और परिणाम की विशुद्धि के कारण असंख्यातगुणश्रेणी कर्म-निर्जरा भी होती है, इत्यादि साक्षात् हेतुओं (या प्राप्त होने वाले प्रशस्त फलों) का अनुमान कर लेना चाहिए। अभ्युदय (व निःश्रेयस) सुख आदि की प्राप्ति तो परोक्ष हेतु (या फल) है— यह जानना चाहिए।

परिमाणं द्विविधम्, भावापेक्षया (अर्थापेक्षया), द्रव्यापेक्षया च। तत्र भावपरिमाणं सूक्ष्मतया दुर्बोध्यम्, अतो न कथयितुं शक्यते छद्मस्थावस्थास्थितैर्मादृशैर्जनैः। द्रव्यपरिमाणं तु द्वादशाधिकार-विभक्तमेकाधिकनवतिगाथात्मकमिति ज्ञेयम्। नाम ग्रन्थस्यास्य वर्तते —बारस अणुवेक्खा (द्वादश अनुप्रेक्षाः) इति। द्वादशअनुप्रेक्षाणां निरूपणमत्र कृतमित्यतोऽस्य अन्वर्थकमेव नाम।

कर्तृत्वं चात्र विचार्यते। चरमतीर्थंकरवर्द्धमानदिव्यध्वनि-आविर्भूतद्रव्यश्रुतमाकर्ण्य गणधरादिषु प्रकटितं भावश्रुतम्, तदाधृत्य गणधरैर्निबद्धं द्वादशाङ्गात्मकं श्रुतम्। तदाधृत्य परवर्तिभिराचार्यैः विरचितेषु शास्त्रेषु श्रुतपरम्परा प्रवर्तिता समभवत्। क्रमेण सैव श्रुतज्ञानपरम्परा श्रीमद्भिः कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः समधिगता, येन वयमद्यापि समुपकृता भवामः। इत्येवं विचार्यमाणे (अर्थतः) मूलतन्त्रकर्ता चरमतीर्थंकरः श्रीवर्धमानस्वामी सिद्ध्यति। उत्तरतन्त्रकर्तारः चतुर्ज्ञानधराः गणधरदेवाः, तदुत्तरतन्त्रकर्तृषु अद्वितीयाः, व्यावहारिकदृष्ट्या चास्य ग्रन्थस्य (शब्दतः) कर्तारः श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवाः, अर्थकर्तारस्तु तत्पूर्ववर्तिश्रुतकेवलिभद्रबाहुप्रभृतय आचार्याः —इति च ज्ञेयम्।

परिमाण (ग्रन्थ का) दो प्रकार का होता है— भाव (अर्थ) की अपेक्षा से तथा द्रव्य (शब्द, वर्ण आदि) की अपेक्षा से। इनमें भाव परिमाण सूक्ष्म व दुर्बोध्य है, इसलिए मुझ जैसे छद्मस्थ द्वारा नहीं कहा जा सकता। इस ग्रन्थ का द्रव्य परिमाण बारह अधिकारों में विभक्त इकानवे गाथाओं वाला है। इस ग्रन्थ का नाम है— बारस अणुवेक्खा (द्वादश अनुप्रेक्षा)। इसमें बारह अनुप्रेक्षाओं का निरूपण किया गया है, इसलिए उक्त नाम अन्वर्थक (विषयानुरूप) है।

(ग्रन्थ के) कर्तृत्व के सम्बन्ध में विचार कर रहे हैं। अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमान स्वामी की दिव्यध्वनि का श्रवण कर गणधर देवों में भावश्रुत प्रकट हुआ, जिसके आधार पर गणधरों ने द्वादशाङ्ग रूप द्रव्यश्रुत की रचना की। उसके आधार पर उत्तरवर्ती आचार्यों ने जो ग्रन्थ रचे, उनके माध्यम से श्रुत-परम्परा उत्तरोत्तर प्रवर्तित होती रही। क्रमशः वही श्रुत-परम्परा श्रीमान् आचार्यकुन्दकुन्द देव को प्राप्त हुई, जिससे हम सब आज भी उपकृत हो रहे हैं। इस प्रकार विचार करने पर, अंतिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमान स्वामी इस ग्रन्थ के (अर्थतः) मूलकर्ता सिद्ध हुए। चारों ज्ञानों के धारक गणधर देव उत्तरतंत्रकर्ता हैं, उनके उत्तरवर्ती आचार्यों में अद्वितीय, और व्यावहारिक दृष्टि से ग्रन्थ के (शब्दतः) रचयिता, आचार्य कुन्दकुन्द देव हैं। अर्थतः रचयिता तो उनके पूर्ववर्ती श्रुतकेवली भद्रबाहु आदि आचार्य हैं— ऐसा जानना चाहिए।

पञ्चास्तिकायस्य तात्पर्यवृत्तिटीकायां जयसेनाचार्येण संकेतितं तथा कस्मिंश्चित् शिलालेखेऽपि संकेतितं वर्तते यद् श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवा: पूर्वविदेहं श्रीमन्दर(सीमन्धर)-स्वामितीर्थंकरपरमदेवसविधे गत्वा, ततश्च शुद्धात्मतत्त्वादिज्ञानं समधिगम्य प्रत्यावृत्ता:। अतो एतद्ग्रन्थस्य साक्षाद् अर्थकर्ता श्रीमन्दर(सीमन्धर)स्वामितीर्थंकरदेव: इति कैश्चित्स्वीक्रियते। किन्तु एतत्प्रामाणिकताविषये अधिकविमर्श: समपेक्ष्यते। वस्तुतस्तु श्रीकुन्दकुन्दाचार्यवरै: समयसारग्रन्थे *'वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं'* **इति, नियमसारग्रन्थे च** *'वोच्छामि नियमसारं केवलि-सुदकेवलीभणिदं'* **इति, सुत्तपाहुडग्रन्थे च** *'सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं आइरियपरंपरेण मग्गेण'* **इति निर्दिष्टम्। कुत्रचिदपि स्वग्रन्थेषु श्रीमन्दिरतीर्थंकरस्वामिन: प्रति स्वज्ञानप्राप्तिहेतो: कृतज्ञता तैर्न ज्ञापिता। न च दशभक्त्यादिसंग्रहेऽपि श्रीमन्दर(सीमन्धर)स्वामिभक्तिरूपा काचित् तेषां कृतिरुप-लभ्यते। यदि श्रीमन्दर(सीमन्धर)स्वामिन: सकाशाद् तत्त्वोपदेश: तै: प्राप्त: स्यात्, तर्हि तस्य क्वचित् समुल्लेख: तैरवश्यमेव विहित: स्यात्। एवं षडधिकारा: क्रमेण व्याख्याता:। इदानीं ग्रन्थतात्पर्यार्थव्याख्या विधीयते।**

पञ्चास्तिकाय की जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में तथा किसी शिलालेख में भी ऐसा संकेत किया गया है कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्य देव पूर्वविदेह गए थे, और तीर्थंकर श्रीमन्दर(सीमन्धर) स्वामी के पास जाकर उनसे शुद्धात्मतत्त्व आदि का ज्ञान प्राप्त कर लौट आए थे। अत: इस (प्रस्तुत) ग्रन्थ के साक्षात् अर्थकर्ता तो तीर्थंकर श्रीमन्दर(सीमन्धर)स्वामी हैं— ऐसा भी किन्हीं का मत है। किन्तु इस कथन की प्रामाणिकता के विषय में अधिक विचार-विमर्श अपेक्षित है। वस्तुत: तो श्रीकुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने समयसार ग्रन्थ में 'मैं श्रुतकेवली द्वारा भाषित समयप्राभृत को कहूँगा', और नियमसार ग्रन्थ में 'केवली-श्रुतकेवली-भाषित नियमसार का निरूपण करूँगा', तथा सूत्रप्राभृत ग्रन्थ में 'आचार्य-परम्परा के माध्यम से सूत्र में जो उपदिष्ट हुआ है' —इस प्रकार कहा है। उन्होंने कहीं भी अपने ग्रन्थों में तीर्थंकर श्रीमन्दर (सीमन्धर) स्वामी के प्रति अपने ज्ञान-प्राप्ति के निमित्त से कृतज्ञता व्यक्त नहीं की है। 'दश भक्ति' के अन्तर्गत भी आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा श्रीमन्दर (सीमन्धर) स्वामी के प्रति रचित कोई 'भक्ति' उपलब्ध नहीं होती। यदि तीर्थंकर श्रीमन्दर (सीमन्धर) स्वामी से उन्होंने तत्त्वोपदेश ग्रहण किया होता तो उसका कोई न कोई उल्लेख वे अवश्य करते। इस प्रकार, छ: अधिकारों का क्रमश: निरूपण किया गया। अब ग्रन्थ के तात्पर्य 'अर्थ' का व्याख्यान (आगे) किया जा रहा है।

[मंगलाचरणं]

।। मङ्गलाचरणम् ।।

अथ श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवाः ग्रन्थादौ मङ्गलाभिधानपूर्वकं ग्रन्थाभिधानं प्रतिजानते—

णमिदूण सव्वसिद्धे, झाणुत्तम-खविद-दीहसंसारे।
दस दस दो दो य जिणे, दस दो अणुपेहणं वोच्छे ॥१ ॥

छाया— *नत्वा सर्वसिद्धान् ध्यानोत्तम-क्षपित-दीर्घसंसारान्।*
दश दश द्वौ द्वौ च जिनान् दश द्वे अनुप्रेक्षणं वक्ष्ये॥

(सर्वोदया टीका—) झाणुत्तम-खविद-दीह-संसारे सव्वसिद्धे दस दस दो दो य जिणे णमिदूण, दस दो अणुपेहणं वोच्छे *(ध्यानोत्तम-क्षपित-दीर्घसंसारान् सर्वसिद्धान् दश, दश, द्वौ द्वौ च जिनान् नत्वा, दश द्वे अनुप्रेक्षणानि च वक्ष्ये)* **—इत्यन्वयः।**

[मङ्गलाचरण]

अब आचार्य कुन्दकुन्द देव ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण-पूर्वक ग्रन्थ-रचना की प्रतिज्ञा का कथन कर रहे हैं—

(1)

(गाथा-अर्थ—) जिन्होंने उत्तम ध्यान से दीर्घ संसार (की परम्परा) को नष्ट कर दिया है, उन समस्त सिद्धात्माओं को तथा चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार कर, मैं बारह अनुप्रेक्षाओं (के स्वरूप) को कहूँगा।

(सर्वोदया टीका—) *[गाथा के अर्थ को समझने के लिए गाथा के उचित पद-क्रम को जानना लाभदायक होता है। इस दृष्टि से प्रत्येक गाथा के व्याख्यान में, सर्वप्रथम अन्वय (पद-क्रम) का निर्देश किया जाना अपेक्षित होता है।]* इस गाथा के 'अन्वय' का स्वरूप इस प्रकार है— *झाणुत्तमखविददीहसंसारे सव्वसिद्धे दस दस दो य जिणे णमिदूण दस दो अणुपेहणं वोच्छे।* इसका संस्कृत रूप इस प्रकार होगा— *ध्यानोत्तमक्षपित-दीर्घसंसारान् सर्वसिद्धान् दश दश द्वौ द्वौ च जिनान् नत्वा दश द्वे अनुप्रेक्षणानि वक्ष्ये।*

(झाणुत्तमखविददीहसंसारे) **ध्यानोत्तमेन उत्कृष्टशुक्लध्यानेन क्षपितः नाशितः दीर्घसंसारः अनादिजन्ममरणसुदीर्घपरम्परात्मकः यैः, तान्** *(सव्वसिद्धे)* **सर्वसिद्धान्, समस्तान् सिद्धावस्थां प्राप्तान् आत्मनः, तथा** *(दस दस दो दो य जिणे)* **दश दश द्वौ द्वौ च मिलित्वा चतुर्विंशतिसंख्या सम्पद्यते, तत्संख्याकान् जिनान्, तीर्थंकरावस्थां प्राप्तान् ऋषभादि-महावीर-पर्यन्तान् इत्यर्थः। जयति रागादीन् कर्माणि च यः स जिनः तान् वीतरागान्** *(णमिदूण)* **नत्वा, द्रव्यतो भावतश्च वन्दनादिकं विधाय,** *(दस दो)* **दश द्वे च मिलित्वा द्वादशसंख्या पूर्णा भवति, एवं द्वादशसंख्यावन्ति** *(अणुपेहणं)* **अनुप्रेक्षणानि, द्वादशानुप्रेक्षानामकग्रन्थरूपेण,** *(वोच्छे)* **वक्ष्ये, निरूपयिष्यामि, व्याख्यास्यामि, द्वादशानाम् अनुप्रेक्षाणां क्रमशः कथनं करिष्ये —इत्यर्थः। अत्र ध्यानोत्तमक्षपितदीर्घसंसाराः सिद्धाः जिनाश्च** (केवलिनः, अर्हन्तः, तीर्थंकराश्च) **निर्दिष्टाः। तेन ध्यानस्य मुक्तिप्राप्तौ जिनत्वप्राप्तौ च प्रमुखकारणत्वं संसूचितं भवति।**

उक्तं च ज्ञानार्णवे *(23/7)* **शुभचन्द्राचार्येण—** *'ध्यानमेवापवर्गस्य मुख्यमेकं निबन्धनम्'* **इति।**

(ध्यानोत्तमक्षपितदीर्घसंसारान्) उत्तम ध्यान से, अर्थात् उत्कृष्ट शुक्ल ध्यान के बल पर जिन्होंने, दीर्घसंसार को अर्थात् अनादि जन्म-मरण की सुदीर्घ परम्परा को, क्षपित या नष्ट कर दिया है, ऐसे (सर्वसिद्धान्) सभी सिद्धों, सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर चुकी आत्माओं को, तथा **(दश-दश द्वौ द्वौ च जिनान्)** दश, दश, दो, दो इन्हें मिलाने से चौबीस संख्या पूरी होती है, उन चौबीस संख्या वाले 'जिन' देवों को, अर्थात् तीर्थंकर-स्वरूप को प्राप्त करने वाले (प्रथम तीर्थंकर) ऋषभदेव से लेकर (अंतिम तीर्थंकर) महावीर स्वामी तक सभी चौबीस जिनों को। 'जिन' का अर्थ है— जो राग आदि कषायों पर या (घाती) कर्मों पर विजय प्राप्त करता है अर्थात् वीतराग देव। उन सबको **(नत्वा)** नमस्कार करके, अर्थात् द्रव्यवन्दना और भाववन्दना करके। **(दश द्वौ)** दस व दो —इन्हें मिलाकर बारह संख्या बनती है, अतः बारह संख्या वाली **(अनुप्रेक्षण)** अनुप्रेक्षाओं को **(वक्ष्ये)** कहूँगा, अर्थात् सभी बारह अनुप्रेक्षाओं का क्रम से कथन करूँगा। यहाँ 'उत्तम ध्यान द्वारा दीर्घ संसार का नाश करने वाले' यह विशेषण सिद्ध और जिन (केवली, अर्हंत, व तीर्थंकर आदि) —दोनों के लिए निर्दिष्ट है। इस कथन से यह सूचित किया गया है कि मुक्ति (सिद्धत्व) की प्राप्ति हो या 'जिनत्व' (तीर्थंकरत्व) की प्राप्ति हो, उनमें ध्यान की ही प्रमुखता है।

ज्ञानार्णव (23/7) में आचार्य शुभचन्द्र ने कहा भी है— 'मोक्ष की प्राप्ति में कोई मुख्य कारण है तो वह ध्यान ही है'।

कुन्दकुन्दाचार्यप्रवरैः रयणसारे *(गाथा-150)* **च निर्दिष्टम्—***'झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं, णिज्जरणफलं मोक्खं'* **इति।**

अमितगतिश्रावकाचारे *(15/96)* **च विशदतया प्रोक्तम्—**

तपांसि रौद्राण्यनिशं विधत्तां, शास्त्राण्यधीतामखिलानि नित्यम्।
धत्तां चरित्राणि निरस्ततन्द्रः, न सिद्ध्यति ध्यानमृते तथाऽपि॥

तत्र किं नाम ध्यानम्? उच्यते। तत्त्वार्थसूत्रे प्रोक्तम्— *'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्' (त. सू. 9/27)* **इति। एकाग्रे चिन्ताया निरोध एव ध्यानम्। एकाग्रता व्यग्रता-अभाव एव। व्यग्रताकारणं बाह्यविषयेषु चित्तव्यापारः। तद्व्यापाराद् निवृत्तिर्ध्याने आवश्यकी। एकाग्रपदे 'एक'-पदस्यार्थः— तत्त्वं, परमेष्ठी, आत्मपदार्थश्च निर्दिश्यते। अतः, अनेकविधबाह्यपदार्थसंसर्गजन्यव्यग्रतां विहाय एकस्मिन् पदार्थे, विशेषतः शुद्धात्मनि मुख्यतया चित्तव्यापारस्थिरीकरणं ध्यानम् —इति प्रोक्तध्यानलक्षणस्य तात्पर्यभूतोऽर्थः प्रतिफलति।**

रयणसार (गाथा-150) में भी आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने यह निर्देश किया है— 'ध्यान से समस्त कर्मों की निर्जरा होती है, और निर्जरा का फल है— 'मोक्ष' की प्राप्ति'।

अमितगति-श्रावकाचार (15/96) में तो स्पष्ट रूप से कहा ही गया है— ''कोई रात-दिन (कितने ही) घोर तप कर ले, चाहे सारे शास्त्रों का सदैव (कितना ही) स्वाध्याय करता रहे, आलस्यहीन होकर चाहे (कितना ही) चारित्र का पालन करे, किन्तु 'ध्यान' के (अनुष्ठान के) बिना सिद्धि यानी मुक्ति प्राप्त नहीं होती''।

आखिर वह 'ध्यान' क्या है? बता रहे हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है— ''एकाग्रचिन्ता-निरोध 'ध्यान' है'' (त. सू. 9/27)। अर्थात् 'एकाग्र' में चिन्ता का निरोध करना ही 'ध्यान' है। एकाग्रता यानी व्यग्रता का अभाव। व्यग्रता का कारण है— बाह्य पदार्थों में चित्त का व्यापार, उस व्यापार से निवृत्ति का होना ध्यान में आवश्यक है। 'एकाग्र' शब्द में प्रयुक्त 'एक' पद का अर्थ है— तत्त्व, परमेष्ठी या आत्मा। अतः उक्त ध्यान-लक्षण का तात्पर्यभूत अर्थ इस प्रकार प्रतिफलित होता है— अनेक प्रकार के बाह्य पदार्थों के संसर्ग से होने वाली (मानसिक) व्यग्रता से निवृत्त होकर, किसी एक पदार्थ में, विशेषतया शुद्ध आत्मा में प्रमुख रूप से चित्त-व्यापार को स्थिर करना —यही ध्यान है।

अतो न केवलं चिन्तानिरोधः, अपितु एकाग्रताऽपि अर्थात् एकस्मिन् वस्तुनि चित्तस्थिरताऽपि तत्रापेक्षिता। एवं प्राणापाननिरोधो ध्यानम् —इत्यपि न स्वीकृतम्, यतो हि ध्यानावस्थायां मन्दमन्दप्राणापानसंचारोऽपि अपेक्षितः, अन्यथा शरीरपातप्रसंगात्।

ग्रन्थकारेण न केवलं ध्यानेन, अपितु ध्यानोत्तमद्वारा दीर्घसंसारस्य क्षयः संकेतितः, तत्र कारणमिदं यन्न सर्वाणि ध्यानानि कर्मक्षये कारणानि भवन्ति, अपितु आर्तरौद्रध्याने तु कर्मबन्धनस्यैव कारणभूते प्रोच्येते।

ज्ञानार्णवे च *(39/6)* **प्रोक्तं—** *'स्यातां तत्रार्तरौद्रे द्वे दुर्ध्यानेऽत्यन्तदुःखदे'* **इति। अतः उत्तमध्यानपदेन प्रशस्तध्यानयोः धर्म्यशुक्लध्यानयोरेव ग्रहणं कार्यम्, आर्तरौद्रध्यानयोर्नैव— इत्याशयेन गाथायामुत्तमपदं निर्दिष्टम्।**

तत्त्वार्थसूत्रकारोऽपि आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लेतिचतुर्भेदभिन्नेषु ध्यानेषु धर्म्यशुक्लयोरेव मोक्षहेतुत्वं समर्थयन्नुक्तवान्— *'परे मोक्षहेतू' (त. सू. 9/29)* **इति।**

इसलिए, केवल चिन्ता (चिन्तन) का निरोध ध्यान नहीं कहा जाता है, अपितु (चिन्तन-निरोध, चिन्तन की बहुविषयता के निरोध के साथ-साथ) वहाँ (ध्यान में) एकाग्रता, अर्थात् एक वस्तु में चित्त-स्थिरता भी अपेक्षित है। इसी प्रकार प्राणापान (श्वास-उच्छ्वास) के निरोध मात्र को भी ध्यान रूप से स्वीकृत नहीं किया गया है, क्योंकि ध्यान की स्थिति में मन्द-मन्द प्राणापान का संचार भी अपेक्षित है ही, अन्यथा शरीरपात (मृत्यु) सम्भावित है।

ग्रन्थकार ने मात्र ध्यान से नहीं, अपितु ध्यानोत्तम से (उत्तम ध्यान से) ही दीर्घसंसार के क्षय होने का संकेत किया है, उसका कारण यह है कि सभी ध्यान कर्म-क्षय के कारण नहीं होते, अपितु आर्त व रौद्र —ये दो ध्यान तो कर्म-बन्धन के ही कारण हैं।

ज्ञानार्णव (39/6) में कहा गया है— "उन ध्यानों में आर्त व रौद्र —ये दो (ध्यान) दुर्ध्यान हैं और अत्यन्त दुःखदायक हैं।" इसलिए उत्तम ध्यान (ध्यानोत्तम) से धर्मध्यान व शुक्ल ध्यान —इन दोनों प्रशस्त ध्यानों का ही यहाँ ग्रहण करना चाहिए, न कि आर्त व रौद्र ध्यान का —इस आशय से (ध्यान के साथ) उत्तम पद का निर्देश किया गया है।

ध्यान के आर्त, रौद्र, धर्म व शुक्ल —ये चार भेद बताकर तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी अंतिम दो ध्यानों को ही मोक्षहेतुता का निर्देश करते हुए कहा है— 'अंतिम दो मोक्ष के हेतु हैं' (त. सू.-9/29)।

आचार्य-अकलंकेनापि स्पष्टतया निरूपितम्— *'तदेतच्चतुर्विधं ध्यानं द्वैविध्यमश्नुते। कुतः? प्रशस्त-अप्रशस्तभेदात्। अप्रशस्तम् अपुण्यास्रवकारणत्वात्। कर्मनिर्दहनसामर्थ्यात् प्रशस्तम्' (त. राजवार्तिक— 9/28/4)* **इति।**

मूलाचारेऽपि *(गाथा-394)* **भगवद्भिराचार्यवर्यैः प्रोक्तम्—** *'धम्मं सुक्कं च दुवे पसत्थझाणाणि णेयाणि'* **इति।**

द्रव्यसंग्रहेऽपि *(गाथा-47)— 'दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा'* **इति भणितमास्ते।**

एवं ध्यानं च तदुत्तमं च इति ध्यानोत्तमम्, अर्थात् धर्म्यशुक्लेति ध्यानद्वयम्, तत्तु धर्म्यध्यानं शुक्लध्यानं च कथ्यते, तेनैव सर्वज्ञत्वसिद्धत्वादिप्राप्तिः सम्भवति। आचार्याकलङ्कमते श्रेण्यारोहणात् प्राक् धर्मध्यानम्, श्रेण्योः (उपशमक्षपकश्रेण्योः) शुक्लध्यानं धर्मध्यानं च भवतः *(राजवार्तिक, 9/37/3)* **इति।**

आचार्य अकलंक ने भी स्पष्ट रूप से यह बताया— "यह चतुर्विध ध्यान भी दो प्रकार का है— कैसे? प्रशस्त और अप्रशस्त —इन दो भेदों के कारण। पाप का आस्रव कराने के कारण (आर्त व रौद्र) अप्रशस्त कहे जाते हैं और कर्म-क्षय करने के कारण (धर्म व शुक्ल) प्रशस्त हैं" (त. राजवार्तिक 9/28/4)।

मूलाचार (गाथा-394) में भी आचार्य ने कहा है— "धर्म व शुक्ल —इन दो ध्यानों को प्रशस्त ध्यान समझना चाहिए"।

द्रव्यसंग्रह (गाथा-47) में भी आचार्य का कथन है— "मोक्ष के दो साधक हैं— निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग, इन दोनों को ही मुनि ध्यान-साधना में नियमतः प्राप्त करता है (दोनों का ही अनुष्ठान करता है)।"

इस प्रकार, ध्यान हो और उत्तम हो, उसे ध्यानोत्तम, अर्थात् धर्मध्यान व शुक्लध्यान कहते हैं। इन्हीं (दो) के द्वारा सर्वज्ञता व सिद्धत्व आदि की प्राप्ति सम्भव होती है। आचार्य अकलंक (राजवार्तिक 9/37/3) के अनुसार, श्रेणी-आरोहण (उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी में अग्रसर होने) से पूर्व, धर्मध्यान का (ही) सद्भाव होता है और श्रेणी (उपशम व क्षपक) में धर्म-ध्यान व शुक्लध्यान —दोनों का सद्भाव पाया जाता है।

अत्रायं विशेषः— केवलज्ञानस्य सर्वज्ञताया वा प्राप्तिः परम्परया धर्मध्यानेन, साक्षात्तु शुक्लध्यानेन भवति। शुक्लध्यानस्यैव चतुर्षु भेदेषु प्रथमभेदद्वयेन सर्वघातिकर्मक्षये सर्वज्ञता प्रकटीभवति। शुक्लध्यानस्य चान्तिमौ द्वौ भेदौ केवलिनामेव, न छद्मस्थानाम् *(तत्त्वार्थ सू. 9/38)*। **केवलिनां मोक्षप्राप्तिस्तु उत्कृष्टतमशुक्लध्यानेन (चतुर्थभेदरूपव्युपरतक्रियानिवृत्तिसंज्ञकेन समुच्छिन्नक्रिया-निवृत्ति —इत्यपरपर्यायेण) एव साक्षात् भवति।**

ज्ञानार्णवेऽपि *(39/6)* **समर्थितमेतत्—**

छद्मस्थयोगिनामाद्ये, द्वे शुक्ले परिकीर्तिते।
द्वे चान्ते क्षीणदोषाणां केवलज्ञानचक्षुषाम्।।

अपि च *(38/25)* **तत्रैव—**

धर्मध्यानं च शुक्लं च स्वीकृत्य निजवीर्यतः।
घातिकर्मक्षयं कृत्वा व्रजन्ति पदमव्ययम्।।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है— केवलज्ञान या सर्वज्ञता की प्राप्ति परम्परया धर्मध्यान से तथा उसकी साक्षात् प्राप्ति शुक्लध्यान से होती है। शुक्ल ध्यान के चार भेद बताए हैं, उनमें प्रथम दो भेदों (पृथक्त्ववितर्क सवीचार तथा एकत्ववितर्क अवीचार नामक ध्यान) द्वारा समस्त घाती कर्मों का क्षय होने पर सर्वज्ञता प्रकटित होती है। शुक्लध्यान के अंतिम दो भेद केवली (सयोगी व अयोगी) के ही सम्भव हैं, छद्मस्थों के नहीं (तत्त्वार्थसूत्र-9/38)। केवली (सयोग व अयोगकेवली) को मोक्षप्राप्ति (तो) उत्कृष्टतम शुक्लध्यान (के चतुर्थ भेद- व्युपरतक्रियानिवृत्ति, जिसका दूसरा नाम समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति नामक ध्यान भी है, उसके) द्वारा (ही) साक्षात् होती है।

ज्ञानार्णव (39/6) में भी इसी का समर्थन करते हुए कहा गया है—

"शुक्लध्यान के प्रथम दो भेद छद्मस्थ योगी जनों के होते हैं और अंतिम दो भेद वीतराग केवलियों में पाये जाते हैं।"

और यहाँ यह (ज्ञानार्णव-38/25) भी कहा गया है—

"धर्मध्यान व शुक्ल ध्यान को यथाशक्ति अंगीकार कर (जीव) घाती कर्मों का क्षय कर अव्यय पद (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं।"

एवं धर्मध्यानं परम्परया, शुक्लध्यानस्य च द्वौ आद्यौ भेदौ (पृथक्त्ववितर्कवीचार — एकत्ववितर्कअवीचारेतिनामकौ) सर्वज्ञतायां सर्वघातिकर्मक्षये च साक्षाद् हेतुत्वं भजतः। मोक्षप्राप्तौ च सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपातिशुक्लध्यानं परम्परया, समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिशुक्लध्यानं *(व्युपरतक्रिया-निवर्ति वा)* **तु साक्षात् कारणमिति विज्ञेयम्।**

एतानि ध्यानानि उत्कृष्टतः अन्तर्मुहूर्तपर्यन्तमेव भवन्ति। ततोऽनन्तरं ध्यानस्य एकाग्रता निवर्तते अर्थात् ध्यातव्यपदार्थादन्यस्मिन् पदार्थे ध्यानं परिवर्तते। तदनन्तरं पुनः पूर्वस्मिन् पदार्थे ध्यानमेकाग्रता वाऽपि संभवत्येव, तस्यापि स्थितिरन्तर्मुहूर्तमेव —इति तात्पर्यम्।

एतदुत्कृष्टध्यानकालस्थितिरपि तेषामेव, ये वज्रवृषभनाराचसंहननादि-उत्तमसंहननत्रयधारिणो भवन्ति, नान्येषाम्। सामान्यजनानां तु ध्यानस्थितिः अल्पकालिकी एव, यतो हि तेषां प्रोक्त-अन्तर्मुहूर्तकालपर्यन्तस्थितियोग्या क्षमता नास्ति।

इस तरह, सर्वज्ञता की प्राप्ति एवं समस्त घाती कर्मों के क्षय में धर्मध्यान जहाँ परम्परया (परिपाटी) कारण है, वहाँ शुक्लध्यान के (समग्रतया) प्रथम दो भेद (पृथक्त्ववितर्क वीचार व एकत्ववितर्क अवीचार) साक्षात् कारण हैं। मोक्ष की प्राप्ति में (शुक्ल ध्यान का तीसरा भेद) 'सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती' ध्यान जहाँ परम्परया कारण है, वहाँ (शुक्लध्यान का अंतिम व चतुर्थ भेद) समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति (व्युपरतक्रियानिवर्ति) रूप शुक्ल ध्यान साक्षात् कारण है— यह समझना चाहिए।

इन सभी ध्यानों की उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही होती है। इस स्थिति के बाद ध्यान की एकाग्रता निवृत्त होती है, अर्थात् ध्येय पदार्थ से किसी अन्य पदार्थ की ओर परिवर्तित होती है। इसके पश्चात्, पुनः पूर्व पदार्थ में ध्यान की एकाग्रता सम्भव हो सकती है, किन्तु पुनः वहाँ भी ध्यान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त ही रहेगी —यह तात्पर्य है।

अन्तर्मुहूर्त की यह उत्कृष्ट स्थिति भी उन्हीं की हो पाती है जो वज्रवृषभनाराच संहनन आदि तीन उत्तम संहननों के धारक होते हैं, अन्य किसी की नहीं। सामान्य जनों के ध्यान की स्थिति अपेक्षाकृत अल्पकालिक होती है, क्योंकि उनकी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त वाली उक्त उत्कृष्ट स्थिति के योग्य क्षमता नहीं होती।

एतत्सर्वं तत्त्वार्थसूत्रे *(9/27)— 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्'* **इति सूत्रे, तत्सूत्रस्यैव व्याख्याग्रन्थे राजवार्तिके प्रतिपादितम्, तत एव विस्तरेण विज्ञेयम्।**

इदानीं प्रकृतमनुसरामः। सर्वसिद्धान् तथा चतुर्विंशतितीर्थंकरान् प्रणम्य आचार्यः गाथायामस्यां विरच्यमानग्रन्थस्य नाम, तदभिधेयं च निर्दिशति— *'वोच्छे अणुपेहणं'* **इति। अनुप्रेक्षणम्, अनुप्रेक्षां वा वक्ष्ये निरूपयिष्यामि। का अनुप्रेक्षाः? उच्यते। प्रेक्षा ध्यानपर्यायरूपा। 'अनु' इति अव्ययपदं सामीप्ये आनुकूल्ये च प्रयुज्यते। अतो ध्यानपृष्ठवर्ति ध्यानानुकूलं च यच्चिन्तनम्, तद् अनुप्रेक्षापदेन अभिधीयते। कति ताः अनुप्रेक्षाः? उच्यते अत्रैव— 'दश दो', अर्थात् द्वादश अनुप्रेक्षाः निरूपिता भविष्यन्ति ग्रन्थेऽस्मिन्। एतेन एतस्य ग्रन्थस्य** 'बारस अणुवेक्खा' **(द्वादश अनुप्रेक्षा) इति नामापि संकेतितम्।**

अत एव भगवती-आराधनाग्रन्थे *(गाथा-1868)* **अनुप्रेक्षाणां वैशिष्ट्यमित्थं प्रतिपादितम्—** *'इय आलंबणमणुपेहाओ धम्मस्स होंति ज्झाणस्स'* **इति।**

ये सभी बातें तत्त्वार्थसूत्र (9/27) में 'उत्तमसंहननस्य एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् आन्तर्मुहूर्तात्' इस सूत्र के रूप में तथा इसी सूत्र के व्याख्याग्रन्थ राजवार्तिक में प्रतिपादित की गई हैं, वहीं से विस्तार पूर्वक जानना चाहिए।

अब (पुनः) प्रस्तुत विषय पर आते हैं। सभी सिद्धात्माओं तथा चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार कर आचार्य स्वयं द्वारा विरचित किये जाने वाले ग्रन्थ का नाम, और साथ ही उसके प्रतिपाद्य विषय का भी निर्देश इस गाथा में कर रहे हैं— (वक्ष्ये अनुप्रेक्षणम्)। अनुप्रेक्षण या अनुप्रेक्षाओं का मैं निरूपण करूँगा। वे अनुप्रेक्षाएँ क्या हैं? बता रहे हैं। 'प्रेक्षा' ध्यान का ही एक पर्याय (वाची शब्द) है। 'अनु' यह अव्यय पद है, जो अनुकूलता या समीपता अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः ध्यान का पुरोवर्ती और ध्यान-अनुकूल जो भी चिन्तन है, वह 'अनुप्रेक्षा' पद से अभिहित होता है। वे अनुप्रेक्षाएँ कितनी हैं? इसका उत्तर गाथाकार ने यहीं दे दिया है— (दस दो) बारह अनुप्रेक्षाओं का निरूपण इस ग्रन्थ में होगा। इस कथन द्वारा इस ग्रन्थ के 'बारस अणुवेक्खा' (या द्वादश अनुप्रेक्षा) इस नाम का भी उन्होंने संकेत कर दिया है।

इसी दृष्टि से 'भगवती-आराधना' ग्रन्थ (गाथा-1868) में अनुप्रेक्षाओं की विशेषताओं को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है— ''अनुप्रेक्षाएँ धर्मध्यान की आलम्बन होती हैं।''

'अधिगतार्थस्य मनसा अभ्यास: अनुप्रेक्षापदार्थ:' **इति पूज्यपादाचार्याः** *(सर्वार्थसिद्धि, 9/25)*।

'स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा:' **—इति अकलङ्काचार्याः** *(त. राजवार्तिक-9/2/4)*।

'अनु' इति पौनःपुन्य-अर्थमपि संकेतयति, अतः पुनः पुनश्चिन्तनमपि अनुप्रेक्षापदेन अभिधीयते। परिज्ञातार्थस्य एकाग्रेण मनसा यत्पुनः पुनरभ्यसनमनुशीलनं साऽनुप्रेक्षा —इति चाचार्यैः स्वीकृतम् *(तत्त्वार्थश्रुतसागरी, 9/25)*।

'बारस' इतिपदेन 'द्वादशैव ताः' इति सूचितम्। ग्रन्थकारेण ग्रन्थेऽस्मिन् तासां क्रमः इत्थं निर्दिष्टः —अध्रुवानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा, एकत्वानुप्रेक्षा, अन्यत्वानुप्रेक्षा, संसारानुप्रेक्षा, लोकानुप्रेक्षा, अशुचित्वानुप्रेक्षा, आस्रवानुप्रेक्षा, संवरानुप्रेक्षा, निर्जरानुप्रेक्षा, धर्मानुप्रेक्षा, बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा —इति।

आचार्य पूज्यपाद के अनुसार 'अनुप्रेक्षा' का अर्थ है— अधिगत पदार्थ का मन से अभ्यास (चिन्तन) करना।

आचार्य अकलंक के अनुसार 'स्वभाव (अनित्यता आदि) का अनुचिन्तन' अनुप्रेक्षा है।

'अनु' यह पद 'बारंबार' अर्थ को व्यक्त करता है, इसलिए 'अनुप्रेक्षा' का अभिधेय अर्थ है— 'पुनः पुनः चिन्तन'। अन्य आचार्यों ने भी (तत्त्वार्थश्रुतसागरी, 9/25) उक्त अर्थ का समर्थन करते हुए 'परिज्ञात पदार्थ का एकाग्र मन से जो बारबार अभ्यास करना है, वह अनुप्रेक्षा है'— ऐसा कहा है।

'बारह' इस पद से ग्रन्थकार यह सूचित कर रहे हैं कि अनुप्रेक्षाओं की संख्या बारह ही है (कम या अधिक नहीं)। ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ में इनका अनुक्रम इस प्रकार निर्दिष्ट किया है— (1) अध्रुवानुप्रेक्षा, (2) अशरणानुप्रेक्षा, (3) एकत्वानुप्रेक्षा, (4) अन्यत्वानुप्रेक्षा (5) संसारानुप्रेक्षा, (6) लोकानुप्रेक्षा, (7) अशुचित्वानुप्रेक्षा, (8) आस्रवानुप्रेक्षा (9) संवरानुप्रेक्षा, (10) निर्जरानुप्रेक्षा, (11) धर्मानुप्रेक्षा, (12) बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा।

भगवती-आराधनाग्रन्थेऽपि *(गाथा-1715, 1547)* **क्रम एष एव स्वीकृतः। अन्यत्र तु क्रमेऽस्मिन् वैपरीत्यं दृश्यते। यथा तत्त्वार्थसूत्रे** *(9/7)* **अनित्य-अशरण-संसार-एकत्व-अन्यत्व-अशुचित्व-आस्रव-संवर-निर्जरा-लोक-बोधिदुर्लभ-धर्मस्वाख्याततत्वेति क्रमः। एतस्मिन् क्रमभेदे दृष्टिभेद एव कारणं विज्ञेयम्। क्रमः कश्चिदपि स्वीक्रियेत, नामापि क्वचिद् भिन्नं स्यात्, तथाऽपि कमपि पक्षमंगीकृत्य एतासां भावनानाम् अनुचिन्तनं ध्यानक्रियायां (एकाग्रचिन्तानिरोधे) सहकारि एवेति विषये न काऽपि विप्रतिपत्तिः। एता अनुप्रेक्षाः शुभभावरूपाः इति रयणसारे** *(गाथा-60-61)* **निर्दिष्टम्। एताभिरशुभयोगस्य संवरो भवति —इति ग्रन्थेऽस्मिन्नेव** *(गाथा-63)* **ग्रन्थकारेण भणितम्।**

समग्रतया एतासामनुप्रेक्षाणां च फलानि ज्ञानार्णवे *(2/192/245)* **इत्थं प्रतिपादितानि—**

विध्याति कषायाग्निः, विगलति रागो विलीयते ध्वान्तम्।
उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात्।।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1715 व 1547) में भी यही क्रम अपनाया गया है। किन्तु अन्यत्र तो इनका विपरीत क्रम दिखाई पड़ता है। जैसे, तत्त्वार्थसूत्र (9/7) में यह क्रम इस प्रकार है— अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ, धर्मस्वाख्यातत्त्व। इस क्रम-भिन्नता का कारण दृष्टिभेद ही है— ऐसा समझना चाहिए। अस्तु, क्रम कोई भी मानें, नाम भी भिन्न हो सकता है, फिर भी किसी भी पक्ष (या क्रम) को ध्यान में रखकर इन भावनाओं का अनुचिन्तन ध्यान (एकाग्रचिन्तानिरोध) में सहकारी है— इस विषय में कोई वैमत्य नहीं है। ये अनुप्रेक्षाएँ शुभभाव रूप हैं— ऐसा 'रयणसार' (गाथा-60-61) में कहा गया है। इनसे अशुभ योग का संवर होता है —यह भी इसी ग्रन्थ (गाथा-63) में बताया गया है।

'ज्ञानार्णव' (2/192/245) में समग्रतया इन अनुप्रेक्षाओं का फल इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

"भावनाओं के अभ्यास से व्यक्ति के हृदय में कषाय की आग बुझती है, राग विगलित (धीरे-धीरे क्षीण) होता है, अँधेरा नष्ट होता है, और ज्ञान-दीप प्रकट होता है।"

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे *(6/42)* **एता भावनाः कर्मक्षयहेतवो भवन्तीति प्रतिपादितम्—**

द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभिः।
तद्भावना भवन्त्येव कर्मणः क्षयकारणम्।।

स्वामिकार्तिकेयमते— एता भावनाः भव्यजन-आनन्दजनन्यः *(कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-1)* **सन्ति। अथ विस्तररुचिविनेयबोधार्थं भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचिते द्वादशानुप्रेक्षाग्रन्थेऽत्र पातनिकासहितं व्याख्यानं विधीयते। तत्रादौ** *'णमिदूण सव्वसिद्धे'* **इति मङ्गलाचरणपूर्वक-शास्त्रकथनप्रतिज्ञामुख्यत्वेन गाथैका गता।**

[इतिपरमपूज्यगणाचार्यश्रीडॉ.विरागसागरविरचितायां सर्वोदया-टीकायां प्रथमगाथारूपेण मङ्गलाचरणाभिधानं सम्पन्नम्।]

'पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका' ग्रन्थ (6/42) में ये भावनाएँ कर्मक्षय में हेतु हैं —यह प्रतिपादित किया गया है—

''महात्माओं को चाहिए कि वे सदैव बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करें। उनके लिए वे भावनाएँ कर्म-क्षय का कारण होती हैं।''

स्वामी कार्तिकेय (कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-1) के अनुसार ये भावनाएँ भव्यजनों के लिए आनन्द की जननी (सिद्ध) होती हैं। अब विस्तार से जानने के इच्छुक शिष्यों को समझाने हेतु भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य-रचित इस 'द्वादश अनुप्रेक्षा' ग्रन्थ में पातनिका-सहित व्याख्यान किया जा रहा है। *['पातनिका' से तात्पर्य है—गाथाओं का क्रम, और विषय-प्रतिपादन का क्रम — इन दोनों की परस्पर-संगति का निरूपण करना। गाथाओं और उनके प्रतिपाद्य विषयों के परिज्ञान हेतु 'पातनिका' एक भूमिका या प्रस्तावना का कार्य करती है।]* सबसे पहले 'णमिदूण सव्वसिद्धे' इत्यादि यह प्रथम गाथा आई, जिसमें मङ्गलाचरण-पूर्वक शास्त्र के कथन की प्रतिज्ञा मुख्यतः की गई है।

[परम पूज्य गणाचार्य श्री डॉ. विरागसागर-कृत सर्वोदया-टीका में मङ्गलाचरण रूप प्रथम गाथा सम्पन्न हुई।]

[पुव्वपीठिआ]

अथ सम्प्रति अनुप्रेक्षा-भेदाः कथ्यन्ते—

अद्धुवमसरणमेयत्तमण्ण-संसारलोगमसुचित्तं।
आसवसंवरणिज्जर-धम्मं बोहिं च चिंतेज्जा ॥२॥

छाया— *अध्रुवम्, अशरणम्, एकत्वम्, अन्यसंसारलोकम् अशुचित्वम्।*
आस्रव-संवर-निर्जरा-धर्मान् बोधिं च चिन्तयेत्॥

(सर्वोदया टीका—) गाथायामन्वयः सुस्थित एव। *(अद्धुवं)* **-अध्रुवम्। अस्य पदस्य 'चिंतेज्जा'** *(चिंतेज्जा)* **इति अन्तिमपदेन सम्बन्धो योजनीयः। अध्रुवं चिन्तनीयम्, भावनीयम्, अनुप्रेक्षणीयम् इत्यर्थो बोध्यः। एवमेव** *(असरणं)* **अशरणत्वम्** *(एयत्तं)* **एकत्वम् इत्यादिकमपि अनुप्रेक्षाविषयत्वेन बोध्यम्। अध्रुवम्, अनित्यम्, अशाश्वतम्, विनाशशीलमित्यादिकाः शब्दा एकार्थका बोध्याः। अनादिकालात् जीवः कर्मबद्धः। शुभाशुभविभावपरिणतिहेतोः अष्टभिः**

[पूर्वपीठिका]

अब अनुप्रेक्षा के भेदों का कथन किया जा रहा है—

(2)

(गाथा-अर्थ—) अध्रुव, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, एवं बोधि (—इन बारह अनुप्रेक्षाओं, भावनाओं) का चिन्तन (अनुप्रेक्षण) करना चाहिए।

(सर्वोदया टीका—) गाथा में अन्वय ज्यों का त्यों है (गाथा में जो पद-क्रम है, वही अर्थ-बोधक वाक्य है)। **(अध्रुवं)** अध्रुव (अध्रुवत्व) का सम्बन्ध **(चिन्तयेत्)** 'चिन्तन करे' इस अंतिम पद के साथ करना चाहिए। अत: अध्रुवता का चिन्तन करना चाहिए, उसकी भावना व अनुप्रेक्षा करनी चाहिए —यह अर्थ फलित होगा। इसी प्रकार, **(अशरणं)** अशरणत्व, **(एकत्वं)** एकत्व —इत्यादि भी अनुप्रेक्षा के योग्य हैं —यह समझना चाहिए। अध्रुव, अनित्य, अशाश्वत, विनाशी —इत्यादि शब्द एकार्थक हैं —यह जानें। (यह) जीव अनादि काल से कर्मबद्ध है। अपने शुभाशुभ परिणति के कारण, वह जीव आठ कर्मों से

कर्मभिर्बद्धो जीवो विविधगतिषु परिभ्रमन् सेन्द्रियाणि शरीराणि, तथा च भोगोपभोगसाधनानि चेतन-अचेतनरूपाणि द्रव्याणि च प्राप्नोति। अनादिजन्ममरणपरम्परायां तानि पौद्गलिकानि द्रव्याणि अनन्तशो गृहीत्वा त्यक्तोज्झितानि। पत्नी-सुत-मित्रादिसंयोगा अपि न शाश्वतिकाः। उपात्त-शरीरेन्द्रियाणामपि क्षीणता, दुर्बलता, अस्थिरता, विनाशिता वाऽपि सर्वैरनुभूयते एव। भौतिकवैभवं, भृत्यादिरूपचेतनस्वामित्वं च न कस्यचित् शाश्वतं तिष्ठति। चक्रवर्तिप्रभृतीनां पुण्यशालिनामपि वैभवं न चिरस्थायि।

तत्रैक एव शाश्वतः पदार्थः चिदानन्दचैतन्यशाली शुद्धात्मा एव। स एव परमार्थतया उपादेयः। तदन्यत्सर्वमपि हेयमेव। उक्तं च समयसारकलशे *(35)* —

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तम्,
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्,
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम्॥

बँधा हुआ, विविध गतियों में संचरण करता हुआ, इन्द्रिय-सहित शरीरों तथा चेतन-अचेतन द्रव्यरूप भोगोपभोग के साधनों को प्राप्त करता है। अनादि जन्म-मरण की परम्परा में यह जीव उन पौद्गलिक द्रव्यों को अनन्त बार ग्रहण कर चुका है और छोड़ चुका है। पत्नी-पुत्र-मित्र आदि के संयोग भी उसके लिए स्थायी नहीं रहे हैं। प्राप्त शरीर व इन्द्रिय की क्षीणता, दुर्बलता, अस्थिरता या विनाशशीलता का भी अनुभव सभी को होता ही रहता है। भौतिक वैभव, नौकर-चाकर आदि चेतन पदार्थों का स्वामित्व भी किसी का शाश्वत नहीं रहता। यहाँ तक कि चक्रवर्तियों जैसे पुण्यात्माओं का भी वैभव कभी चिरस्थायी नहीं रहा।

यदि इन सब में कोई शाश्वत पदार्थ है तो वह है— चिदानन्द चैतन्यशाली शुद्ध आत्मा। वही परमार्थ रूप से (वस्तुतः) उपादेय है, उसके अलावा अन्य सब कुछ हेय है। समयसारकलश (35) में (आचार्य अमृतचन्द्र ने) कहा भी है—

''चित्-शक्ति से रहित अन्य समस्त भावों को मूलतः त्याग कर और प्रकट रूप से अपने चित्-शक्ति मात्र भाव का अवगाहन (ग्रहण) कर, समस्त विश्व के ऊपर सुन्दर रीति से विचरण करने वाले इस एकमात्र अविनाशी आत्मा को अपनी आत्मा में ही साक्षात् अनुभव करें।''

किन्तु अज्ञानी जीवः तदितरपदार्थान् नित्यान् मनुते, तथा च स क्षणिकसुखाभासनिमित्तेषु चेतनाचेतनपदार्थसंयोगेषु शाश्वतीं सुख-स्थितिं विश्वसिति, ततश्च न स कामभोगेभ्यो विरमति, न च शुद्धात्मद्रव्यालम्बनं समाश्रयति। परमनिःश्रेयससुखप्राप्तिस्तु तस्यैव, यो नित्यानित्यविवेकपूर्वं चिदानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मानमेव समाश्रयति। एवं आत्मातिरिक्तेषु सर्वेषु पदार्थेषु अनित्यताया पुनः पुनः चिन्तनमेव अध्रुवानुप्रेक्षा। एतया भावनया तेषु ममत्वाभावाद् अविनश्वरनिजपरमात्मभावना दृढीभवति, ततश्च अक्षयानन्तसुखस्वभाविपरमात्मत्वप्राप्तिः सुकरा भवति। विस्तरस्तु अग्रे वक्ष्यते। *(असरणं)* **न शरणमिति अशरणम्। अनादिदुःखसागरनिमज्जनात् त्रातुं न कोऽपि समर्थः। महासमुद्रे नष्टे पोतयाने, तत्पोतस्थजीवानां न किमपि शरणम्, तथा च महावने व्याघ्रगृहीतस्य मृगस्य त्राणे न किमपि शरणम्, तथैव मृत्युना नीयमानस्य न कोऽपि शरणम्। देवेन्द्र-चक्रवर्ति-सुभट-मित्र-वैद्यादयः, न च तन्त्रमन्त्रमणि-औषधादीनि च प्राप्तायुषः क्षयं निवारयितुं प्रभवन्ति। अतो ज्ञानी न तेषु शरणं मन्यते। ततो जीवस्य कृते किं शरणम्?**

किन्तु अज्ञानी जीव आत्म-भिन्न सभी पदार्थों को नित्य मानता है और क्षणिक सुखाभास में निमित्त चेतन व अचेतन पदार्थों के संयोग (लाभ) में ही शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है— इस पर विश्वास करता है, फलस्वरूप वह कामभोगों से विरत नहीं होता और शुद्धात्म-द्रव्य का आलम्बन भी नहीं ले पाता। वस्तुतः परम निःश्रेयस (मोक्ष) सुख की प्राप्ति तो उसी को हो पाती है जो नित्य-अनित्य-सम्बन्धी विवेक के साथ शुद्धात्मतत्त्व का आश्रय (आत्मद्रव्यदृष्टि) लेता है। इस प्रकार आत्मा से भिन्न सभी पदार्थों में अनित्यता का पुनः-पुनः चिन्तन करना ही अध्रुवानुप्रेक्षा है। इस भावना से उन (आत्मेतर) पदार्थों में ममत्व हट जाता है, फलस्वरूप अविनाशी निज परमात्म सम्बन्धी भावना दृढ़तर होती है और तदनन्तर अक्षय अनन्तसुख स्वभावी परमात्मा की प्राप्ति सुकर हो जाती है। **(अशरणं)**— शरण का न होना— 'अशरण' है। अनादि दुःखसागर में डूबते हुओं को कोई बचाने में समर्थ नहीं है। महासमुद्र में समुद्रयान नष्ट हो जाने पर, उस जहाज के यात्री लोगों के लिए कोई शरण नहीं होता, और किसी महावन में व्याघ्र द्वारा काबू में किये गये किसी हरिण को बचाने वाला (शरणदायक) कोई नहीं होता, वैसे ही मृत्यु से ग्रस्त हो रहे व्यक्ति के लिए कोई शरणभूत (रक्षक) नहीं होता। न तो कोई देवता, इन्द्र, चक्रवर्ती, महान् शूरवीर, मित्र, वैद्य आदि और न तन्त्र-मन्त्र, मणि, औषध आदि ही किसी भी व्यक्ति की आयु के क्षय को रोक पाने में समर्थ हो पाते हैं। इसलिए जो ज्ञानी होता है, वह उन्हें शरण नहीं मानता। ऐसी स्थिति में जीव के लिए शरण आखिर क्या है?

उच्यते— लोकोत्तरशरणभूताः पञ्च परमेष्ठिनः सन्ति। ते एव सद्धर्मोपदेशेन सन्मार्गं दर्शयितुं समर्थाः। एवं तद्दर्शितधर्म एव शरणमिति आचार्य-अकलङ्को राजवार्तिके *(9/7/2)* **प्रत्यपीपदत्। अतो व्यवहारेण अर्हत्-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय-साधुप्रभृतयः संसारसमुद्रे निमज्जतां शरणभूताः सन्ति। परमार्थतस्तु स्वशुद्धात्मैव शरणम्, नान्यः।**

अत एव आचार्यकुन्दकुन्ददेवाः समयसारे *(गाथा-203)* **उद्बोधितवन्तः—**

आदम्हि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण।।

आचार्येणामृतचन्द्रेण च प्रोक्तम्— *"एवं तव तन्नित्यमेव आत्मरतस्य, आत्मसंतुष्टस्य, आत्मतृप्तस्य च वाचाम् अगोचरं सौख्यं भविष्यति" (आत्मख्याति, गाथा-206)* **इति। अतः शुद्धात्ममात्रमेव शरणम्, नेतरद् —इति पुनः पुनः चिन्तनमशरणानुप्रेक्षा भवति। एतस्याः फलं जीवस्य मृत्युभयविमुक्तिः, अथ च अर्हत्प्रणीतमार्गे प्रवृत्तिः प्रवर्द्धते।**

बता रहे हैं— पाँच परमेष्ठी 'लोकोत्तर शरण' हैं। वे ही सद्धर्म का उपदेश देकर जीव को सन्मार्ग दिखाने में सक्षम हैं। उनके द्वारा दर्शित (उपदिष्ट) धर्म ही शरण है— ऐसा आचार्य अकलंक ने राजवार्तिक (9/7/2) में प्रतिपादित किया है। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से संसार-समुद्र में डूब रहे जीवों के लिए अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु —ये पाँच परमेष्ठी शरणभूत होते हैं। परमार्थ दृष्टि से तो स्वशुद्ध परमात्मा ही शरण है, अन्य कोई नहीं।

इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द देव ने समयसार (गाथा-203) में उद्बोधन देते हुए कहा है—

"आत्मा में अपदभूत द्रव्य भावों को छोड़कर निश्चित, स्थिर, एक इस भाव को, जो स्वभावतः अनुभव में आता है, हे भव्य! जैसा है, उसी रूप में ग्रहण करो।"

आचार्य अमृतचन्द्र ने (आत्मख्याति, गाथा-206 में) भी कहा है— "इस प्रकार जब तुम नित्य ही आत्म-निरत, आत्मसंतुष्ट, आत्मतृप्त हो जाओगे तो तब तुम्हें अनिर्वचनीय सुख प्राप्त होगा।" इसलिए (निष्कर्ष यह हुआ कि) शुद्धात्मा मात्र ही शरण है, अन्य कोई नहीं —इसी (स्वभाव) का बार-बार चिन्तन करना —यही अशरणानुप्रेक्षा है। इस अनुप्रेक्षा के फलस्वरूप जीव मृत्यु-भय से मुक्त हो जाता है और अर्हत्प्रणीत (मोक्ष-) मार्ग में उसकी प्रवृत्ति भी बढ़ जाती है।

(*एयत्तं—*) आत्मन एकत्वस्य पुनः पुनश्चिन्तनमेकत्वानुप्रेक्षा तृतीया भवति। शुद्धनिश्चयनयेन अहं परद्रव्याद् भिन्नः, न चाहं चेतनाचेतनादिपरद्रव्यरूपः, न च मम परद्रव्याणि, न च परद्रव्याणामहम्। एक एव आत्मा जायते, म्रियते वा। एक एव च विविधगतिषु कर्मानुरूपं परिभ्रमति। एकाकी एव आत्मा कर्माणि बध्नाति, एकाक्येव च स्वकर्मफलानि भुंक्ते। न च तस्य कश्चिदन्यः सहायकः। इत्येवं प्रकारेण जन्मजरामरणमहादुःखानुभवनं प्रति सहायानपेक्षता एव 'एकत्वम्', तदनुचिन्तनम्— एकत्वानुप्रेक्षा।

श्रीपूज्यपादस्वामिभिः इष्टोपदेशे *(पद्य-27)* एतामनुप्रेक्षां मनसि धृत्वा प्रोक्तम्—

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावाः, मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा॥

तत्त्वसारग्रन्थेऽपि *(गाथा-27-28)* देवसेनाचार्येण भणितमास्ते—

(एकत्वं—) आत्मा के एकत्व का बारंबार चिन्तन करना —यह एकत्वानुप्रेक्षा नामक तीसरी अनुप्रेक्षा है। शुद्ध निश्चयनय से मैं पर-द्रव्यों से भिन्न हूँ, मैं चेतन या अचेतन रूप 'पर-द्रव्य' नहीं हूँ, न तो मेरे पर-द्रव्य हैं और न ही पर-द्रव्यों का मैं (स्वामी आदि) हूँ। यह आत्मा अकेला जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही विविध गतियों में अपने कर्मानुसार घूमता रहता है। वह आत्मा अकेला ही कर्म-बन्ध करता है, अकेला ही कर्म-फल का भोग करता है। कहीं कोई उसका सहायक नहीं होता। इस प्रकार जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु आदि के महादुःखों का जो अनुभव करना पड़ता है, उसमें किसी की सहायता अपेक्षित नहीं करनी चाहिए, (क्योंकि कोई सहायक हो या न हो, कर्मबन्धन के दुःखों को तो भोगना ही पड़ता है) —इस तथ्य का बार-बार चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है।

श्रीपूज्यपाद स्वामी ने 'इष्टोपदेश' (पद्य-27) में इसी अनुप्रेक्षा को ध्यान में रखकर यह चिन्तन प्रस्तुत किया है—

"मैं एक, ममत्वहीन, शुद्ध, ज्ञानी व योगिगम्य (चित्स्वरूप आत्मा) हूँ। संयोगजन्य बाह्य समस्त पदार्थ सर्वथा मुझसे भिन्न, (पृथक्, असम्बद्ध) हैं"

'तत्त्वसार' ग्रन्थ (गाथा-27-28) में भी निम्नलिखित कथन उपलब्ध है—

णोकम्म-कम्मरहिओ केवलणाणाइगुणसमिद्धो जो।
सोहं सिद्धो सुद्धो णिच्चो एक्को णिरालम्बो ॥

सिद्धोहं सुद्धोहं अणंतणाणाइगुणसमिद्धो हं।
देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य॥

एतद्भावनां भावयतः स्वपरजनेषु रागद्वेषौ समुच्छिद्येते, निःसङ्गतां समेधयन् स मोक्षमार्गेऽग्रेसरो भवतीति ज्ञेयम्।

(अण्ण—) **अन्यत्वानुप्रेक्षा चतुर्थी वर्तते। एकत्व-अन्यत्वयोः अन्तरं ज्ञेयं वर्तते। एकत्वानुप्रेक्षी जनः एकोऽहमिति विध्यात्मकं चिन्तनं करोति, अन्यत्वानुप्रेक्षकस्तु परद्रव्याद् भिन्नोऽहम् —इत्यादिकं चिन्तयति —इति द्रव्यसंग्रहस्य** *(गाथा-35)* **टीकायां विशदीकृतं वर्तते। 'न केवलं सर्वेभ्यो बाह्यपदार्थेभ्यः, स्वशरीरादपि अहमन्यः' —इत्येवं पुनः पुनश्चिन्तनम् अन्यत्वानुप्रेक्षणम्।**

"मैं कर्म-नोकर्मों से रहित, केवलज्ञान आदि गुणों से समृद्ध, सिद्ध, शुद्ध, नित्य, एक, निरालम्ब स्वरूप हूँ।"

"मैं सिद्ध हूँ, अनन्तज्ञान आदि (चतुष्टय) से समन्वित हूँ, मैं ही असंख्यातप्रदेशी अमूर्त देहप्रमाण नित्य (आत्मा) हूँ।"

उक्त भावना का अभ्यास करते हुए व्यक्ति के राग-द्वेष अपने व अन्य जनों के प्रति निर्मूल होने लगते हैं और निरासक्ति को बढ़ाते हुए वह मोक्षमार्ग में अग्रसर होने लगता है— यह ज्ञातव्य है।

(अन्यत्वं—) चौथी अनुप्रेक्षा अन्यत्वानुप्रेक्षा नाम की है। एकत्व अनुप्रेक्षा व अन्यत्वानुप्रेक्षा में अन्तर यहाँ समझने योग्य है। एकत्व-अनुप्रेक्षा करने वाला व्यक्ति 'मैं एक हूँ' —इस प्रकार विध्यात्मक (सकारात्मक) चिन्तन करता है, किन्तु अन्यत्वानुप्रेक्षा वाला 'मैं पर-द्रव्य से भिन्न हूँ' —इत्यादि (भेदात्मक) चिन्तन करता है— ऐसा द्रव्यसंग्रह (गाथा-35) की (ब्रह्मदेवकृत संस्कृत) टीका में स्पष्ट किया गया है। 'मैं न केवल समस्त बाह्य पदार्थों से, अपितु अपने शरीर (तक) से भी भिन्न हूँ' —इस प्रकार से पुनः-पुनः चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

एतत्सारभूतं चिन्तनं समयसारकलशे *(185)* **इत्थं प्रकटितम्—**

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यताम्,
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणाः,
तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि॥

एतामनुप्रेक्षां भावयतः शरीरादिकं प्रति स्पृहा नश्यति, वैराग्यवृद्धिर्भवति, ततश्च मोक्षमार्गे गतिः सुकरा जायते इति।

(संसार—) **पञ्चमी संसारानुप्रेक्षा, तत्र संसारस्वभावस्य चिन्तनं भवति। कीदृशः संसारः, कीदृशश्च तस्य स्वभावः ? भवाद् भवान्तरे संसरणमेव संसारः। तत्र कर्मानुरूपा विविधा गतयः। विचित्रातिविचित्राणि जीवपर्यायपरिवर्तनानि भवान्तरेषु दृश्यन्ते। यथा एक एवात्मा पिता भूत्वा, स्वपुत्रस्यापि पुत्रो भवति। एकस्मिन्भवे या भार्या, साऽन्यस्मिन् भवे भगिनी दुहिता च सम्भवति।**

इस अनुप्रेक्षा के सारभूत चिन्तन को समयसार-कलश (185) में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

"उदार (उज्ज्वल) चारित्र वाले मोक्षार्थियों को चाहिए कि वे इस सिद्धान्त को ध्यान में रखें कि 'मैं सदा शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति हूँ, और ये जो भिन्न लक्षण वाले विविध भाव प्रकट होते हैं, वे मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे सभी मेरे लिए पर-द्रव्य हैं।"

इस अनुप्रेक्षा से साधक को होने वाली शरीर आदि के प्रति स्पृहा (लालसा) नष्ट हो जाती है, फलस्वरूप वैराग्य बढ़ता है और तदनन्तर मोक्ष-मार्ग में गति सुकर हो जाती है।

(संसार—) संसारानुप्रेक्षा नामक पाँचवीं अनुप्रेक्षा है, जिसमें 'संसार' के स्वभाव का अनुचिन्तन होता है। संसार कैसा है ? उसका स्वभाव कैसा है ? संसार का अर्थ है— एक जन्म से दूसरे जन्म में संचरण। यहाँ कर्मानुसार विविध गतियाँ प्राप्त होती हैं। जन्म-जन्मान्तरों में जीव-पर्यायों में जो परिवर्तन होते हैं, वे एक-दूसरे से ज्यादा विचित्रता लिये हुए होते हैं। जैसे, एक ही आत्मा पिता होकर, (अन्य जन्म में) अपने पुत्र का भी पुत्र हो जाता है। एक जन्म में जो भार्या थी, वह दूसरे जन्म में बहिन व पुत्री हो सकती है। और क्या कहें, स्वयं मरकर कोई अपना पुत्र हो सकता है (मरकर अपनी पत्नी के गर्भ में आ सकता है)। ऐसे

किमन्यद्, स्वयं मृत्वा स्वस्य च पुत्रो भवति। एतादृशे संसारे दुःखबाहुल्यमेव। अयं च संसारो भव्यविशेषापेक्षया अनादिरपि सान्तः। अभव्यापेक्षया तु अनादिनिधनः। अस्य संसारस्य मूलभूतौ रागद्वेषौ। मिथ्यात्वादिविरतिः, अप्रमादः, निष्कषायता —इत्यादिकानां संसारक्षयहेतुत्वम्। एवमादिकं संसारस्वभावानुचिन्तनमेव संसारानुप्रेक्षा। एवं भावयतो जीवस्य निर्वेदो *(विरक्तिः)* **जायते, संसारक्षयाय चोत्साहोऽप्रमादो वा वर्द्धते।**

(लोगं—) **लोकसंस्थानस्वरूपादिचिन्तनरूपा षष्ठी लोकानुप्रेक्षा भवति। लोकश्च द्विविधः— निश्चयलोकः, व्यवहारलोकश्च। स्वकीयशुद्धपरमात्मनि यदवलोकनं स निश्चयलोकः** *(द्रव्यसंग्रह-गाथा-35, टीका)*। **व्यवहारलोकस्तु बाह्यो विशिष्टसंस्थानयुक्तः, अनन्ताकाशबहुमध्यदेशस्थितो वातत्रयवेष्टितः, असंख्यातप्रदेशः। अस्मिन्नेव लोके शुभाशुभकर्मभिः संसरणम्, शुद्धोपयोगेन च क्रमशः कर्मक्षये संसारबन्धनमुक्तिरपि सम्भवति। मुक्तिं विना न कुत्रचिद् दुःखाद् विमुक्तिः।**

संसार में दुःख की बहुलता ही है। यह संसार भव्य विशेष की अपेक्षा से (कथन करें तो) अनादि व सांत है। किन्तु अभव्य की अपेक्षा से अनादि-अनिधन है। इस संसार के मूलभूत हैं— राग व द्वेष। मिथ्यात्व आदि से विरति, अप्रमाद, कषायहीनता —इत्यादि संसार-क्षय में हेतु होते हैं। उक्त रूप से संसार के स्वभाव का बार-बार चिन्तन करना ही संसारानुप्रेक्षा है। इस भावना का अभ्यास करने वाले जीव को (संसार से) निर्वेद (निराशा, विरक्ति भाव) हो जाता है और संसार-क्षय हेतु उसका उत्साह व अप्रमाद बढ़ता है।

(लोकं—) लोक-संस्थान (लोकाकृति) के स्वरूपादि का बार-बार चिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा नामक छठी अनुप्रेक्षा है। लोक के दो रूप हैं— निश्चयलोक और व्यवहारलोक। अपने शुद्ध परमात्म-स्वरूप में जो अवलोकन (झाँकना) है, वह 'निश्चयलोक' कहा जाता है *(द्रव्य-संग्रह-गाथा-35 पर ब्रह्मदेवकृत संस्कृत टीका)*। किन्तु व्यवहार लोक है— अनन्त आकाश के बहुमध्य भाग में स्थित, तीन वातवलयों से वेष्टित असंख्यातप्रदेशी विशिष्ट संस्थान वाला बाह्य लोक (लोकाकाश)। इसी लोक में शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार जन्म-जन्मान्तर में संचरण होता रहता है, (मात्र) शुद्धोपयोग से (ही) क्रमशः कर्मक्षय होने पर संसार-बन्धन से मुक्ति भी सम्भव हो पाती है। मुक्ति के बिना तो दुःखों से (पूर्णतया) विमुक्ति हो ही नहीं पाती।

अयं च लोकः, अधो-मध्य-ऊर्ध्वभेदेन त्रिविधः। समग्रलोकस्य उत्सेधः चतुर्दश-रज्जुपरिमितः। मेरोरधस्तनभागे सप्तरज्जुप्रमाणोत्सेधवान् अधोलोकः। तदुपरि मध्यलोकः चत्वारिंशदधिक-एकलक्षयोजनोत्सेधः। तदुपरि ऊर्ध्वलोकः प्रायः सप्तरज्जुप्रमाणोत्सेधः *(वस्तुतः मध्यलोकोत्सेध-ऊनं सप्तरज्जुप्रमाणमुत्सेधस्य)*। **मूले त्रिलोकस्य अधोभागे पूर्वपश्चिमेन सप्तरज्जु-विस्तारः, स उपरि उपरि क्रमशः हीयते, स मध्यलोके एकरज्जुप्रमाणो भवति, पुनः उपरि स क्रमशो वर्द्धते, ब्रह्मलोकान्ते रज्जुपंचकविस्तारः तिष्ठति, तत ऊर्ध्वं पुनर्हीयमानः लोकान्ते रज्जुप्रमाणविस्तारो भवति। लोकस्य मध्ये चतुर्दशरज्जुप्रमाणोत्सेधा एकरज्जुविष्कम्भा त्रसनाड़ी भवति, यस्यां त्रसजीवाः तिष्ठन्ति। स्थावरास्तु सर्वत्र। मेरोरुपरिभागे सौधर्मस्वर्गस्य ऋजुविमानतलाद् आरभ्य ऊर्ध्वलोकः। अधोलोके नरकाः। मध्यलोके असंख्यद्वीपसमुद्रादयः। तन्मध्ये मनुष्यलोकः सार्धद्वयद्वीपप्रमाणः। मध्यलोके ऊर्ध्वं ज्योतिर्लोकः, तदनन्तरमुपरि स्वर्गाः विमानवासिदेवाश्च। ततः परमूर्ध्वं मनुष्यलोकवत् पञ्चचत्वारिंशत्लक्षयोजनविस्तारा सिद्धशिला, सिद्धानां निवासश्च तत्र, तदुपरिभागे लोकान्तेऽस्ति।**

यह लोक तीन भागों में विभक्त है— अधोलोक, मध्यलोक एवं ऊर्ध्वलोक। समग्र लोक की ऊँचाई चौदह राजू प्रमाण मानी जाती है। मूल में, मेरु के नीचे अधोलोक सात राजू प्रमाण है, उसके ऊपर मध्यलोक एक लाख चालीस योजन ऊँचाई प्रमाण, और ऊर्ध्वलोक लगभग सात राजू प्रमाण (वस्तुतः एक लाख चालीस योजन प्रमाण कम सात राजू ऊँचाई प्रमाण वाला) है। त्रिलोक के नीचे पूर्व से पश्चिम में सात राजू का विस्तार (चौड़ाई) है, जो ऊपर-ऊपर कम होता जाता है और मध्यलोक (तिर्यक् लोक) में जाकर एक राजू प्रमाण रह जाता है और फिर ऊपर-ऊपर बढ़ता जाता है, ब्रह्मलोक के अन्त में पाँच राजू रह जाता है, पुनः ऊपर-ऊपर घटता जाता है और अंत में एक राजू रह जाता है। लोक के मध्य में चौदह राजू प्रमाण ऊँची और एक राजू चौड़ी त्रस नाड़ी है, जिसमें त्रस जीव रहते हैं। स्थावर तो सर्वत्र विद्यमान हैं। मेरु के नीचे सात राजू ऊँचाई वाले भाग में अधोलोक स्थित है। उसके ऊपर, मेरु सम भाग में मध्य लोक (तिर्यक् लोक) है। मध्य लोक से ऊपर मेरु के ऊपर वाले भाग में सौधर्म स्वर्ग के ऋजुविमान के तल से लेकर ऊर्ध्व लोक स्थित है। अधोलोक में नरकों की स्थिति है। मध्यलोक में असंख्यात द्वीप, समुद्र आदि हैं। इनके मध्य में ढाई द्वीप प्रमाण मनुष्य लोक है। मध्य लोक से ऊपर ज्योतिर्लोक है, उसके बाद स्वर्गों एवं वैमानिक देवों की स्थिति है। उसके ऊपर मनुष्यलोक के प्रमाण वाली 45 लाख योजन विस्तार वाली सिद्धशिला है, वहीं, उसके उपरितन भाग लोकान्त में, सिद्धों का निवास है।

एवमत्यन्तदीर्घविस्तारयुक्ते लोके न कुत्रचित् सुखम्। शाश्वतपूर्णानन्दस्तु संसारमुक्तेः, सा च कर्मबन्धनमुक्तेः प्राप्यते। अतः शाश्वतानन्दः स्वकीयशुद्धावस्थायामेव प्राप्तुं शक्यते, नान्यत्र। इत्येवं लोकस्वरूपानुचिन्तनं लोकानुप्रेक्षा। एतया तत्त्वज्ञानविशुद्धिः फलमधिगम्यते।

(*असुचित्तं—*) अशुचित्वानुप्रेक्षा नाम्नी सप्तमी अनुप्रेक्षा भवति। शुचि शुद्धं पवित्रं निर्जुगुप्समिति तात्पर्यम्। न शुचि अशुचि। सर्वतोभावेन अशुचि वस्तु शरीरमेव। अस्मिन् शरीरे शुक्रशोणित-पित्तकफ-मलमूत्रादिकानां निखिल-अशुचिपदार्थानां संग्रहः। स्नानानुलेपनादिभिः अल्पकालिकी बाह्यशुद्धिः भवति, तथाऽपि न सा चिरस्थायिनी, अन्तर्मलस्थितौ नात्यन्तिकी शुद्धिर्जीवस्य। वास्तविकशुद्धिस्तु ब्रह्मचर्येण, कषायत्यागेन एव सम्भवति। अशुचिशरीरवियोगस्तु जन्मपरम्परामुक्तेरेव। अतः मुक्त्यै उद्यम एव शाश्वतसुखदायी, स एवावश्यकः। एवं चिन्तयतः, अशुचित्वानुप्रेक्षावतः, शरीरात् निर्वेदो जायते, ततश्च संसारसागरतरणाय मन उद्यतं भवति।

इस प्रकार अत्यन्त दीर्घ विस्तार वाले लोक में कहीं भी सुख नहीं है। शाश्वत व पूर्ण आनन्द की प्राप्ति तो संसार-मुक्ति से होती है, और वह संसार-मुक्ति कर्म-बन्धन से मुक्त होने पर ही मिलती है। इसलिए शाश्वत आनन्द की प्राप्ति स्वकीय शुद्धावस्था में ही मिल पाती है, अन्यत्र नहीं। इस प्रकार लोक के स्वरूप का बार-बार चिन्तन करना लोकानुप्रेक्षा है। इस अनुप्रेक्षा से तत्त्वज्ञान-विशुद्धि रूप फल की प्राप्ति होती है।

(अशुचित्वं—) अशुचित्वानुप्रेक्षा नाम की अनुप्रेक्षा सातवीं (अनुप्रेक्षा) है। शुचि से तात्पर्य है— शुद्ध, पवित्र, जुगुप्सारहित। जो शुचि नहीं है, वह अशुचि है। किसी भी दृष्टि से देखा जाय तो अशुचि पदार्थ (यह हमारा) शरीर ही है। इस शरीर में शुक्र, रक्त, पित्त, कफ, मल, मूत्र आदि समस्त अशुचि पदार्थों का संग्रहण बना रहता है। यद्यपि स्नान, उबटन आदि क्रियाओं से अल्पकालिक बाह्य शुद्धि होती है, तथापि वह चिरस्थायी नहीं होती, और आन्तरिक मल की स्थिति बने रहने पर जीव की आत्यन्तिक (पूर्णतया) शुद्धि नहीं हो पाती। वास्तविक शुद्धि तो ब्रह्मचर्य, कषायहीनता से ही हो सकती है। इस अशुचि शरीर का वियोग तो तभी हो पाएगा जब जन्म-(मरण) परम्परा से मुक्ति मिले। इसलिए मुक्ति के लिए उद्यम करना ही आवश्यक है जो शाश्वत सुख का प्रदाता हो सकता है। इस प्रकार अशुचि भावना का चिन्तन करते रहने से शरीर से वैराग्य होता है जिससे संसार-सागर से उतरने के लिए मन सन्नद्ध हो जाता है।

(आसव—) आस्रवानुप्रेक्षा नाम्नी अष्टमी अनुप्रेक्षा। आस्रवः कर्मास्रवः, तस्य स्वरूपं सदोषता, तस्या अनुचिन्तनमेव आस्रवानुप्रेक्षा। तत्र आस्रवदोषोत्पादका आत्मविभावपरिणामाः, तथा भोगोपभोगप्रवृत्तानि इन्द्रियाणि मनश्च। प्रकारान्तरेण मिथ्यात्वम्, अविरतिः, प्रमादः, कषायः, योगः— इत्येतेषां पञ्चानां कर्मास्रवहेतुता कथ्यते। संसारिणः मनोवचनकाययोगवतो मिथ्यात्वादि-निमित्तकः कर्मास्रवो भवति। मिथ्यात्वगुणस्थाने मिथ्यात्वादिप्रत्ययपञ्चकमेव कर्मास्रवहेतु, सासादनप्रभृतिअसंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानेषु त्रिषु प्रमुखतः अविरतिप्रभृतिचतुष्टयं कर्मास्रवहेतु। देशविरति— पंचमगुणस्थानेऽपि तानि चत्वारि। प्रमत्तसंयतगुणस्थाने षष्ठे मिथ्यात्व-अविरति-अभावः, अतः प्रमादादित्रयं कर्मास्रवहेतु। अप्रमत्तगुणस्थानादारभ्य सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानपर्यन्तं चतुर्षु *(7-10)* गुणस्थानेषु कषाययोगौ —एते द्वे, शेषेषु उपशान्तमोहप्रभृतिषु सयोगकेवलिगुणस्थानपर्यन्तं त्रिषु *(11-13)* गुणस्थानेषु योग एव कर्मास्रवहेतुः। विस्तरस्तु गोम्मटसारादिग्रन्थेभ्यो विज्ञेयः।

(आस्रव—) आस्रवानुप्रेक्षा नाम की आठवीं अनुप्रेक्षा है। आस्रव यानी कर्मों का आना, वह दोषयुक्त है, इसका बार-बार चिन्तन करना ही आस्रवानुप्रेक्षा है। कर्मों के आस्रव रूपी दोष को उत्पन्न करने वाले हैं— आत्मा के वैभाविक परिणाम और भोगोपभोगों में प्रवृत्त इन्द्रियाँ और मन। अन्य शब्दों में मिथ्यात्व (असम्यक् दृष्टि), अविरति (हिंसा आदि से विरत न होना), प्रमाद, कषाय (रागादि) और योग (मन, वचन व काय की प्रवृत्ति) —इन पाँच को कर्मों के आस्रव में हेतु कहा जाता है। मानसिक, वाचिक व कायिक प्रवृत्ति करने वाले संसारी जीव के मिथ्यात्व आदि के कारण कर्म-आस्रव होता है। *(आध्यात्मिक विकास की 14 भूमिकाएँ मानी गई हैं, जिन्हें गुणस्थान कहा जाता है, उन गुणस्थानों में, प्रथम)* मिथ्यात्व नामक गुणस्थान में मिथ्यात्व आदि पाँचों ही प्रत्यय कर्मास्रव में निमित्त होते हैं, सासादन से लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि तक तीन गुणस्थानों में (अर्थात् दूसरे से चौथे गुणस्थान में) प्रमुखतः अविरति आदि चार आस्रव-हेतु होते हैं। देशविरति नामक पाँचवें गुणस्थान में भी वे ही चारों आस्रव-हेतु हैं। प्रमत्तसंयत नामक (छठे) गुणस्थान में मिथ्यात्व, अविरति का अभाव होता है, इसलिए प्रमाद आदि तीन ही आस्रव-हेतु होते हैं। अप्रमत्त गुणस्थान से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय तक चार गुणस्थानों में (अर्थात् सातवें से दसवें गुणस्थान तक) कषाय व योग —ये दो आस्रव-हेतु हैं, उपशान्तमोह आदि से लेकर सयोगकेवली गुणस्थान तक शेष तीन गुणस्थानों में (अर्थात् ग्यारहवें, बारहवें व तेरहवें गुणस्थान में) योग ही कर्मों के आस्रव में हेतु होता है। इस विषय में विस्तार से जानना हो तो गोम्मटसार आदि ग्रन्थों से जाना जा सकता है।

कर्मास्रवेषु तन्निमित्तभूतेषु इन्द्रियादिषु च दोषबुद्धिः कर्तव्या। तन्निमित्तक एव आत्मनि सदोषता, कर्ममलिनता समुदेति। तत एव संसारबन्धः, दुःखपरम्परा चेति। अतस्तेषां सम्यक्त्वसंयमा-नुष्ठानादिद्वारा निष्प्रभावोत्पादनमेव ज्यायः।

सर्वार्थसिद्धौ *(9/7)* **तथा राजवार्तिके** *(9/7/7)* **च प्रतिपादितं यत् कूर्मवत् संवृतात्मन आस्रवदोषा न सम्भवन्ति। यथा समुद्रे नौकायां छिद्रपिधानेऽसति क्रमशो जलविप्लवे सति नौकायास्तदाश्रितानां च विनाशो भवत्येव, छिद्रे पिहिते तु न तथा विनाशः, तथैव आत्मनो मिथ्यात्वादिआस्रवद्वारैः कर्मजलप्रवाहस्य निरन्तरप्रवेशेन संसारसमुद्रनिमज्जनं भवत्येव, किन्तु तदास्रवनिरोधे, संसारसमुद्रोत्तरणं विधाय मुक्तितटप्राप्तिः सुकरा —इति संधार्य सर्वत्रास्रवनिरोधे सावधानतया भाव्यम्, अस्मिन्कार्ये आस्रवाणां सदोषताया निरन्तरं चिन्तनं मोक्षमार्गे सहायकं भवति, तच्चिन्तनमेव आस्रवानुप्रेक्षणम्। निश्चयदृष्ट्या आस्रवादयो जीवस्य न भवन्ति, तत्र तद्-**

कर्म के आस्रवों में और उसमें निमित्त होने वाली इन्द्रिय आदि में भी दोषबुद्धि रखनी चाहिए। (क्योंकि) आत्मा में सदोषता व कर्म-मलिनता उन्हीं के कारण पैदा होती है, उसी के परिणाम स्वरूप संसार-बन्ध और दुःख-परम्परा का उद्भव होता है। इसलिए श्रेयस्कर यही है कि सम्यक्त्व व संयम के पूर्ण अनुष्ठान (चारित्र) के द्वारा उन (आस्रव-हेतुओं) को निष्प्रभावी बना दिया जाय।

सर्वार्थसिद्धि (9/7) तथा राजवार्तिक (9/7/7) में यह प्रतिपादित किया गया है कि कछुए की तरह संवृत-आत्मा (संकुचित अङ्ग वाले संवरयुक्त जीव) के आस्रव-दोषों की सम्भावना नहीं रहती। जिस प्रकार, समुद्र में जा रही नौका में (छेद हो जाय, और उस) छेद को बन्द न किया जाय तो क्रमशः जल-विप्लव (अन्दर जल भर जाने) से नौका और उस पर आश्रित लोगों का विनाश होता ही है, यदि छिद्र बन्द कर दिया जाय तो वैसा विनाश नहीं होता, इसी प्रकार आत्मा में मिथ्यात्व आदि (खुले) आस्रव-द्वारों से कर्मरूपी जल का प्रवाह निरन्तर प्रविष्ट होने लगेगा और उसका संसार-समुद्र में डूबना निश्चित ही है, किन्तु उन (मिथ्यात्व आदि) आस्रवों के द्वार को बन्द कर देने पर, संसार-समुद्र को पार कर मुक्ति-तट की प्राप्ति सुकर (सुलभ) हो जाती है —इसे अच्छी तरह समझकर व्यक्ति को चाहिए कि वह समस्त आस्रवों के निरोध में सावधान रहे। इस कार्य में आस्रवों की सदोषता का निरन्तर चिन्तन करना मोक्षमार्ग में सहायक होता है, और यह चिन्तन ही आस्रवानुप्रेक्षा है। निश्चयनय से यद्यपि जीव आस्रवरहित ही रहता है, अतः उक्त दृष्टि वालों को 'आस्रवादि-निर्मुक्त शुद्ध आत्मा का ही बार-बार चिन्तन करना आस्रवानुप्रेक्षा है' —यह

दृष्टिवद्‌भिः आस्रवादिरहितस्य शुद्धात्मनश्चिन्तनमेव ग्राह्यम्। एतत्फलं यत् सम्यक्त्व-विरति-अप्रमादादिषु श्रेयस्त्वबुद्धिः वर्धते, आस्रवकारणेषु हेयबुद्ध्या कर्मसंवरणोद्योगो दृढीभवति।

(संवर—) **संवरानुप्रेक्षा नामिका नवमी अनुप्रेक्षा। संवरणं नाम कर्मसंवरणम्, कर्मास्रवनिरोधः, तत्स्वभावस्य, वस्तुतः तद्‌गुणानां यच्चिन्तनं वारं वारं, तदेव संवरानुप्रेक्षणम्। यथा मिथ्यात्वादयः कर्मास्रवहेतवः, तथैव तद्विपरीततया गुप्ति-समिति-दशधर्म-अनुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्राणि कर्मास्रवनिरोधकानि, कर्मसंवरणानि वा परिज्ञेयानि। संवरपदेन संवरण-हेतूनां, संवरणस्य च ग्रहणम्। अतः संवरणहेतुषु गुणदर्शनम्, उपादेयबुद्धिः, संवरणक्रियायामपि 'श्रेयस्कारित्वमस्याः' इति भावः —एतानि मोक्षमार्गे हितावहानि सिद्ध्यन्ति। संवरकारणेषु दशधर्माः प्रोक्ताः, तेषां नामानि उत्तमक्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच-सत्य-संयम-तपः-त्याग-आकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्येति ज्ञेयानि। एतेष्वपि तपोधर्मः महनीयः, तपस्सु अपि प्रशस्त-ध्यानं सर्वतोभावेन महदुपयोगि, यतो हि तपोभूतध्यानेन संवरणेन सह कर्मनिर्जराऽपि भवति।**

अर्थ स्वीकार करना चाहिए। इस अनुप्रेक्षा का प्रयोजन/फल यह होता है कि सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद आदि को श्रेष्ठ व कल्याणकारी समझने की बुद्धि बढ़ती है। साथ ही आस्रव-कारणों में हेय बुद्धि रखने से कर्म के संवरण (आस्रव-निरोध) में (साधक का) उद्यम (वीर्य) दृढ़ होता जाता है।

(संवर—) संवरानुप्रेक्षा नामक नवीं अनुप्रेक्षा है। संवर का अर्थ है— संवरण, अर्थात् कर्मों के आस्रव को रोकना (निरोध)। उस कर्म-संवर के गुणों का जो बार-बार चिन्तन है, वही संवरानुप्रेक्षा है। उदाहरणार्थ— मिथ्यात्व आदि (पाँच) कर्मास्रव के हेतु हैं, उसी प्रकार उनसे विपरीत गुप्ति, समिति, दस धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र —ये कर्मास्रव के निरोधक या कर्म-संवर के हेतु हैं। संवर पद से संवरण के हेतु और संवरण क्रिया —दोनों का ग्रहण होता है। इसलिए (इन) संवर-हेतुओं में गुण-दृष्टि, उपादेय बुद्धि रखना, तथा 'संवरण क्रिया ही कल्याणकारी है' —ऐसी भावना रखना —ये सब मोक्ष-मार्ग में हितकारी होते हैं। संवर के कारणों में दस धर्मों का निर्देश किया गया है, उनके नाम इस प्रकार हैं— उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य व उत्तम ब्रह्मचर्य। इनमें भी तप धर्म सर्वश्रेष्ठ है। तप (के अनेक भेदों) में प्रशस्त ध्यान सब प्रकार से उपयोगी है, क्योंकि तपरूप ध्यान के द्वारा कर्म-संवर के साथ-साथ कर्म-निर्जरा भी होती है।

उक्तं च तत्त्वार्थसूत्रे— *'तपसा निर्जरा च' (9/3)*। **अतः संवरकारणेषु उपादेयबुद्ध्या तद्गुणानां, तन्महत्त्वस्य, तदुपयोगितायाः, तच्छ्रेयस्कारिस्वभावस्य च यदनुचिन्तनं तेन संवरे नित्य-उद्युक्तता सम्पद्यते, ततश्च निःश्रेयसपद-प्राप्तिः सुकरा। निश्चयदृष्ट्या संवरो जीवस्य न संभवति, आत्मा तु सर्वथा शुद्धः, तत्र तद्दृष्टिमनुसरद्भिः परमशुद्धात्मनोऽनुचिन्तनमेव अनुप्रेक्षार्थरूपेण ग्राह्यम्।**

(णिज्जर—) **निर्जरानुप्रेक्षा नाम्नी दशमी अनुप्रेक्षा। कर्म-निर्जरायाः स्वरूपस्वभावादि-भावनमेव निर्जरानुप्रेक्षा। कर्मविपाको (वेदना वा) नाम निर्जरा। सा द्विविधा— अबुद्धिपूर्वा, कुशलमूला च। स्वनियतकाले पक्वतां प्राप्ता निर्जरा अबुद्धिपूर्वा, सैव अकामनिर्जराऽपि कुत्रचित् भणिता। कुशलमूला तु परीषहजयतपःप्रभृतिभिरुपायैः व्रतधारिमुनिश्रावकप्रभृतिभिः क्रियमाणा निर्जरा। तत्रैषा मोक्षमार्गे कुशलमूलैव श्रेयस्करी, सैव अविपाकजा निर्जरा भण्यते। यथा अजीर्णदोषेण मलसंचये जाते रोगी आरोग्यमाकुलतां चानुभवति, किन्तु यथोचितौषधसेवनेन मलविपाके,**

तत्त्वार्थसूत्र (9/3) में कहा भी गया है— "तप से निर्जरा भी होती है"। इसलिए संवर के कारणों में उपादेय-बुद्धि रखने से, उनके गुणों का, महत्त्व का, उपयोगिता का और उनके कल्याणकारी स्वभाव का जो बार-बार चिन्तन होता है, उसके फलस्वरूप व्यक्ति का 'संवर' में नित्य उद्यम बना रहता है, जिससे निःश्रेयस (मोक्ष) पद की उपलब्धि सुकर हो जाती है। निश्चय दृष्टि में जीव को न आस्रव होता है और न संवर, आत्मा स्वतः सर्वथा शुद्ध रहता है, तो वहाँ उस दृष्टि वालों को 'परम शुद्ध आत्मा का अनुचिन्तन करना है— यह अर्थ (संवरानुप्रेक्षा के प्रसंग में) लेना चाहिए।

(निर्जरा—) निर्जरानुप्रेक्षा —यह (क्रम में) दसवीं अनुप्रेक्षा है। कर्म-निर्जरा के स्वभाव का अनुचिन्तन ही निर्जरानुप्रेक्षा है। कर्म का विपाक होना, वेदन होना— यही निर्जरा है। वह दो प्रकार की होती है— अबुद्धिपूर्वक और कुशलमूला। अपने नियत (परिपाक) काल में परिपाक को प्राप्त होने वाली निर्जरा अबुद्धिपूर्वक होती है, इसे ही अकामनिर्जरा भी कहीं-कहीं कहा गया है। (दूसरी) कुशलमूला निर्जरा तो परीषह-जय व तप आदि उपायों से व्रती मुनियों व श्रावकों द्वारा की जाती है। मोक्षमार्ग में यह कुशलमूला (या सकामनिर्जरा) ही कल्याणकारिणी है और वही अविपाकनिर्जरा कहलाती है। जैसे— अजीर्ण-दोष से ग्रस्त व्यक्ति के शरीर में मल संचित हो जाता है तो वह रोगी होकर अस्वास्थ्य व व्याकुलता का अनुभव करता है, किन्तु यथोचित औषधि का सेवन कर जब उसका मल-विपाक व मल-निष्कासन हो जाता है तो

मलनिर्जरणे सति सुखी भवति, तथैव भव्यजीवो मिथ्यात्वादिजनितकर्ममलसंचये सति दुःखमनुभवति, किन्तु परमौषधरूपजिनवचनं यदा स सेवते, तपआद्यनुष्ठानं च करोति, तेन तस्य कर्ममलनिर्जरणं भवति। एवं निर्जराप्रमुखहेतुभूतेषु तपसः, तत्रापि ध्यानतपसः सर्वोत्कृष्टता वरीवर्ति।

उक्तं च मोक्षप्राभृते *(गाथा-60)*—

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि॥

एवं निर्जरागुणानुचिन्तनं कुर्वतो जीवस्य कर्म-निर्जरणे प्रवृत्तिः सम्यक्तया भवति, मोक्षप्राप्तिश्च सुकरा।

(धम्मं—) **धर्मानुप्रेक्षानाम्नी एकादशी अनुप्रेक्षा भवति। तत्र को धर्मः? वस्तुस्वभावो धर्मः, उत्तमक्षमामार्दवादिदशकं धर्मः, केवलिप्रज्ञप्तो धर्मः, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मको धर्मः,**

वह (दुःखमुक्त होने से) सुखी हो जाता है। उसी प्रकार जब व्यक्ति में मिथ्यात्व आदि से उत्पन्न कर्म-मल संचित हो जाय तो दुःख का अनुभव होता है, किन्तु परम औषधि रूप जिन-वाणी का जब वह सेवन करता है और तप आदि का अनुष्ठान करता है, तो उसके कर्ममल की निर्जरा होती है। इस प्रकार, कर्म-निर्जरा में जो प्रमुख हेतु कहे गये हैं, उन सब में तप की, और विविध तपों में भी ध्यान तप की ही सर्वोत्कृष्टता है।

मोक्ष-प्राभृत (गाथा-60) में कहा भी गया है—

''जिनके लिए सिद्धि (मोक्ष) निश्चित ही प्राप्य होनी है, तथा जो चार ज्ञानों के धारक हैं, ऐसे तीर्थंकर भगवान् भी तपश्चरण करते हैं— ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष को भी तपश्चरण करना चाहिए।''

इस प्रकार निर्जरा के गुणों का अनुचिन्तन करने वाले जीव की कर्म-निर्जरा में सम्यक्तया प्रवृत्ति होती है और मोक्ष की उपलब्धि भी सरल हो जाती है।

(धर्मान्—) धर्मानुप्रेक्षा नामक यह ग्यारहवीं अनुप्रेक्षा है। आखिर धर्म क्या है? वस्तु-स्वभाव धर्म है, उत्तमक्षमा-मार्दव आदि दस धर्म हैं, केवली (तीर्थंकर) द्वारा उपदिष्ट धर्म है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (इन तीन का समुदित) रूप धर्म है, दान, पूजा आदि श्रावक-धर्म है, ज्ञान व ध्यान की प्रमुखता वाला

दान-पूजादिश्रावकधर्मः, ज्ञानध्यानप्रमुखो यतिधर्मः, अहिंसा परमो धर्मः —इत्यादिकानि निरूपणानि शास्त्रेषु प्राप्यन्ते। एतन्निरूपणे कानिचित् धर्मसाधनान्येव धर्मरूपेण गृहीतानि। वस्तुतः इष्टे स्थाने धत्ते इति धर्मः *(सर्वार्थसिद्धौ, 9/2)* **। समता, मध्यस्थता, शुद्धभावः, वीतरागता, चारित्रम्, स्वभावः-आराधना —इत्येकार्थकाः शब्दाः।**

उक्तं च माइल्लधवलकृते बृहन्नयचक्रे *(द्रव्यस्वभावप्रकाशकेतिसंज्ञके, गाथा-357)—*

समदा तह मज्झत्थं सुद्धो भावो य वीयरायत्तं।
तह चारित्तं धम्मो सहाव-आराहणा भणिया।।

एवं साम्यभावः चारित्रं वा आत्म-धर्मः —इति प्रवचनसारे *(गाथा-7),* **भावप्राभृते** *(गाथा-83)* **तथा च मोक्षप्राभृते** *(गाथा-50)* **समर्थितम्। एष धर्मः आत्मवस्तुस्वभाव एव। एतस्यैव प्राप्त्यै साधनान्यपि धर्मशब्देन परिगृह्यन्ते।**

मुनि-धर्म है, अहिंसा परम धर्म है— इत्यादि धर्म-सम्बन्धी निरूपण शास्त्रों में पाये जाते हैं। धर्मों का जो उक्त निरूपण है, उनमें धर्म के कुछ साधनों को भी 'धर्म' रूप से ग्रहण किया गया है। वस्तुतः जो अभीष्ट (मोक्ष) स्थान में स्थापित करता है, वह धर्म होता है (ऐसा पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि, सूत्र-9/2 में कहा है)। समता, मध्यस्थता, शुद्धावस्था, वीतरागता, चारित्र, स्वभाव-आराधना —ये सभी एकार्थक हैं।

माइल्लधवलकृत (द्रव्यस्वभावप्रकाशक नामवाले) बृहद्नयचक्र (गाथा-357) में कहा भी गया है—

"समता, मध्यस्थता, शुद्धावस्था, वीतरागता, चारित्र धर्म, स्वभाव-आराधना —ये एकार्थक कहे गए हैं।"

इसी तरह, 'साम्य भाव को ही चारित्र या आत्म-धर्म कहा जाता है' —इसका प्रवचनसार (गाथा-7), भावप्राभृत (गाथा-83) व मोक्षप्राभृत (गाथा-50) में भी समर्थन प्राप्त होता है। यह धर्म आत्मा रूपी वस्तु का स्वभाव ही है। इसी 'धर्म' की उपलब्धि हेतु जो साधन हैं, उन्हें भी 'धर्म' शब्द से ग्रहण किया जाता है।

क्षमादिदशधर्माः, श्रावकधर्मः, यतिधर्मः, रत्नत्रयभूतधर्मः, इत्येते परमसाम्यवीतरागावस्थात्मधर्म-साधनभूताः। उक्तं च द्रव्यसंग्रहवृत्तौ *(गाथा-35)— "विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणनिजशुद्धात्म-भावनात्मको धर्मः, व्यवहारेण तत्साधनार्थमुत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्यलक्षणो दशप्रकारो धर्मः"* **इति।**

शुभोपयोगरूपा अर्हदादिभक्तिरपि व्यवहारधर्मः, यतो हि शुभाशुभपरिणामातीतः शुद्धोपयोग एव मोक्षकारणत्वाद् मुख्यो धर्मः। साधनेषु साध्यबुद्धिर्व्यावहारिकी, औपचारिकी चेति विज्ञेयम्। अतः श्रावकादिधर्माः व्यवहारधर्माः। निश्चयधर्मस्तु शुद्धात्मानुभूतिसहिता वीतरागता, साम्यावस्था एव।

उक्तं च भावप्राभृते *(गाथा-83)—*

अप्पा अप्पम्मि रओ रागादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेदुं धम्मो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।।

क्षमा आदि दस धर्म, श्रावक धर्म, मुनिधर्म, रत्नत्रय रूप धर्म —ये (सब) परमसाम्य, वीतरागता की स्थिति स्वरूप 'आत्मधर्म' की उपलब्धि में साधनभूत हैं। द्रव्यसंग्रह (गाथा-35) की संस्कृत टीका (ब्रह्मदेव-कृत वृत्ति) में कहा भी है— "विशुद्ध ज्ञान दर्शनमय निज शुद्धात्मा की भावना करना (ही वास्तविक) धर्म है, व्यवहार दृष्टि से उस धर्म के साधन उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य रूप दस प्रकार का धर्म (भी) है।"

शुभोपयोग रूप अर्हदादि की भक्ति आदि भी व्यवहार धर्म है, क्योंकि शुभाशुभ परिणामों से परे, जो शुद्धोपयोग है, वही मोक्ष का कारण होने से मुख्य धर्म (निश्चय धर्म) है। साधनों को साध्य समझने की बुद्धि औपचारिक व व्यावहारिक (ही) होती है— यह जान लें। इसलिए श्रावकधर्म आदि व्यवहार-धर्म हैं। निश्चय धर्म तो शुद्धात्म-अनुभूतिमय वीतरागता या (पूर्ण) साम्यावस्था ही है।

भावप्राभृत (गाथा-83) में कहा भी है—

राग आदि (सभी विभाव-परिणामों) को छोड़कर आत्मा का आत्मा में ही रत रहना 'धर्म' है, जिसे जिनवरों ने संसार को पार करने का साधन बताया है।

अहिंसाऽपि वीतरागतारूपा, यद्वा वीतरागताऽभिव्यक्तिप्रक्रियास्वरूपा, अतः साऽपि धर्म एव। अत्रेदं विज्ञेयम्— व्यवहारधर्म-निश्चयधर्मयोः स्वस्वभूमिकायां महत्त्वमुपादेयत्वं स्वीकरणीयम्। तयोः साध्यसाधकभावोऽपि स्वयं बोध्यः — इतिपञ्चास्तिकायतात्पर्यवृत्तौ *(गाथा-172)* **निर्दिष्टम्—** *'तत्र वीतरागत्वं निश्चयव्यवहारनयाभ्यां साध्यसाधकरूपेण परस्परसापेक्षाभ्यामेव भवति मुक्तिसिद्धये, न च पुनः निरपेक्षाभ्याम्'* इति।

प्राक्तनभूमिकायां व्यवहारधर्म उपादेय एव, उपरितनभूमिकायां तु व्यवहारधर्मः स्वत एव त्यज्यते, निश्चयधर्माश्रितस्य कृते तस्य अनुपयोगित्वात्।

अत एव समाधिशतके *(पद्य-84, 86)* **पूज्यपादैः प्रोक्तम्—**

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि सम्प्राप्य परमं पदमात्मनः॥

अहिंसा भी वीतरागता (का पर्याय) ही है, अथवा वीतरागता की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया (एक स्थिति-विशेष) है, इसलिए वह भी 'धर्म' है। यहाँ यह ज्ञातव्य है— व्यवहार धर्म व निश्चय धर्म —इन दोनों की उनकी अपनी-अपनी भूमिका में महत्ता व उपादेयता को स्वीकार करना चाहिए। उनका परस्पर साध्य-साधक भाव भी स्वतः बुद्धिगम्य है— ऐसा पंचास्तिकाय (गाथा-172) की तात्पर्यवृत्ति में इस प्रकार निर्दिष्ट है— ''व्यवहारनय साधक है, निश्चयनय साध्य है, इस प्रकार इन दोनों में परस्पर-सापेक्षता रखकर ही वीतरागता मोक्ष की साधक होती है, न कि उनकी परस्पर-निरपेक्षता की स्थिति में।''

पूर्व (प्रारम्भिक) अवस्था (भूमिका) में व्यवहार धर्म उपादेय है ही, किन्तु ऊपर की भूमिका में व्यवहार धर्म स्वतः छूट जाता है, क्योंकि निश्चय धर्म का अवलम्बन लेने से वह (पहले जैसा) उपयोगी नहीं रहता।

इसीलिए समाधिशतक (समाधितन्त्र, पद्य-84 व 86) में आचार्य पूज्यपाद का कथन है—

''अव्रत (अविरति) को छोड़कर व्रतों में स्थिर होकर (साधक) परमात्म-पद को प्राप्त कर उन व्रतों को भी छोड़ देता है।

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत्।।

किन्तु प्राक्तनभूमिकायामेव अज्ञानवशेन व्यवहारधर्ममेव साध्यनिश्चयधर्मरूपेण यदि कोऽपि मनुते, तर्हि स देशना-अयोग्य एवेति पुरुषार्थसिद्ध्युपाये *(श्लोक-6)* **आचार्य-अमृतचन्द्रेण भणितम्—**

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति॥

अतो न सर्वथा व्यवहारधर्मो हेयः, किन्तु तस्योपयोगिता तदैव, यदा स निश्चयधर्मसाधकरूपेण साधितः स्यादित्यलं प्रसंगेन। एवं धर्म एव कामधेनुः, कल्पवृक्षः, चिन्तामणिः, स एवानन्तसुख-मोक्षप्रदायकः— इत्यादिरूपेण धर्मस्वभावानुचिन्तनं हितावहम्। धर्मानुप्रेक्षां भावयतो जीवस्य धर्मानुष्ठाने प्रवृत्तिः स्थिरा भवति।

"अव्रती व्रत-धारण कर सम्यग्ज्ञानी व्रती होता हुआ परमात्मा-विषयक ज्ञान से सम्पन्न होकर स्वतः परमात्मा बन जाता है।"

किन्तु पूर्व की भूमिका में अज्ञान-वश यदि कोई व्यवहार-धर्म को ही अपने साध्य 'धर्म' (निश्चय धर्म) के रूप में मानने लगे तो वह देशना के अयोग्य ही है —ऐसा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक-6) में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—

"मुनीश्वरों (जिनेन्द्र आदि) ने अभूतार्थ (व्यवहार) का जो उपदेश दिया है, वह अज्ञानी को समझाने की दृष्टि से दिया है। किन्तु जो मात्र व्यवहार (अभूतार्थ) को ही ग्रहण करता है उसके लिए देशना नहीं है (वह तो उपदेश का ही पात्र नहीं है)।"

इसलिए व्यवहार धर्म सर्वथा हेय नहीं है, किन्तु उसकी उपयोगिता तभी है जब वह निश्चय धर्म के साधक रूप में अनुष्ठित हो। इससे अधिक कहना अब अपेक्षित नहीं रह गया है। इस प्रकार धर्म ही कामधेनु है, धर्म ही कल्पवृक्ष है, धर्म ही चिन्तामणि है, वही अनन्त सुखमय मोक्ष का प्रदाता है— इत्यादि रूप से धर्म-स्वभाव का बार-बार चिन्तन करना हितकारी होता है। इस धर्मानुप्रेक्षा की भावना करने वाले जीव की धर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति स्थिर (दृढ़) होती है।

(बोहिं च—) **बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा नाम्नी द्वादशी अनुप्रेक्षा। तां च चिन्तयेत्— इत्यन्वयः। अत्र बोधि-बोधयोरन्तरं बोध्यम्। बोधस्तु सामान्यप्राणिनां भवति, बोधिस्तु सम्यक्त्वादिरूपा केषांचिदेव सुलभा।**

द्रव्यसंग्रह-वृत्तौ *(गाथा-35)* **प्रोक्तमपि—** *"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणाम् अप्राप्तप्रापणं बोधिः"*।

तस्या दुर्लभता नित्यं भावनीया, यतो हि तस्याः प्राप्तिस्तदैव भवति, यदा चतुरशीति-लक्षयोनिषु अनन्तवारं परिभ्रमतो जीवस्य कथंचिदेव पञ्चेन्द्रियत्वं प्राप्यते। तेष्वपि संज्ञित्वम्, तेष्वपि मनुष्यत्वं दुर्लभतमम्। मनुष्येष्वपि उत्तमदेश-कुल-रूप-बुद्धि-आरोग्य-युक्तता, सद्धर्म-श्रवणग्रहणावसरश्च अत्यधिकपुण्यजनितत्वात् सुदुर्लभतां वहतः। ततोऽपि दुर्लभतरो बोधिलाभः। एतां बोधिं प्राप्य प्रमादेन तत्प्रच्युतः स्यात्तर्हि तस्याः पुनः प्राप्तिस्तथैव अत्यन्तदुर्लभा, यथा महासमुद्रे लघुस्वर्णमुद्रिकायां पतितायां तस्याः प्राप्तिर्दुर्लभैव।

(बोधिं च—) बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा नाम की अनुप्रेक्षा (क्रम में) बारहवीं है। उसका भी चिन्तन करना चाहिए। यहाँ बोधि और बोध का अन्तर समझ लेना चाहिए। बोध (ज्ञान) तो सामान्य प्राणियों को भी होता है, किन्तु बोधि तो सम्यक्त्व आदि (रत्नत्रय) है और किन्हीं को ही मिल पाती है।

द्रव्यसंग्रह (गाथा-35) की (ब्रह्मदेव-कृत) वृत्ति में कहा भी है— बोधि का अर्थ है— अप्राप्त (पूर्व में प्राप्त नहीं हो ऐसे) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति।

उसकी दुर्लभता की भावना नित्य करनी चाहिए, क्योंकि उसकी प्राप्ति तभी हो पाती है, जब चौरासी लाख जीव-योनियों में अनन्त बार परिभ्रमण करते-करते जीव को किसी तरह पंचेन्द्रियता की प्राप्ति होती है। पंचेन्द्रियों में भी 'संज्ञी' (व्यावहारिक विशेष समझ वाला) होना, और 'संज्ञी' जीवों में भी मनुष्यता को पाना तो और भी दुर्लभतम होता है। मनुष्यों में भी उत्तम देश-कुल, रूप, बुद्धि व आरोग्य से युक्त होना, और सद्धर्म के श्रवण का अवसर मिलना— इन दोनों की अत्यधिक पुण्य से प्राप्ति होने के कारण और भी अधिक दुर्लभता हो जाती है। इन सबसे भी अधिक दुर्लभ है— बोधि का लाभ। इस बोधि को प्राप्त कर यदि प्राणी प्रमाद-वश उससे विच्युत हो जाय (अर्थात् स्वयं बोधि को गँवा दे) तो पुनः उसकी प्राप्ति उसी तरह अत्यन्त दुर्लभ है जिस प्रकार किसी महासमुद्र में लघु स्वर्णमुद्रिका (अँगूठी) के गिरने पर उसे खोज पाना।

उक्तं च ज्ञानार्णवे *(2/189)*—

सुप्रापं न पुनः पुंसां बोधिरत्नं भवार्णवे।
हस्ताद् भ्रष्टं यथा रत्नं महामूल्यं महार्णवे॥

इत्येवं बोधिदुर्लभतां भावयतो जीवस्य प्रमादः क्षीयते। *(चिंतेज्जा—)* **इति चिन्तयेत्। 'चिंतेज्जो' इति पाठान्तरम्। वारं वारं चिन्तयेद् —इति तात्पर्यम्। प्रत्येकभावनाया वारं वारमभ्यासः कार्यः, तेनैव वैराग्यं च दृढीभवति, परीषहजये सामर्थ्यं समुन्मिषति, रत्नत्रयनिर्दोषता च न हीयते, एवं क्रमशः सद्ध्यानप्रवृत्तिः समेधते, मोक्षश्च क्रमेण निकटतामुपयाति। अतो भव्यजीव! एता अनुप्रेक्षाः त्वया सदा भावनीयाः, अभ्यसनीया इति शास्त्रकारस्य मन्तव्यमिह बोध्यम्।**

[।। इति परमपूज्यगणाचार्यश्रीडॉविरागसागरविरचितायां सर्वोदयाटीकायां द्वितीयगाथारूपेण पूर्वपीठिकाभिधानं सम्पन्नम् ।।]

ज्ञानार्णव (2/189) में कहा भी है—

''जिस तरह हाथ से छूटकर महासमुद्र के भीतर अत्यन्त मूल्यवान् रत्न पुनः सरलता से प्राप्त नहीं हो सकता है, उसी तरह इस संसार-समुद्र में सौभाग्य से प्राप्त अमूल्य बोधि-रत्न नष्ट हो जाने पर पुनः सरलता से नहीं मिल पाता है।''

इस तरह बोधि की दुर्लभता का बार-बार चिन्तन करने से व्यक्ति का प्रमाद (असावधानीपना) नष्ट होता है। **(चिन्तयेत्—)** उक्त बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करना चाहिए। गाथा में चिन्तेज्जा और चिन्तेज्जो —दोनों पाठ मिलते हैं। इसका अर्थ है— इनका बार-बार चिन्तन करते रहना चाहिए। (अध्रुव आदि) प्रत्येक भावना का बार-बार अभ्यास करना चाहिए। उसी से वैराग्य दृढ़ होता है और परीषह-जय की सामर्थ्य प्रकट होती है, साथ ही रत्नत्रय की निर्दोषता भी बनी रहती है। इस प्रकार क्रमशः सद्ध्यान की प्रवृत्ति बढ़ती है और क्रमशः मोक्ष की निकटता होती जाती है। इसलिए हे भव्य जीव! तुम्हें इन अनुप्रेक्षाओं का सदैव चिन्तन व अभ्यास करते रहना चाहिए —यह शास्त्रकार (ग्रन्थकार आचार्य) का यहाँ मन्तव्य (अभिप्राय) है —ऐसा समझना चाहिए।

[परम पूज्य गणाचार्य श्री डॉ. विरागसागर-कृत सर्वोदया टीका में पूर्वपीठिका रूप द्वितीय गाथा रूप से पूर्वपीठिका सम्पन्न हुई।]

[अद्धुवाणुवेक्खा— पढमो अहियारो]

।। अध्रुवानुप्रेक्षा— प्रथमोऽधिकारः ।।

अथेदानीं 'अध्रुवानुप्रेक्षा'**-नामकः प्रथमोऽधिकारः प्रारभ्यते। इतः पूर्वं** 'अद्धुवमसरणमेयत्त' **इत्यादिका गाथा** (सं. 2) **द्वादशानुप्रेक्षानामनिर्देशनपरा पूर्वं व्याख्याता। सम्प्रति** 'वरभवणजाणवाहण' **इत्यादिकां गाथामादिं कृत्वा** 'परमट्ठेण दु आदा' **इत्यादिकां गाथां यावत् पञ्चगाथाभिः अध्रुवानुप्रेक्षाया व्याख्यानम्। तत्र** 'वरभवणजाणवाहण' **इत्यादिका प्रथमा गाथा** (सं. 3) **वरभवनयानादिवस्तु-अध्रुवत्वनिरूपणपरा वर्तते। तदनन्तरं** 'सामिग्गिंदियरूवं' **इत्यादिका उपभोग्यसामग्री-इन्द्रिय-रूप-आरोग्य-यौवनादीनाम् अनित्यत्वख्यापिका द्वितीया गाथा** (सं. 4) **वर्तते, तदुत्तरं** 'जलबुब्बुदसक्कधणू' **इत्यादिका अहमिन्द्रबलदेवपर्याय-क्षणभङ्गुरत्वप्रतिपादिका तृतीया गाथा** (सं. 5) **वर्तते। ततः परं** 'जीवणिबद्धं देहं' **इत्यादिका देह-आत्मनोः जलक्षीरवत्सम्बद्धयोः, अथ च भोगोपभोगकारणभूत-द्रव्याणां च अनित्यतां प्रतिपादयन्ती चतुर्थी गाथा** (सं. 6) **वर्तते।**

[अध्रुवानुप्रेक्षा— प्रथमाधिकार]

अब 'अध्रुवानुप्रेक्षा' नामक प्रथम अधिकार प्रारम्भ हो रहा है। इससे पहले, बारह अनुप्रेक्षाओं के नामों का निर्देश करने वाली '**अद्धुवमसरणमेयत्त**' इत्यादि गाथा (सं. 2) की व्याख्या की जा चुकी है। अब '**वरभवणजाणवाहण**' इत्यादि गाथा (सं. 3) से लेकर 'परमट्ठेण दु आदा' इत्यादि गाथा (सं. 7) तक पाँच गाथाओं द्वारा अध्रुवानुप्रेक्षा का व्याख्यान किया जा रहा है। इनमें '**वरभवणजाणवाहण**' इत्यादि प्रथम गाथा (सं. 3) है, जो सुन्दर भवन, यान आदि वस्तुओं की अध्रुवता का निरूपण करने वाली है। इसके बाद, '**सामिग्गिंदियरूवं**' इत्यादि द्वितीय गाथा (सं. 4) है, जिसमें उपभोग्य सामग्री, इन्द्रिय, रूप, स्वास्थ्य, यौवन आदि की अनित्यता का निरूपण किया गया है। इसके बाद, '**जलबुब्बुदसक्कधणू**' इत्यादि तृतीय गाथा (सं. 5) है, जो अहमिन्द्र, बलदेव आदि जीव-पर्यायों की क्षणभंगुरता का प्रतिपादन करती है। इसके बाद, '**जीवनिबद्धं देहं**' इत्यादि चौथी गाथा (सं. 6) है, जो जल-दूध की तरह परस्पर-बद्ध देह-आत्म-संयोग की, तथा भोगोपभोग के कारणभूत द्रव्यों की अनित्यता का प्रतिपादन करती है।

तदनन्तरं 'परमट्ठेण दु आदा' इत्यादिका 'परमात्मैव शाश्वतः' इतिकथनरूपा पञ्चमी गाथा (सं. 7), **एवं संहत्य पञ्चगाथात्मकः अध्रुवानुप्रेक्षानिरूपकोऽयं प्रथमोऽधिकारः। एवमस्याधिकारस्य समुदायपातनिका ज्ञातव्या।**

अथ सम्प्रति प्रथमं भवन-यान-वाहनादीनां पौद्गलिक-पदार्थानां देहसंयोगस्य, जननी-जनकादि-सम्बन्धस्य च अनित्यता शास्त्रकारेण निरूप्यते—

वरभवण-जाण-वाहण-सयणासण-देवमणुव-रायाणं।
मादु-पिदु-सजण-भिच्च य, संबंधिणो पिदिवयाणिच्चा॥३॥

छाया*— *वरभवनयानवाहन-शयनासनदेवमनुजराजानाम्।
मातापितृस्वजनभृत्याश्च सम्बन्धिनः पितृव्याः अनित्याः॥

(सर्वोदया टीका—) अन्वयस्तदवस्थः सुगमः। *(देवमणुवरायाणं)* **देवाः मनुजाः राजानश्च, तेषाम्। अथवा देवाः मनुजाश्च, तेषां ये राजानः, तेषाम्, देवेन्द्राणां चक्रवर्तिनां च इत्यर्थः। तत्र दीव्यन्ति इति देवाः।**

इसके बाद, **'परमट्ठेण दु आदा'** इत्यादि पाँचवीं गाथा (सं. 7) है जो **'परमात्मा ही शाश्वत है'** यह कथन करती है। इस प्रकार, कुल मिलाकर पाँच गाथाओं वाला अध्रुवानुपेक्षा का निरूपण करने वाला यह प्रथम अधिकार है। इस प्रकार इस अधिकार की समुदायपातनिका जाननी चाहिए।

अब सर्वप्रथम शास्त्रकार भवन, यान, वाहन आदि पौद्गलिक पदार्थों की, देह-संयोग एवं माता-पिता आदि सम्बन्ध (वालों) की अनित्यता बता रहे हैं—

(3)

(गाथा-अर्थ—) देवों, मनुष्यों व (उनके) राजाओं के सुन्दर महल, यान (देवयान या मनुष्ययान), वाहन, शय्या, आसन, और माता-पिता, स्वजन, नौकर-चाकर व सम्बन्धी जन एवं चाचा-ताऊ (—ये) अनित्य होते हैं।

(सर्वोदया टीका—) जिस रूप में गाथा पठित है, उसी रूप में अन्वय सुबोध्य है। **(देवमनुजराजानाम्)** देवता, मनुष्य और राजा, इन सब के (इन्द्रिय, रूप आदि अनित्य हैं)। अथवा देव और मनुष्य, इनके राजाओं अर्थात् देवेन्द्रों व चक्रवर्तियों के (उक्त साधन अनित्य हैं)। जो देवन करते हैं, वे देव होते हैं।

देवशब्दस्य निष्पत्तिः दिव्-धातोर्भवति। दिव्धातोरनेकेऽर्थाः— क्रीडा, विजिगीषा, द्युतिः, स्तुतिः, मोदः, मदः, कान्तिः, गतिः इत्यादिकाः। एवं यो दीव्यति क्रीडति परमानन्दे इति देवः, अथवा दीव्यति कर्माणि जेतुमिच्छति इति देवः, यद्वा दीव्यति कोटिसूर्याधिकतेजसा द्योतते इति देवः अर्हन्, यद्वा दीव्यति धर्मव्यवहारं विदधाति इति देवः, यद्वा दीव्यति लोकालोकं गच्छति जानाति (ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्थकाः इति वचनात्) इति देवः सिद्धपरमेष्ठी वा, दीव्यति स्तौति स्वचिद्-रूपमिति देवः सूरि-पाठक-साधु-रूपः —इति कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थस्य (गाथा-1) टीकायां भणितम्। यद्वा देवगतिनामकर्मोदये सति आभ्यन्तरे हेतौ बाह्यविभूतिविशेषैः द्वीपसमुद्रादिप्रदेशेषु यथेष्टं दीव्यन्ति, क्रीडन्ति इति देवाः —इति सर्वार्थसिद्धिग्रन्थे *(4/1)* **निरूपितम्। अत्र गाथायान्तु देवगतिनामकर्मोदयजनितदेवत्व-मधिगतानामेव ग्रहणमुचितम्। के मनुजाः? ये मन्यन्ते अर्थात् हेयोपादेयतत्त्वातत्त्वधर्माधर्मविचारणां कुर्वन्ति, प्रकृष्टेन मनसा च युक्ताः, ते मनुष्याः, मनुजा वा भवन्ति। उक्तं च धवलाग्रन्थे** *(पु. 13, खण्ड-5, भाग-5, सू. 141)— मनसा उत्कटाः मनुजाः।*

देव शब्द की निष्पत्ति दिव् धातु से होती है। 'दिव्' धातु के अनेक अर्थ होते हैं, जैसे क्रीड़ा, विजयेच्छा, द्योतित होना, स्तुति-विषय होना, प्रमुदित होना, मदयुक्त होना, कान्तिमान् होना व गतिमान् होना। इस प्रकार, जो परम आनन्द में क्रीड़ा करता है, वह देव है। या जो कर्मों को जीतने की इच्छा करता है, वह देव है। या जो करोड़ों सूर्यों के भी अधिक तेज से देदीप्यमान होता है, वह देव है, जैसे अर्हत् परमेष्ठी। अथवा जो धर्मयुक्त व्यवहार का विधाता है, वह देव है। अथवा (जो जो गत्यर्थक धातु है, वह ज्ञानार्थक भी होती है— इस नियम से) जो लोक-अलोक को जानता है, वह देव है— जैसे सिद्ध परमेष्ठी। अथवा जो अपने आत्मस्वरूप का स्तवन करता है, वह देव है, जैसे आचार्य, उपाध्याय व साधु —ऐसा कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (प्रथम गाथा) की टीका में बताया गया है। अथवा देवगति नामकर्म के उदय से नाना प्रकार की बाह्य विभूति से द्वीप, समुद्र आदि अनेक स्थानों में इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं, वे देव कहलाते हैं —ऐसा सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ (4/1) में कहा गया है। इस गाथा में तो देवगतिनामकर्म के उदय से देवगति को प्राप्त जीवों का ही ग्रहण उचित है। मनुज कौन हैं? जो मनन करते हैं, अर्थात् हेय-उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व एवं धर्म-अधर्म की विचारणा करते हैं, प्रकृष्ट (विकसित) मन से युक्त हैं, वे मनुष्य या मनुज कहलाते हैं। धवला ग्रन्थ (पु. 13, खण्ड-5, भाग-5, सू. 141) में कहा भी गया है— मन से जो उत्कट (उत्कृष्ट या विकसित) हैं, वे मनुज होते हैं।

अपि च गोम्मटसारे *(जीवकाण्डे-149)* **नेमिचन्द्राचार्यरचिते प्रोक्तम्—**

मण्णंति जदो णिच्चं मणेण णिउणा मणुक्कडा जम्हा।
मण्णुब्भवा य सव्वे तम्हा ते माणुसा भणिदा॥

देवानां तदिन्द्राणां च वैभवं विशेषतो वर्णितं शास्त्रेषु। मनुष्येषु ये उत्कृष्टपुण्यवन्तो भवन्ति, शलाकापुरुषेषु च परिगणिता भवन्ति, यथा चक्रवर्तिप्रभृतयः। तेषां वैभवमैश्वर्यं वा सामान्यजनदुर्लभं भवति। भवनयानवाहनादयोऽपि तेषामुत्तमा भवन्ति। चक्र-छत्र-दण्ड-मणि-गजाश्वप्रभृतीनां चेतनाचेतनानां चतुर्दशरत्नानां स्वामिनस्ते यथायोग्यं भवन्ति। प्रकारान्तरेण च गजाश्व-रथ-पदाति-सेनापति- पुरोहितप्रभृति-अष्टादशश्रेणीनामधिपतयस्ते वर्णिताः *(तिलोयपण्णत्ति, 2/43-44)*। **नवानामक्षयनिधीनां विविधमनोरथ-निष्पादनसमर्थानां च ते स्वामिनो वर्णिताः। भरतक्षेत्रस्य षट्खण्डाधिपतयः, द्वात्रिंशत्सहस्रमुकुटबद्धराजवृन्दवन्द्याश्च ते भवन्ति। विस्तरस्तु तिलोयपण्णत्तिग्रन्थे** *(4/1372-1397)* **द्रष्टव्यः।**

नेमिचन्द्र आचार्य (सिद्धान्तचक्रवर्ती) द्वारा रचित गोम्मटसार (जीवकाण्ड की गाथा 149) में भी कहा गया है— "चूँकि जो नित्य मनन करते हैं, मन से निपुण हैं, मन से उत्कट हैं, और मनु (कुलकर) से उत्पन्न हैं, इसलिए वे सभी मनुष्य कहे गए हैं।"

देवों और उनके इन्द्रों के उत्कृष्ट वैभव का विशेष रूप से निरूपण शास्त्रों में किया गया है। मनुष्यों में भी जो उत्कृष्ट पुण्यशाली होते हैं, उनकी परिगणना शलाकापुरुषों में होती है, जैसे चक्रवर्ती (व तीर्थंकर) प्रभृति। उनका भी जो वैभव या ऐश्वर्य होता है, वह सर्वसाधारण के लिए दुर्लभ ही होता है। उनके भवन, यान, वाहन आदि भी (अन्य जनों की तुलना में) उत्तम होते हैं। चक्रवर्ती चक्र-छत्र-दण्ड-मणि-हाथी-घोड़े आदि चेतन या अचेतन चौदह रत्नों के यथायोग्य स्वामी होते हैं। प्रकारान्तर से (अन्य निरूपण, जैसे तिलोयपण्णत्ति, 2/43-44 में) उन्हें हाथी-घोड़ा-रथ-पैदल सेना-सेनापति-पुरोहित आदि अठारह श्रेणियों का भी अधिपति माना गया है। इसके अतिरिक्त, उन्हें अनेक मनोरथों को पूर्ण करने वाली नौ अक्षय निधियों का अधिपति भी बताया गया है। भरत क्षेत्र के छः खण्डों के वे स्वामी और बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं के समूह द्वारा वन्दनीय होते हैं। इस सम्बन्ध में तिलोयपण्णत्ति (4/1372-1397) आदि ग्रन्थों से विस्तारपूर्वक जाना जा सकता है।

अत्रेदं तात्पर्यम्— देवाः, पुण्यवन्तो मनुष्याः, देवेन्द्राः, मनुष्येन्द्राः चक्रवर्तिनः, तेषां सर्वेषां भवनयानादिवैभवं न चिरस्थायि, पुण्यक्षये विनष्टत्वाद् अनित्यमेवेति ज्ञेयम्।

(वरभवण-जाण-वाहण-सयणासण) **वराणि श्रेष्ठानि भवनानि, यानानि, वाहनानि, शयनानि आसनानि च। तान्यपि अनित्यान्येवेति पद-सम्बन्धो ज्ञेयः। यानवाहनयोः प्रायः साम्यं दृश्यते। किन्तु देवोत्तमानां विमानानां सामान्यवाहनापेक्षया उत्कृष्टता वर्तते, तेषां संकेतो यानपदेन कृत इति प्रतीयते। मनुष्यजगति तु यानवाहनयोः महदन्तरं नास्ति। यानवाहनेषु अश्वादयो रथाश्च, द्विचक्रिका-त्रिचतुश्चक्रिकादीनां जलयान-वायुयानादीनां च ग्रहणं विधीयते। शयनासनेषु शयन-उपवेशनाधार भूतानां सिंहासन-आसन्दीप्रभृतीनां परिगणनं ज्ञेयम्।**

(मादुपिदुसजणभिच्च य) **माता, पिता, स्वजनाः, भृत्याः च। एतेषु स्वजन-पदेन निकटतमसम्बन्धिनो भ्रातरो भगिन्यः, पत्नी, पुत्राः, पुत्र्यश्च गृह्यन्ते। भृत्यपदेन दास-दासी-**

तात्पर्य यह है— देव और पुण्यशाली मनुष्य, देवेन्द्र, मनुष्येन्द्र चक्रवर्ती, उन सभी का भवन, यान आदि (कोई भी) वैभव चिरस्थायी नहीं रहता, क्योंकि पुण्य क्षीण होने पर वे नष्ट होते हैं, इसलिए अनित्य हैं।

(वरभवनयानवाहनशयन-आसन) वर यानी श्रेष्ठ या उत्तम। श्रेष्ठ भवन, यान, वाहन, शयन व आसन, ये भी अनित्य ही हैं— इस प्रकार पद-सम्बन्ध (और वाक्यार्थ) समझना चाहिए। यान और वाहन में प्रायः अर्थसाम्य है (एक ही अर्थ के दोनों वाचक हैं)। किन्तु उत्तम देवों के विमान सामान्य वाहनों की अपेक्षा से उत्कृष्ट होते हैं, उनका संकेत यान पद से किया गया है— ऐसा प्रतीत होता है (अर्थात् यहाँ 'यान' पद देवविमान का भी वाचक है)। मनुष्य-समाज में तो यान व वाहन में कोई बड़ा अन्तर नहीं होता। यान-वाहनों में अश्व आदि और रथ एवं द्विचक्रिका (साइकिल), तीन या चार पहियों वाली गाड़ियों, तथा जलयान (मोटरबोट) व वायुयान आदि का भी ग्रहण होता है। शयन व आसनों में सोने व बैठने आदि के आधारभूत सिंहासन, आरामकुर्सी आदि का परिगणन है— ऐसा समझें।

(मातापितृस्वजनभृत्याश्च) माता-पिता, स्वजन व नौकर चाकर भी (अनित्य) हैं। इनमें स्वजन पद से निकटतम सम्बन्धी, जैसे भाई, बहिन, पत्नी, पुत्र, पुत्री आदि का ग्रहण है। भृत्य पद से दास-दासी,

किंकरादयोऽधीनस्था कर्मकराः ग्राह्याः। *(पिदिवया)* **पितृव्याः। पितुर्भ्राता पितृव्यो भवति। परिवारे पितृतुल्याः मातृतुल्या वा सर्वे वरिष्ठा आदरणीया जनाः पितृव्यपदेन ग्राह्याः।** *(संबंधिणो)* **सम्बन्धिनः, अर्थात् अन्येऽवशिष्टा ये केचन मातुल-मातामह-श्वसुरादयो वा।** *(अणिच्चा)* **अनित्याः, न चिरस्थायिनो भवन्ति —इत्यर्थः।**

एतदेव साररूपेण स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे *(गाथा-6, 8, 10)* **निर्दिष्टम्—**

अथिरं परियणसयणं पुत्तकलत्तं सुमित्तलावण्णं।
गिह-गोहणाइ सव्वं णवघणविंदेण सारिच्छं॥

सुरधणु-तडिव्व चवला इंदियविसया सुभिच्च-वग्गा य।
दिट्ठपणट्ठा सव्वे तुरयगया रहवरादी य॥

पंथे पहियजणाणं जह संजोओ हवेइ खणमित्तं।
बंधुजणाणं च तहा संजोओ अद्धुओ होइ॥

नौकर-चाकर जैसे अधीनस्थ कर्मचारियों का ग्रहण करना चाहिए। **(पितृव्याः)** पितृव्य यानी पिता के भाई (चाचा, ताऊ) आदि। परिवार में पिता व माता के समान सभी वरिष्ठ आदरणीय व्यक्तियों का ग्रहण पितृव्य पद से करणीय है। **(सम्बन्धिनः)** सगे-सम्बन्धी, अर्थात् अन्य अवशिष्ट मामा, नाना, श्वसुर आदि जो कोई भी अवशिष्ट हैं वे। **(अनित्याः)** अनित्य हैं, नित्य या शाश्वत नहीं हैं —यह तात्पर्य है।

उक्त तथ्य को ही साररूप से स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-6, 8, 10) में इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—

''परिवार, बन्धु-बान्धव, पुत्र, पुत्री, अच्छे मित्र, शरीर, सौन्दर्य, घर, गाय-बैल आदि सभी वस्तुएँ नये मेघ-पटल की तरह (विनश्वर) हैं।''

''इन्द्रियों के विषय, नौकर-चाकर, घोड़े-हाथी, उत्तम रथ आदि सभी वस्तुएँ इन्द्रधनुष की तरह चञ्चल हैं, पहले दिखाई देती हैं, किन्तु तुरन्त नष्ट हो जाती हैं।''

''जैसे मार्ग में पथिक लोगों का संग-साथ क्षण भर के लिए ही होता है, वैसे ही बन्धु जनों का संयोग भी क्षण-भंगुर ही होता है।''

शास्त्रकारेणात्र भव्याः समुद्बोधिताः यत्तैः स्वपरिवारेष्टजनेषु मोहो न कार्यः, रागद्वेषावपि न करणीयौ। शाश्वतपदार्थे स्वशुद्धात्मनि एव रतिः कार्या।

तीव्रमोहविलये भौतिकपदार्थेषु स्वपरिवारजनेषु च आसक्तिः शिथिला भवति, ततश्च आत्मध्यानं सुकरं जायते, आत्मध्याने स्थिरीभूते मोहनीयकर्मण एव क्षयः। ततश्च संसारस्य क्षयः, दुःखपरम्पराक्षयश्च। अतो भव्यजनैः मोहत्यागः, शुद्धात्मध्याने च प्रमादालस्यत्यागश्च विधेयः। एतदर्थं तैरध्रुवानुप्रेक्षा भावनीया।

अथेदानीं यौवन-आरोग्यादीनामपि नश्वरतां प्रतिपादयन्ति आचार्याः—

सामग्गिंदियरूवं, आरोग्गं जोव्वणं बलं तेजं।
सोहग्गं लावण्णं, सुरधणुमिव सस्सयं ण हवे ॥४॥

छाया— सामग्री-इन्द्रिय-रूपम्, आरोग्यं यौवनं बलं तेजः।
सौभाग्यं लावण्यं सुरधनुरिव शाश्वतं न भवेत् ॥

शास्त्रकार ने इस गाथा के द्वारा भव्य प्राणियों को उद्बोधित किया है कि वे अपने परिवार व इष्ट जनों में मोह न करें और राग-द्वेष भी न करें एवं नित्य पदार्थ निज शुद्धात्मा में ही रति करें।

तीव्र मोह नष्ट होने पर भौतिक पदार्थों में और अपने पारिवारिक जनों में आसक्ति शिथिल हो जाती है और फलस्वरूप आत्मध्यान सुकर हो जाता है और आत्मध्यान की स्थिरता होने पर मोहनीय कर्म का ही क्षय हो जाता है, उससे संसार का और दुःख-परम्परा का भी क्षय हो जाता है। इसलिए भव्य जनों को चाहिए कि वे मोह छोड़ें, और शुद्धात्म-ध्यान में प्रमाद व आलस्य का त्याग करें। इसलिए वे अध्रुवानुप्रेक्षा का चिन्तन करें।

अब आचार्य यौवन, आरोग्य आदि की भी नश्वरता का प्रतिपादन कर रहे हैं—

(4)

(गाथा-अर्थ—) (भोगोपभोग की) सामग्रियाँ (साधन), इन्द्रियाँ, रूप, आरोग्य, यौवन, बल, तेज, सौभाग्य, लावण्य (सौन्दर्य), (ये सब) इन्द्रधनुष की तरह अशाश्वत (अनित्य) हैं।

(सर्वोदया टीका—) पदान्वयः सुबोध्यः। *(सामग्गि)*। **सामग्री, भोगोपभोगसाधनानि, अथवा तत्साधनभूतानि इन्द्रिय-रूप-आरोग्यादीनि गाथायां वक्ष्यमाणानि।** *(सस्सयं ण हवे)* **शाश्वतं न भवेत्, अर्थात् इन्द्रियरूपादीनि यानि कामभोग-साधनानि, तानि न शाश्वतानि, इत्यर्थो योज्यः। अथवा 'सामग्गि'-इत्यस्य समग्रेतिसंस्कृतरूपम्। समग्रमिन्द्रियरूपम्, अर्थात् समस्तेन्द्रियरूपम्, तत् शाश्वतं न भवतीति योजनीयम्।**

(इंदिय—) **नामकर्मोदयापादितानि इन्द्रियाणि संसारिणो जीवस्य भवन्ति। तानि पञ्च— स्पर्शन-रसना-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणि। तेषां च क्रमेण स्पर्श-रस-गन्ध-रूप-शब्दाः विषयाः भवन्ति। तत्र शीत-उष्ण-गुरु-लघु-मृदु-कठोर-स्निग्ध-रूक्षेतिअष्टविधः स्पर्शः। हिम-निचयः शीतलः, अग्निरुष्णः, गुरु अयस्कम्, लघुः कार्पासः, मृदु नवनीतम्, कठोरः पाषाणः, स्निग्धं घृतम्, रूक्षा बालुका इत्येवमुदाहरणानि। रसनेन्द्रियस्य विषयो रसः। स मधुर-कटुक-तिक्त-अम्ल-कषायेतिप्रकारैः पञ्चविधः। तत्र मधुरा शर्करा, कटुको निम्बः, तिक्ता मरीचिका, अम्लरसा तिन्तिडिका, कषायरस आमलकः— इत्युदाहरणानि।**

(सर्वोदया टीका—) गाथा का पदान्वय सुखबोध्य है। **(सामग्री—)** सामग्री भोगोपभोग के साधन, अथवा साधनभूत इन्द्रिय-रूप-आरोग्य आदि, जो गाथा में ही कहे जाने वाले हैं। **(शाश्वतं न भवेत्)** चिरस्थायी नहीं होते, अर्थात् इन्द्रिय, रूप आदि जो भी कामभोग-साधन हैं, वे शाश्वत नहीं है— ऐसा अर्थ समझें। अथवा 'सामग्गि' इसका संस्कृत रूप 'समग्र' भी होता है। यह पाठ स्वीकार करने पर अर्थ होगा —समग्र इन्द्रिय रूप अर्थात् समस्त इन्द्रिय रूप, वह शाश्वत नहीं होता —इस प्रकार वाक्यार्थ की नियोजना करनी चाहिए।

(इन्द्रिय—) संसारी जीव की इन्द्रियों का निर्माण नामकर्मोदय से होता है। वे इन्द्रियाँ पाँच प्रकार की हैं— स्पर्शन, (त्वचा) रसना, घ्राण, नेत्र व कर्ण। उनके क्रम से विषय इस प्रकार हैं— स्पर्श, रस, गंध, रूप व शब्द। स्पर्श के आठ भेद हैं— शीत, उष्ण, गुरु, लघु, मृदु, कठोर, स्निग्ध व रूक्ष। बर्फ शीतल है, अग्नि उष्ण है, लोहा भारी (गुरु) है, रुई हल्की (लघु) है, मक्खन मृदु (कोमल) है, पत्थर कठोर है, घी चिकना है, बालू रूखी है— इस प्रकार उन स्पर्शों के उदाहरण समझने चाहिए। रसनेन्द्रिय का विषय रस है, जो मधुर, कड़वा, तीखा, खट्टा व कसैला —इस प्रकार पाँच प्रकार का है। इनके क्रम से उदाहरण हैं— चीनी मीठी है, नीम कड़वा है, मिर्ची तीखी है, इमली खट्टी है, आंवला कसैला है।

गन्धश्च द्विविधः— सुगन्धो दुर्गन्धश्च। उत्तमपुष्पाणि सुगन्धपूर्णानि, विकृतमांसादिद्रव्याणि दुर्गन्धपूर्णानि। चक्षुरिन्द्रियविषयरूपमपि रक्त-पीत-श्वेत-नील-कृष्णेतिप्रकारैः पञ्चविधम्। रुधिरं रक्तवर्णम्, पक्वाम्रफलं पीतवर्णम्, दुग्धः श्वेतवर्णः, नभो नीलवर्णम्, काकः कृष्णवर्णः।

श्रोत्रेन्द्रियविषयः शब्दो ध्वनिर्वा। संगीतशास्त्रे ध्वनेर्भेदरूपेण स्वराणां निरूपणं भवति। तत्र सप्तस्वरात्मको ध्वनिः। तेषां सप्तस्वराणां नामानि, तेषामुद्भवस्थानानि, संगीतशास्त्रे तेषां विशिष्टनामानि च निम्नलिखितरीत्या बोध्यानि—

स्वर-नाम	शास्त्रीयं नाम	निदर्शनम्	उत्पत्तिस्थानम्
1. षड्जस्वरः	सा	मयूरस्वरवत्	कण्ठः
2. ऋषभस्वरः	रे	गोस्वरवत्	मस्तकं, शीर्षस्थानम्
3. गान्धारस्वरः	ग	अजास्वरवत्	नासिका
4. मध्यमस्वरः	म	क्रौञ्चपक्षिस्वरवत्	हृदयम्/उरःस्थानम्
5. पञ्चम-स्वरः	प	कोकिलस्वरवत्	मुखम् (उरःशिरःकण्ठस्थानम्)

गन्ध दो प्रकार का होता है— सुगन्ध व दुर्गन्ध। उत्तम पुष्प सुगन्धित होते हैं, और विकृत मांस आदि दुर्गन्धित होता है। नेत्र इन्द्रिय के विषय होने वाला रूप पाँच प्रकार का है— लाल, पीला, सफेद, नीला व काला। रक्त लाल वर्ण वाला होता है, पका आम पीले वर्ण वाला होता है, दूध सफेद वर्ण वाला होता है, आकाश नीला होता है और कौआ काले वर्ण का होता है।

श्रोत्र (कर्ण) का विषय शब्द या ध्वनि होती है। संगीतशास्त्र में ध्वनि-भेद रूप में स्वरों का निरूपण किया गया है। वह ध्वनि सात स्वरों वाली मानी गई है। उन सात स्वरों के नाम, उनके उद्भव-स्थान एवं उनकी शास्त्रीय संज्ञाएँ निम्नलिखित रूप से समझें—

स्वर-नाम	शास्त्रीय संज्ञा	उदाहरण	उत्पत्ति स्थान
1. षड्ज	सा	मयूर स्वर	कण्ठ
2. ऋषभ	रे	गौ-स्वर	मस्तक, शीर्ष
3. गान्धार	ग	बकरी का स्वर	नासिका
4. मध्यम	म	क्रौंच पक्षी का स्वर	हृदय/उर:स्थान
5. पंचम	प	कोयल का स्वर	मुख (उर:शिरकण्ठ स्थान)

6. धैवत-स्वरः	**ध**	**अश्वस्वरवत्**	**तालुस्थानम्/ललाटस्थानम्**
7. निषादस्वरः	**नि**	**गजस्वरवत्**	**सर्वशरीरम्**

उक्तं च नारदीयशिक्षायां *(1/5/4-7)*—

षड्जं मयूरो वदति, गावो रम्भन्ति चर्षभम्।
अजा वदति गान्धारं क्रौञ्चो वदति मध्यमम्॥

पुष्पसाधारणे काले पिको वक्ति च पंचमम्।
अश्वस्तु धैवतं वक्ति, निषादं वक्ति कुञ्जरः॥

कण्ठादुत्तिष्ठते षड्जः, शिरसस्त्वृषभः स्मृतः।
गान्धारस्त्वनुनासिक उरसो मध्यमः स्वरः॥

उरसः शिरसः कण्ठाद् उत्थितः पञ्चमः स्वरः।
ललाटाद् धैवतं विद्यात् निषादं सर्वसन्धिजम्॥

---

6. धैवत	ध	घोड़े का स्वर	तालु स्थान/ ललाट स्थान
7. निषाद	नि	हाथी का स्वर	समस्त शरीर

नारदीय शिक्षा (1/5/4-7) में भी कहा गया है—

मयूर षड्ज स्वर से बोलता है, गौएं ऋषभ स्वर में रँभाती हैं। बकरी गान्धार में बोलती है तो क्रौञ्च पक्षी मध्यम स्वर में बोलता है।

पुष्प विकसित होने की स्थिति (वसन्त ऋतु) में कोयल पंचम स्वर में गाती है। घोड़ा धैवत बोलता है तो हाथी निषाद में गरजता है।

षड्ज का कण्ठ से, ऋषभ का सिर से, गान्धार का नासिका से, मध्यम का उर:स्थान (वक्षस्थल) से उद्भव होता है।

पंचम स्वर का उर-सिर-कण्ठ से, धैवत का ललाट से तथा निषाद स्वर का सर्वसंधियुक्त शरीर से उद्भव होता है।

केषांचिन्मते षड्जस्वरं मयूरो वदति, तदुद्भवस्थानं जिह्वाग्रभागः। ऋषभस्वरं कुक्कुटो वदति, उरःस्थलमुद्भवस्थानम्। गान्धारस्वरं हंसो वदति, तदुद्भवस्थानं कण्ठः। मध्यमस्वरं मेषो वदति, उद्भवस्थानं जिह्वामध्यभागः। पञ्चमस्वरं कोकिलो वदति, नासिका उद्भवस्थानम्। धैवतं क्रौञ्चपक्षी वदति, दन्तोष्ठसंयोग उद्भवस्थानम्। निषादस्वरं गजो वदति, शिरःस्थानात्स उद्भवतीति।

एवं सर्वेन्द्रियाणां समग्रतया सप्तविंशतिविषयाः सन्ति। जीवेन सर्वेन्द्रियविषयाणां भोगोपभोगोऽपरिमितवारं विहितः, किन्तु न कदाचिदपि तस्य तृप्तिर्जाता।

भावप्राभृते *(गाथा-21-23)* **प्रोक्तमत्र प्रासङ्गिकं प्रतिभातिः—**

जलथलसिहिपवणंबरगिरिसरिदरितरुवणाइं सव्वत्तो।
वसिओ सि चिरं कालं तिहुवणमज्झे अणप्पवसो॥

किन्हीं (व्याख्याताओं) के अनुसार षड्ज स्वर मयूर पक्षी का होता है, उसका उत्पत्ति-स्थान जिह्वा का अग्रभाग होता है। कुक्कुट (मुर्गा) का स्वर ऋषभ होता है, उत्पत्तिस्थान उरःस्थल है। गान्धार स्वर हंस का होता है, उसका उद्भवस्थान कण्ठ है। मेष (भेड़) का स्वर मध्यम स्वर होता है, उद्भवस्थान जिह्वा का मध्यभाग होता है। कोयल का स्वर पंचम स्वर होता है, उद्भव-स्थान नासिका स्थान होता है। क्रौञ्च पक्षी का स्वर धैवत होता है, उद्भवस्थान दाँत व ओठ का संयोग होता है। हाथी का स्वर निषाद होता है, उसका उद्भव सिर से होता है।

इस प्रकार सभी इन्द्रियों के विषयों का योग करें तो कुल विषयों की संख्या सत्ताईस होती है। इस जीव ने समस्त इन्द्रिय-विषयों का भोग या उपभोग अपरिमित बार किया है, किन्तु कभी उसे तृप्ति नहीं हो पाई।

भावप्राभृत (गाथा-21-23) का निम्नलिखित कथन यहाँ प्रासंगिक प्रतीत होता है—

हे जीव! तुमने पराधीन होकर तीन लोकों में जल, स्थल, अग्नि, वायु, आकाश, पर्वत, नदी, गुफा, वृक्ष, वन आदि सभी स्थानों में चिरकाल तक निवास किया है।

गसियाइं पुग्गलाइं भुवणोदरवत्तियाइं सव्वाइं।
पत्तोसि तो ण तित्तिं पुणरूवं ताइं भुंजंतो॥

तिहुयणसलिलं सयलं पीयं तिण्हाये पीडिएण तुमे।
तो वि ण तिण्हाच्छेओ जाओ चिंतेह भवमहणं॥

इष्टोपदेशेऽपि *(श्लोक-30)* **उक्तम्—**

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहात्, मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य, मम विज्ञस्य का स्पृहा।।

एवं सर्वेन्द्रियाणि तद्विषयाश्च आत्मतृप्तिं कारयितुं न प्रभवन्ति, अथ च तेषां नश्वरताऽपि दुःखजनिका, इत्यतः परमशाश्वतसुखप्रदायकं शुद्धात्मानमेव आश्रयन्तु भव्याः —इत्याचार्याणां तात्पर्यम्।

हे जीव! तुमने लोक में स्थित समस्त पुद्गलों का भक्षण किया है और उन्हें बार-बार भोगते हुए भी तुझे तृप्ति नहीं हुई।

हे जीव! तुमने प्यास से पीड़ित होकर तीन लोक का सारा जल पी लिया जो तेरी प्यास नहीं बुझा सका। अतः तू संसार-नाशक (रत्नत्रय) का चिन्तन कर।

इष्टोपदेश (श्लोक-30) में भी कहा है—

सभी पौद्गलिक पदार्थ मेरे द्वारा मोह से बार-बार भोगकर छोड़ दिए गये हैं, फिर जूठन के समान उन पुद्गलों में मुझ बुद्धिमान (ज्ञानी) की अब क्या अभिलाषा? अर्थात् कुछ नहीं है।

इस प्रकार, सभी इन्द्रियाँ और उनके (द्वारा भोगे गये) विषय आत्मिक तृप्ति कराने में समर्थ नहीं होते, और उन (सब) की नश्वरता भी दुःखदायक होती है— इसलिए भव्य लोगों को चाहिए कि वे शाश्वत सुख के दाता शुद्धात्मा का ही आश्रय करें —यह आचार्य (ग्रन्थकार) का आशय है।

(रूवं—) **रूपम्, सौन्दर्यमित्यर्थः। शारीरिकसौन्दर्यं नियतकालस्थायि। परमसौन्दर्यं शाश्वतं तु शुद्धात्मन एव —इति** *'एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए'* **—इति समयसारे** *(गा. 3)* **संकेतितमपि।** *(आरोग्गं)* **आरोग्यं स्वास्थ्यमित्यर्थः। न रोगः, अरोगः। अरोगस्य भावः आरोग्यम्, नीरोगता इत्यर्थः। मनुष्यशरीरे विविधरोगाणां सद्भावः सम्भवति। अक्षिप्रमितदेशे षण्णवतिरोगाः सम्भवन्ति, तर्हि सम्पूर्णशरीरे तु कोट्यधिका रोगाः।**

उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे *(गाथा-1048)*—

जदि दा रोगा एक्कम्मि चेव अच्छिम्मि होंति छण्णउदी।
सव्वम्मि दाइं देहे होदव्वं कदिहिं रोगेहिं॥

अपि च (टीकाकर्त्रा आचार्येण आशाधरेण उद्धृता गाथा तत्रैव)—

पंचेव य कोडीओ भवंति तह अट्ठसट्ठिलक्खाइं।
णव णवरि च सहस्सा पंचसया होंति चुलसीदी॥

(रूपं—) रूप यानी सौन्दर्य। शारीरिक सौन्दर्य नियत काल तक ही स्थायी रह पाता है। (वस्तुतः) शाश्वत परमसौन्दर्य (यदि कहीं है तो वह) शुद्धात्मा का ही है —ऐसा समयसार (की गाथा सं 3) ***'एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोगे'*** में संकेतित भी है। **(आरोग्यं)** आरोग्य अर्थात् स्वास्थ्य। अरोग यानी रोग का न होना। अरोग का होना आरोग्य, अर्थात् नीरोगपना होता है। मनुष्य के शरीर में विविध रोगों का सद्भाव सम्भव है। (शरीर के एक छोटे अंग) आँख में ही छियानबे रोग हो सकते हैं, तो सारे शरीर में तो करोड़ से भी अधिक रोग हो सकते हैं।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1048 व टीका-ग्रन्थ) में कहा गया है—

''यदि एक आँख में ही छियानवे रोग हैं तो (सारे) देह में न जाने कितने रोग होंगे।''

यहीं (पं. आशाधर जी द्वारा विरचित भगवती-आराधना, गाथा-1048 की टीका में एक उद्धृत गाथा के रूप में) यह कहा गया है—

''शरीर में पाँच करोड़ अड़सठ लाख, निन्यानवे हजार पाँच सौ चौरासी रोग होते हैं।''

उक्तं च ज्ञानार्णवे *(2/113)— "सर्वदैव रुजाक्रान्तं... देहिनां देहपञ्जरम्"* **इति। पापकर्मोदये जाताया रोगवेदनायाः शान्तिरौषधिभिरपि कर्तुं न शक्यते।**

उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे *(गाथा-1605)—*

पुरिसस्स पावकम्मोदएण ण करंति वेदणोवसमं।
सुट्ठु पउत्ताणि वि ओसधाणि अदिवीरियाणी वि॥

एवमौषधीनामपि पापकर्मोदये निष्प्रभावत्त्वात् नीरोगता अनित्यैव। *(जोव्वणं)* **यौवनम्।** *(बलं)* **शक्तिः,** *(तेजं)* **तेजः, शारीरिकदीप्तिः।** *(सोहग्गं)* **सौभाग्यम्।** *(लावण्णं)* **लावण्यम्, सौन्दर्यम्। इत्यादिका सर्वा सामग्री।** *(सस्सयं ण हवे)* **—भोगोपभोगसाधनानि, इन्द्रियाणि, रूपम् इत्यादीनि न शाश्वतानि भवन्ति, अर्थात् अनित्यानि विनश्वराण्येव। कथमिव?** *(सुरधणुमिव)* **इन्द्रधनुरिव। वर्षाकाले यदा जलवृष्टिर्भवति, तदा सूर्यकिरणसम्पर्केण सप्तरङ्गयुक्तधनुषाकृतिः व्योम्नि निर्मिता भवति, सा न चिरस्थायिनी भवति, वायुप्रवेगेन इन्द्रधनुः शीघ्रं विलीनं जायते। तद्वदेव रूपादीनि इति तात्पर्यम्।**

ज्ञानार्णव (2/113) में भी कहा गया है— "प्राणियों का देहरूपी पिंजरा सर्वदा ही (किसी न किसी) रोग से आक्रान्त रहता है।" पापकर्मों के उदय होने पर जो रोग-वेदना होती है, उसकी शांति औषधियों से कभी नहीं की जा सकती।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1605) में कहा भी है— "जब पाप कर्मों का उदय होता है, तब अत्यन्त शक्तिशाली औषधि भी ली जाएं तो भी उनका कोई प्रभाव नहीं होता है।"

इस प्रकार पापकर्मों के उदय की स्थिति में औषधियों के भी निरर्थक होने से रोगहीनता की स्थिति अनित्य ही है। **(यौवनं)** युवावस्था। **(बलं)** शक्ति, **(तेजः)** तेज या शारीरिक दीप्ति। **(सौभाग्यम्)** सौभाग्य। **(लावण्यं)** सुन्दरता, इत्यादि सभी पूर्वोक्त (भोगोपभोग में सहायक) सामग्री, वह सब **(शाश्वतं न भवेत्)** अर्थात् भोगोपभोगसाधन **(सामग्री)**, इन्द्रियाँ, रूप इत्यादि शाश्वत, चिरस्थायी नहीं होती, अर्थात् वे अनित्य या विनाशी ही हैं। किस प्रकार? **(सुरधनुः इव)** इन्द्रधनुष की तरह। वर्षा के समय जब पानी बरसता है तो सूर्य-किरण के सम्पर्क से सप्तरंगी धनुष जैसी आकृति आकाश में बनती है, वह चिरस्थायी नहीं होती, हवा के वेग से वह इन्द्रधनुष शीघ्र ही विलीन हो जाता है। उसी प्रकार रूप आदि क्षणिक होते हैं, शाश्वत नहीं होते —यह तात्पर्य है।

एतदेव कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे *(गाथा-5, 10, 22)* **प्रतिपादितमस्ति:—**

जम्मं मरणेण समं संपज्जइ जोव्वणं जरासहियं।
लच्छी विणाससहिया इय सव्वं भंगुरं मुणह॥

जा सासया ण लच्छी चक्कहराणं पि पुण्णवंताणं।
सा किं बंधेइ रइं इयरजणाणं अपुण्णाणं॥

चइऊण महामोहं विसए मुणिऊण भंगुरे सव्वे।
णिव्विसयं कुणह मणं जेण सुहं उत्तमं लहइ॥

भगवती-आराधनाग्रन्थे *(गाथा-1054)* **भणितम्—**

मेघहिमफेणउक्कासंझाजलबुब्बुदो व मणुगाणं।
इंदियजोव्वणमदिरूवतेयबलवीरियमणिच्चं ॥

इसी तथ्य को कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-5, 10, 22) में इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

"जन्म मरण के साथ जुड़ा होता है, जवानी बुढ़ापे के साथ और लक्ष्मी विनाश के साथ जुड़ी होती है।"

"जो लक्ष्मी पुण्यवान् चक्रवर्ती राजाओं के भी सर्वदा नहीं रहा करती, वह पुण्यहीन अन्य साधारण जनों से अनुराग कैसे कर सकती है?"

"हे भव्य जीवों! समस्त विषयों को क्षणिक मानते हुए महामोह को त्यागो और मन को विषयों से पूर्णत: दूर रखो ताकि उत्तम सुख प्राप्त कर सको।"

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1054) में भी कहा गया है—

"मनुष्यों के इन्द्रियाँ, यौवन, मति, रूप, तेज, बल व वीर्य —ये सभी मेघ, बर्फ, फेन, उल्का, सन्ध्या और जल के बुलबुले की तरह अनित्य होते हैं।"

एवं शास्त्रकारेणापि भव्याः संकेतिता यद् उक्तानि इन्द्रियरूपसौन्दर्यबलादीनि प्राप्य मोहो मदो वा न कर्तव्यः, तेषामनित्यतां मनसि संप्रधार्य, आत्महिते एव मतिः कार्या।

उक्तं च सूक्तिकारैः—

यावत्स्वास्थ्यं शरीरस्य यावच्चेन्द्रियसंपदः।
तावदात्महितं कुर्यात्, वार्धक्ये किं करिष्यसि॥

अथ सम्प्रति अहमिन्द्र-बलदेव-प्रभृतिपर्यायाणामपि अनित्यतां शास्त्रकाराः प्रतिपादयन्ति—

जलबुब्बुद-सक्कधणु-खणरुचि-घनसोहमिव थिरं ण हवे।
अहमिंद-ट्ठाणाइं, बलदेवप्पहुदि-पज्जाया ॥५॥

छाया— *जलबुद्बुद-शक्रधनुः-क्षणरुचि-घनशोभा इव स्थिराः न भवेयुः।*
अहमिन्द्रस्थानानि बलदेवप्रभृति-पर्यायाः॥

इसी तरह शास्त्रकार ने भी भव्यों को यह संकेत दिया है कि (गाथा में) कहे गये इन्द्रिय, रूप, सौन्दर्य, बल आदि सब को प्राप्त करके कभी मोह या अभिमान नहीं करना चाहिए, अपितु उन सब की अनित्यता को मन में रखकर, आत्म-हित में ही अपनी बुद्धि (रुचि) लगानी चाहिए।

सूक्तिकारों ने कहा भी है—

''जब तक शरीर स्वस्थ है, जब तक इन्द्रिय-सम्पत्ति विद्यमान् है, तब तक आत्म-हित कर लेना चाहिए, अन्यथा बुढ़ापे में क्या (आत्महित) कर पाओगे?''

अब शास्त्रकार अहमिन्द्र, बलदेव आदि पर्यायों (अवस्थाओं) की भी अनित्यता का प्रतिपादन करने जा रहे हैं—

(5)

(गाथा-अर्थ—) जल का बुलबुला, इन्द्रधनुष, बिजली (की चमक) व मेघ की शोभा (चिरस्थायी नहीं होते, उन्हीं) की तरह अहमिन्द्र व बलदेव आदि पर्याय भी चिरस्थायी नहीं होते।

(सर्वोदया टीका—) अहमिंदट्ठाणाइं बलदेवप्पहुदिपज्जाया जलबुब्बुद-सक्कधणु-खणरुचि-घणसोहमिव थिरं ण हवे —इति अन्वयः। *(अहमिंदट्ठाणाइं)* **अहमिन्द्रस्थानानि। देवानां समाजे सम्मान-कार्यविभागादिदृष्ट्या दश विभागाः सन्ति— इन्द्रः, सामानिकाः, त्रायस्त्रिंशाः, पारिषदाः, आत्मरक्षाः, लोकपालाः, अनीकानि, प्रकीर्णकाः, आभियोग्याः, किल्विषिकाः इति।**

तत्र देवानामधिपतिः, ऐश्वर्य-आज्ञाप्रभुतादृष्ट्या सर्वप्रमुखः इन्द्रः। कलत्रसमाः यद्वा पितृगुरूपाध्यायसमाः सामानिकाः। मन्त्रिपुरोहितस्थानीयाः त्र.यस्त्रिंशाः, वयस्यपीठमर्दतुल्याः पारिषदाः, शिरोरक्षोपमाः (अंगरक्षकाः) आत्मरक्षाः, आरक्षिकतुल्याः- *(दण्डाधिकारिणः),* **लोकपालाः, सैनिकस्थानीयानि वृषभ-अश्व-गज-पदाति-गन्धर्व-नर्तकी-रथेति सप्तधा विभक्तानि अनीकानि, पौरजनपदतुल्याः प्रकीर्णकाः, दासतुल्या आभियोग्याः, अन्त्यवासिसमाः किल्विषिकाः। व्यन्तरेषु ज्योतिष्केषु च त्रायस्त्रिंशा लोकपालाश्च न भवन्ति।**

(सर्वोदया टीका—) अहमिन्द्र (आदि) के स्थान (स्थिति) और बलदेव प्रभृति पर्याय जल-बुद्बुद आदि की तरह स्थिर नहीं होते —यह अन्वय है। **(अहमिन्द्रस्थानानि)**-'अहमिन्द्र' रूपी स्थान (स्थिति)। देवों के समाज में उनके सम्मान व कार्य-विभाजन आदि की दृष्टि से दस विभाग बताए गये हैं— इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक।

इनमें जो ऐश्वर्य व आज्ञा-प्रभुता की दृष्टि से सर्वप्रमुख, देवों का अधिपति होता है, वह इन्द्र होता है। इन्द्र के कलत्र के समान, या पिता, गुरु, उपाध्याय के समान (देव) 'सामानिक' होते हैं। मन्त्री, पुरोहित जैसे (हितेच्छु) रूप में स्थित त्रायस्त्रिंश (बत्तीस देव-समूह) होते हैं। मित्र-वर्ग व विनोदशील (नर्तक आदि) के रूप में स्थित देवों को पारिषद कहा जाता है। अंगरक्षक देवों को आत्मरक्ष कहते हैं। लोकपाल वे होते हैं जो आरक्षिक अधिकारी के जैसे कार्य करते हैं। सेना या सैनिकों के रूप में 'अनीक' होते हैं जो वृषभ, अश्व, हाथी, पैदल सैनिक, गन्धर्व, नर्तकी, रथ —इन सात रूपों में विभाजित होते हैं। नगर या जिले के नागरिक जैसे 'प्रकीर्णक' होते हैं। दासों के समान आभियोग्य होते हैं। पापशील व अन्त्यवासी (अधम वर्ग के जैसे) देवों को किल्विषिक कहा जाता है। व्यन्तर व ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश व लोकपाल नहीं होते।

इन्द्रादिदशतया कल्पना (वर्गविशेष-व्यवस्था) ग्रैवेयकात्प्राक् षोडशस्वर्गेषु कल्पोपपन्न-वैमानिकदेवपर्यन्तमेव। नवग्रैवेयकादिषु उपरितनेषु उत्कृष्टदेवेषु सा नास्ति, अतः तत्र सर्वे अहमिन्द्रा एव। कल्पातीतेषु वैमानिकेषु देवेषु सर्वे एव समानाः, न हीनाधिकाः, अतः सर्वे एव देवाः 'अहमिन्द्रः, नान्यः कश्चिदिन्द्रो मम' इति भावनां दधति, अतः सर्वे 'अहमिन्द्र'-पदेन अभिधीयन्ते।

उक्तं चानगारधर्मामृते *(1/46 उद्धृतं पद्यद्वयम्)*—

अहमिन्द्रोऽस्मि नेन्द्रोऽन्यो मत्तोऽस्तीत्यात्तकर्तृताः।
अहमिन्द्राख्यया ख्यातिं गतास्ते हि सुरोत्तमाः॥

नासूया परनिन्दा वा नात्मश्लाघा न मत्सरः।
केवलं सुखसाद्‌भूता दीव्यन्त्येते दिवौकसः॥

(बलदेवप्पहुदिपज्जाया) **बलदेवप्रभृतिपर्यायाः। बलदेवः, बलभद्रो वा। शलाकापुरुषेषु चतुर्विंशतितीर्थंकराः, द्वादश चक्रवर्तिनः, नव बलभद्राः, नव नारायणाः, नव प्रतिनारायणाः**

इन्द्र आदि उक्त इन भेदों की कल्पना (व्यवस्था सभी देवों में नहीं होती, अपितु) ग्रैवेयक देवों से पहले सोलह स्वर्गों में, अर्थात् कल्पोपपन्न वैमानिक देवों तक में ही है। नव ग्रैवेयक आदि-उपरिवर्ती उत्कृष्ट देवों में वह व्यवस्था नहीं है, इसलिए वहाँ सभी 'अहमिन्द्र' ही होते हैं। कल्पातीत वैमानिक देवों में (ये अहमिन्द्र) सभी समान होते हैं, एक-दूसरे से हीन या अधिक नहीं होते, इसलिए सभी देव 'मैं ही इन्द्र हूँ, कोई दूसरा इन्द्र नहीं' —ऐसा स्वयं के विषय में भाव रखते हैं, जिससे सभी देव 'अहमिन्द्र' कहे जाते हैं।

अनगारधर्मामृत (1/46) में (उद्धृत दो पद्यों में) कहा भी गया है—

"मैं ही इन्द्र हूँ, मुझसे भिन्न कोई दूसरा इन्द्र नहीं —ऐसा स्वयं को उद्‌घोषित करते हैं, वे देवोत्तम 'अहमिन्द्र' संज्ञा से प्रसिद्ध होते हैं।"

"उनमें परस्पर असूया, परनिन्दा, आत्म-प्रशंसा, मात्सर्य नहीं होते और मात्र सुख-भोगसम्पन्न होते हुए वे स्वर्गस्थ देव क्रीड़ारत रहते हैं।"

(बलदेवप्रभृतिपर्यायाः) बलदेव आदि (जीव) पर्याय। बलदेव यानी बलभद्र। शलाकापुरुषों में चौबीस तीर्थंकरों के अलावा बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण व नौ प्रति-नारायण (भी) परिगणित

परिगणिताः भवन्ति। अष्टमो बलभद्रो दशरथ-पुत्रः रामापरनामधेयो हि पद्मः। नवमो बलभद्रो वसुदेवपुत्रः। नारायणाः बलभद्राणां कनिष्ठभ्रातर एव भवन्ति, अतोऽष्टमो नारायणः लक्ष्मणेति-नामकः, नवमो नारायणो वसुदेवपुत्रः कृष्णः। विस्तरेण परिचयस्तु तिलोयपणत्तिमहापुराणादि-ग्रन्थेभ्यो विज्ञेयः। शास्त्रेषु बलदेवनारायणानां वैभवमनुपमं निरूपितमपि दृश्यते। तद्यथा— बलदेवः षोडशसहस्राणां देशानां राज्ञां चाधिपतिर्भवति, द्विचत्वारिंशत्कोटि-परिमितानां पदातीनां, द्विचत्वारिंल्लक्षपरिमितानां गजानां रथानां च स्वामी, चतुर्णां महारत्नानां च स्वामित्वं वहति *(महापुराण, 68/667-674)*।

अत्र 'प्रभृति'—पदेन चक्रवर्तिनामर्धचक्रवर्तिनां महाराजाधिराजमण्डलीकादीनां च ग्रहणं बोध्यम्। योऽष्टादशश्रेणीनामधिपतिर्मुकुटधारी च, स राजा। पंचशतसंख्यकराजवृन्दस्वामी अधिराजः, सहस्रराजवृन्दस्वामी महाराजः, द्विसहस्रराजाधिपतिः अर्धमण्डलीकः, चतुःसहस्रराजाधिपतिः, स मण्डलीकः, अष्टसहस्रराजाधिपतिः महामण्डलीकः, त्रिखण्डाधिपतिः अर्धचक्री, इत्यादि ज्ञेयम् *(धवला, पु. 1, खण्ड-1, गाथा-36, तिलोयपण्णत्ति 1/42, 45-46 आदि)*।

होते हैं। इनमें आठवें बलभद्र दशरथपुत्र 'पद्म' हैं, जिनका दूसरा नाम राम है। नवें बलभद्र वसुदेव-पुत्र हैं। नारायण बलभद्रों के छोटे भाई ही होते हैं, अतः आठवें नारायण वे हैं जिनका नाम लक्ष्मण है। नवें नारायण वसुदेव-पुत्र कृष्ण हैं। इस सबका विस्तार से परिचय तिलोयपण्णत्ति, महापुराण (आदिपुराण, उत्तरपुराण) आदि से जाना जा सकता है। शास्त्रों में बलदेवों व नारायणों के अनुपम वैभव का निरूपण भी प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ— सोलह हजार देशों और (उतने ही) राजाओं के स्वामी, बयालीस करोड़ पैदल सेना के, बयालीस लाख हाथी व (उतने ही) रथों तथा चार विशिष्ट महारत्नों के स्वामी बलभद्र होते हैं (महापुराण 68/667-674)।

यहाँ 'आदि' पद से चक्रवर्ती, अर्धचक्रवर्ती, महाराजा, अधिराज, मण्डलीक आदि राजाओं का ग्रहण करना चाहिए। (इनका स्वरूप इस प्रकार है—) जो अठारह श्रेणियों का स्वामी मुकुटधारी शासक होता है, उसे 'राजा' कहते हैं। पाँच सौ राजाओं का अधिपति 'अधिराज', हजार राजाओं का अधिपति 'महाराज', दो हजार राजाओं का अधिपति अर्धमण्डलीक, चार हजार राजाओं का स्वामी मण्डलीक, आठ हजार राजाओं का स्वामी महामण्डलीक, तीन खण्डों के अधिपति अर्धचक्री, इत्यादि उनका भेद समझना चाहिए (धवला, पु. 1, खण्ड-1, गाथा-36, तिलोयपण्णत्ति, 1/42, 45-46 आदि)।

'पर्यायाः' इत्यनेन जीवस्यावस्थाविशेषः सूच्यते। पर्यायाः परिणतिविशेषाः। ते पर्यायाः स्थूलाः सूक्ष्माश्च भवन्ति। देवेन्द्र-बलभद्र-चक्रवर्तिप्रभृतिपर्यायाः स्थूलाः सामान्यजनगोचराः ये व्यञ्जनपर्याया अपि अभिधीयन्ते। सूक्ष्मास्तु प्रत्येकद्रव्ये प्रतिक्षणं प्रवर्तमानाः परिणतिविशेषाः, ये अर्थपर्यायशब्देनापि अभिधीयन्ते। पर्यायाः उद्भवन्ति, नश्यन्त्यपि, न च ते स्थायिनः, द्रव्यमेकं ध्रुवं तत्पर्यायाधारभूतम्।

उक्तं च पञ्चास्तिकाये *(गाथा-17-18)*—

मणुसत्तणेण णट्ठो देही देवो हवेदि इदरो वा।
उभयत्त जीवभावो ण णस्सदि ण जायदे अण्णो॥

सो चेव जादि मरणं जादि ण णट्ठो ण चेव उप्पण्णो।
उप्पण्णो य विणट्ठो देवो मणुसुत्ति पज्जाओ॥

अतः सिद्ध्यति यद् अहमिन्द्र-बलदेवप्रभृतिपर्यायाः जीवस्य उत्पद्यन्ते, अतस्तेषां नाशोऽपि भवत्येव।

'पर्याय' इस पद से जीव की विशेष अवस्था को सूचित किया गया है। विशेष परिणतियों को पर्याय कहा जाता है। वे पर्याय स्थूल भी होते हैं और सूक्ष्म भी। देवेन्द्र, बलभद्र, चक्रवर्ती आदि पर्याय स्थूल हैं जिन्हें व्यञ्जन पर्याय भी कहा जाता है और जो सामान्य जनों को भी दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु प्रत्येक द्रव्य में प्रतिक्षण प्रवर्तित हो रहे जो विशेष परिणाम होते हैं, वे सूक्ष्म होते हैं और जिन्हें अर्थपर्याय भी कहा जाता है। पर्याय उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं, वे स्थायी नहीं रहते, मात्र एक ध्रुव तत्त्व रहता है, जो उन पर्यायों का आधारभूत होता है।

पंचास्तिकाय (गाथा-17-18) में कहा गया है—

"मनुष्य पर्याय रूप से नष्ट प्राणी देव या अन्य पर्याय वाला होता है। दोनों ही स्थितियों में वह जीव भाव (मूलतः) नष्ट नहीं होता और न ही कोई दूसरा जीव उत्पन्न होता है।"

"वह (एक) ही प्राणी मरण करता है और वही उत्पन्न होता है, कोई जीव नष्ट नहीं होता और न ही कोई नया उत्पन्न होता है, मात्र जो उत्पन्न या विनष्ट होता है, वही उसका पर्याय है।"

इसलिए यह सिद्ध होता है कि अहमिन्द्र व बलदेव आदि जो जीव के पर्याय हैं, वे चूँकि उत्पन्न होते हैं, इसलिए उनका नाश भी होगा ही।

उक्तं च ज्ञानार्णवे *(2/48)*—

न स कोऽप्यस्ति दुर्बुद्धे शरीरी भुवनत्रये।
यस्य कण्ठे कृतान्तस्य न पाशः प्रसरिष्यति॥

अपि च तत्रैव *(2/53)* **प्रोक्तम्—**

यस्मिन् संसारकान्तारे यमभोगीन्द्रसेविते।
पुराणपुरुषाः पूर्वमनन्ताः प्रलयं गताः॥

अत्रायं विशेषः— एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः क्रमवर्तिनः परिणतिविशेषाः पर्याया इत्युक्तं प्राक्। न ते सर्वे युगपत् एककाले भवन्ति, क्रमेणैव भवन्ति— इति तात्पर्येण ते क्रमभाविनः प्रोक्ताः। केचित् 'क्रमबद्धपर्याय' रूपेण स्वच्छन्दं व्याचक्षते, किन्तु केषुचिदपि प्रमाणभूतेषु शास्त्रेषु 'क्रमबद्धपर्याय'-रूपेण न कश्चित् सिद्धान्तोऽङ्गीकृतः। अतोऽत्र पर्यायपदेन क्रमबद्धपर्यायग्रहणं न प्रसङ्गोपात्तमिति विद्मः।

ज्ञानार्णव (2/48) में कहा भी गया है—

"हे दुर्बुद्धि प्राणी! तीनों लोक में ऐसा कोई देहधारी नहीं है जिसके गले में यमराज का फन्दा नहीं पड़ा हो।"

और भी वहीं (2/53) कहा गया है—

"यमरूपी सर्पराज के निवास-स्थान इस संसार-वन में अतीत काल में अनन्त पुराणपुरुष मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं।"

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है— एक द्रव्य में क्रमभावी या क्रमवर्ती परिणति-विशेषों को पर्याय पहले कहा गया है। वे सभी पर्याय एक समय में युगपत् नहीं होते, क्रम से ही होते हैं—इस तात्पर्य से उन्हें क्रमभावी या क्रमवर्ती कहा गया है। (किन्तु) कुछ व्याख्याता 'क्रमबद्धपर्याय' रूप से स्वच्छन्द व्याख्यान करते हैं, किन्तु किन्हीं भी प्रमाणभूत शास्त्रों में 'क्रमबद्धपर्याय' रूप से कोई सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया गया है। इसलिए यहाँ 'पर्याय' पद से क्रमबद्धपर्याय का ग्रहण प्रासंगिक नहीं है— ऐसा हमारा मानना है।

(थिरं ण हवे) **एते पूर्वोक्ताः पर्यायाः स्थिरा न भवन्ति, अर्थात् अनित्या एव, न तेषां शाश्वतिकी सत्ता भवति। कथमिव? तत्र शास्त्रकारैर्दृष्टान्ताः प्रदर्शिताः। ते च दृष्टान्ताः चत्वारः, येषामाधारेण अनित्यता सर्वजनसुबोध्या भवति। तत्र प्रथमो दृष्टान्तः—** *(जलबुब्बुद)*, **जलबुद्बुदा इव। द्वितीयो दृष्टान्तः—** *(सक्कधणु)*-**शक्रधनुः इव, इन्द्रधनुरिव। तृतीयो दृष्टान्तः—** *(खणरुचि)* **क्षणरुचिः, क्षणमेव रुचिः दीप्तिर्यस्य इति क्षणरुचिः नभोविद्युद् इव। चतुर्थो दृष्टान्तः—** *(घणसोहं इव)* **घना मेघा, तेषां शोभा इव। यथा मेघाः वायुवेगेन शीघ्रमेव नष्टाकृतयो भवन्तो विलीयन्ते, तथैव बलदेवादिसदृशाः स्थितयः न शाश्वतं तिष्ठन्ति, नश्यन्त्येवेति तात्पर्यम्।**

एतदेव तथ्यं कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे *(गाथा-21, 12)* **प्रतिपादितमास्ते—**

जलबुब्बुयसारिच्छं धणजोव्वणजीवियं पि पेच्छंता।
मण्णंति तो वि णिच्चं अइबलिओ मोह-माहप्पो॥

ता भुंजिज्जउ लच्छी दिज्जउ दाणे दयापहाणेण।
जा जलतरंगचवला दो तिण्णि दिणाइं चिट्ठेइ॥

(स्थिराः न भवेयुः) पूर्वोक्त (बलदेव आदि) पर्याय स्थिर नहीं रहते। अर्थात् अनित्य ही हैं, उनकी शाश्वत सत्ता नहीं होती। किसकी तरह? इसके उत्तर में शास्त्रकार ने दृष्टान्त दिए हैं। वे दृष्टान्त चार हैं, जिनके आधार से अनित्यता को सर्वजनसुगम बनाया गया है। उनमें **प्रथम दृष्टान्त** है— **(जलबुद्बुद)** उठने वाले बुलबुलों की तरह। **दूसरा दृष्टान्त** है— **(शक्रधनुः)** —इन्द्र-धनुष की तरह। **तीसरा दृष्टान्त** है— **(क्षणरुचि)**। क्षणमात्र ही जिसकी दीप्ति या चमक रहती है, वह क्षणरुचि यानी आकाश में चमकने वाली बिजली की तरह। **चौथा दृष्टान्त** है— **(घनशोभा इव)**। घन यानी मेघ की शोभा यानी छटा की तरह। जैसे मेघ की आकृतियाँ वायु के वेग से शीघ्र नष्ट, छितर-बितर हो जाती हैं, उसी तरह बलदेव आदि के जैसी स्थितियाँ भी शाश्वत नहीं रहतीं, नष्ट होती ही हैं —यह तात्पर्य है।

इसी तथ्य को (स्वामी) कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-21 व 12) में भी प्रतिपादित किया गया है— "धन, यौवन और जीवन को जल के बुलबुले के समान देखते हुए भी लोग उन्हें नित्य मानते हैं। (सचमुच) मोह की महिमा बड़ी बलवती होती है।"

"यह लक्ष्मी पानी में उठने वाली लहरों की तरह चञ्चल है, दो-तीन दिनों तक ही ठहरती है, अतः तब तक इसे भोगो और दयालु होकर दान दो।"

पर्यायमूढानां परसमयत्वं प्रवचनसारे *(2/2)* प्रतिपादितमपि। अतः शास्त्रकाराः प्रोक्तपर्यायाणामनित्यतां प्रतिपाद्य बोधयन्ति यत् विशिष्टवैभववत्सु जीवपर्यायेषु कदाचिदपि आसक्तिं मा कृथाः। भोगाकांक्षा निदानं भवति। तन्निमित्तं, चक्रवर्तिबलदेवादिपर्यायप्राप्तये विशिष्टतपःप्रभृति-अनुष्ठानानि क्रियन्ते चेत्, तर्हि संयमविराधनैव भाविनी —इति भगवती-आराधनाग्रन्थे *(गाथा-1209-1217)* निर्दिष्टम्। भोगाकांक्षा जन्मनि जन्मनि दुर्गतिमेव साधयति। निदानं तु आर्तध्यानमेव, तत् दुर्गतिसाधकमेवेति तत्त्वार्थसूत्रे, तद्व्याख्यायां च *(राजवार्तिक-9/33)* प्रतिपादितमेव। किम्बहुना, नारायणाः प्रतिनारायणाश्च सर्वे नरकगामिन एव भवन्ति। अतः सर्वविधं वैभवं क्षणभङ्गुरं विज्ञाय तदासक्तिः त्याज्या, निजात्मा केवलं सेवनीयः, स एव ध्यातव्यः। तत एव क्रमेण मोक्षप्राप्तिः, दुःखनाशोऽपि भविष्यति। एवं शुद्धोपयोगे एव पुरुषार्थः करणीयः इति शास्त्रकाराणां तात्पर्यम्।

अथेदानीं नीरक्षीरवत्सम्बद्धयोः देहात्मनोरपि संयोगस्य अनित्यता शास्त्रकारैः प्रतिपाद्यते—

पर्यायमूढ़ों को प्रवचनसार (2/2) में 'परसमय' भी कहा गया है। अतः शास्त्रकार पूर्वोक्त पर्यायों की अनित्यता को प्रतिपादित कर यह समझाना चाहते हैं कि विशिष्ट वैभव वाले जीव पर्यायों में भी कभी आसक्त न हों। भोग की आकांक्षा 'निदान' होती है। उसके लिए, अर्थात् चक्रवर्ती, बलदेव आदि पर्यायों की प्राप्ति के लिए विशिष्ट तपस्या आदि चारित्र का पालन करेंगे तो संयम-विराधना (भंग) का होना अवश्यम्भावी है— ऐसा भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1209-1217) में बताया गया है। भोगाकांक्षा निश्चित ही जन्म-जन्मान्तरों में दुर्गति ही दिलाती है। निदान तो आर्त ध्यान ही है, जो दुर्गतिदायक ही होता है— यह तत्त्वार्थसूत्र और उसकी व्याख्या (राजवार्तिक-9/33) में प्रतिपादित किया गया है। अधिक क्या, नारायण व प्रतिनारायण सभी नरकगामी ही होते हैं। इसलिए सभी प्रकार के वैभवों को क्षणिक जानकर उसके प्रति आसक्ति छोड़नी चाहिए, मात्र अपनी शुद्धात्मा का सेवन (आलम्बन) करना चाहिए, उसी का ध्यान करना चाहिए। इसी से क्रमशः मोक्ष प्राप्त होगा और दुःख भी नष्ट होगा ही। इस प्रकार, शुद्धोपयोग में ही पुरुषार्थ करना चाहिए —ऐसा शास्त्रकार का तात्पर्य है।

अब, जल-दूध की तरह परस्पर-सम्बद्ध देह व आत्मा के संयोग की अनित्यता को शास्त्रकार प्रतिपादित कर रहे हैं—

जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं।
भोगोपभोगकारण-दव्वं णिच्चं कहं होदि ॥6॥

छाया— जीवनिबद्धं देहं क्षीरोदकमिव विनश्यति शीघ्रम्।
भोगोपभोगकारण-द्रव्यं नित्यं कथं भवति ॥

(सर्वोदया टीका—) खीरोदयमिव जीवणिबद्धं देहं सिग्घं विणस्सदे। भोगोपभोगकारणं दव्वं कहं णिच्चं होदि —इत्यन्वयः। *(खीरोदयमिव)* **क्षीरं दुग्धम्, उदकं जलम्। तद्वत्, अर्थात् क्षीरं जलं च परस्परमिश्रिते भवतः, न तयोः पार्थक्यं दृश्यते, तथैव।** *(जीवणिबद्धं देहं)* **जीवेन सह निबद्धं संयुक्तं शरीरम्।** *(सिग्घं विणस्सदे)* **शीघ्रं विनश्यति।**

अयम्भावः— जीवो भिन्नः, पुद्गलात्मको देहश्च भिन्नः। तयोः स्वरूपमपि भिन्नमेव। जीवश्चेतनः, अमूर्तः। देहस्तु अचेतनपुद्गलनिर्मितः, मूर्तोऽपि। एवमेव क्षीरं जलं चेत्युभे परस्परभिन्ने, पृथगस्तित्वं दधतः।

---

(6)

(गाथा-अर्थ—) जब दूध और पानी की तरह जीव के साथ मिला हुआ यह देह (भी) शीघ्र नष्ट हो जाता है, तब फिर भोगोपभोग का कारणभूत (बाह्य) द्रव्य (भौतिक वैभव) नित्य कैसे हो सकता है?

(सर्वोदया टीका—) क्षीरोदकमिव जीवनिबद्धं देहं शीघ्रं विनश्यति, (तर्हि) भोगोपभोगकारणं द्रव्यं कथं नित्यं भवति —यह अन्वय है। **(क्षीरोदकमिव-)** क्षीर यानी दूध, उदक यानी जल। उनकी तरह, अर्थात् जिस प्रकार दूध व पानी, दोनों परस्पर मिश्रित होते हैं, वे अलग-अलग नहीं दिखाई पड़ते, उसी तरह **(जीवनिबद्धं देहं)**-जीव (आत्मा) के साथ जुड़ा हुआ देह (भी वैसे ही है)। **(शीघ्रं विनश्यति)** —शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

तात्पर्य यह है— जीव भिन्न है, और पुद्गलात्मक शरीर भी भिन्न है। इन दोनों का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न है। जीव चेतन है, अमूर्त है, किन्तु शरीर अचेतन पुद्गलों से निर्मित है और मूर्त है। इसी प्रकार दूध व जल —ये दोनों परस्पर भिन्न हैं और पृथक्-पृथक् अस्तित्व भी रखते हैं।

उक्तं च समयसारे *(गाथा-28)— 'इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं'* **इति। किन्तु एकक्षेत्रावगाहितया, परस्परप्रदेशसंश्लिष्टतया मिश्रिते दृष्टे भवतः, तथैव जीवशरीरयोः सम्बन्धो ज्ञेयः।**

समयसारेऽपि *(गाथा-5)* **क्षीरोदकदृष्टान्तोऽयं स्वीकृतः। तत्राऽन्यत्र दृष्टान्तान्तरमपि दृश्यते। यथा सुवर्णभूषणं निर्मीयते, तर्हि सुवर्णे रजतमपि मिश्रितं भवति, तथैव आत्मशरीरयोर्योगः —इति आचार्यअमृतचन्द्रेण आत्मख्यातिटीकायां** *(समयसार, गाथा-27)* **निर्दिष्टम्। पंचास्तिकाये** *(गा. 33)* **तु क्षीरे पद्मरागरत्नमिव भासमानो जीवो निर्दिष्टः।**

अत्र शास्त्रकाराः *'जीवनिबद्धं देहं'* **इत्युक्त्या जीवदेहयोः पार्थक्यं संकेतयन्ति। शरीरनामकर्मोदयजनितो देहः संसारिणो भवति। अयं देहो जीवेन सह निबद्धः, सम्बद्धः, अनेन सूच्यते यदनयोः सम्बन्धो जातः, न तु तयोरेकत्वमिति** *'अण्णोण्णं पविसंता... सगं सहावं ण विजहंति'* **इत्यादिगाथायां पञ्चास्तिकाये** *(गाथा-7)* **निर्दिष्टम्।**

समयसार (गाथा-28) में कहा भी गया है— ''यह देह पुद्गलमय है और जीव से पृथक् है।'' किन्तु दोनों एकक्षेत्रावगाही एवं परस्परसंश्लिष्ट होने से मिश्रित दृष्टिगोचर होते हैं, उसी तरह जीव (आत्मा) व शरीर —इन दोनों का संयोग है —यह समझना चाहिए।

दूध व जल का यह दृष्टान्त समयसार (गाथा-5) में भी दिया गया है। वहीं दूसरी जगह (दूध व पानी के दृष्टान्त से अलग) अन्य दृष्टान्त भी दिया गया उपलब्ध होता है। जैसे, सोने का गहना बनाते हैं तो सोने में चांदी भी मिश्रित होती है, उसी तरह आत्मा व शरीर का संयोग है— ऐसा आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति (समयसार गाथा-27) टीका में निर्दिष्ट किया है। पञ्चास्तिकाय (गाथा-33) में दूध में डाले हुए पद्मरागरत्न की तरह भासमान जीव को बताया गया है।

यहाँ शास्त्रकार ने 'जीवनिबद्ध देह' यह कहकर देह व जीव के पार्थक्य (अत्यन्त भेद) का संकेत किया है। संसारी जीव को शरीर-नामकर्मोदयजनित देह प्राप्त होता है, और यह देह जीव के साथ सम्बद्ध होता है— इस कथन से सूचित किया है कि इन दोनों का सम्बन्ध (कर्मों के कारण) हुआ है, किन्तु वे मिलकर कभी एक नहीं हो जाते —ऐसा पञ्चास्तिकाय (गाथा-7) में कहा भी गया है कि द्रव्य एक-दूसरे में प्रविष्ट होते हुए भी अपने स्वभाव (स्वरूप) से कभी च्युत नहीं होते।

दृश्यतेऽपि व्यवहारे यज्जलमिश्रितं दुग्धमपि यदा अग्नौ स्थाप्यते, तदा शनैः शनैर्जलं नश्यति। श्रूयते च यत् हंसो वारिक्षीरयोः पार्थक्यं कर्तुं प्रभवति, स दुग्धं तु पिबति, जलं च मुञ्चति। तथैव मृत्युसमये जीवनिर्मुक्तो देहः संजायते। न मृतदेहस्य अग्निदाहकृतपीडा च भवति, जीवनिर्मुक्तत्वात् अचेतनो देहो न कांचित् पीडामनुभवति। एवमेव हंसवत् भेदज्ञानी साधको देहात्स्वं पृथगपि अनुभवितुं शक्नोति।

उक्तं च समयसारकलशे *(43)*—

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं,
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तम्।

'शरीर'-पदनिर्युक्तिरपि तस्य विनाशित्वं सूचयति। शीर्यन्ते इति शरीराणि। शरीरस्य विनश्वरता स्वतः, अतो जीवेन सह तस्य संयोगोऽपि नश्वर एवेति हृदयम्।

अतएव प्रवचनसारे *(2/101)* **प्रोक्तम्**—

व्यवहार में देखा भी जाता है कि जल मिले दूध को (पात्र में रखकर) आग में चढ़ाते हैं तो धीरे-धीरे जल नष्ट हो जाता है। सुनते भी हैं कि हंस पानी व दूध को पृथक् करने में समर्थ है, वह दूध तो पीता है और पानी को छोड़ देता है। उसी प्रकार, मृत्यु के समय देह जीव से रहित हो जाता है। मृत देह को अग्नि से जलने की पीड़ा नहीं होती, क्योंकि देह जीवरहित होने से जड़ हो गया है और वह किसी पीड़ा को अनुभव नहीं कर रहा होता। इसी तरह हंस की तरह भेदज्ञानी साधक स्वयं को देह से पृथक् अनुभव करने में समर्थ होता है।

समयसारकलश (43) में कहा भी गया है—

''जीव से अजीव को लक्षणों के आधार पर भिन्न रूप में परिणमित होते हुए ज्ञानी अनुभव करता है।'' इत्यादि।

'शरीर' इस पद की निर्युक्ति भी शरीर की नश्वरता को सूचित करती है। शीर्ण (क्षीण) होते हैं, वे शरीर कहलाते हैं। इस तरह चूँकि शरीर की नश्वरता स्वतः है, इसलिए जीव के साथ उसका संयोग भी नश्वर ही है— यह तात्पर्य है।

इसलिए प्रवचनसार (2/101) में कहा गया है—

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा॥

देहस्य नश्वरता याऽत्र प्रतिपादिता, तया शास्त्रकाराः उद्बोधयन्ति यद् देहोपरि ममत्वं त्याज्यम्। ममत्वं चैकत्वबुद्धिजन्यम्। सा चैकत्वबुद्धिरज्ञानजन्या।

उक्तं च ज्ञानार्णवे *(29/11)— ''संयोजयति देहेन सहात्मानं विमूढधीः ''* **इति। वस्तुतो देहादेव, देहासक्तेरेव संसारबन्धनपरम्परा क्रमेण दुरन्ता भवति।**

उक्तं च पञ्चास्तिकायटीकायां तत्त्वप्रदीपिकायामाचार्येण *(गाथा-128-130)* **अमृतचन्द्रेण—** *''देहात्पुनरिन्द्रियाणि। इन्द्रियेभ्यः पुनर्विषयग्रहणम्, विषयग्रहणात् पुना रागद्वेषौ। रागद्वेषाभ्यां पुनरपि स्निग्धः परिणामः। एवमिदम् अन्योन्यकार्यकारणभूतजीवपुद्गलपरिणामात्मकं कर्मजालं संसारचक्रं जीवस्य अनाद्यनिधनं वा चक्रवत् परिवर्तते ''*।

''देह, धन, सुख-दुःख और शत्रु-मित्र —ये जीव के ध्रुव नहीं रहते, यदि कोई ध्रुव है तो वह है— उपयोगमय आत्मा।''

देह की नश्वरता का जो यहाँ प्रतिपादन किया जा रहा है, उसके आधार पर शास्त्रकार उद्बोधित कर रहे हैं कि देह पर ममत्व नहीं करना चाहिए। ममत्व का कारण है— (देह व आत्मा में) एकत्व बुद्धि, यह एकत्व बुद्धि अज्ञानजनित होती है।

ज्ञानार्णव (29/11) में कहा भी गया है—

''अज्ञानी स्वयं को (आत्मा को) देह के साथ एकत्व स्थापित करता है।'' वस्तुतः इस देह से, इस देह की आसक्ति से ही संसारबन्धन की परम्परा क्रम से अन्तहीन होती जाती है।

पञ्चास्तिकाय (गाथा-128-130) की तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा भी है—

''देह से इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण, उसके फलस्वरूप राग-द्वेष, जिनसे पुनः स्निग्ध परिणाम, इस प्रकार एक दूसरे के कार्यकारणभूत जीव-पुद्गल में परिणाम के स्वरूप कर्म-जाल रूपी संसार-चक्र जीव के अनादि-निधन होता है, जीव के प्रवर्तित होता रहता है।''

एते बलदेवप्रभृतिपर्यायाः उपचरित-असद्भूतव्यवहारनयेन यद्यपि संसारिजीवानां भवन्ति, तथापि शुद्धनिश्चयनयेन ते विभावपर्यायाः, अतस्त्याज्याः, इति विचार्य निर्विकारचिच्चैतन्यमयं निजशुद्धात्मभावमेव भावय —इति शास्त्रकाराभिप्रायः।

इदानीं प्रकृतमनुसरामः। *(भोगोपभोगकारणदव्वं)*— **भोगश्च उपभोगश्च, तयोर्यत् कारणं द्रव्यात्मकं चेतनाचेतनरूपम्। यः भुक्त्वा हीयते, स भोगः, भुक्त्वा यः पुनः पुनर्भोक्तव्यो भवति, स उपभोगः। एवं भोजनं भोगरूपेण, वस्त्रादिधारणमुपभोगरूपेण बोध्यम्।**

समर्थितं चैतत् रत्नकरण्डश्रावकाचारे *(4/83)*—

भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो, भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः।
उपभोगोऽशनवसनप्रभृति पञ्चेन्द्रियो विषयः॥

ये बलदेव आदि पर्याय उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से यद्यपि संसारी जीवों के माने जाते हैं, तथापि शुद्ध निश्चयनय से वे विभावपर्याय ही हैं, इसलिए वे त्याज्य हैं। ऐसा सोचकर निर्विकार चित्-स्वरूप चैतन्यमय निज शुद्धात्मस्वरूप की ही भावना करनी चाहिए —ऐसा शास्त्रकार का अभिप्राय है।

अब प्रस्तुत विषय पर आते हैं। **(भोगोपभोग-कारणद्रव्यं)**- भोग व उपभोग, उनका कारण (साधन) जो द्रव्य, अर्थात् चेतन या अचेतन पदार्थ। भोग वह होता है जो भोगकर छोड़ दिया जाता है। उपभोग वह है जो भोगकर पुनः भी भोगा जाता है। इस दृष्टि से भोजन भोग है, और वस्त्र आदि का धारण उपभोग है —यह (अन्तर) समझें।

रत्नकरण्डश्रावकाचार (4/83 पद्य) में कहा भी गया है —

"जो एक बार भोगकर छोड़ने योग्य होता है, वह 'भोग' है, और बार-बार भोग करने योग्य वस्तु का उपभोग होता है, जैसे भोजन व वस्त्र-धारण आदि पञ्चेन्द्रिय-विषय (भोग्य व उपभोग्य हैं)।"

एतेषां भोगोपभोगकारणद्रव्यं बहुविधं भवति, तदपि *(कहं णिच्चं होदि)* **कथं नित्यं भवेद्। अयम्भावः— यज्जन्मत एव प्राप्तम्, येन सहैव जीवावस्थानम्, तदपि शरीरं यदि नश्यति, तद् जीवाद् वियुक्तं भवति, तर्हि का कथा बाह्यद्रव्याणाम्, तेषां स्थितिस्तु कथमपि न चिरस्थायिनी। एवमहमिन्द्रबलदेवप्रभृतिपर्यायेषु भोगोपभोगसाधनानि यानि प्राप्यन्ते, तेषामपि विनश्वरत्वं ज्ञेयम्। तत्रासक्तिस्त्याज्यैव। वस्तुतः शरीरेन्द्रियादिसाधनैः क्रियमाणो भोग उपभोगो वा न शाश्वतं सुखमुत्पादयति। तत्सुखं तु सुखाभासमेव।**

अतएव प्रवचनसारस्य टीकायां तत्त्वप्रदीपिकायां *(1/71)* **प्रोक्तम्—** *"इन्द्रियसुखभाजनेषु हि प्रधाना दिवौकसः, तेषामपि स्वाभाविकं न खलु सुखमस्ति, प्रत्युत तेषां स्वाभाविकं दुःखमेवावलोक्यते"।*

अतो निष्कर्षरूपेण बलदेवप्रभृतिपर्यायेषु बुद्धिं रुचिं वा विहाय स्वदेहेऽपि ममत्वं त्याज्यम्। शाश्वतसुखनिर्भरं शुद्धात्मस्वरूपमेव समाश्रयणीयम्।

इस तरह, भोगोपभोग के कारण (साधन) भूत द्रव्य अनेक प्रकार का होता है। वह भी **(कथं नित्यं भवति ?)** कैसे नित्य, चिरस्थायी हो सकता है ? तात्पर्य यह है— जो जन्म से ही प्राप्त है, जिसके साथ ही जीव की (सांसारिक) स्थिति है, वह शरीर भी जब नष्ट हो जाता है, और वह जीव से रहित हो जाता है, तब बाह्य द्रव्यों की क्या बात है ? उनकी स्थिति तो किसी भी तरह चिरस्थायी नहीं हो सकती। इस तरह अहमिन्द्र, बलदेव आदि पर्यायों में भोगोपभोग के साधन जो मिलते भी हैं, उनकी नश्वरता समझनी चाहिए। उनके प्रति भी आसक्ति छोड़नी ही चाहिए। वस्तुतः शरीर, इन्द्रिय आदि साधनों के द्वारा किये जा रहे भोग या उपभोग से शाश्वत सुख नहीं प्राप्त होता। वह (उनसे प्राप्त) सुख सुखाभास ही है।

इसीलिए प्रवचनसार (1/71) की तत्त्वप्रदीपिका टीका में कहा गया है—

"इन्द्रिय-सुख के साधनों की दृष्टि से स्वर्गस्थ देव प्रमुख हैं, किन्तु उन्हें भी स्वाभाविक सुख नहीं मिलता, अपितु उन्हें स्वाभाविक दुःख ही होता दिखाई देता है।"

इसलिए निष्कर्ष यह है कि बलदेव आदि पर्यायों में बुद्धि या रुचि छोड़कर अपने शरीर के प्रति भी ममत्व त्यागें, और शाश्वत सुख से परिपूर्ण शुद्धात्मस्वरूप का ही अवलम्बन लें।

अथ सम्प्रति अध्रुवानुप्रेक्षामुपसंहर्तुकामाः शास्त्रकाराः 'शाश्वत आत्मैव नित्यं भावनीयः' इति प्रतिपादयन्ति—

परमट्ठेण हु आदा देवासुर-मणुव-राय-विहवेहिं।
वदिरित्तो सो अप्पा सस्सदमिदि चिंतए णिच्चं ॥७॥

छाया— *परमार्थेन खलु आत्मा देवासुरमनुजराजविभवैः।*
व्यतिरिक्तः स आत्मा शाश्वतमिति चिन्तयेत् नित्यम् ॥

(सर्वोदया टीका—) अन्वयः सुगम एव। *(परमट्ठेण)* **परमार्थेन, निश्चयनयेन। परमार्थः परमशुद्धआत्मैव —इति** *'परमट्ठो खलु समओ सुद्धो'* **इत्यादिकया समयसारगाथया** *(गाथा-151)* **निर्दिष्टम्। एवं परमार्थदृष्टिः शुद्धनिश्चयदृष्टिरेव। एषा दृष्टिरेव कर्मक्षयसाधिकेति** *'परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिदो'* **इतिसमयसारे** *(गाथा-156)* **प्रतिपादितमपि। एवं परमार्थदृष्टिमनुसृत्य विचार्यते चेत्,** *(आदा)* **आत्मा,** *(हु)* **खलु। नूनमेव, यद्वा 'खलु' इति पादपूरकमव्ययपदम्।** *(देवासुर-मणुव-रायविहवेहिं)*-**देवाः, असुराः, मनुजाः, राजानश्च, तेषां विभवैः। यद्वा देवानामसुराणां**

अब अध्रुवानुप्रेक्षा का उपसंहार करने की इच्छा से 'इस शाश्वत आत्मा की ही नित्य भावना करनी चाहिए' ऐसा शास्त्रकार प्रतिपादित कर रहे हैं—

(7)

(गाथा-अर्थ—) परमार्थ से यह आत्मा देव, असुर, मनुष्य और (या इनके) राजाओं के वैभवों से भिन्न (पृथक्) है, वह आत्मा (ही) शाश्वत है— ऐसा नित्य चिन्तन करना चाहिए।

(सर्वोदया टीका—) अन्वय सुगम ही है। **(परमार्थेन)** परमार्थ दृष्टि से, अर्थात् निश्चय नय से। परमार्थ परम शुद्ध आत्मा ही है— ऐसा समयसार (गाथा-151) की 'परमट्ठो खलु समओ' इत्यादि गाथा से बताया गया है। इस प्रकार, परमार्थ-दृष्टि शुद्धनिश्चय की दृष्टि ही है। यह दृष्टि ही कर्मक्षय की साधिका है— ऐसा 'समयसार' की 'परमट्ठमस्सिदाण जु जदीण कम्मक्खओ' इत्यादि (गाथा-156) से प्रतिपादित होता है। इस तरह, परमार्थ दृष्टि से विचार करें तो **(आत्मा)** यह आत्मा **(खलु)** निश्चित ही, अथवा 'खलु' (हु) यह पद पादपूरक अव्यय पद है (कोई इसका अर्थ नहीं है), **(देवासुरमनुजराजविभवैः)** देव, असुर, मनुष्य व राजा (चक्रवर्ती आदि), उनके वैभवों से, अथवा देवों का राजा, असुरों के राजा, मनुष्यों के

मनुजानां च ये राजानः, इन्द्राः, तेषां विभवैः। *(वदिरित्तो)* **व्यतिरिक्तः, पृथक्, असम्पृक्तः, अस्पृष्टश्च वर्तते। देवपर्यायः, असुरपर्यायः, मनुजपर्यायः, एवमेव राजपर्यायः, निर्धनपर्यायो वा— एते सर्वे पर्यायाः कर्मजनिताः, न ते आत्मनः स्वभावपर्यायाः, तेऽपि व्यवहारनयेन यद्यपि सन्ति, तथापि परमार्थनयेन, शुद्धनिश्चयनयेन तु आत्मा पूर्णशुद्ध एव तिष्ठति, अत आत्मा तैस्तैः व्यावहारिकदृष्ट्या सद्भूतैरपि पर्यायैः स्वयं पृथगेव तिष्ठति— इति भावः।**

समयसारे *(गाथा-14)* **शुद्धनयेन आत्मा अबद्धः, कर्म-अस्पृष्टश्चैव वर्णितः। उक्तं च—**

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि।।

समयसारकलशेऽपि *(10)*—

आत्मस्वभावं परभावभिन्नम्, आपूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति॥

राजा —इन सबके वैभवों से **(व्यतिरिक्तः)** पृथक्, असम्पृक्त, अस्पृष्ट है। देवपर्याय हो, या असुर व मनुष्य-पर्याय हो, इसी तरह राजा का पर्याय हो या किसी गरीब व्यक्ति का पर्याय हो, ये सभी पर्याय कर्म-जनित हैं, वे आत्मा के स्वभाव-पर्याय नहीं हैं। यद्यपि व्यवहारनय से वे (विभाव पर्याय भी) आत्मा के ही माने जाते हैं, फिर भी परमार्थ नय से, शुद्ध निश्चयनय के अनुसार, आत्मा तो पूर्ण शुद्ध ही रहता है, इसलिए आत्मा उन-उन पर्यायों से, जो व्यावहारिक दृष्टि (नय) से सद्भूत हैं, पृथक् ही (असम्पृक्त) रहता है —यह भाव है।

समयसार (गाथा-14) में शुद्धनय से आत्मा अबद्ध, कर्म-अस्पृष्ट ही माना गया है। कहा भी है— "जो आत्मा को अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, (पर्याय की विशेषता से रहित), असंयुक्त देखता है, उसे शुद्ध नय जानें।"

समयसार-कलश (10) में भी कहा गया है— "शुद्धनय अन्य परभावों से भिन्न, सम्पूर्ण (अखण्ड), अनादि-अनन्त, संकल्प-विकल्प-समूह से रहित आत्म-स्वभाव को प्रकाशित करता हुआ प्रकट होता है।"

तात्पर्यमिदम्— भगवतो देशना नयद्वयायत्ता *(द्र. पंचास्तिकाय-4, तत्त्वप्रदीपिका)*। **तौ च द्वौ नयौ— व्यवहारो निश्चयश्चेत्यध्यात्मशास्त्रे स्वीकृतौ। तावेव ज्ञानचक्षुषी वर्णितौ** *(समय. गाथा-113-115, तात्पर्यवृत्ति)*। **तत्र व्यवहारनयेन विचार्यते चेत् तर्हि देवादिपर्यायाः संसारिजीवस्य सन्ति, किन्तु ते न चिरस्थायिनः, तद्विपरीतः आत्मा तु शाश्वतः, ध्रुवद्रव्यरूपः। निश्चयनयेनापि विचार्यते चेत्, देवादिपर्यायाः वस्तुतो जीवस्य सन्त्येव न हि, किन्तु शाश्वत आत्मा सदैव चिदानन्दस्वरूपः तिष्ठत्येव।**

अस्मिन्नये ज्ञानी भावयति यद् *(समय. गाथा-38)*—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि।।

एवं उभयोर्नययोः शाश्वतः शुद्धात्मैव, स एव उपादेयः इति व्यवतिष्ठते। एतदेव अग्रे प्रतिपादयन्ति शास्त्रकाराः— *(सो अप्पा सस्सदं)* **स आत्मा (एव) शाश्वतः, स एव नित्यः, अनादि-अनिधनः।** *(इदि णिच्चं चिंतए)* **—इति नित्यमेव चिन्तयेद् भावयेद्।**

तात्पर्य यह है— भगवान् (तीर्थंकर) की देशना दो नयों के अनुरूप होती है (किसी एक ही नय पर आश्रित नहीं होती है) (द्र. पंचास्तिकाय, गाथा 4 पर तत्त्वप्रदीपिका)। अध्यात्म शास्त्र में वे दो नय हैं— व्यवहार व निश्चय। (समयसार गाथा-113-115 की तात्पर्यवृत्ति टीका में) इन दोनों को ही ज्ञानी की दो आँखें माना गया है। इनमें व्यवहारनय से विचार करें तो देव आदि पर्याय संसारी जीव के होते हैं, किन्तु वे चिरस्थायी नहीं होते, किन्तु उसके विपरीत आत्मा (द्रव्यदृष्टि से) शाश्वत व ध्रुवद्रव्यरूप है। निश्चयनय से भी विचार करें तो देव आदि पर्याय वस्तुतः जीव के होते ही नहीं, किन्तु शाश्वत आत्मा सदैव चिदानन्दस्वरूपी ही रहता है।

(समयसार की गाथा-38 के अनुसार) इस नय में ज्ञानी की निरन्तर भावना (चिन्तन) यही रहती है कि ''मैं एक, शुद्ध, दर्शनज्ञानमय, नित्य अरूपी हूँ, और मुझसे अन्य कोई परमाणु मात्र भी मेरा (मेरे में) नहीं है।''

इस प्रकार दोनों नयों में शाश्वत पदार्थ शुद्ध आत्मा ही है और वही उपादेय है —यह निश्चित होता है। उक्त तथ्य को ही शास्त्रकार आगे (इसी गाथा में) प्रतिपादित कर रहे हैं— **(स आत्मा शाश्वतः)** — वह आत्मा (ही) शाश्वत है, वही नित्य व अनादि निधन है **(इति नित्यं चिन्तयेत्)** यही चिन्तन करे, भावना करे।

आत्मन एव शाश्वततां, देवनारकादि-पर्यायाणां च असद्भूततामनित्यतां वा मनसि संप्रधार्य निरञ्जन-निर्विकार-परमचैतन्यशालिनिजशुद्धात्मैव निरन्तरं चिन्तनीयः, भावनीयः, मननीयः, ध्येयरूपेण समाश्रयणीयः इति हृदयम्। *'एगो मे सस्सदो अप्पा'* **—इत्यादिरूपेण भावप्राभृते** *(गाथा-59)* **तथा मूलाचारे** *(गाथा-58)* **आत्मनः शाश्वतरूपता समाश्रयणीयता च प्रतिपादिता दृश्यते।**

ज्ञानार्णवेऽपि प्रोक्तम् *(4/58-2, 29/62)*—

इत्थं न किंचिदपि साधनसाध्यमस्ति,
स्वप्नेन्द्रजालसदृशं परमार्थशून्यम्।
तस्मादनन्तमजरं परमं विकासि,
तद् ब्रह्म वाञ्छत जना यदि चेतनाऽस्ति॥

विश्वासानन्दयोः स्थानं स्याज्जगत्यज्ञचेतसाम्।
क्वानन्दः क्व च विश्वासः स्वस्मिन्नेवात्मवेदिनाम्॥

आत्मा ही शाश्वत है, और देव, नारकी आदि पर्याय असद्भूत हैं या अनित्य हैं— इस विचार को मन में स्थिर कर, निरञ्जन, निर्विकार परमचैतन्यमय निज शुद्धात्मा का ही निरन्तर चिन्तन, भावना, मनन एवं ध्येय रूप से आश्रय करना चाहिए —यह निष्कर्ष है। भावप्राभृत (गाथा-59) व मूलाचार (गाथा-58) में भी आत्मा के शाश्वतपने का तथा उसी की आश्रयणीयता का प्रतिपादन किया गया दृष्टिगोचर होता है।

ज्ञानार्णव (4/58-2 तथा 29/62) में भी कहा गया है—

"इस प्रकार (आत्मा से भिन्न) जो कुछ भी साधन व साध्य हैं, वे मेरे नहीं हैं, वे परमार्थशून्य एवं स्वप्नवत् व इन्द्रजाल (जादूगरी, माया) के समान ही हैं।"

"इसीलिए हे (भव्य) प्राणियों! यदि आपमें चेतना है तो अनन्त, अजर परम विकासमान ब्रह्म (शुद्धात्म) तत्त्व की ही अभिलाषा करो।" और, "मूढ़ प्राणियों के लिए तो भले ही बाह्य जगत् में (भौतिक पदार्थों में) विश्वास व आनन्द की स्थिति हो सकती है, किन्तु जो आत्मवेदी (आत्मज्ञ, आत्मानुभूतिसम्पन्न) हैं, उनके लिए तो अपनी आत्मा में ही विश्वास है, आनन्द है, वे अन्यत्र कहाँ हो सकते हैं?"

प्रोक्तं सर्वं मनसि धृत्वा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे *(गाथा-20, 22)* **भव्या उद्बोधिताः—**

एवं जो जाणित्ता विहलियलोयाण धम्मजुत्ताणं।
णिरवेक्खो तं देदि हु, तस्स हवे जीवियं सहलं॥

चइऊण महामोहं विसए मुणिऊण भंगुरे सव्वे।
णिव्विसयं कुणह मणं जेण सुहं उत्तमं लहइ॥

एवं *'वरभवणजाणवाहण'* **—इत्यादिगाथामादिं कृत्वा** *'परमट्ठेण दु आदा'* **इत्यादिगाथापर्यन्तं** *(पञ्चगाथासु)* **अध्रुवानुप्रेक्षा निरूपिता, इत्येवं समुदायेन सप्तगाथात्मकः प्रथमोऽधिकारः सम्पन्नः।**

[इति परमपूज्यगणाचार्यश्रीडॉ.विरागसागरविरचितायां सर्वोदयानाम्न्यां टीकायाम् 'अध्रुवानुप्रेक्षा-'नामकः प्रथमाधिकारः सम्पन्नः।]

पूर्वोक्त समस्त भाव को मन में रखकर स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-20 व 22) में भव्य जनों को उद्बोधित करते हुए कहा गया है—

''इस प्रकार (लक्ष्मी को अनित्य) जानकर जो उसे निर्धन धर्मात्मा व्यक्तियों को देता है और बदले में किसी प्रत्युपकार की चाह नहीं करता, उसी का जीवन सफल है।''

''हे भव्य जीवो! समस्त विषयों को क्षणभंगुर जानकर महामोह को त्यागो और मन को निर्विषय करो ताकि उत्तम सुख प्राप्त हो सके।''

इस प्रकार, **'वरभवणजाण वाहण'** इत्यादि तृतीय गाथा से लेकर **'परमट्ठेण दु आदा'** इस (सातवीं) गाथा तक (पाँच गाथाओं से) अध्रुवानुप्रेक्षा का निरूपण हुआ है। इस तरह (यह अधिकार) सात गाथाओं वाला प्रथम अधिकार पूर्ण हुआ है।

[परम पूज्य गणाचार्य श्री डॉ. विरागसागर जी द्वारा कृत 'सर्वोदया' नामक टीका में 'अध्रुवानुप्रेक्षा' नामक प्रथम अधिकार सम्पन्न हुआ।]

[असरणानुवेक्खा— बिइयो अहियारो]

।। अशरणानुप्रेक्षा— द्वितीयोऽधिकारः ।।

'*मणिमंतोसहरक्खा*' इत्यादिगाथामादिं कृत्वा '*सम्मत्तं सण्णाणं*' इत्यादिगाथापर्यन्तं षड् गाथाः अशरणानुप्रेक्षाधिकारे भवन्ति। तत्रापि '*मणिमंतोसहरक्खा*' इत्यादिगाथा मणिमन्त्रौषधिप्रभृतीनि न कस्यचित् मृत्युनिवारणे प्रभवन्ति —इत्यादिकथनरूपैका। तदनन्तरं '*सग्गो हवे हि दुग्गं*' इत्यादिगाथैका 'स्वर्गाधिपति-इन्द्रस्यापि मरणे (च्यवने) त्रायकः शरणो वा नास्ति' —इत्यादिकथनरूपा द्वितीया। तदनन्तरं '*णवणिहि चउदस रयणं*' इत्यादि गाथा 'चक्रवर्तिनां कृतेऽपि मृत्योः न कश्चित् रक्षकः शरणप्रदश्च' —इत्यादिकथनरूपा तृतीया। ततः पश्चात् '*जादी जर-मरण-रोग*' इत्यादिका 'निजशुद्धात्मैव शरणम्' इत्यादि कथनपरा चतुर्थी गाथा। एवमेव, '*अरुहा सिद्धाइरिया*' इत्यादिका गाथैका 'अर्हत्प्रभृतयोऽपि शुद्धात्मलीना एव, अतः शुद्धात्मैव शरणं नान्यः' —इत्यादिप्रतिपादनपरा पञ्चमी गाथा।

[अशरणानुप्रेक्षा— द्वितीय अधिकार]

'**मणिमंतोसहरक्खा**' इत्यादि (8वीं) गाथा से लेकर '**सम्मत्तं सण्णाणं**' इत्यादि (13वीं) गाथा तक छः गाथाएँ अशरणानुप्रेक्षा-अधिकार में आई हैं। इन (छः गाथाओं) में भी '**मणिमंतोसहरक्खा**' इत्यादि प्रथम गाथा है, जिसमें 'मणि, मंत्र, औषधि आदि भी किसी की मृत्यु को रोकने में सक्षम नहीं होते' —यह प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद, '**सग्गो हवे हि दुग्गं**' इत्यादि दूसरी गाथा है जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि स्वर्ग-अधिपति इन्द्र के लिए भी मरण (च्वयन) के समय कोई रक्षक व शरणदाता नहीं होता। इसके बाद '**णवणिहि चउदस रयणं**' इत्यादि तीसरी गाथा है जिसमें कहा गया है कि चक्रवर्ती राजाओं के लिए भी मृत्यु से रक्षा करने या शरण देने वाला कोई नहीं होता। इसके बाद, '**जादी जर-मरण-रोग**' इत्यादि चौथी गाथा है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि अपनी शुद्धात्मा ही शरण है। इसी तरह '**अरुहा सिद्धाइरिया**' इत्यादि पाँचवीं गाथा है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि अर्हन्त आदि भी शुद्धात्मलीन रहा करते हैं, इसलिए शुद्धात्मा ही शरण है, और कोई नहीं।

तदनन्तरं *'सम्मत्तं सण्णाणं'* इत्यादिका गाथैका 'रत्नत्रयात्मक आत्मैव, स एव शरणभूतः' इत्यादिकथनपरा षष्ठी गाथा। एवं षड्गाथात्मको द्वितीयोऽधिकारः इति समुदायपातनिका विज्ञेया।

अथ सम्प्रति मणिमन्त्रौषधिप्रभृतिषु न कस्यापि सामर्थ्यं मृत्युपाशाद् त्रातुमिति शास्त्रकाराः प्रतिपादयन्ति—

मणि-मंतोसह-रक्खा, हय-गय-रहओ य सयलविज्जाओ।
जीवाणं ण हि सरणं, तिसु लोए मरणसमयम्हि ॥८ ॥

छाया— *मणि-मन्त्र-औषध-रक्षाः हय-गज-रथाः च सकलविद्याः।*
जीवानां न हि शरणं त्रिषु लोकेषु मरणसमये ॥

(सर्वोदया टीका—) तिसु लोए मरणसमयम्हि मणिमंतोसहरक्खा हयगयरहओ सयल-विज्जाओ य जीवाणं हि सरणं ण —इत्यन्वयः। *(तिसु लोए)* त्रिषु लोकेषु, भुवनत्रये इत्यर्थः। लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्थाः यत्र स लोकः। स च ऊर्ध्व-मध्य-अधोभेदात् त्रिविधः।

इसके बाद, **'सम्मत्तं सण्णाणं'** इत्यादि छठी गाथा है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि रत्नत्रयमय (मोक्षमार्ग) आत्मा ही है, वही शरणभूत है। इस प्रकार, छः गाथाओं वाला (अशरणानुप्रेक्षा नामक) द्वितीय अधिकार है— इस प्रकार समुदायपातनिका समझें।

अब मणि, मन्त्र व औषधि आदि में किसी की भी सामर्थ्य नहीं है, कि मृत्यु के फन्दे से किसी को बचा सके —इस तथ्य को शास्त्रकार (आगे की गाथा में) प्रतिपादित कर रहे हैं—

(8)

(गाथा-अर्थ—) तीनों लोक में मणि, मन्त्र व औषधि, रक्षा के साधन, घोड़े, हाथी, रथ एवं सकल विद्याएँ —ये मृत्यु के समय अवश्य ही शरण-दाता नहीं होते (मृत्यु से बचा नहीं सकते)।

(सर्वोदया टीका—) त्रिषु लोकेषु मरणसमये मणिमन्त्रौषधरक्षाः हयगजरथाः सकलविद्याश्च जीवानां खलु, शरणं न —यह अन्वय है। **(त्रिषु लोकेषु)** तीनों लोकों में, अर्थात् तीनों भुवनों में। जहाँ जीव आदि पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं, वह लोक है। उसके तीन भेद हैं— ऊर्ध्व लोक, मध्यलोक व अधोलोक। तीनों लोकों में, समस्त लोकाकाश में —यह तात्पर्य है, वहाँ जीवों का कोई शरण नहीं होता — इस प्रकार आगे पद से सम्बन्ध समझना चाहिए।

(मरण-समयम्हि) **मरण-समये, मृत्युकाले। अयम्भावः— आयुःकर्मोदयेन विशिष्टगतिषु जीव उत्पद्यते, जीवति च, आयुःकर्मोदये, पूर्वायुषो विनाशे जीवो म्रियते, अन्यजन्म गृह्णाति च। आयुर्बन्ध एव जन्मकारणं, न च गतिबन्धः। एवं पूर्वायुषः क्षयः, अन्यायुःकर्मोदयश्च मृत्योः परजन्मनश्च कारणतां वहतः** *(द्र. विजयोदया, भगवती आराधना 25, धवला- पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 83)*। **सकलआयुःकर्मदलिकानां यदैव क्षयः, स एव मृत्यु-समयः। न हि ततः प्राक् जीवो म्रियते, न च ततः पश्चात्, तथापि जनाः स्वसम्बन्धिमरणे शोकभाजो भवन्ति।**

उक्तं च पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकायाम् *(3/18)*—

यैव स्वकर्मकृतकालकलात्र जन्तुः, तत्रैव याति मरणं न पुरो न पश्चात्।
मूढास्तथापि हि मृते स्वजने विधाय शोकं परं प्रचुरदुःखभुजो भवन्ति॥

किं नाम मरणम्? मरणं प्राणनाशः। आयुरपि प्राणभेद एव। प्राणाः मुख्यतः चत्वारः, दश च प्रोक्ताः। बृहद्द्रव्यसंग्रहे *(गाथा-3)* **इन्द्रिय-बल-आयुः-श्वासोच्छ्वासेति-प्राणचतुष्टयं वर्णितम्।**

(मरणसमये) मरण के समय, मृत्यु आने पर। तात्पर्य यह है— आयुष्य कर्म के उदय से जीव विशिष्ट गतियों में उत्पन्न होता है, जीवित रहता है, किन्तु अन्य आयुष्य कर्म के उदय में और पूर्व आयुष्य कर्म का क्षय होने पर जीव की मृत्यु हो जाती है और दूसरा जन्म ग्रहण करता है। अतः आयुष्य कर्म का बन्ध ही (प्रमुखतः) जन्म का कारण होता है, गतिबन्ध नहीं। इस प्रकार, पूर्व आयु का क्षय और अन्य आयु कर्म का उदय ही मृत्यु और पर-जन्म के कारण होते हैं (भगवती-आराधना, गा.25 पर विजयोदया टीका, धवला-पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 83)। समस्त (बद्ध) आयुष्य कर्म-दलिकों का जब क्षय होता है, वही मृत्यु का समय होता है। उस समय से पूर्व न तो जीव मरता है और न बाद में, फिर भी लोग अपने सगे-सम्बन्धी के मरने पर शोकयुक्त हो जाते हैं।

पद्मनन्दिपंचविंशतिका (3/18) में कहा भी है— "इस संसार में अपने कर्म के द्वारा मरण का समय जो नियत किया जाता है, उसी में प्राणी मृत्यु को प्राप्त होता है, वह न उससे पहले और न बाद में मरता है, फिर भी मूढ़ लोग अपने किसी सम्बन्धी व्यक्ति की मृत्यु पर अत्यन्त शोक कर प्रचुर दुःख का अनुभव करते हैं।"

आखिर मृत्यु है क्या? मृत्यु का अर्थ प्राणों का नाश होता है। 'आयु' भी प्राण का ही एक प्रकार है। प्राणों के मुख्यतया चार या दस भेद बताए गये हैं। बृ. द्रव्यसंग्रह (गाथा-3) में इन्द्रियप्राण, बलप्राण, आयु प्राण व श्वासोच्छ्वास प्राण —ये चार प्राण माने गये हैं।

एतेषां चतुर्णां प्राणानामेव विस्ताररूपेण दश भेदाः गोम्मटसारे *(जीव. 130)* **प्रोक्ताः—**

पंच वि इंदियपाणा मणवचिकायेसु तिण्णि बलपाणा।
आणापाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दस पाणा॥

एकेन्द्रियेषु चत्वारः प्राणा एव, यतस्तत्र स्पर्शेतरचतुरिन्द्रियप्राणानां तथा वचनमनोबल-प्राणयोश्च अभावः। द्वीन्द्रियेषु षट् प्राणाः, यतस्तत्र स्पर्शरसनेतर-त्रीन्द्रियप्राणानां तथा मनोबलप्राणस्य चाभावः। त्रीन्द्रियेषु सप्त प्राणाः, यतस्तत्र स्पर्शनरसनघ्राणेतरयोः द्वयोरिन्द्रियप्राणयोः, तथा मनोबलप्राणस्य चाभावः। चतुरिन्द्रियेषु अष्टप्राणाः, यतस्तत्र कर्णेन्द्रियप्राणस्य, मनोबलप्राणस्य चाभावः। पञ्चेन्द्रियेषु असंज्ञिषु नव प्राणाः, मनोबलप्राणस्य तत्राभावः। संज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु तु दश प्राणाः भवन्ति। उक्तप्राणानां वियोग एव मृत्युः, तस्मिन् काले इति तात्पर्यम्।

(मणि-मंतोसह-रक्खा) **मणिः, मन्त्रम्, औषधम्, रक्षाश्च। रक्षा इत्यस्य रक्षाकारका इत्यर्थः। मणिबलेन, मन्त्रबलेन तथा औषधबलेन प्राणरक्षा विधीयते। प्राणरक्षाया उपकरणानि साधनानि**

गोम्मटसार (जीव.-130) में इन्हीं चार प्राणों को विस्तार से दस भेदों के रूप में निरूपित किया गया है— ''पाँच (स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र, श्रोत्र,) इन्द्रियों के पाँच प्राण, मनोबल प्राण, वचनबल प्राण, कायबलप्राण, श्वासोच्छ्वास प्राण और आयुप्राण —ये दस प्राण होते हैं।''

एकेन्द्रियों में चार प्राण ही होते हैं, क्योंकि उनमें स्पर्श इन्द्रिय प्राण तो होता है, अन्य रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण —ये चार इन्द्रिय-प्राण नहीं होते, इसी तरह वचनबल व मनोबल —ये दो प्राण भी नहीं होते। द्वीन्द्रियों में छः ही प्राण होते हैं, क्योंकि उनमें स्पर्शन व रसना —ये दो इन्द्रिय प्राण ही होते हैं, अन्य घ्राण, चक्षु, कर्ण —ये तीन इन्द्रिय-प्राण नहीं होते, और मनोबल प्राण भी नहीं होता। त्रीन्द्रियों में सात ही प्राण होते हैं, क्योंकि वहाँ नेत्र व श्रोत्र —ये दो इन्द्रिय प्राण नहीं होते, और मनोबल प्राण भी नहीं होता। चतुरिन्द्रियों में आठ प्राण ही होते हैं, क्योंकि उनमें कर्णेन्द्रिय प्राण व मनोबल प्राण —इन दोनों का अभाव होता है। असंज्ञी पंचेन्द्रियों में नौ ही प्राण होते हैं, वहाँ मनोबल प्राण नहीं होता। संज्ञी पञ्चेन्द्रियों में तो दसों प्राण होते हैं। उक्त प्राणों का वियोग हो जाना ही मृत्यु है, और मृत्यु के आने पर (कोई शरण नहीं होता) —यह तात्पर्य है।

(मणिमन्त्रौषधरक्षाः) मणि, मन्त्र, औषधि व रक्ष। 'रक्ष' का अर्थ है— रक्षा करने वाले (साधन)। मणि, मन्त्र व औषधि की सामर्थ्य से प्राणों की रक्षा की जाती है। यह एक सामान्य लौकिक

वा मणि-मन्त्र-औषधप्रभृतीनि भवन्ति— इति सामान्यतो लोके धारणा भवति। *(हयगयरहओ)* **हयाः, गजाः, रथाश्च। प्राणनाशकः कश्चित् शत्रुराक्रामति चेत्, तर्हि हयादिसेना-सहायेन स्वप्राणरक्षा विधातुं शक्यते, शत्रुनाशोऽपि विधीयते।**

(सयलविज्जाओ य) **सकला विद्याश्च। विद्या नाम विशिष्टज्ञानम्। ज्ञानस्याचिन्त्यशक्तिः, तन्निरावरणतायां जीवस्यानन्तसामर्थ्यं समुन्मिषति। विद्यातिशयेन जिनधर्मप्रभावना कर्तुं शक्यते। विद्यारथमारूढ एव सम्यग्दृष्टिर्जिनज्ञान-प्रभावको भवतीति समयसारे** *(गाथा-236)* **निर्दिष्टम्। किन्त्वत्र लौकिकविद्या एव ग्राह्याः। विद्यानुवादपूर्वे सहस्राधिका अल्पविद्या महाविद्याश्च निरूपिताः।**

उक्तं च राजवार्तिके *(1/20/12)— "तत्राङ्गुष्ठप्रसेनादीनामल्पविद्यानां सप्तशतानि महारोहिण्यादीनां महाविद्यानां पञ्चशतानि। अन्तरिक्षभौमाङ्गस्वरस्वप्नलक्षणव्यञ्जनछिन्नानि अष्टौ महानिमित्तानि।"*

धवलाग्रन्थे च *(पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, सू. 16)* **प्रतिपादितं यद् (लौकिक्यः) जातिविद्या, कुलविद्या, तपोविद्या —इति त्रिविधा विद्या भवन्ति। विद्याधरेषु एताः सर्वा भवन्ति। संयमिनामपि**

धारणा है कि मणि, मन्त्र व औषधि —ये प्राण-रक्षा के साधन होते हैं। **(हयगजरथाः)** घोड़े, हाथी व रथ (भी प्राण-रक्षक होते हैं)। जब कोई प्राणलेवा शत्रु राजा आक्रमण कर दे तो घोड़ों आदि सेना की सहायता से अपने प्राणों की रक्षा की जा सकती है और शत्रु को नष्ट भी किया जा सकता है।

(सकलविद्याः च) समस्त विद्याएँ। विद्या का अर्थ है— विशिष्ट ज्ञान। ज्ञान की अचिन्त्य शक्ति होती है, उसके आवरण हट जाने पर जीव की अनन्त सामर्थ्य प्रकट होती है। विद्यातिशय से जिन-धर्म की प्रभावना की जा सकती है। "विद्या-रथ पर आरूढ़ होकर सम्यग्दृष्टि व्यक्ति जिन-ज्ञान का प्रभावक होता है" —ऐसा समयसार (गाथा-236) में कहा भी गया है। किन्तु यहाँ 'विद्या' पद से लौकिक विद्याओं का ग्रहण करना चाहिए। विद्यानुवाद पूर्व में हजार से भी अधिक अल्पविद्या व महाविद्याओं का निरूपण हुआ है।

राजवार्तिक (1/20/12) में कहा भी है— "अंगुष्ठप्रसेना आदि 700 अल्पविद्याएँ और रोहिणी आदि 500 महाविद्याएँ होती हैं। अन्तरिक्ष, भूमि, अङ्ग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यञ्जन व छिन्न —ये आठ महानिमित्त होते हैं।"

धवला ग्रन्थ (पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, सू. 16) में भी बताया गया है कि जातिविद्या, कुलविद्या व तपोविद्या —इस प्रकार तीन प्रकार की (लौकिक) विद्याएँ होती हैं। विद्याधरों में ये सभी विद्याएँ होती हैं।

तपोजन्याः सिद्धिविशेषात्मका विद्याः जायन्ते। एता विद्या देवताधिष्ठिता अपि भवन्ति, अतो नानाप्रभावोत्पादक-सामर्थ्यवत्यः, आराधकानां सर्वविद्याभीष्टसाधिकाः कल्याणकारिकाश्च भवन्ति। नमिविनमिभ्यां धरणेन्द्रदेवेन तादृशी एव विशेष-विद्या प्रदत्ता आसीत् *(द्र. हरिवंश पु. 22/51-73)*। **विद्यानां विविधप्रकाराः सन्ति, अत एव षोडश अष्टौ वा निकायाश्च शास्त्रेषु वर्णिताः।**

एतासु काचिदपि विद्या भवेत्, काचिदपि तपोजन्यसिद्धिर्भवेत्, मृत्योस्त्राणे विफला भवन्ति। श्रूयते च— रावणेन रामलक्ष्मणविनाशाय बहुरूपिणी विद्या साधिता, कौरवैरपि पाण्डवनाशाय कात्यायनी विद्या साधिता, कंसेनापि नारायणविनाशाय अनेका विद्याः समाराधिताः, किन्तु ताः सर्वा विफला जाताः *(द्र. बृ. द्रव्यसं:-41, ब्रह्मदेववृत्ति)*।

अतएव ज्ञानार्णवे *(2/59)* **च प्रोक्तम्—**

गजाश्वरथसैन्यानि मन्त्रौषधबलानि च।
व्यर्थीभवन्ति सर्वाणि विपक्षे देहिनां यमे॥

संयमी (तपस्वी) महापुरुषों की भी तप से अर्जित विशेष सिद्धियाँ 'विद्याएँ' होती हैं। ये विद्याएँ देवताधिष्ठित भी होती हैं। इसलिए नाना प्रभावों को उत्पन्न करने वाली सामर्थ्ययुक्त विद्याएँ आराधकों के समस्त अभीष्ट को सिद्ध करने वाली एवं कल्याणकारी होती हैं। नमि व विनमि को धरणेन्द्र देव ने ऐसी ही विशेष विद्या प्रदान की थी (द्र. हरिवंशपुराण-22/51-73)। ये विद्याएँ अनेक प्रकार की होती हैं, इसीलिए शास्त्रों में इनके आठ व सोलह भेद बताए गये हैं।

इन विद्याओं में से कोई भी विद्या हो, कोई भी तप-अर्जित सिद्धि हो, मृत्यु से बचाने में कोई भी समर्थ नहीं है। सुनते हैं कि रावण ने भी राम व लक्ष्मण को नष्ट करने हेतु बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की, कौरवों ने भी पाण्डवों को नष्ट करने के लिए कात्यायनी विद्या की सिद्धि की, कंस ने भी नारायण को नष्ट करने हेतु अनेक विद्याओं की आराधना की, किन्तु वे सभी विद्याएँ निष्फल हुईं।

इसीलिए ज्ञानार्णव (2/59) में कहा गया है—

''हाथी, घोड़े, रथ, सेना, मंत्र व औषधि इनकी सभी शक्तियाँ उस समय व्यर्थ हो जाती हैं, जब यम प्राणियों का शत्रु हो।''

एवं *(जीवाणं हि सरणं ण)* **मृत्युमुखपतितानां कृते प्रोक्तानि गजाश्वरथ-मणिमन्त्रौषध-विद्यादिकानि शरणभूतानि न भवन्ति। अतः भो ज्ञानिन्! त्वं संसारे शरणं नैव याचय, दुर्ध्यानं विहाय ममत्वरागादिकमपि त्यज। आत्मैव शाश्वतः, स एव शरण्यः, इति भावय —इति गाथासारः।**

अथ, सम्प्रति इन्द्रस्यापि न किमपि शरणमिति प्रतिपादयन्ति—

सग्गो हवे हि दुग्गं, भिच्चा देवा य पहरणं वज्जं।
अइराविदो गइंदो, इंदस्स ण विज्जदे सरणं ॥९॥

छाया— *स्वर्गो भवेद् हि दुर्गम्, भृत्या देवाः च प्रहरणं वज्रम्।*
ऐरावतो गजेन्द्रः, इन्द्रस्य न विद्यते शरणम्॥

(सर्वोदया टीका—) सग्गो हि दुग्गं हवे, देवा भिच्चा, वज्जं पहरणं, अइरावदो गइंदो य, इंदस्स सरणं ण विज्जदे —इति अन्वयः। *(हि)* **'हि' इत्यव्ययपदम्। तत्पादपूरकमपि भवति, निश्चयार्थकम्, एवमित्यर्थकञ्च भवति। ततोऽर्थो भवति— निश्चयेन, नूनम्, यद्वा एवमेव।** *(सग्गो)* **स्वर्ग एव, यस्य** *(दुग्गं हवे)* **दुर्गं भवेत्।**

(जीवानां हि शरणं न—) मृत्यु के मुख में पड़े हुए प्राणियों के लिए पूर्वोक्त हाथी-घोड़े-रथ, एवं मणि, मंत्र, औषधि व विद्याएँ कभी शरणदायक नहीं होतीं। इसलिए हे ज्ञानी! तुम संसार में शरण मत माँगो, दुर्ध्यान को छोड़कर ममत्व व राग आदि भी छोड़ो। अतः आत्मा ही शाश्वत है, वही शरणभूत है — इस भावना का बार-बार चिन्तन करो —यही इस गाथा का सार है।

अब 'इन्द्र के लिए भी कोई शरण नहीं होती' —इसे प्रतिपादित कर रहे हैं—

(9)

(गाथा-अर्थ—) स्वर्ग ही जिसका दुर्ग है, देव जिसके भृत्य हैं, वज्र जिसका अस्त्र है, ऐरावत नाम का जिसके पास गजेन्द्र है, उस इन्द्र के लिए भी कोई शरण नहीं होते।

(सर्वोदया टीका—) हि स्वर्गो दुर्गं भवेत्, देवाः भृत्याः, वज्रं प्रहरणम्, ऐरावतो गजेन्द्रश्च, इन्द्रस्य शरणं न विद्यते —यह अन्वय है। (हि) 'हि' यह अव्यय पद है। यह पादपूरक भी होता है, साथ ही 'निश्चय' व 'इसी तरह' इन अर्थों को भी व्यक्त करता है। अतः यहाँ अर्थ हुआ— निश्चय ही या इसी तरह। (स्वर्गः) स्वर्ग ही, (दुर्गं भवेत्) जिसका 'दुर्ग' हो।

राजाधिराजस्य राज्यं सप्ताङ्गसमन्वितं भवति। सप्ताङ्गेषु राजा, अमात्यः, जनपदः, दुर्गः, कोषः, दण्डम्, मित्राणि —एतेषां परिगणनं विधीयते। एवं दुर्गस्य महत्त्वपूर्णं स्थानं शासकस्य कृते भवति।

आचार्यसोमदेवेन नीतिवाक्यामृतग्रन्थे *(20/1)* **दुर्गस्वरूपविषये कथितम्—** *''यस्याभियोगात् परे दुःखं गच्छन्ति, दुर्जनोद्योगविषया वा स्वस्यापदो गमयतीति दुर्गम्''* **इति। शत्रुभिर्दुःखेन गम्यते प्राप्यते, अधिक्रियते यद् तद् दुर्गं भवति। कुत्र कीदृशश्च स्वर्गः? जम्बूद्वीपस्थमेरुपर्वतात् बालाग्रभाग-प्रमाणमुपरि सार्धैकरज्जु-प्रमाणक्षेत्रमतीत्य दक्षिणस्यां दिशि सौधर्मस्वर्गः, उत्तरस्यां दिशि ऐशानस्वर्गः। सौधर्मस्वर्गस्य इन्द्रः शक्रः।**

अत्रेदं तात्पर्यम्— प्रथमन्तु स्वयमिन्द्रः स्वस्य स्वर्गस्य च रक्षणे समर्थः, यतो हि अन्यदेवासाधारणाः अणिमादय ऐश्वर्यगुणास्तस्य भवन्ति। अपरं च, तत्सहायकाः, तत्सम-सामर्थ्ययुक्ताः सामानिकाः भवन्ति, तेषां संख्या जघन्यतया विंशतिसहस्रात्मिका, उत्कृष्टतस्तु

सभी राजा-महाराजाओं का राज्य सात अंगों से युक्त होता है। इन सात अंगों में राजा, अमात्य (मंत्री), जनपद, दुर्ग (किला), कोष, दण्ड (दण्ड-व्यवस्था), और मित्र —इनका परिगणन किया जाता है। इस प्रकार शासक के लिए दुर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।

आचार्य सोमदेव ने नीतिवाक्यामृत ग्रन्थ (20/1) में दुर्ग के स्वरूप के बारे में कहा है— ''जिसके समीप जाने से शत्रु दुःख प्राप्त करते हैं अथवा जहाँ दुष्टों द्वारा की जाने वाली विजेता की आपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, उसे दुर्ग कहते हैं।'' जहाँ शत्रु दुःख से जा सकें, पहुँच सकें, या अधिकार कर सकें, वह 'दुर्ग' होता है। वह स्वर्ग कहाँ और कैसा है? (स्वर्ग से तात्पर्य सौधर्म स्वर्ग से है, और) वह सौधर्म स्वर्ग जम्बूद्वीप में स्थित मेरु पर्वत से बाल के अग्रभाग प्रमाण ऊपर, डेढ़ राजू प्रमाण क्षेत्र को पार कर दक्षिण दिशा में स्थित है, और उत्तर दिशा में ऐशान स्वर्ग स्थित है। सौधर्म स्वर्ग का (अधिपति) इन्द्र 'शक्र' है।

यहाँ तात्पर्य यह है— पहले तो स्वयं इन्द्र ही इतना समर्थ होता है जो स्वर्ग की रक्षा कर सके, क्योंकि उसके पास अणिमा आदि (अनेक) ऐश्वर्यसम्बन्धी गुण होते हैं जो अन्य साधारण देवों को सुलभ नहीं होते। दूसरी बात, उस इन्द्र के सहायक उन्हीं जैसी सामर्थ्य वाले सामानिक देव होते हैं जिनकी संख्या कम से कम बीस हजार और अधिक से अधिक चौरासी हजार होती है। इसी तरह, इन्द्र के आत्मरक्षक देव

चतुरशीतिसहस्रात्मिका भवति। आत्मरक्षका देवा अपि त्रिलक्षसंख्याधिकाः। एतदतिरिच्य, तस्य अनीकं सप्तविधमपि वैक्रियशक्तियुक्तैः कोट्यधिकदेवैः समन्वितं वर्तते। एवं तैः सुरक्षिते स्वर्गे कस्यचित्सामान्यशत्रोः प्रवेश एव दुष्करः। अतः स्वर्गः शत्रूणां कृते दुर्गम्यत्वात् दुर्गमेव। (देवा भिच्चा) **देवाः भृत्याः किंकराः भवन्ति। इन्द्रस्य सेवायां निरताः आभियोग्यदेवाः, अष्टौ अग्रमहिष्यः, चत्वारिंशत्सहस्रपरिमिताः वल्लभिकाः भवन्ति। अग्रमहिषीषु वल्लभिकासु च प्रत्येकं षोडश-सहस्रदेवीपरिवृता भवति। एकैका अग्रमहिषी वल्लभिका च षोडशसहस्रदेवीरूपधारणसमर्था। एवं प्रत्येकमपि इन्द्रस्य सेवकानां सेविकानां च विशालपरिवारो वर्तते।**

(वज्जं पहरणं) **प्रहरणं शस्त्रं वज्रं इन्द्रस्य भवति। विविधेषु शस्त्रेषु प्रमुखं वज्रनामकं वर्तते, तत्सर्वाधिकं सामर्थ्यं शत्रुनाशे, यतः सर्वत्राव्याहतप्रवेशस्तस्य भवति।**

(अइराविदो गइंदो) **ऐरावतः, ऐरावतनामा गजेन्द्रोऽपि शक्रेन्द्रस्य विशिष्टवाहनं भवति। अत्रेदं बोध्यम्— अयं गजेन्द्रः देव एव भवति, तत्र तिर्यञ्चो न भवन्ति, अतः दक्षिण-दिक्पाल एव**

भी होते हैं, जिनकी संख्या तीन लाख से भी अधिक होती है। इसके अतिरिक्त, उसके (अधिकार में) वैक्रिय शक्ति से सम्पन्न करोड़ से भी अधिक देवों से युक्त सात प्रकार की सेना होती है। इस तरह उनके द्वारा सुरक्षित स्वर्ग में किसी भी सामान्य शत्रु का तो प्रवेश ही दुष्कर है, इसलिए स्वर्ग शत्रुओं के लिए दुर्गम होने से 'दुर्ग' ही है। **(देवाः भृत्याः)** देव उसके भृत्य, नौकर होते हैं। इन्द्र की सेवा में निरत आभियोग्य देव, आठ अग्रमहिषियाँ, चालीस हजार वल्लभाएँ हैं। अग्रमहिषी और वल्लभाओं में प्रत्येक की सोलह हजार देवियाँ होती हैं। इनमें से प्रत्येक अग्रमहिषी और प्रत्येक वल्लभा में इतनी सामर्थ्य होती है कि वह सोलह हजार देवियों का रूप धारण कर समुपस्थित हो सके। इस प्रकार, प्रत्येक इन्द्र के सेवक व सेविकाओं का एक विशाल परिवार होता है।

(वज्रं प्रहरणं—) इन्द्र का शस्त्र (भी) 'वज्र' होता है। विविध शस्त्रों में प्रमुख शस्त्र 'वज्र' होता है, उसमें शत्रु-नाश की सर्वाधिक सामर्थ्य होती है क्योंकि उसका सर्वत्र प्रवेश अव्याहत (बिना रुकावट के) होता है।

(ऐरावतो गजेन्द्रः—) शक्रेन्द्र का ऐरावत नामक हस्तिराज भी एक विशिष्ट वाहन होता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है— यह हस्तिराज देव ही होता है, क्योंकि वहाँ तिर्यञ्च (पशु) नहीं होते, अतः दक्षिण दिशा

स्वविक्रियाशक्त्या गजेन्द्ररूपतां दधाति। एवमनीकेष्वपि गजतुरगादिविषये बोध्यम्। यथेह दासा वाहनादिव्यापारं कुर्वन्ति, तथैव आभियोग्यदेवाः वाहनादिभावेन उपकुर्वन्ति। ऐरावतोऽपि गजानीकमहत्तरो बोध्यः।

उक्तं च तिलोयपण्णत्तिग्रन्थे *(8/278)*—

सक्कदुगम्मि य वाहणदेवा एरावदणाम हत्थि कुव्वंति।
विक्किरियाओ लक्खं उच्छेहं जोयणा दीहं॥

अस्यैरावतस्य द्वात्रिंशन्मुखानि, प्रत्येकमुखे चत्वारश्चत्वारो दन्ताः, प्रत्येकदन्ते विशालसरोवरः, प्रत्येकसरसि एकं कमलखण्डम्, प्रत्येककमलखण्डे द्वात्रिंशत्महापद्मानि, प्रत्येकं महापद्म योजनप्रमाणविस्तारयुक्तं भवति। प्रत्येकमहापद्मे एका नाट्यशाला, प्रत्येकनाट्यशालायां द्वात्रिंशदप्सरसो नृत्यन्ति *(ति. प. 8/279-284)*। **अस्मिन्नैरावते आरुह्य इन्द्रः तीर्थंकरकल्याणक-महोत्सवे गच्छति।**

का पालक देव ही अपनी विक्रिया शक्ति से गजेन्द्र का रूप धारण करता है। इसी तरह, उसकी सेना में भी जो हाथी, घोड़े आदि होते हैं, उनके बारे में भी समझ लें (कि वे देव ही होते हैं, पशु नहीं)। जिस प्रकार, लोक में दास लोग वाहन आदि का कार्य करते (देखे जाते) हैं, उसी प्रकार 'आभियोग्य' (श्रेणी के) देव वाहन आदि (रूप धारण कर, उन) रूपों से (इन्द्र का) उपकार करते हैं। अतः ऐरावत को भी 'हाथी सेना का मुखिया' समझना चाहिए।

तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ (8/278) में कहा भी गया है—

"सौधर्म व ईशान इन्द्र के वाहन देव विक्रिया से एक लाख योजन उत्सेध (ऊँचाई) प्रमाण वाले विशाल काय वाले 'ऐरावत' नामक हाथी (का रूप) बनाते हैं।"

इस ऐरावत के बत्तीस मुख होते हैं। प्रत्येक मुख में चार-चार दांत होते हैं, प्रत्येक दांत पर एक-एक विशाल सरोवर होता है, प्रत्येक सरोवर में एक कमल-वन होता है, प्रत्येक कमलखण्ड में बत्तीस महापद्म होते हैं, और प्रत्येक महापद्म एक योजन विस्तार वाला होता है। प्रत्येक महापद्म पर एक नाट्यशाला होती है, प्रत्येक नाट्यशाला में बत्तीस-बत्तीस अप्सराएँ नाचती हैं (द्र. तिलोयपण्णत्ति, 8/279-284)। ऐसे ऐरावत हाथी पर आरोहण कर उक्त इन्द्र तीर्थंकर के कल्याणकमहोत्सवों में जाते हैं।

(इंदस्स सरणं ण विज्जदे) **इन्द्रस्य, एतादृशैश्वर्यवैभवशक्तिसम्पन्नस्यापि इन्द्रस्य, शरणं न विद्यते, मृत्युसमये रक्षास्थानं न किञ्चिद् भवति, तस्यापि स्वोपात्तायुष्यकर्मक्षयो भवत्येव। अयम्भावः— सर्वोऽपि सामान्यजनः पुण्यकर्मभिर्देवगतिं वाञ्छति, देवगतावपि सौधर्मेन्द्रपदप्राप्तिः सर्वैरभिलष्यते। देवेषु तस्य सर्वोत्कृष्टमैश्वर्यं भवति। तदीयं स्वयं सामर्थ्यमिदं विद्यते यत्स समस्तं जम्बूद्वीपं स्वयमुत्थाप्य प्रक्षेपणे समर्थः** *(ति. प. 8/699)*। **सर्वेषां सौधर्मस्वर्गस्थदेवानामायुष्यं जघन्यतया साधिकं पल्योपमम्, उत्कृष्टतया तु द्वे सागरोपमे सातिरेके तेषां स्थितिः** *(त. सू. 4/29, 33)*। **एवं दीर्घतमायुष्यं वहतः विविधसामर्थ्ययुक्तस्य, विविधरक्षासाधनसमन्वितस्य इन्द्रस्यापि शरणभूतो न कश्चिद् भवति, मृत्युग्रस्तः स भवत्येव। यदि नाम कश्चित् मृत्युत्राणे, आयुष्यवर्द्धने वा समर्थो भवेत्, तर्हि कर्मसिद्धान्तलोपः स्यात्। कृतकर्मानुसारमेव आयुःस्थितिः, न तत्र हीनता वृद्धिर्वा कर्तुं शक्यते। जन्ममृत्युपरम्परामुक्तिस्तु मोक्षस्थितावेव। अतः तदर्थमेव भव्यजनैर्यतितव्यम्। मुक्तेः पूर्वं सांसारिकपदार्थाः चेतनाचेतनाः न शरण्याः भवन्ति, केवलं व्यवहारतो मोक्षमार्गदर्शने उपयोगिनः पञ्च परमेष्ठिदेवाः शरणभूता ज्ञेयाः** *(मोक्षप्राभृत, 104)*।

(इन्द्रस्य शरणं न विद्यते—) इन्द्र को, उस इन्द्र को जो इतने ऐश्वर्य, वैभव व शक्ति वाला है, कोई शरण नहीं होता। मृत्यु के समय कोई रक्षा का, बचने का स्थान नहीं होता, उस इन्द्र के भी उपार्जित आयु-कर्म का क्षय होता ही है। तात्पर्य यह है— सभी सामान्य लोग यह चाहते हैं कि पुण्य कर्मों से उन्हें देव गति मिले, देव गति में भी सौधर्म इन्द्र पद की प्राप्ति सभी चाहते हैं। इन्द्र का देवों में सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्य होता है। उसकी इतनी सामर्थ्य होती है कि वह समस्त जम्बूद्वीप को स्वयं उठाकर फेंक दे। सभी सौधर्म स्वर्ग के देवों की आयु भी कम से कम साधिक पल्योपम, और उत्कृष्टतया सातिरेक दो सागरोपम प्रमाण होती है। इस प्रकार दीर्घ आयु वाले, विविध सामर्थ्य वाले और अनेकविध रक्षा-साधनों से सम्पन्न इन्द्र का भी कोई शरण नहीं हो पाता, मृत्यु से ग्रस्त वह होता ही है। यदि कोई मृत्यु से बचाने में, या आयु-वृद्धि करने में समर्थ हो तो कर्म-सिद्धान्त का ही लोप (खण्डन) हो जाएगा। किये कर्मों के अनुसार ही आयु होती है, उसमें कमी या अधिकता नहीं की जा सकती। जन्म-मृत्यु की परम्परा से छुटकारा तो मोक्ष पाने पर ही सम्भव है। इसलिए उस मोक्ष के लिए ही भव्य प्राणियों को प्रयत्न करना चाहिए। मुक्ति से पूर्व, सांसारिक चेतन या अचेतन, कोई भी पदार्थ शरणभूत नहीं होते, केवल व्यवहार-दृष्टि से पाँच परमेष्ठी देव शरणभूत होते हैं जो मोक्षमार्ग के दिखाने में उपयोगी होते हैं (मोक्षप्राभृत-104)।

अत एव समाधिभक्तौ *(श्लोक-15)* **प्रोच्यते—**

अन्यथा शरणं नास्ति, त्वमेव शरणं मम।
तस्मात् कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वर।।

तत्त्वार्थराजवार्तिकेऽपि *(9/7)* **पञ्च गुरवो लोकोत्तरशरणभूताः स्वीकृताः। परमार्थतस्तु शुद्ध आत्मैव शरण्यः, नान्यः कश्चिदिति सारतया मनसि ग्राह्यम्। आचार्यकुन्दकुन्देन च मोक्षप्राभृते** *(गाथा-104)* **एतस्य मतस्य समर्थनं विहितमस्ति।**

अत एवोक्तं तिलोयपण्णत्तौ *(9/48)*—

जो इच्छदि णिस्सरिदुं संसारमहण्णवस्स रुद्दस्स।
सो एवं जाणित्ता परिझायदि अप्पयं सुद्धं।।

अतो भव्यजनेन अशरणानुप्रेक्षा भावनीया, येन शुद्धात्मध्यानं क्रमेण दार्ढ्यं यायादिति गाथा-सारः।

इसीलिए समाधिभक्ति (श्लोक-15) में (आ. पूज्यपाद द्वारा) कहा गया है—

''कोई अन्य शरण नहीं है, आप ही मेरे शरण हैं। इसलिए करुणा करके हे जिनेश्वर! मेरी रक्षा करो।''

तत्त्वार्थराजवार्तिक (9/7) में भी पाँच गुरुओं को लोकोत्तर शरण माना गया है। परमार्थ दृष्टि से तो शुद्ध आत्मा ही शरणस्थान है, कोई अन्य नहीं —इस तथ्य को मन से सार रूप में ग्रहण करना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने भी मोक्षप्राभृत (गाथा-104) में इस मान्यता का समर्थन किया है।

इसीलिए तिलोयपण्णत्ति (9/48) में कहा गया है—

''जो भी भयंकर संसार-महासागर से निकलना चाहता है, वह यह (सत्य) जानकर शुद्ध आत्मा का ही ध्यान करता है।''

इसलिए भव्य जन को अशरण अनुप्रेक्षा का चिन्तन करना चाहिए ताकि शुद्धात्म-ध्यान क्रमशः दृढ़ होता जाय —यह गाथा का निष्कर्ष है।

अथ, सम्प्रति चक्रवर्तिनोऽपि न कोऽपि मरणाद् रक्षकः, शरणभूतो वेति शास्त्रकाराः प्रतिपादयन्ति—

णव णिहि चउदस रयणं, हयमत्तगइंद चाउरंगबलं।
चक्केसस्स ण सरणं, पेच्छंते कद्दिए काले॥१०॥

छाया— नव निधयः, चतुर्दश रत्नानि, हयमत्तगजेन्द्राः चातुरङ्गबलम्।
चक्रेशस्य न शरणं प्रेक्ष्यन्ते, कर्दयति काले॥

(सर्वोदया टीका—) अन्वयः सुगमः। *(णव णिहि)* **नव निधयः, चक्रवर्तिनां नियमतो भवन्ति। नवानां निधीनां नामस्वरूपादिकं निरूप्यते। प्रथमो निधिः कालनामकः, ऋतुयोग्य-द्रव्याणामुत्पत्तिं करोति। द्वितीयो महाकालनिधिः ऋतुयोग्यभाजनानि उत्पादयति। तृतीयः पाण्डुनिधिः ऋतुयोग्यधान्यानि उत्पादयति। चतुर्थो मानवनिधिः आयुधानि, पञ्चमः शंखनिधिः वादित्राणि, षष्ठः पद्मनिधिः वस्त्राणि, सप्तमः नैसर्पनिधिः हर्म्याणि (निवासभवनानि), अष्टमः पिंगलनिधिः आभरणानि, तथा नवमो नानारत्नसंज्ञको निधिः रत्नानि समुत्पादयति** *(द्र. तिलोय प. 4/1384-1386)*।

अब शास्त्रकार यह प्रतिपादित कर रहे हैं कि चक्रवर्ती को भी कोई मृत्यु से बचाने वाला या शरणदाता नहीं होता—

(10)

(गाथा-अर्थ—) नौ निधियाँ, चौदह रत्न, अश्व, मत्त हाथी और चतुरंगिणीबल (सेना) —ये (इनमें से कोई भी) चक्रवर्ती के लिए, जब काल विनाश करता है, तब शरण रूप होते नहीं देखे जाते।

(सर्वोदया टीका—) गाथा का अन्वय सुगम ही है। **(नव निधयः)** चक्रवर्तियों को नौ निधियाँ अवश्य प्राप्त होती हैं। इन नौ निधियों के नाम व स्वरूप आदि का निरूपण इस प्रकार है— पहली 'काल' नामक निधि है, जो ऋतु-अनुरूप पदार्थों को उत्पन्न करती है। दूसरी 'महाकाल' नामक निधि है जो ऋतु-अनुरूप (समय की माँग के अनुसार) पात्रों, बर्तनों को उत्पन्न करती है। तीसरी निधि 'पाण्डु' नाम की है, जो ऋतु-अनुरूप धान्य, अन्न आदि को उत्पन्न करती है। चौथी निधि मानव नाम की है जो आयुधों

अन्याचार्यमते तु कालः, महाकालः, नैस्सर्प्यः, पाण्डुकः, पद्म, माणवः, पिंगः (पिंगलः), शंखः, सर्वरत्नम् —इति क्रमेण नामानि। तत्र प्रथमो निधिः व्याकरणादिशास्त्राणां वीणादिप्रमुखानां मनोज्ञविषयाणां च उत्पत्तिं करोति। द्वितीयस्तु असि-मषि-कृषिप्रभृतिषट्कर्मसाधनभूतानां द्रव्याणां सम्पदां चोत्पत्तिस्थानम्। तृतीयो नैस्सर्प्यनिधिः शय्या-आसन-भवनादीन्युत्पादयति। चतुर्थः पाण्डुकनिधिः धान्यादीनि षड्रसोपेतानि उत्पादयति। पञ्चमः पद्मनिधिः वस्त्राणि, षष्ठो माणवनिधिः नीतिशास्त्रादीनि, सप्तमः पिंगलनिधिः दिव्याभरणानि, अष्टमः शंखनिधिः सुवर्णम् तथा नवमः सर्वरत्ननिधिः विविधरत्नानि उत्पादयति *(द्र. आदिपुराण, 37/73-82)*। **एवं नवनिधिभिः समस्तजीविकासाधनभूतानां द्रव्याणां समुपस्थापनं भवति। ततश्च समस्तमभीष्टसाधनं विधीयते। एते सर्वे निधयोऽविनश्वराः, निधिपालदेव-अधिकृताः, सहस्रयक्षैः सुरक्षिताश्च भवन्ति। कामवृष्टिसंज्ञकगृहपतिः (नवमरत्न संज्ञकः) समेषामेव निधीनामधिपतिः कथितः। एषां**

(शस्त्रास्त्रों) को, पाँचवी शंख नामक निधि वाद्य यन्त्रों को, छठी पद्मनिधि वस्त्रों को उत्पन्न करती है। इसी प्रकार, सातवीं 'नैसर्प' निधि महलों, भवनों (निवास-स्थानों) को, आठवीं पिंगल निधि आभरणों को तथा नवीं नानारत्न नामक निधि रत्नों को उत्पन्न करती है (द्र. तिलोयपण्णत्ति-4/1384-1386)।

(कुछ) अन्य आचार्यों के अनुसार इन निधियों का क्रम इस प्रकार है— 1. काल, 2. महाकाल, 3. नैस्सर्प्य, 4. पाण्डुक, 5. पद्म, 6. माणव, 7. पिंग (पिंगल), 8. शंख और 9. सर्वरत्न। इनमें प्रथम निधि (काल) व्याकरण आदि शास्त्रों तथा वीणा आदि प्रमुख मनोहर पदार्थों का उत्पादन करती है। दूसरी (महाकाल) निधि असि, मसि, कृषि (शस्त्र, लेखन व खेती) आदि में काम आने वाले पदार्थों एवं सम्बन्धित सम्पदा को उत्पन्न करती है। तीसरी 'नैस्सर्प्य' निधि शय्या, आसन, भवन आदि (उठने, बैठने व सोने में काम आने वाले साधनों) का उत्पादन करती है। चौथी 'पाण्डुक' निधि छः रसों से पूर्ण धान्य आदि को उत्पन्न करती है। पाँचवीं 'पद्म' निधि वस्त्रों को, छठी माणव निधि नीतिशास्त्र आदि को, सातवीं पिंगल निधि दिव्य आभूषणों को, आठवीं 'शंख' निधि सुवर्ण को, तथा नवीं 'सर्वरत्न' निधि विविध रत्नों को उत्पन्न करती है (द्र. आदिपुराण-37/73-82)। इस प्रकार, नव निधियों के माध्यम से जीविका के समस्त साधनभूत द्रव्यों की उपस्थिति हो जाती है और सभी मनोवांछितों की पूर्ति भी हो जाती है। ये सभी निधियाँ अविनाशी होती हैं। ये निधिपाल देव से अधिष्ठित होती हैं और इसकी सुरक्षा हजारों यक्ष देव करते रहते हैं। 'कामवृष्टि' नामक गृहपति (जिसे रत्नों में नौवाँ माना जाता है) इन निधियों का अधिपति (अधिकारी) कहा

निधीनामाकृतिः शकटवत् भवति, विस्तारो नवयोजनात्मकः, आयामश्च द्वादशयोजनात्मकः इति च विज्ञेयम् *(हरिवंश पु. 11/111-113, 123)*।

(चउदस रयणं) **चतुर्दश रत्नानि चापि चक्रवर्तिनो भवन्ति। तेषां नामानि— चक्रम्, छत्रम्, खड्गः, दण्डः, काकिणी, मणिः, चर्म, सेनापतिः, गृहपतिः, गजः, अश्वः, पुरोहितः, स्थपतिः, युवतिः (राज्ञी)। एतेषु सेनापतिः, गृहपतिः, गजः, अश्वः, युवतिः, स्थपतिः, पुरोहितः —इत्येतानि सजीवरत्नानि, अन्यानि अजीवरत्नानि। तत्र प्रथमं सुदर्शननामकं चक्ररत्नं वज्रमयं भवति, यच्छत्रुसंहारे समर्थम्, यस्य च तेजः शत्रुभिर्दुर्दर्शमेव भवति। द्वितीयं सूर्याभनामकं छत्ररत्नं द्वादशयोजनायामविस्तीर्णं वृष्टिपातात् सैन्यं रक्षति। तृतीयं खड्गरत्नं भद्रमुखनामकं सौनन्दकनामकं वा भवति, तदपि शत्रु-मनोबलनाशकं संहारकं च भवति। चतुर्थं दण्डरत्नं प्रबुद्धवेगनामकं चण्डवेगनामकं वा भवति, यत् पर्वतगुफाकण्टकशोधने महदुपयोगि भवति। एतदतिरिच्य, विजयार्द्धगुफाद्वारोद्घाटनाय, वृषभाचलोपरि अन्यचक्रवर्तिनां नाम्नामुत्सारणाय च दण्डरत्नमेतदुपयोगि भवति।**

गया है। इन निधियों की आकृति शकट (बैलगाड़ी) जैसी होती है और इनका विस्तार (लम्बाई) नौ योजन व आयाम (चौड़ाई) बारह योजन का होता है— ऐसा जानें (हरिवंशपुराण-11/111-113, 123)।

(चतुर्दश रत्नानि) चक्रवर्तियों के अधिकार में चौदह रत्न (भी) होते हैं। इनके नाम हैं— चक्र, छत्र, खड्ग, दण्ड, काकिणी, मणि, चर्म, सेनापति, गृहपति, हाथी, घोड़ा, पुरोहित, स्थपति (कारीगर) व युवति (पटरानी)। इनमें सेनापति, गृहपति, हाथी, घोड़ा, युवति, स्थपति, व पुरोहित —ये सजीव रत्न हैं, शेष अन्य अजीव रत्न हैं। इनमें प्रथम चक्ररत्न का नाम 'सुदर्शन' है जो वज्रमय होता है, जिसके तेज को शत्रु देख नहीं पाते और जो शत्रुओं के नाश में पूर्ण सक्षम होता है। दूसरा सूर्याभ नामक 'छत्र' रत्न बारह योजन चौड़ा होता है जो भारी वर्षा से सेना को सुरक्षित रखता है। तीसरा 'भद्रमुख' नाम का या सौनन्दक नाम का खड्ग रत्न होता है, यह भी शत्रुओं के मनोबल को नष्ट करके उनका संहारक होता है। चौथा प्रबुद्धवेग नामक या चण्डवेग नाम का दण्ड रत्न होता है, जो पर्वत की गुफाओं के कण्टकों के शोधन में (कंकर-पत्थर हटाकर रास्ता साफ करने में) अत्यन्त उपयोगी होता है। इसके अलावा, विजयार्द्ध पर्वत की गुफा के द्वार को खोलने (पत्थर तोड़कर रास्ता बनाने) में, तथा वृषभाचल पर्वत पर अन्य चक्रवर्तियों के नाम को मिटाने (तथा उसे समतल साफ चिकना पत्थर बनाने) में भी यह रत्न उपयोगी होता है।

पञ्चमं चिन्ताजननीनामकं काकिणीरत्नं वर्तते, यत्साहाय्येन चक्रवर्तिना स्वनामोत्कीर्तनं वृषभाचले विधीयते। *(क्वचिद् विजयार्द्धपवर्तगुफायामन्धकारनाशायापि एतदुपयोगि वर्णितम्।)* **षष्ठं चूडामणिसंज्ञकं मणिरत्नं भवति, तेन विजयार्द्धपर्वतगुफायामन्धकारो नश्यति। सप्तमं चर्मरत्नं म्लेच्छराजकृतजलप्रवाहोपरि समस्तसैन्यसन्तरणोपायभूतं भवति। अष्टमं सेनापतिरत्नं सर्वशक्तिसम्पन्नः कुशलसेनानायकः एव। नवमं गृहपतिरत्नं भद्रमुखनामकं कामवृष्टिनामकं वा वर्तते, तद् समस्तमायव्ययचिन्तादि कार्यं करोति। दशमं गजरत्नं विजयगिरि-नामकं, एकादशं च अश्वरत्नं पवनञ्जयनामकं भवतः, एते रत्ने दिग्विजययात्रायां महदुपयोगिनी भवतः। द्वादशं पुरोहितरत्नं बुद्धिसागरनामकं विघ्नोपद्रवशमनार्थं समस्तधार्मिकक्रियासम्पादनसमर्थं च वर्तते। त्रयोदशं स्थपतिरत्नं कामवृष्टिनामकं (भद्रमुखनामकं वा) वास्तुविद्याविज्ञानयुक्तं प्रसादादिनिर्माणकार्ये महदुपयोगि वर्तते। नद्युपरि सेतुनिर्माणादिकमपि तेन कार्यते। चतुर्दशं युवतिरत्नं सुभद्रानामकं भवति, यच्चक्रवर्तिनो हृदयानन्ददायकं प्रमुखमहिषीरूपं वर्ण्यते।**

पाँचवाँ 'चिन्ताजननी' नामक काकिणी रत्न होता है, जिसकी सहायता से चक्रवर्ती वृषभाचल पर अपने नाम को उकेरता है, (लिखता है, प्रशस्ति लिखता है)। (कुछ शास्त्रों में इसे विजयार्द्ध पर्वत की गुफा का अन्धकार नष्ट करने में उपयोगी बताया गया है।) छठा चूड़ामणि नामक 'मणि' रत्न होता है, जिससे विजयार्द्ध पर्वत की गुफा का अन्धकार दूर किया जाता है। सातवाँ चर्मरत्न होता है जो यदि म्लेच्छ राजा जलप्रवाह करें (जैसे— बाँधों को तोड़ दें और फलस्वरूप पानी ही पानी हो जाय) तो यह समस्त सेना को अपने ऊपर बैठाकर पार करा सकता है। आठवाँ सेनापति रत्न होता है जो (मानो) सर्वशक्तिमान् एक कुशल सेनानायक ही है। नवाँ गृहपति रत्न होता है जिसका नाम भद्रमुख या कामवृष्टि बताया गया है, यह समस्त आय-व्यय की चिन्ता करता है (आय-व्यय का हिसाब-किताब रखता है)। दसवाँ 'विजयगिरि' नामक हस्तिरत्न और ग्यारहवाँ 'पवनञ्जय' नामक अश्वरत्न है— ये दोनों रत्न दिग्विजय-यात्रा में अत्यन्त उपयोगी होते हैं। बारहवाँ बुद्धिसागर नामक पुरोहित रत्न होता है जो विघ्न-उपद्रव की शान्ति हेतु समस्त धार्मिक क्रियाओं का सम्पादन करने में समर्थ होता है। तेरहवाँ कामवृष्टि नामक या भद्रमुख नाम का स्थपतिरत्न होता है, जो वास्तु विद्या का विज्ञाता होता है और प्रासाद (महल) आदि के निर्माण में अत्यन्त उपयोगी होता है। नदी के ऊपर पुल बनाने आदि का कार्य भी वही सम्पन्न करता है। चौदहवाँ सुभद्रा नामक युवति-रत्न होता है जो चक्रवर्ती को (पटरानी के रूप में) हार्दिक आनन्द प्रदान करता है।

एतेषां चतुर्दशरत्नानामुत्पत्तिः विविधस्थानेषु वर्णिता। विस्तरस्तु आदिपुराणतः *(पर्व-27)*, **तिलोयपण्णत्तिग्रन्थतश्च** *(चतुर्थमहाधिकारतो)* **विज्ञेयः।** *(हयमत्तगइंद)* **हयः, मत्तगजेन्द्रश्च। एतयोः निरूपणं चतुर्दशरत्नेषु प्राक् कृतम्।** *(चाउरंगबलं)* **चतुरङ्गबलम्, चतुरङ्गिणी सेना। पदातिः, हयाः, गजाः, रथाः —इत्येतेषां चतुर्णां समुदिता सेना चतुरङ्गिणी भवति। कुत्रचिद् षडङ्गबलस्यापि निर्देशो रयणसारे** *(गाथा-20)* **विहितोऽस्ति। तत्र पूर्वोक्तेषु चतुर्षु गजारोहिणां हयारोहिणां च सैनिकानां सम्मेलनेन षडङ्गबलं जायते —इति ज्ञेयम्।**

(चक्केसस्स) **चक्रेशस्य, चक्रवर्तिनः इत्यर्थः। (न किमपि शरणमिति योजितं ग्रन्थकृता)। तत्र चक्रवर्तिनो द्विविधाः— अर्धचक्रिणः, सकलचक्रवर्तिनश्च। अत्र सकलचक्रवर्तिनो ग्राह्याः।**

चक्रवर्तिस्वरूपविषये तिलोयपण्णत्तौ *(1/47-48)* **प्रोक्तम्—** *''रायाणं अद्धचक्की सामी सोलयसहस्समेत्ताणं। छक्खंडभरहणाहो बत्तीससहस्समउडबद्धपहुदीओ। होदि हु सयलं चक्की''* **इत्यादि।**

इन चौदह रत्नों की उत्पत्ति विविध स्थानों में हुई बताई गई है। इस सम्बन्ध में विस्तार से समझना हो तो आदिपुराण (पर्व-27) व तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ (चौथे महाधिकार) से जाना जा सकता है। **(हयमत्तगजेन्द्राः)** घोड़ा और मत्त हस्ती। इन दोनों का निरूपण चौदह रत्नों में पहले किया जा चुका है। **(चातुरङ्गबलम्)** चतुरङ्गबल यानी चतुरङ्गिणी सेना। पैदल, घोड़े, हाथी, रथ —इन चारों का समुदित रूप चतुरङ्गिणी सेना होती है। षडङ्गबल (छः अङ्गों वाली सेना) का निर्देश भी रयणसार (गाथा-20) में प्राप्त होता है। वहाँ पूर्वोक्त चार अङ्गों में अश्वारोही व गजारोही सैनिकों (—इन दो अङ्गों) को जोड़कर षडङ्गबल होता है —ऐसा जानना चाहिए।

(चक्रेशस्य) चक्रवर्ती के लिए (कोई शरण नहीं होता —यह आगे पदों से शास्त्रकार ने सम्बन्ध किया है)। चक्रवर्ती दो प्रकार के होते हैं— अर्धचक्री और सकलचक्री। इनमें सकल चक्रवर्ती का ग्रहण ही यहाँ करना चाहिए।

चक्रवर्ती के स्वरूप के बारे में तिलोयपण्णत्ति (1/47-48) में इस प्रकार निरूपित किया गया है— ''राजाओं में अर्द्धचक्री वह होता है जो सोलह हजार राजाओं का स्वामी होता है। किन्तु सकलचक्रवर्ती वह होता है जो बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं का अधिपति और छः खण्डों का स्वामी होता है।'' इत्यादि।

(सरणं ण पेच्छंते) **शरणं न प्रेक्ष्यन्ते, दृश्यन्ते। पूर्वोक्तं वैभवं सामर्थ्यं बलं चेत्यादिकं सर्वमपि चक्रवर्तिप्रभृतीनामपि कृते शरणभूतं न भवति। कदा न भवति?** *(काले कद्दिए)* **काले कर्दयति विनाशयति, विनाशं कुर्वंति काले सति —इत्यर्थः। कुत्रचित् पाठान्तरमपि** *'पेच्छंतो कद्दिए कालो'* **इति दृश्यते। तत्रार्थः— प्रेक्षमाणः (एव) कालो कर्दति, विनाशयति, न किञ्चिदपि सहायभूतं भवति। अत्र कुत्सितशब्दार्थकः कर्दधातुर्विनाशार्थे प्रयुक्तः, यद्वा 'कद्द' धातुर्देशी वर्तते, यस्यार्थो नाशो भवति।**

एवं चक्रवर्तिनामपि ईदृशी गतिः, तर्हि का कथा सामान्यजनानाम्? मृत्युरवश्यम्भाविनी सर्वेषामेव। अतो मृत्युभयाद् व्याकुलताऽपि त्याज्यैव।

उक्तं च मूलाचारग्रन्थे *(गाथा-141)*—

वीरेण वि मरिदव्वं णिव्वीरेण वि अवस्स मरिदव्वं।
जदि दोहिं वि मरिदव्वं वरं हि वीरत्तणेण मरिदव्वं।।

(शरणं न प्रेक्ष्यन्ते) शरण होते दिखाई नहीं देते। पूर्वोक्त वैभव, सामर्थ्य व सैन्यबल —इत्यादि सभी चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के लिए भी शरणभूत नहीं होते। कब नहीं (शरण) होते? (इसे ही आगे बता रहे हैं—) **(काले कर्दयति)** जब काल विनाश करने वाला होता है— यह तात्पर्य है। कहीं (कुछ संस्करणों में) पाठान्तर है— पेच्छंतो कद्दिए कालो (प्रेक्षमाणः विनाशयति कालः)। उसका अर्थ होगा— देखते-देखते काल विनाश कर देता है, वहाँ कोई भी सहायक नहीं होता। यहाँ कुत्सितशब्द करने अर्थ वाली कर्द धातु का विनाश अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, अथवा 'कद्द' धातु देशी प्रयुक्त है, जिसका अर्थ नाश करना है।

इस प्रकार जब चक्रवर्तियों तक की भी यह गति होती है, तब सामान्य लोगों की क्या बात है? मृत्यु सबके लिए अवश्यम्भावी होती है। इसलिए मृत्यु-भय से व्याकुल होना भी नहीं चाहिए।

मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-141) में कहा भी गया है—

''वीर होकर भी मरना है और कायर होकर भी मरना है, तब यदि मरना ही है तो अच्छा है कि वीरता के साथ ही मरना चाहिए।''

अतो भो ज्ञानिन्! षण्णवतिसहस्रराज्ञीनां स्वामिनः, द्वात्रिंशत्सहस्रमुकुटबद्धराजाधिपतेः, नवनिधिचतुर्दशरत्नस्वामिनश्चक्रवर्तिनोऽपि मरणकाले कश्चिदपि त्राता न भवति, तर्हि अन्येषां का वार्ता —इति विचिन्त्य निजं शुद्धात्मानमेव उपास्स्व, तत्रैव रतिं कुरु, तत्रैव एकाग्रतां विधेहि — इतिगाथासारः।

अथ सम्प्रति निजशुद्धात्मैव शरणमिति शास्त्रकाराः प्रतिपादयन्ति—

जादि-जर-मरण-रोग-भयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा।
तम्हा आदा सरणं, बंधोदय-सत्त-कम्म-वदिरित्तो ॥११॥

छाया— जाति-जरा-मरण-रोग-भयतो रक्षति आत्मानमात्मा।
तस्माद् आत्मा शरणं बन्ध-उदय-सत्त्व-कर्म-व्यतिरिक्तः॥

(सर्वोदया टीका—) अन्वयः सुगमः। *(अप्पा)* **आत्मा, अत्र चिच्चमत्काररूपनिजशुद्धात्मा ग्राह्यः तस्यैव शरणभूतत्वेन समुचितत्वात्।** *(जादि)* **जन्म, उत्पत्तिः। यद्वा नारकादिगतिषु अव्यभिचारिणा सादृश्येन एकीकृतं स्वरूपं 'जातिः' इति व्यपदिश्यते। सा च एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-**

इसलिए हे ज्ञानी ! छियानवे हजार रानियों के स्वामी, बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं के स्वामी, नौ निधियों व चौदह रत्नों के मालिक चक्रवर्ती को भी मृत्यु-समय कोई भी रक्षक नहीं होता, तब अन्य लोगों की तो बात ही क्या? ऐसा चिन्तन-मनन करते हुए अपनी शुद्ध आत्मा की ही उपासना करो, वहीं रति करो और वहीं एकाग्रता स्थापित करो —यह गाथा का सार है।

अब, 'निज शुद्धात्मा ही शरण है' —इस (तथ्य) को शास्त्रकार प्रतिपादित कर रहे हैं—

(11)

(गाथा-अर्थ—) (शुद्ध) आत्मा जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु, रोग व भय से (स्वयं अपनी) आत्मा की रक्षा करती है। इसलिए बन्ध, उदय, सत्त्व रूप कर्मों से पृथक् (यह) आत्मा (ही) शरण है।

(सर्वोदया टीका—) अन्वय सुगम है। **(आत्मा-)** आत्मा, यहाँ आत्म-पद से चैतन्य चमत्कारमय निज शुद्धात्मा (परमात्मा) ग्राह्य है क्योंकि वही शरणभूत हो सकता है। **(जाति)** जाति का अर्थ है— जन्म, उत्पत्ति। अथवा नरक आदि गतियों में अव्यभिचारी सादृश्य से एकीकृत (लक्षित) स्वरूप को 'जाति' कहा जाता है। वह जाति पाँच प्रकार की हैं— एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और

त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियभेदात् पञ्चविधा भवति। तत्र निमित्तं जातिनामकर्मैव, यदुदयात् आत्मा एकेन्द्रियादिरूपेण शब्द्यते *(द्र. राजवार्तिक-8/11/2)* **एकेन्द्रियादिरूपेण यज्जन्म भवति, तस्याधारभूता योनिः। आधाराधेययोरविशेषात् एकेन्द्रियादिजीवानां चतुरशीतिलक्षपरिमिता योनयो वर्णिताः, तेषां निरूपणं मूलाचारे** *(गाथा-226)* **कृतमित्थमस्ति—**

णिच्चिदरधादु सत्त य तरु दस विगलिंदिएसु छच्चेव।
सुरणरयतिरिय चउरो चउदस मणुए सदसहस्सा॥

(जर) **जरा, वार्धक्यम्। तारुण्येऽपगते वृद्धावस्था समागच्छति। अस्यां दुःखबहुलता भवति, प्रायो मरणसमान्येव कष्टानि भोग्यानि जायन्ते। यौवने चेन्द्रियादीनां यत्सामर्थ्यं तद्वार्धक्ये क्षीयते, अतो भोगसामग्रीसत्त्वेऽपि भोग्यशक्तेरभावात्, दुःखं निरन्तरं वर्द्धते। मृत्युरपि समीपे आगच्छतीवेति प्रतीयते।**

पञ्चेन्द्रिय। इस जाति-सम्बन्धी व्यवहार में निमित्त होता है— जातिनाम कर्म, जिसके उदय से आत्मा 'एकेन्द्रिय' आदि रूप से पुकारी जाती है। (द्र. राजवार्तिक-8/11/2)। एकेन्द्रिय आदि रूप में जो जन्म होता है, उसका आधार 'योनि' होती है। आधार व आधेय में अभेद मानकर, एकेन्द्रिय आदि जीवों की चौरासी लाख योनियाँ कही गई हैं, उनका निरूपण मूलाचार (गाथा-226) में इस प्रकार किया गया है—

''नित्य निगोद, इतरनिगोद, पृथ्वीकाय से लेकर (जल, अग्नि व) वायुकाय तक —इनके सात-सात लाख योनियाँ हैं। प्रत्येकवनस्पति के दस लाख योनियाँ हैं। द्वि-इन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक कुल छः लाख योनियाँ हैं। देव व नारकी एवं पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों के चार-चार लाख योनियाँ हैं। मनुष्यों की चौदह लाख योनियाँ हैं। कुल मिलाकर चौरासी लाख योनियाँ होती हैं।'' (अर्थात् नित्यनिगोद से लेकर वायुकाय तक की 42 लाख, प्रत्येकवनस्पति की 10 लाख, द्वीन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रियों तक की 6 लाख, देव-नारकी-तिर्यंचों की 12 लाख, तथा मनुष्यों की 14 लाख —सब मिलाकर चौरासी लाख योनियाँ होती हैं।)

(जरा) वृद्धावस्था। जवानी बीतने पर वृद्धावस्था आ ही जाती है। इसमें अधिकाधिक दुःख होते हैं, प्रायः मृत्यु समान ही कष्ट भोगने पड़ते हैं। जवानी में इन्द्रियों आदि की जो क्षमता होती है, वह बुढ़ापे में क्षीण हो जाती है, इसलिए, भोग-सामग्री होने पर भी भोगने की शक्ति नहीं रह पाती, इस कारण निरन्तर दुःख बढ़ता रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मृत्यु (धीरे-धीरे) निकट आ रही है।

ज्ञानार्णवे *(2/39)* **च प्रोक्तम्—**

गलत्येवायुरत्यर्थं हस्तन्यस्ताम्बुवत् क्षणे।
नलिनीदलसंक्रान्तं प्रालेयमिव यौवनम्॥

(मरण) **मरणं प्राणनाशः। आयुष्यनाशे मरणं भवत्येव। मरणं च** *'स्वपरिणामोपात्तस्य आयुष इन्द्रियाणां बलानां श्वासोच्छ्वासानां च कारणवशात् संक्षयः'* **इति सर्वार्थसिद्धौ** *(7/22)* **निर्दिष्टम्।**

तस्य मरणस्य पञ्चभेदा भवन्ति। उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे *(गाथा-26, 28)*—

पंडिदपंडिदमरणं पंडियं य बालपंडिदं चेव।
बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च।।

पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव।
तिविहं पंडिदमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स॥

इसीलिए ज्ञानार्णव (2/39) में कहा गया है—

"जिस प्रकार हाथ की अंजुली में रखा हुआ पानी क्षण भर में नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार प्राणियों की आयु भी क्षण-क्षण में अत्यन्त क्षीण होती चली जाती है। जिस प्रकार कमलिनी के पत्ते पर पड़ी हुई मोती जैसी सुन्दर ओस की बूँद शीघ्र बिखर जाती है, उसी तरह प्राणियों का यौवन भी शीघ्र नष्ट हो जाता है।"

(मरण) मृत्यु यानी प्राण-नाश। आयु के नष्ट होने पर मरण होता ही है। मरण से तात्पर्य है— "अपने परिणामों से प्राप्त हुई आयु का, इन्द्रियों का, मन-वचन-काय के बलों का, और श्वासोच्छ्वास का किसी विशेष कारण से, नाश होना" —ऐसा सर्वार्थसिद्धि (7/22) में बताया गया है।

उस मरण के पाँच भेद होते हैं। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-26, 28) में कहा गया है—

"पण्डितपण्डितमरण, पण्डितमरण, बालपण्डित मरण, बाल मरण व बाल-बाल मरण —ये पाँच मरण होते हैं।"

"पण्डित मरण के तीन भेद हैं— पादोपगमन, भक्तप्रतिज्ञा व इंगिनी मरण। यह पण्डितमरण शास्त्रोक्त आचरण करने वाले साधु के होता है।"

अपि तत्रैवोक्तम् *(गाथा-64)— "दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं सविचारमध अविचारं"।* **इति।**

उपर्युक्तेषु पञ्चविधेषु मरणेषु पण्डितपण्डितमरणं प्रथमं क्षीणकषायस्य केवलिनश्च भवति। पण्डितमरणं द्वितीयं निर्ग्रन्थमुनीनामेव। तृतीयं बालपण्डितमरणं विरताविरतजीवानां (यथा— देशव्रतिनाम्, आर्यिकाणाम्, एलकक्षुल्लकादीनां प्रतिमाधारकव्रतिश्रावकाणाञ्च) भवति। चतुर्थं बालमरणं तु अविरतसम्यग्दृष्टिजीवानामेव। पञ्चमं बालबालमरणं मिथ्यादृष्टिजीवानां भवति। पण्डितमरणस्य त्रयो भेदाः— भक्तप्रत्याख्यानम्, इंगिनीमरणम्, प्रायोपगमनं चेति। तत्र भक्तप्रत्याख्याने स्वोपकारस्य परोपकारस्य चापेक्षा भवति। इंगिनीमरणे स्वोपकारस्यैवापेक्षा भवति, न तु परोपकारस्य। प्रायोपगमने तु नैव स्वोपकारस्य, न चापि परोपकारस्य अपेक्षा भवति।

भक्तप्रत्याख्यानस्य अनुष्ठानमेव 'सल्लेखना' कथ्यते। निष्प्रतीकारोपसर्गदुर्भिक्ष-जरारुजादिस्थितौ क्रमेण धर्माय तनुविमोचनहेतोः यावज्जीवनं भक्तप्रत्याख्यान-अनुष्ठानं विधेयमिति

और भी वहीं (गाथा-64) कहा गया है— "भक्त प्रत्याख्यान दो प्रकार का होता है— सविचार और अविचार (भक्तप्रत्याख्यान)।

उपर्युक्त पाँच प्रकार के मरणों में पहला पण्डितपण्डितमरण क्षीणकषाय और केवली के ही होता है। दूसरा पण्डितमरण निर्ग्रंथ मुनियों के होता है। तीसरा बालपण्डित मरण विरत-अविरत (पाँचवें गुणस्थान वाले) जीवों के (अर्थात् देशव्रती श्रावक, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक आदि प्रतिमाधारी व्रती श्रावकों के) होता है। चौथा बालमरण अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों के होता है। पाँचवाँ बाल-बाल मरण मिथ्यादृष्टि जीवों के होता है। पण्डित मरण के तीन भेद होते हैं— भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण और प्रायोपगमन। इनमें भक्तप्रत्याख्यान (पण्डित मरण) में साधक को अपने व दूसरे के उपकार की अपेक्षा बनी रहती है। इंगिनी मरण में अपने उपकार की तो अपेक्षा रहती है, परोपकार की नहीं। प्रायोपगमन में तो न अपने उपकार की और न परोपकार की अपेक्षा रहती है।

भक्तप्रत्याख्यान के अनुष्ठान को ही 'सल्लेखना' कहते हैं। जब उपसर्ग का प्रतीकार सम्भव न हो, दुर्भिक्ष की स्थिति हो, बुढ़ापा घेर रहा हो, या कोई मृत्युदायी रोग हो, तब धर्मार्थ शरीर-त्याग का वरण करना और इस निमित्त भक्तप्रत्याख्यान (पण्डित मरण) को यावज्जीवन (आमरण) स्वीकार करना चाहिए—

रत्नकरण्डश्रावकाचारे *(श्लोक-122)* **निर्दिष्टम्। एतदपि भक्तप्रत्याख्यानं जघन्य-मध्यम-उत्तमभेदेन त्रिधा। अस्य जघन्यकालप्रमाणमन्तर्मुहूर्तम्। उत्कृष्टकालो द्वादशवर्षप्रमाणमितो भवति। मध्यमकालस्तु जघन्य-उत्तमयोरन्तरालकालमितः।**

भक्तप्रत्याख्यानस्य सविचार-अविचारभेदद्वयं वर्तते। अर्हत्-लिङ्गादिविकल्पकयुक्तं सविचारम्, तद्रहितमविचारम्। ये आराधकाः (गृहस्थाः मुनयो वा) उत्साहबलसम्पन्नाः सन्ति, तेषां कृते यदा मरणं नैव निकटं भवति तदैव तैरनुष्ठेयं सविचारं भक्तप्रत्याख्यानम्। एवमेव अविचारं त्रिविधम्— निरुद्धम्, निरुद्धतरम्, निरुद्धतमं चेति। निरुद्धस्यापि द्वौ भेदौ— प्रकाशरूपम्, अप्रकाशरूपं च। एतेषां विस्तरेण परिचयो भगवतीआराधनेति ग्रन्थे *(गाथा-2005-2023)*, **तथा च मदीयकृतौ 'सल्लेखना से समाधि' इति शीर्षकायामपि ज्ञातव्यः।**

भक्तप्रत्याख्यानस्य उत्कृष्टमध्यमजघन्यफलानि च शास्त्रेषु वर्णितानि। यथा— भगवती-आराधनेति ग्रन्थे *(गाथा-1923, 1927-1928, 1934)* **निर्देशः—**

ऐसा रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-122) में निर्देश भी किया गया है। यह भक्तप्रत्याख्यान भी उत्तम, मध्यम व जघन्य भेद के कारण तीन प्रकार का है। इसका जघन्य काल-प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। उत्कृष्ट काल बारह वर्ष प्रमाण माना गया है। मध्यम काल तो जघन्य व उत्कृष्ट काल के मध्यवर्ती कालप्रमाण होता है।

भक्तप्रत्याख्यान के भी सविचार व अविचार —ये दो भेद होते हैं। अर्हन्त आदि के लिङ्ग (वेष) आदि से सम्बद्ध विकल्पों से युक्त होने के कारण वह 'सविचार' होता है, उन विकल्पों से रहित 'अविचार' होता है। जो आराधक (गृहस्थ हों या मुनि हों) उत्साह व बल से युक्त हों, उनके लिए, जब मरण निकट न (प्रतीत होता) हो, तभी यह 'सविचार' अनुष्ठेय होता है। इसी तरह, 'अविचार' के भी तीन भेद होते हैं— निरुद्ध, निरुद्धतर और निरुद्धतम। निरुद्ध के भी दो भेद हैं— प्रकाश रूप और अप्रकाश रूप। इन (सब) का विस्तार से परिचय जानना हो तो भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-2005-2023) से तथा 'सल्लेखना से समाधि' शीर्षक मेरी कृति से जान सकते हैं।

भक्त प्रत्याख्यान के उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य फलों का भी शास्त्रों में वर्णन किया गया है। जैसे, भगवती-आराधना ग्रन्थ *(गाथा-1923, 1927-1928, 1934)* में कहा गया है—

इयमुक्कस्सियमाराधणमणुपलित्तु केवली भविया।
लोगग्गसिहरवासी हवंति सिद्धा धुयकिलेसा॥

इय मज्झिममाराधणमणुपालित्ता सरीरपजहित्ता।
हुंति अणुत्तरवासी देवा सुविसुद्धलेस्सा य॥

दंसणणाणचरित्ते उक्किट्ठा उत्तमोपधाणा य।
इरियावहपडिवण्णा हवंति लवसत्तमा देवा॥

जे वि हु जहण्णियं तेउलेस्समाराहणं उवणमंति।
ते वि हु सोधम्माइसु हवंति देवा ण हेट्ठिल्ला॥

सल्लेखनासमयेऽपि सम्यक्त्वादीनामाराधना कर्तव्येति च आचार्यवर्यैः भगवती-आराधनेति-ग्रन्थे *(गाथा-19-21)* **समुपदिष्टम्—**

''इस प्रकार, उत्कृष्ट आराधना का पालन करके केवलज्ञानी होकर समस्त क्लेशों से मुक्त होते हैं और लोक-शिखर पर स्थित होते हैं।''

''इसी प्रकार मध्यम आराधना का पालन करके आराधक शरीर त्याग कर, विशुद्ध लेश्या के धारक अनुत्तरविमानवासी देव होते हैं।''

''वे मध्यम आराधना के पालक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र में उत्कृष्ट होते हैं (अर्थात् कल्पोपपन्न देवों में उत्पन्न कराने वाला जो रत्नत्रय है, उसके आराधकों से उत्कृष्ट होते हैं)। उनकी तपश्चर्या उत्तम होती है, वे ईर्यापथ आस्रव के धारक होते हैं (अर्थात् कषायरहित काय-क्रिया से होने वाला शुभास्रव ही उनके होता है)। वे मरकर लवसप्तम (ग्रैवेयक व अनुदिश देवों में उत्कृष्ट) देव होते हैं।''

''तेजो लेश्या से युक्त जो क्षपक जघन्य आराधना करते हैं, वे भी सौधर्म आदि स्वर्गों में देव होते हैं, नीचे के देव नहीं होते (अर्थात् भवनत्रिक में जन्म नहीं लेते)।''

सल्लेखना करते हुए भी सम्यक्त्व आदि (रत्नत्रय) की आराधना करते रहना चाहिए —ऐसा आचार्यप्रवर (शिवार्य) ने भगवती-आराधना ग्रन्थ *(गाथा-19-21)* में उपदेश दिया है—

आराहणाए कज्जे परियम्मं सव्वदा वि कायव्वं।
परियम्मभाविदस्स हु सुहसज्झाराहणा होइ॥

जह रायकुलपसूओ जोग्गं णिच्चमवि कुणइ परियम्मं।
तो जिदकरणो जुद्धे कम्मसमत्थो भविस्सदि हि।।

इय सामण्णं साधू वि कुणदि णिच्चमवि जोगपरियम्मं।
तो जिदकरणो मरणे झाणसमत्थो भविस्सहदि॥

एवं भक्तप्रत्याख्यानरूपं पण्डितमरणं निरूपितम्। प्रायोपगमनम् इङ्गिनीमरणं चेति मरणद्वयं सम्प्रति न सम्भवति, संहननविशेषसमवेतानां (वज्रवृषभनाराच-वज्रनाराच-नाराच- इतिसंहननत्रय-युक्तानामेव) तत्सम्भवति, सम्प्रति तादृश-संहनन-सद्भावो नास्त्येव। एवं मरणस्वरूपं सम्यक् विज्ञाय श्रेष्ठमरणायैव अभिलषितव्यं प्रयतितव्यं च।

"आराधना के कार्य में 'परिकर्म' (सम्यक्त्वादि-अनुष्ठान) सर्वदा करना चाहिए, क्योंकि 'परिकर्म' करने वाले के ही आराधना सुखपूर्वक साध्य हो पाती है।"

"जिस प्रकार राजपुत्र युद्धकाल से पहले भी प्रतिदिन शस्त्र आदि का अभ्यास करता है, बाद में शस्त्र-प्रहार की क्रिया को अपने अधीन करके युद्ध-क्रिया में समर्थ हो पाता है।"

"इसी प्रकार साधु भी ध्यान का परिकर्म जो श्रामण्य है, उसे इस भावना से नित्य करता ही है, यह सोचकर कि बाद में मन को वश में करके मृत्यु के समय ध्यान में समर्थ होऊँगा।"

इस प्रकार, भक्तप्रत्याख्यान रूप पण्डित मरण का निरूपण किया गया है। आज के युग में प्रायोपगमन व इंगिनीमरण सम्भव नहीं है, क्योंकि वे विशेष संहनन (वज्रऋषभनाराच, वज्रनाराच एवं नाराच —इन तीन विशिष्ट संहननों) के धारकों के ही सम्भव है, और आज वैसे संहननों का सद्भाव नहीं है। इस तरह, मरण के स्वरूप को अच्छी तरह से जानकर श्रेष्ठ मरण के लिए ही अभिलाषा करनी चाहिए और तदर्थ प्रयत्न भी करना चाहिए।

(रोगभयदो) **रोगाः अनेके शरीरे उत्पद्यन्ते। भयमपि प्राणिषु बहुविधं भवति। प्रमुखतया इष्टवियोगादिकं सम्भावितमपि मनसि भयमुत्पादयति।**

ज्ञानार्णवे *(2/37)* **उक्तम्—**

यान्त्येव न निवर्तन्ते, सरितां यद्वदूर्मयः।
तथा शरीरिणां पूर्वा गता नायान्ति भूतयः॥

इष्टवियोगो भविष्यति, सम्भवो वा —इत्याशंकया भीतो जनो वारंवारं दुःखपम्परामेव समाह्वयति। मरणमपि सम्भावितं कल्पितं वा भयोत्पादकमेव।

उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे *(गाथा-1664)— 'नत्थि भयं मरणसमं'* **इति।**

(अप्पा अप्पणो रक्खेदि) **आत्मा आत्मानं रक्षति। केभ्यो रक्षति? (पूर्वोक्तेभ्यः) जाति-जरा-मरण-रोग-भयेभ्यो रक्षति। अयम्भावः— प्रोक्ता जातिः, जरा, मरणं रोगो भयमित्यादीनि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन नास्ति शुद्धात्मनः स्वभावभूतानि, पौद्गलिकशरीरादिसम्बद्धान्येव, आत्मा तु तैः**

(रोगभयतः) रोग अनेक हैं जो शरीर में उत्पन्न होते हैं। भय भी प्राणियों में अनेक तरह का हुआ करता है। प्रमुखतया इष्ट पदार्थ से सम्भावित वियोग भी मन में भय उत्पन्न करता है।

ज्ञानार्णव (2/37) में कहा है— ''जिस प्रकार नदियों की जो लहरें चली जाती हैं, वे फिर वापस नहीं आतीं, उसी प्रकार प्राणियों की नष्ट हुई पूर्व की विभूतियाँ पुनः वापस नहीं आतीं।''

(मेरा अभीष्ट पदार्थ मुझसे वियुक्त हो सकता है या होगा— इस आशंका से भयभीत व्यक्ति बार-बार दुःख-परम्परा को ही निमन्त्रण देता है। मृत्यु की कल्पना या संभावना भी भय को जन्म देती है।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1664) में कहा भी है— ''मरण के जैसा और कोई भय नहीं होता।''

(आत्मा आत्मानं रक्षति) आत्मा (शुद्धचिदात्मा) ही आत्मा (जीवात्मा) की रक्षा करता है। किनसे रक्षा करता है? पूर्वोक्त जाति, बुढ़ापा, मृत्यु, रोग व भय —इन से रक्षा करता है। तात्पर्य यह है— पूर्वोक्त जाति, जरा, मरण, रोग व भय —इत्यादि (सभी) शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से शुद्धात्मा के स्वभावभूत नहीं हैं, अपितु वे पौद्गलिक शरीर आदि से सम्बद्ध ही हैं, किन्तु आत्मा उनसे सर्वथा रहित और पृथक्

सर्वथा रहितः, पृथक् च तिष्ठति, तथा एतेभ्यो दुःखबहुलेभ्यः जीवात्मानं यदि कश्चिदपि रक्षति, तर्हि स शुद्धात्मा एव, यदाश्रयणेन जाति-जरामरणादिभिः सर्वथा सर्वदा मुक्तिः सम्भवति। *(तम्हा)* **तस्मात्।** *(आदा सरणं)* **आत्मा शरणम्। यतो हि स आत्मा (शुद्धात्मैव) जीवात्मानं जातिजरादिभ्यो रक्षति, अस्मात्कारणात् स एव शरणभूतः, शरणयोग्यः, आश्रयणीयः। स आत्मा शरणभूतः कीदृशः? उच्यते—** *(बंधोदयसत्तवदिरित्तो)*— **बन्धः, कर्मबन्धः, उदयः कर्मोदयः, सत्त्वम् बद्धकर्मसत्ता, एतेभ्यः सर्वेभ्यो व्यतिरिक्तः, पृथक्, असंस्पृष्टः तिष्ठति, एतादृश एव शुद्धचिदात्मा शरणमिति हृदयम्।**

बन्धादीनां स्वरूपादिकं निरूप्यते— आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रवेशलक्षणो बन्धः। स च चतुर्विधः— प्रकृतिबन्धः, प्रदेशबन्धः, स्थितिबन्धः, अनुभागबन्धश्च। उपात्तकर्मपुद्गलानां ज्ञानावरणादिप्रकृतिरूपेण परिणमनमेव प्रकृतिबन्धः। तत्तत्कर्मस्वभाव— अप्रच्युतिः, तत्र नियतकालावधारणं स्थितिबन्धः। तीव्रमन्दादिभावेन स्वगतफलदानसामर्थ्यविशेषअवधारणमेव अनुभागबन्धः। कर्मभावपरिणत-पुद्गलस्कन्धानामात्मप्रदेशेषु एकक्षेत्रावगाहस्थितिर्भवति, तत्र प्रदेशपरिमाणस्येयत्तावधारणं यद् भवति, तदेव प्रदेशबन्धः।

(अस्पृष्ट) ही रहता है, तथा इन प्रचुर दुःखों वाले जाति आदि से जीवात्मा को कोई सुरक्षा प्रदान करता है तो वह शुद्धात्मा ही है, इसी के आश्रय से जाति, जरा, मरण आदि से सर्वदा के लिए सर्वथा मुक्ति मिलनी सम्भव होती है। **(तस्मात्)** इस कारण से। इसलिए **(आत्मा शरणम्)** आत्मा शरणभूत होता है। चूँकि वह आत्मा-शुद्धात्मा ही जीवात्मा को जाति, जरा आदि से सुरक्षित रखता है, इस कारण से वही शरण है, शरणयोग्य है, (अर्थात्) आश्रय-योग्य है। वह शरणभूत शुद्धात्मा कैसा है? बता रहे हैं— **(बन्ध-उदय-सत्त्व-व्यतिरिक्तः)** —बन्ध यानी कर्मबन्ध, उदय यानी कर्मोदय, सत्त्व यानी बद्ध कर्मों का स्थिति, सत्ता में रहना -इन सभी से आत्मा व्यतिरिक्त है, पृथक् है, असंस्पृष्ट ही रहता है, ऐसा ही शुद्ध चिदात्मा शरणभूत है— यह तात्पर्य है।

बन्ध आदि का स्वरूप बता रहे हैं— आत्मा व कर्म का परस्पर एक-दूसरे (के प्रदेशों) में प्रविष्ट होना— यही बंध है। वह बन्ध चार प्रकार का है— प्रकृति बन्ध, प्रदेश बन्ध, स्थिति बंध और अनुभाग बंध। उपार्जित कर्म-पुद्गलों का ज्ञानावरण आदि प्रकृति के साथ परिणत होना ही प्रकृति बंध है। उन-उन कर्म के स्वभावों का जो बने रहना है उसमें नियत काल का अवधारण होना —यह स्थिति बन्ध है। तीव्र, मन्द आदि रूपों से अपने फल को देने के विशेष सामर्थ्य का अवधारण ही अनुभाग बन्ध है। कर्म भावों में परिणत पौद्गलिक स्कन्धों का आत्मप्रदेशों पर एकक्षेत्रावगाह रूप में जो स्थित होना है उसमें प्रदेशों की संख्या (इयत्ता) का अवधारण होना —यह प्रदेशबन्ध है।

तत्र प्रकृतिबन्धो मूलप्रकृतिरूपेण अष्टविधः— ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-आयुः-नाम-गोत्र-अन्तरायेत्यष्टकर्मबन्धाश्रिततत्वात्। उत्तरभेदास्तु अष्टचत्वारिंशदधिकैकशत-परिमिताः। प्रदेशबन्धः प्रत्येकसंसारिजीवानामसंख्यातप्रदेशानाम् एकैकं प्रति अनन्तानन्तकार्मण-वर्गणायाः एकक्षेत्रावगाहरूपो यो भवति, स नैसर्गिकविस्रसोपचयरूपेण द्विविधः। एतयोः विस्रसोपचयरूपः प्रदेशबन्ध एव वास्तविको बन्धः, तस्यैव योगकषायनिमित्तकं कर्मरूपेण परिणमनं भवति, न नैसर्गिकस्य। प्रकृतिप्रदेशबन्धयोः योगः (मनोवाक्कायप्रवृत्तिरूपः) हेतुः। स्थिति-अनुभागबन्धयोस्तु कषायो हेतुः।

उक्तं च बृहद्द्रव्यसंग्रहे *(गाथा-33)— ''जोगा पयडिपदेसा ट्ठिदिअणुभागा कसायदो होंति''* **इति।**

बन्धे हेतवः पञ्च भवन्ति— मिथ्यादर्शनम्, अविरतिः, प्रमादः, कषायाः, योगः इति। गुणस्थानेषु बन्धहेतूनां स्थितिः (प्रागपि वर्णिता)— प्रथमे पञ्चैव हेतवः। द्वितीय-तृतीय-चतुर्थगुणस्थानेषु मिथ्यात्वं विहाय चत्वारो हेतवः। पञ्चमगुणस्थाने चत्वार एव हेतवः, तत्रायं विशेषो

इनमें प्रकृतिबन्ध अपनी मूलप्रकृतियों के आधार पर आठ प्रकार का है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र व अन्तराय —इन आठ कर्मों के बन्ध पर आश्रित होने से ये आठ भेद होते हैं। इसके उत्तरभेद एक सौ अड़तालीस हैं। प्रत्येक संसारी जीवों के असंख्यात प्रदेशों में प्रत्येक प्रदेश में अनन्तानन्त कार्मण वर्गणा का एकक्षेत्रावगाह रूप में स्थित होना जो प्रदेशबन्ध है, वह दो प्रकार का है— नैसर्गिक और विस्रसोपचय। इनमें विस्रसोपचय रूप प्रदेशबन्ध ही वास्तविक कर्मबन्ध है, क्योंकि उसी में योग व कषाय के निमित्त से कर्म रूप में परिणति होती है, नैसर्गिक में नहीं होती। प्रकृति बंध और प्रदेश बन्ध में हेतु होता है— योग (मन-वचन-काय की प्रवृत्ति)। स्थिति बंध व अनुभाग बन्ध में हेतु है— कषाय।

बृहद् द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ (गाथा-33) में कहा भी है— ''योग से प्रकृतिबंध व प्रदेश बंध होते हैं, और कषाय से स्थितिबंध व अनुभाग बंध होते हैं।''

बंध में पाँच हेतु माने गये हैं— मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग। गुणस्थानों में इन बंध हेतुओं की स्थिति इस प्रकार (पहले भी बताई गई) है— प्रथम गुणस्थान में पाँचों ही बंध-हेतु विद्यमान होते हैं। दूसरे, तीसरे व चतुर्थ गुणस्थान में चार ही बंध-हेतु होते हैं, क्योंकि वहाँ मिथ्यात्व नहीं होता। पाँचवें गुणस्थान में चार ही हेतु होते हैं, किन्तु यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि वहाँ अविरति सर्वथा नहीं होती,

यत्तत्र सर्वथा अविरतिः नास्ति, एकदेशेनैव व्रतित्वं स्वीक्रियते। षष्ठे गुणस्थाने प्रमादादि हेतुत्रयम्। सप्तमगुणस्थानादारभ्य दशमगुणस्थानं यावत् कषाययोगेतिद्वयमेव बन्धहेतु। एकादश-द्वादश-त्रयोदशगुणस्थानेषु योग एव बन्धहेतुः। चतुर्दशगुणस्थाने तु योगस्याप्यभावात्सर्वबन्धहेतूनामभावः। बन्धो व्याख्यातः। सम्प्रति उदयसत्त्वयोः निरूपणं विधीयते। कर्मणो विपाक एव तस्योदयः। यदा फलदानाभिमुखं कर्म भवति, तदा तस्योदयो बोध्यः। कर्मबन्धानन्तरं फलदानात् प्राक् तस्य स्थितिः सत्त्वम्।

उक्तं च कषायप्राभृते *[भाग-1 (पेज्जदोसविहत्ती), गाथा-11-12, पृ. 265]— "ते चेव विदियसमयप्पहुडि जाव फलदाणहेट्ठिमसमओ त्ति ताव संतववएसं पडिवज्जंति"* **इति।**

(कम्म) **कर्म, कर्माणि वा। कर्मत्वमेकमेव प्रकृतिविशेषभेदेन अष्टविधं कर्म। तस्मादपि आत्मा व्यतिरिक्तः, पृथक् वर्तते। व्यवहारदृष्ट्यैव जीवस्य कर्म, नोकर्म च स्वीक्रियते, परमार्थतो नैव।**

एकदेशरूप में ही व्रतीपना स्वीकार किया गया है। छठे गुणस्थान में प्रमाद आदि तीन बंध-हेतु होते हैं। सातवें गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक कषाय व योग —ये दो ही बंध-हेतु हैं। ग्यारहवें, बारहवें व तेरहवें गुणस्थान में योग ही बंध-हेतु के रूप में स्थित होता है। चौदहवें गुणस्थान में योग का भी अभाव हो जाता है, अतः समस्त बंध-हेतुओं का अभाव हो जाता है। बंध का निरूपण हो गया। अब उदय व सत्त्व का निरूपण किया जा रहा है। कर्मों की विपाक-अवस्था ही कर्म की उदयावस्था होती है। जब कर्म अपने फलदान की ओर अभिमुख होता है, तब उस कर्म का उदय होना कहा जाता है। कर्म बंध के अनन्तर, और फलदान से पूर्व तक कर्म की जो स्थिति है, वही कर्म का 'सत्त्व' है।

कषायप्राभृत ग्रन्थ [भाग-1(पेज्जदोसविहत्ती), गाथा-11-12, पृ. 265] में कहा गया है— "(प्रथमक्षण में कर्म-आस्रव के बाद) द्वितीय क्षण (में होने वाली बन्ध की स्थिति) से लेकर फलदान से पहले समय तक की कर्म-स्थिति को 'सत्त्व' रूप से कहा जाता है।"

(कर्म) कर्म से, या कर्मों से (आत्मा अतिरिक्त है, पृथक् है)। कर्म मूलतः तो एक ही है, किन्तु प्रकृति-विशेष के भेद से वह आठ प्रकार का है। उस कर्म से भी आत्मा व्यतिरिक्त है, पृथक् है। जीव के कर्म व नोकर्म का सद्भाव व्यवहार दृष्टि से ही है, परमार्थ से नहीं।

उक्तं चातः समयसारे *(गाथा-51)*—

जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि।।

अपि च— *(गाथा-75)*—

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी।।

तथा च *(गाथा-84)*—

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि णेयविहं।
तं चेव पुणो वेयइ पुग्गलकम्मं अणेयविहं॥

अयम्भावः— जन्म-मरण-कर्मबन्धादयो व्यवहारेणैव जीवस्य दृश्यन्ते, किन्तु परमार्थत आत्मनो जन्म मरणं वा न भवति, स तु अजरोऽमरश्च। कर्मबन्धजनिता देवादिगतयोऽपि नैव शाश्वताः, शाश्वत आत्मा तु पूर्णशुद्धः। अतो भो ज्ञानिन्! शुद्धचिद्रूप आत्मा शरणयोग्यः, स एवोपासनीयः।

इसीलिए समयसार (गाथा-51) में कहा गया है—

''परमार्थ से जीव के राग भी नहीं है, द्वेष भी नहीं है, मोह भी नहीं है, प्रत्यय (बंध-हेतु) भी नहीं है, कर्म व नोकर्म भी जीव के नहीं होते।''

और भी (समयसार, गाथा-75 में कहा गया है)— ''ज्ञानी वह है जो यह जानता है कि यह आत्मा कर्म के परिणाम को तथा नोकर्म के परिणाम को नहीं करता, किन्तु मात्र ज्ञाता है।''

तथा (वहीं गाथा-84 में कहा गया है—) ''किन्तु व्यवहारनय से (ही) आत्मा अनेकविध पौद्गलिक कर्म करता है, और उन्हीं अनेकविध पौद्गलिक कर्मों का वेदन करता है।''

तात्पर्य यह है— जन्म, मरण, कर्मबन्ध आदि व्यवहारनय से ही जीव के दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु परमार्थ दृष्टि से आत्मा का जन्म या मरण नहीं होता, क्योंकि आत्मा तो अजर व अमर है। कर्मबन्ध से उत्पन्न होने वाली देव आदि गतियाँ भी शाश्वत नहीं होतीं, शाश्वत आत्मा तो पूर्ण शुद्ध ही रहता है। अतः हे ज्ञानी! शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा ही शरणयोग्य है, वही उपास्य है।

अत एवोक्तं समाधिशतके *(श्लोक-98)*—

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः।।

अपि च *(श्लोक-31)*—

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः।।

अथ पञ्च परमेष्ठिनोऽपि शुद्धात्मस्थितिमेव दधति, अतः शुद्धात्मैव शरणमिति शास्त्रकाराः प्रतिपादयन्ति—

अरुहा सिद्धाइरिया, उवज्झाय-साहु पंच परमेट्ठी।
ते वि हु चिट्ठदि आदे, तम्हा आदा हु मे सरणं॥१२॥

छाया— *अर्हन्तः सिद्ध-आचार्याः उपाध्याय-साधवः पञ्च परमेष्ठिनः।*
तेऽपि खलु तिष्ठन्ति आत्मनि, तस्मात् आत्मा खलु मम शरणम्॥

इसीलिए समाधिशतक (श्लोक-98) में कहा गया— "यह आत्मा आत्मा की ही उपासना कर परमात्मा बनता है। जिस प्रकार वृक्ष की लकड़ी ही परस्पर रगड़ी जाने पर अग्नि रूप हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा का ही मन्थन कर आत्मा परमात्मा बन जाता है।"

और भी (वहीं, श्लोक-31 में कहा गया है)— "जो परमात्मा है, वह मैं हूँ, जो मैं हूँ, वही परमात्मा है। मैं ही मेरे द्वारा उपास्य हूँ, अन्य कोई उपास्य नहीं है —यही वस्तुस्थिति है।" यही इस गाथा का सार समझना चाहिए।"

अब, 'पञ्च परमेष्ठी भी शुद्धात्म-स्थिति में रहते हैं, इसलिए शुद्धात्मा ही मेरी शरण है' इस तथ्य को शास्त्रकार (आगे) प्रतिपादित कर रहे हैं—

(12)

(गाथा-अर्थ—) अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु —ये पाँचों परमेष्ठी हैं, वे भी आत्मा में ही स्थित (लीन) रहते हैं, इसलिए आत्मा ही मेरी शरण है।

(सर्वोदया टीका—) अन्वयः सुगमः। इयमेव गाथा मोक्षप्राभृतेऽपि *(गाथा-104)* **पठिता।** *(अरुहा)* **अर्हन्तः। अर्हत्पदस्यैव प्राकृतरूपाणि अरिहंता, अरहंता, अरुहा इति। अतस्तानि रूपाणि एकार्थकान्येव। प्राकृतव्याकरणे 'उच्चार्हति'** *(2/111)* **इति सूत्रेण अर्हत्शब्दस्यैव अरुहो, अरिहो, अरहो, अरुहंतो, अरहंतो, अरिहंतो— इतिरूपाणां सिद्धिः कृता दृश्यते। अर्हन्ति पञ्चकल्याणरूपां पूजाम्, तद्योग्याः भवन्ति, इत्यतस्ते अर्हत्-शब्दवाच्या भवन्ति।**

उक्तं च बोधप्राभृते *(गाथा-30)* ***कुन्दकुन्दाचार्यवरैः*** **—**

जरवाहिजम्ममरणं चउगइगमणं च पुण्णपावं च।
हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो॥

मूलाचारे *(गाथा-564)* **च—**

अरिहंति वंदण-णमंसणाणि अरिहंति पूय-सक्कारं।
अरिहंति सिद्धिगमणं अरहंता तेण उच्चंति॥

(सर्वोदया टीका—) अन्वय सुगम है। यही गाथा मोक्षप्राभृत में भी ज्यों की त्यों पठित है। **(अर्हन्तः)** अर्हन्त (परमेष्ठी)। अर्हत् शब्द के ही प्राकृत रूप हैं— अरिहंत, अरहंत, अरुहा आदि। इसलिए वे सभी रूप एकार्थक ही हैं। प्राकृत व्याकरण में 'उच्चार्हति' इस सूत्र के द्वारा (रेफ के बाद अ, उकार आदि का आगम करके) अर्हत् शब्द के ही अरुह, अरिह, अरह, अरुहंत, अरहंत, अरिहंत —इन रूपों की सिद्धि की गई है। जो पञ्चकल्याणकों में पूजा (व सत्कार आदि) प्राप्त करने के योग्य होते हैं, वे ही अर्हत् शब्द के वाच्य होते हैं।

बोधप्राभृत (गाथा-30) में कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा भी है—

''जो बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, चतुर्गतियों में गमन, पुण्य-पाप एवं रागादि दोष —इन को नष्ट कर ज्ञानमय होते हैं, वे अरहंत कहलाते हैं।''

मूलाचार (गाथा-564) में भी कहा गया है—

''जो वन्दन, नमस्कार के योग्य हैं, जो पूजा व सत्कार के योग्य हैं, जो सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त करने के योग्य हैं, इस कारण से वे 'अरहंत'' कहे जाते हैं।''

(सिद्धाइरिया) **सिद्धाः, आचार्याश्च। सिद्धाः सिद्धिं मुक्तिं प्राप्ताः। सिद्ध्यति स्म, कृतकृत्यो जातः, यद्वा सेधति स्म, अगच्छत् अपुनरावृत्त्या लोकाग्रमिति सिद्धः। सिद्धस्वरूपविषये नियमसारे** *(गाथा-72)* **प्रोक्तम्—**

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति॥

गोम्मटसारे (जीवकाण्डे) च *(गाथा-68)* **निर्दिष्टम्—**

अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा॥

आचरन्ति यस्माद् व्रतानि —इत्याचार्यः *(सर्वार्थ. 9/24)*। **धवलाग्रन्थे** *(पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, पृ. 49)* **च निर्दिष्टम्— पञ्चविधमाचारं चरन्ति, चारयन्ति चेत्याचार्याः।**

(सिद्ध-आचार्याः) सिद्ध और आचार्य। सिद्ध से तात्पर्य है— सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त कर चुकने वाले। जो सिद्ध हुए, कृतकृत्य हुए अथवा जिसने लोकाग्र को प्राप्त किया ताकि वापस न आएँ, वे सिद्ध कहलाते हैं। सिद्ध के स्वरूप के विषय में (आ. कुन्दकुन्द ने) नियमसार (गाथा-72) में कहा है—

"जिन्होंने आठ कर्मों के बन्ध को नष्ट कर दिया है, जो आठ महागुणों से सम्पन्न हैं, उत्कृष्ट हैं, लोक के अग्रभाग (सिद्धक्षेत्र) में विराजित हैं तथा नित्य हैं, ऐसे सिद्ध परमेष्ठी हुआ करते हैं।"

गोम्मटसार (जीवकाण्ड, गाथा-68) में भी बताया गया है— "आठों प्रकार के कर्मों से रहित हैं, अत्यन्त शांति में हैं, निरञ्जन (कालुष्य रहित, निष्कलंक) हैं, आठ गुणों से युक्त हैं, कृतकृत्य हैं (सभी पुरुषार्थों की सिद्धि कर चुके हैं) और लोकाग्र में स्थित हैं, वे सिद्ध होते हैं।"

(सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ-9/24 के अनुसार) जिनसे हम व्रतों का आचरण ग्रहण करते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं। धवला ग्रन्थ (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, पृ. 49) में भी कहा गया है— "जो (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप व वीर्य —इन) पाँच प्रकार के आचार का आचरण करते हैं और दूसरों से करवाते हैं, वे आचार्य होते हैं।"

आचार्यस्वरूपविषये मूलाचारे *(गाथा-509)* **प्रोक्तम्—**

सदा आयारविद्दण्हू सदा आयरियं चरे।
आयारमायारवंतो आयरिओ तेण वुच्चदे॥

नियमसारे *(गाथा-73)* **च निर्दिष्टम्—**

पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति॥

धवलाग्रन्थे *(पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, पृ. 50)* **च आचार्यस्वरूपं निरूपितम्—**

पवयण-जलहि-जलोयर-ण्हायामलबुद्धिसुद्ध-छावासो।
मेरु व्व णिप्पकंपो सूरो पंचाणणो वज्जो॥

देसकुलजाइसुद्धो सोमंगो संगभंग-उम्मुक्को।
गयण व्व णिरुवलेवो आइरियो एरिसो होइ॥

आचार्य के स्वरूप के विषय में मूलाचार (गाथा-509) में कहा गया है— "जो सर्वकाल सम्बन्धी आचार को जानते हैं, स्वयं आचरणयोग्य का आचरण करते हैं, अन्य साधुओं से भी जो आचरण कराते हैं, —इस कारण से वे आचार्य कहलाते हैं।"

नियमसार (गाथा-73) में भी बताया गया है— "पाँच आचारों से परिपूर्ण, पञ्चेन्द्रिय रूपी हाथी के मद का दलन करने वाले, धीर, गुणगम्भीर —ऐसे आचार्य होते हैं।"

धवला ग्रन्थ (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, प 50) में भी आचार्य का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

"प्रवचन रूपी समुद्र-जल के मध्य स्नान करने से जिनकी बुद्धि निर्मल हो चुकी है, जो निर्दोष रीति से छः आवश्यकों का पालन करते हैं, जो मेरु पर्वत के समान निष्प्रकम्प (धीर) हैं, सिंह के समान निर्भीक हैं और जो निर्दोष हैं।

इसी तरह जो देश, कुल व जाति से शुद्ध हैं, सौम्यमूर्ति हैं, अन्तरंग व बहिरंग परिग्रह से रहित हैं, जो आकाश के समान निर्लेप हैं, वे आचार्य परमेष्ठी होते हैं।

संगहणुग्गह-कुसलो सुत्तत्थविसारओ पहियकित्ती।
सारणवारणसोहण-किरियुज्जुत्तो हु आयरिओ॥

तत्रैव धवलाग्रन्थे *(पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, पृ. 49)* **आचार्ययोग्यतागुणादीनां विशेषतया निरूपणं दृश्यते—** *"पञ्चविधमाचारं चरति चारयतीत्याचार्यः। चतुर्दशविद्यास्थानपारगः एकादशाङ्गधरः। आचाराङ्गधरो वा तात्कालिकस्वसमयपरसमयपारगो वा मेरुरिव निश्चलः क्षितिरिव सहिष्णुः सागर इव बहिर्क्षिप्तमलः सप्तभयविप्रमुक्त आचार्यः।"*

भगवती-आराधनाग्रन्थे *(गाथा-419-420)* **तद्गुणानां निर्देश इत्थं विहितः—**

आयारवं च आधारवं च ववहारवं पकुव्वीय।
आयावायविदंसी तहेव उप्पीलगो चेव॥

इसी प्रकार जो संग्रह (दीक्षा) और अनुग्रह करने में कुशल होते हैं, जो सूत्र —परमागम के अर्थ में विशारद हैं, जिनकी कीर्ति सर्वत्र फैल रही होती है, जो सारण (आचरण) व वारण (निषेध) तथा शोधन (व्रत-शुद्धि की क्रिया) में निरन्तर उद्युक्त हैं, उन्हें आचार्य परमेष्ठी समझना चाहिए।

वहीं धवला ग्रन्थ (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, पृ. 49) में आचार्य की योग्यता व गुण आदि के सम्बन्ध में विशेष निरूपण इस प्रकार प्राप्त होता है— "जो पाँच प्रकार के आचार का (स्वयं) पालन करते हैं और दूसरे (साधुओं) से पालन कराते हैं, उन्हें 'आचार्य' कहते हैं। जो चौदह विद्यास्थानों के पारंगत हों, ग्यारह अंगों के धारक हों, अथवा आचाराङ्ग के धारक हों, अथवा तत्कालीन स्वसमय व परसमय में पारंगत हों, मेरु की तरह निश्चल हों, पृथ्वी की तरह सहनशील हों, जिन्होंने समुद्र के समान मल अर्थात् दोषों को बाहर फेंक दिया हो, जो सात प्रकार के भय से रहित हों, उन्हें 'आचार्य' कहा जाता है।"

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-419-420) में आचार्य के गुणों का निर्देश इस प्रकार किया गया है—

"वह आचारवान्, आधारवान्, व्यवहारवान्, कर्त्ता, रत्नत्रय के लाभ व विनाश को दिखानेवाला और अवपीड़क होता है।"

अपरिस्साई णिव्वावओ य णिज्जावओ पहिदकित्ती।
णिज्जवणगुणोवेदो एरिसओ होदि आयरिओ॥

अनगारधर्मामृते *(9/76)* **च तद्‌गुणाः प्रोक्ताः—**

अष्टावाचारवत्त्वाद्याः, तपांसि द्वादशस्थितेः।
कल्पा दशावश्यकानि षट् षट्त्रिंशद् गुणा गणे:॥

(उवज्झाय-साहु) **उपाध्यायाः, साधवश्च। उपेत्य अस्मादधीयते इति उपाध्यायाः। उपाध्यायपरमेष्ठिनः कीदृशा भवन्ति —इति विषये नियमसारे** *(गाथा-74)* **निरूपितम्—**

रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा।
णिक्कंखभाव सहिया उवज्झाया एरिसा होंति॥

मूलाचारे *(गाथा-511)* **च संकेतितम्—**

(इसी तरह) वह अपरिस्रावी, निर्वापक, निर्यापक, प्रसिद्ध कीर्तिशाली और निर्यापन गुण से युक्त 'आचार्य' होता है।

अनगारधर्मामृत (9/76) में भी उनके गुण इस प्रकार बताये गये हैं—

"आचारवान् होना आदि आठ, बारह तप, दस स्थितिकल्प और छः आवश्यक —ये छत्तीस गुण आचार्य के हुआ करते हैं।"

(उपाध्याय-साधवः) उपाध्याय और साधु (परमेष्ठी)। जिसके पास आकर अध्ययन किया जाए, वे उपाध्याय होते हैं। ये उपाध्याय परमेष्ठी कैसे होते हैं —इस विषय में नियमसार (गाथा-74) में कहा गया है—

"जो रत्नत्रय से युक्त हैं, जिनेन्द्र द्वारा कहे गये पदार्थों का उपदेश करते हैं, और कांक्षा से रहित हैं, ऐसे उपाध्याय (परमेष्ठी) होते हैं"

मूलाचार (गाथा-511) में भी कहा गया है—

वारसंगे जिणक्खादं सज्झायं कहिदं बुधे।
उवदेसइ सज्झायं तेणुवज्झाउ उच्चदि॥

बृहद्द्रव्यसंग्रहे *(गाथा-53)* **चोक्तम्—**

जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो।
सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स॥

साधवो मुनयः, संयमिनः। साधयन्ति मोक्षपुरुषार्थं यद्वा रत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गद्वारेण तपसा वा शुद्धात्मस्वरूपावाप्तिलक्षणां सिद्धिमिति साधवः। साधुस्वरूपं कीदृशं भवति —इति विषये आचार्यनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवा *(बृ. द्रव्यसंग्रहे-54)* **आमन्वते—**

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू सो मुणी णमो तस्स॥

मूलाचारेऽपि *(गाथा-512)* **भणितमास्ते—**

" बारह अंग —जो जिनेन्द्र द्वारा कहे गये हैं, वे विद्वानों द्वारा 'स्वाध्याय' कहे जाते हैं, उस स्वाध्याय का जो उपदेश देते हैं, इस कारण वे उपाध्याय कहलाते हैं।"

द्रव्यसंग्रह (गाथा-53) में भी कहा गया है—

"जो रत्नत्रय सहित हैं, निरन्तर धर्मोपदेश में तत्पर हैं, वे उपाध्याय होते हैं, वे मुनिवरों में प्रधान हैं, उन्हें नमस्कार हो।"

साधु यानी मुनि, संयमी। जो मोक्ष रूपी पुरुषार्थ को साधते हैं, या रत्नत्रय-रूप मोक्षमार्ग के आश्रयण से या तप से शुद्धात्म-स्वरूप प्राप्ति रूपी सिद्धि को प्राप्त करते हैं, वे साधु कहलाते हैं। साधु का स्वरूप कैसा होता है— इस विषय में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्ति-देव द्रव्यसंग्रह (गाथा-54) में इस प्रकार अपना अभिमत व्यक्त करते हैं—

"सम्यग्दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण, मोक्षमार्ग-स्वरूप, सर्वदा शुद्ध चारित्र को साधने वाले जो होते हैं, उन साधु या मुनियों को हमारा नमस्कार हो।"

मूलाचार (गाथा-512) में भी कहा गया है—

णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो।
समा सव्वेसु भूदेसु तम्हा ते सव्वसाधवो॥

पञ्चाध्यायी-ग्रन्थे *(1438)* **तत्स्वरूपविषये चोक्तम्—**

वैराग्यस्य परां काष्ठाम्, अधिरूढोऽधिकप्रभः।
दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः॥

अन्यत्रापि प्रोक्तम्—

ये व्याख्यायन्ति न शास्त्रं, न ददति दीक्षादिकं च शिष्याणाम्।
कर्मोन्मूलनशक्ता ध्यानरतास्तेऽत्र साधवो ज्ञेयाः॥

(पंच परमेट्ठी) **परमे पदे तिष्ठति इति परमेष्ठी। परमं पदं च मोक्षः, जिनेन्द्रत्वमित्यादिकम्। ते च परमेष्ठिनः पञ्च स्वीकृताः— सिद्धाः, अर्हन्तः, आचार्याः, उपाध्यायाः, साधवश्च। तत्र सिद्धाः मोक्षपदे तिष्ठन्ति। अर्हन्तः जिनेन्द्रत्वपदे तिष्ठन्ति। आचार्याः, उपाध्यायाः, साधवश्च एकदेशजिना**

''मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले मूलगुणादि तपश्चरणों को साधु सर्वदा अपनी आत्मा से जोड़ते हैं और सभी जीवों के प्रति समता भाव रखते हैं, इस कारण से वे सभी साधु कहे जाते हैं।''

(पं. राजमल्ल-कृत) पञ्चाध्यायी ग्रन्थ (1438) में साधु के विषय में इस प्रकार कहा गया है— ''वैराग्य की चरम सीमा को प्राप्त हो चुके हैं, अधिक प्रभावान् हैं, जन्म के समय जो दिगम्बर रूप होता है, उसी (दिगम्बर) स्वरूप के धारक होते हैं, और दयालु होते हैं (वे साधु होते हैं)।''

अन्य किसी शास्त्र में भी प्रतिपादित किया गया है— ''जो शास्त्र की व्याख्या नहीं करते, और न ही शिष्यों को दीक्षा आदि देते हैं, कर्मों के उन्मूलन में समर्थ हैं, और जो ध्यान में निरत रहा करते हैं, उन्हें यहाँ 'साधु' समझें।''

(पञ्च परमेष्ठिनः) परमेष्ठी का अर्थ है— परम पद में स्थित। मोक्ष या जिनेन्द्र (आदि) पद परम पद हैं। ऐसे परमेष्ठी पाँच माने गये हैं— सिद्ध, अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनमें सिद्ध तो मोक्ष पद में स्थित हैं और अर्हन्त जिनेन्द्र पद पर। आचार्य, उपाध्याय व साधु भी 'एकदेशजिन' ही हैं —ऐसा धवला

एव, इति धवलाग्रन्थे *(पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, सूत्र-1)* **प्रतिपादितम्। अतस्तेऽपि परमेष्ठिनः।** *(ते वि)* **ते सर्वेऽपि परमेष्ठिनः।** *(हु)* **खलु, निश्चयेन।** *(आदे चिट्ठदि)* **आत्मनि एव तिष्ठन्ति। अत्र बहुवचनेऽपि प्राकृते एकवचनं प्रयुक्तं ज्ञेयम्।**

अयम्भावः— *'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः'* **—इतिपूज्यपादैः सिद्धभक्तौ निर्दिष्टम्। तां सिद्धिं गताः प्राप्ताः, ते सिद्धाः शुद्धात्मस्वरूपं प्राप्ता एव सन्ति। ते वस्तुतः शुद्धात्मानमेव सततमनुभवन्ति। अत एव सिद्धो** *"निश्चयेन तु केवलज्ञानादिगुणाधारभूतं स्वकीयशुद्धपर्यायमेव स्वसंवित्त्याकारेण तन्मयो भूत्वा परिच्छिनत्ति, जानाति"* **—इति प्रवचनसारस्य** *(1/37)* **तात्पर्यवृत्तौ प्रतिपादितमस्ति। अन्येऽपि परमेष्ठिनो रत्नत्रयात्मके मोक्षमार्गे स्थिताः एव। रत्नत्रयं चात्मैव।**

उक्तं च समयसारे *(गाथा-16)*—

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।

ग्रन्थ (पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, सू. 1) में प्रतिपादित किया गया है। इसलिए वे भी परमेष्ठी हैं। **(ते अपि)** वे सभी परमेष्ठी **(खलु)** निश्चय रूप से, **(आत्मनि तिष्ठन्ति)** आत्मा में ही स्थित होते हैं। गाथा में 'चिट्ठदि' यह एकवचनान्त प्रयुक्त है, किन्तु अर्थ बहुवचनान्त ग्राह्य है।

तात्पर्य यह है— 'स्वात्मोपलब्धि ही सिद्धि है'— ऐसा आ. पूज्यपाद ने सिद्धभक्ति में कहा है। उस सिद्धि को जो प्राप्त हैं, वे सिद्ध शुद्धात्मरूप को प्राप्त हो चुके होते हैं। वे निरन्तर शुद्धात्मा का ही अनुभव करते हैं। इसीलिए प्रवचनसार (गाथा-1/37) की तात्पर्यवृत्ति में यह बताया गया है कि निश्चयनय से सिद्ध केवलज्ञानादि गुणों के आधारभूत अपने शुद्धात्म-पर्याय को ही स्वसंवेदन-आकार से तन्मय होकर जानते हैं। (इसी प्रकार) अन्य परमेष्ठी भी रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग में प्रतिष्ठित हैं ही। और रत्नत्रय भी आत्मा ही है।

समयसार (गाथा-16) में कहा भी गया है—

"साधु को नित्य ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करना चाहिए। निश्चयनय से तो वे तीन भी आत्मा ही हैं— ऐसा जानें।"

अतस्ते आत्मलीनाः, आत्मस्थिता एव। पूर्वोक्तरीत्या अर्हत्तीर्थकरसिद्धाश्च निश्चयनयेन आत्मानमेव साक्षात् कुर्वते। उक्तं च नियमसारे *(गाथा-159)*—

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं।।

मोक्षप्राभृतस्य *(गाथा-6)* **टीकायामुक्तम्**— *''केवते सेवते निजात्मनि एकलोलीभावेन तिष्ठति— इति केवलः।''* **प्रवचनसारस्य** *(गाथा-1/33)* **तत्त्वप्रदीपिकायां च आचार्यामृतचन्द्रैः**— *'भगवान् केवलस्यात्मन आत्मनात्मनि संचेतनात् केवली'* **इत्युक्तम्।**

एवं सिद्ध्यति यत् सर्वे परमेष्ठिनः शुद्धात्म-आराधकाः, यद्वा शुद्धात्मनि स्थिताः, शुद्धात्मरूपा वा। वस्तुतो बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा —इति त्रयो भेदाः आत्मन एव। तत्र अर्हन्तः सिद्धाश्च परमात्मानः। आचार्यादयस्तु अन्तरात्मरूपाः। एवं सर्वेऽपि परमेष्ठिनः आत्मतत्त्वस्यैव प्रकाराः सन्ति, शुद्धता-तारतम्यदृष्ट्या। अतः सर्वे आत्मनि एव स्थिताः —इत्युक्तं संगच्छते।

इसलिए वे आत्मलीन या आत्म-प्रतिष्ठित ही हैं। (पूर्वोक्त रीति से) अर्हन्त, तीर्थंकर व सिद्ध —ये सभी आत्मा का ही साक्षात्कार करते हैं। इसी दृष्टि से नियमसार (गाथा-159) में कहा गया है—

''केवली भगवान् समस्त पदार्थों को जानते-देखते हैं, यह व्यवहारनय से कथन है। (परमार्थतः तो) केवलज्ञानी-नियमतः निज-आत्मा को ही जानते-देखते हैं।''

मोक्षप्राभृत (गाथा-6) की टीका में भी कहा है— 'केवल' ज्ञान वह है जो निज आत्मा में ही तन्मय होकर स्थित होता है। प्रवचनसार (गाथा-1/33) की तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—''केवलज्ञान आत्मा को, आत्मा द्वारा, आत्मा में वेदता है, इसलिए वह केवली है।''

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि सभी परमेष्ठी शुद्धात्मा के आराधक हैं, या शुद्धात्मा में स्थित, प्रतिष्ठित हैं, या वे शुद्धात्मरूप होते हैं। वस्तुतः आत्मा के ही बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा —ये तीन भेद किये गए हैं। इनमें अर्हन्त, सिद्ध —ये परमात्मा हैं। आचार्य आदि अन्तरात्मा हैं। इस तरह सभी परमेष्ठी आत्मतत्त्व के ही, शुद्धता के तारतम्य की दृष्टि से भेद हैं। इसलिए सभी (परमेष्ठी) आत्मस्थ, आत्मप्रतिष्ठित हैं— यह उक्ति संगत होती है।

(तम्हा) **तस्मात् कारणात्। पूर्वोक्तविचारणया सिद्ध्यति,** *(हु)* **खलु, निश्चयेन** *(आदा मे सरणं)* **आत्मा मम शरणम्। आत्माऽत्र शुद्धो निर्विकारश्चिद्रूपो ग्राह्यः।**

उक्तं च समयसारकलशे *(184)*—

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः।।

वस्तुतः सर्वो हि ज्ञानी साधकः शुद्धात्मानमेव अनुभवति, तदर्थं प्रयतते च। शुद्धात्मानुभवनं विना न कथमपि सिद्धिः प्राप्यते।

अत एव समयसारकलशे *(20)* **प्रोक्तम्**—

सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नं ,
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः।।

(तस्मात्) इस कारण से, अर्थात् पूर्वोक्त विचारों के परिप्रेक्ष्य में यह सिद्ध हो जाता है कि **(खलु)** निश्चय से, **(आत्मा मम शरणम्)** आत्मा (ही) मेरे लिए शरण है (अन्य कोई नहीं)। यहाँ आत्मा पद से शुद्ध निर्विकार चिद्रूप आत्मा का ग्रहण करना चाहिए।

समयसारकलश (सं. 184) में कहा भी गया है—

"आत्मा का चिन्मय ही भाव है, और जो अन्य भाव हैं, वे वास्तव में दूसरों के भाव हैं। इसलिए वह एक चिन्मय भाव ही ग्रहण करने, आश्रयण करने योग्य है, अन्य भाव सर्वथा त्याज्य हैं।"

वस्तुतः सभी ज्ञानी साधक शुद्धात्मा का ही अनुभव करते हैं और उसी के लिए प्रत्यनशील रहते हैं। शुद्धात्मानुभूति के बिना अन्य किसी प्रकार से भी 'सिद्धि' नहीं प्राप्त होती।

इसीलिए समयसारकलश (सं. 20) में कहा गया है—

"हम तो अनन्त चैतन्यमूर्ति का ही निरन्तर अनुभव किया करते हैं, इसके सिवा, अन्य उपाय से साध्य की सिद्धि नहीं होगी, नहीं होगी।"

अतो भो ज्ञानिन्! आत्मेतरपदार्थः कश्चिदपि शरणयोग्यो नास्ति। व्यवहारनयेन प्राथमिक-भूमिकायां पञ्चपरमेष्ठिनां शरणं ग्राह्यमेव, विषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं तदुपयोगित्वात्। किन्तु उपरितनभूमिकायान्तु निश्चयनयाश्रयणेन शुद्धात्मैव शरणं, नान्यः। शुभोपयोगात् शुद्धोपयोगा-श्रयणेन, यथा यथा यद्वा निश्चयध्यानं दृढीभवति, तथा तथा स्वत एव शुभोपयोगप्रवृत्तिर्विलीयते। अतो निजशुद्धात्मशरणमेव ज्यायः, तदर्थमेव पुरुषार्थः करणीयः इति गाथासारः।

अथ सम्प्रति सम्यक्त्वादि-आराधनाऽपि शुद्धात्माराधनैव —इति प्रतिपादयन्तः शास्त्रकाराः अशरणानुप्रेक्षामुपसंहरन्ति—

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं च सत्तवो चेव।
चउरो चिट्ठदि आदे, तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१३॥

छाया— सम्यक्त्वं सज्ज्ञानं सच्चारित्रं च सत्तपश्चैव।
चत्वारि तिष्ठन्ति आत्मनि, तस्मात् आत्मा खलु मम शरणम्॥

इसलिए हे ज्ञानी! आत्मा से अन्य कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो शरणयोग्य हो। व्यवहार नय से प्राथमिक भूमिका में पाँचों परमेष्ठियों की शरण लेनी ही चाहिए क्योंकि, वैसा करना विषय (से प्रादुर्भूत) कषायों व दुर्ध्यान से बचने के लिए उपयोगी होता है। किन्तु ऊपर की भूमिका में निश्चयनय का आश्रयण लेने से शुद्धात्मा ही शरण होती है, अन्य कोई नहीं। शुभोपयोग से हटकर शुद्धोपयोग का आश्रय लेने पर या जैसे-जैसे निश्चयध्यान दृढ़ होता जाता है, वैसे-वैसे स्वतः ही शुभोपयोग की प्रवृत्ति विलीन होती जाती है। इसलिए निज शुद्धात्मा की शरण लेना ही श्रेष्ठ है, उसी के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए —यह इस गाथा का सार है।

अब, 'सम्यक्त्व आदि की आराधना भी (परमार्थतः) शुद्धात्म-आराधना ही है' इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए शास्त्रकार अशरण-अनुप्रेक्षा का उपसंहार कर रहे हैं—

(13)

(गाथा-अर्थ—) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व श्रेष्ठ तप— ये चारों (भी) आत्मा में अवस्थित हैं, इसलिए निश्चय से आत्मा ही मेरे लिए शरण है।

(सर्वोदया टीका—) *(सम्मत्तं)* **सम्यक्त्वम्। सम्यग्दर्शनमित्यर्थः। अत्र सम्यक्-शब्दः प्रशंसार्थपरः। सम्यगिति शब्दो व्युत्पन्नः, यद्वा सम्यगिति अव्युत्पन्नोऽपि ग्राह्यः। समञ्चति इति सम्यक् —इति व्युत्पत्तौ स्वीक्रियमाणायां सम्पूर्वकाद् गत्यर्थक-अञ्चुधातोः क्विपि, सम्यक्-शब्दो व्युत्पन्नः। प्रशंसार्थकं सम्यगिति अव्ययपदं तु अव्युत्पन्नमेव। उभयथाऽपि भावः समान एव।**

अत्र दर्शनं तत्त्वार्थश्रद्धानरूपम्, तच्च याथात्म्यप्रतिपत्तिविषयकं श्रद्धानं यदा भवति, तदा सम्यग्दर्शनम्। अयम्भावः— जिन-जिनवाणी-सद्गुरूपदेशमाध्यमेन पूर्वं यथार्थतत्त्वज्ञानम्, तत्र च आस्तिक्यादि-अभिव्यक्तिपरं श्रद्धानं यद्भवति, तदेव सम्यग्दर्शनम्। अत्र दर्शनमित्यत्र दृश् धातुः, दृश आलोकनमर्थः, दृश्यते आलोक्यते इति दर्शनम्, आलोकनम् इत्यर्थ एव स्यात्, कुतस्तर्हि श्रद्धानार्थः कथमिति शंक्यते चेद्, समाधीयते— धातूनामनेकार्थत्वात्, अत्र दृशिधातुः श्रद्धानपरोऽर्थो ग्राह्यः, मोक्षमार्गप्रकरणे श्रद्धानार्थस्यैव उचितत्वात्।

(सर्वोदया टीका—) (सम्यक्त्वम्) सम्यक्त्व, अर्थात् सम्यग्दर्शन। यहाँ 'सम्यक्' यह शब्द प्रशंसावाची है। इसे व्युत्पन्न व अव्युत्पन्न दोनों माना जा सकता है। 'जो सम्यक् गमन करता है' —इस व्युत्पत्ति को स्वीकार करने पर 'सम्' उपसर्ग के साथ गति-वाचक 'अञ्च' धातु से क्विप् प्रत्यय होकर 'सम्यक्' शब्द बना है —इस दृष्टि से यह 'व्युत्पन्न' (जिसमें प्रकृति व प्रत्यय स्पष्ट होते हैं, वह 'व्युत्पन्न' कहा जाता है) शब्द है। अथवा प्रशंसावाचक 'सम्यक्' अव्यय पद इसे मानें तो यह अव्युत्पन्न भी है। दोनों ही स्थितियों में भाव (तात्पर्य) तो एक ही होगा।

यहाँ दर्शन का अर्थ है— तत्त्वार्थश्रद्धान। वही श्रद्धान जब यथार्थज्ञान-मूलक होता है तो उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है। तात्पर्य यह है— जिन, जिनवाणी व सद्गुरु के उपदेश का निमित्त प्राप्त कर पहले यथार्थ तत्त्व-ज्ञान होता है, उसके साथ आस्तिकता आदि रूपों में अभिव्यक्त होने वाला जो श्रद्धान होता है, वही सम्यग्दर्शन है। यहाँ दर्शन शब्द में आलोकन (देखने) अर्थ वाली दृश धातु प्रयुक्त है, फलस्वरूप 'दर्शन' का यही अर्थ है— देखने की क्रिया। तब 'दर्शन' शब्द का 'श्रद्धान' अर्थ किस प्रकार हुआ ? ऐसी आशंका का समाधान यह है— धातुएँ अनेकार्थक होती हैं, इसलिए यहाँ 'दृश्' धातु को 'श्रद्धान' अर्थ के वाचक के रूप में लेना चाहिए, क्योंकि मोक्षमार्ग के प्रकरण में श्रद्धान अर्थ ही उचित होता है।

अत्र विज्ञेयम्— दर्शनशब्दस्य द्वौ पृथक्पृथगर्थौ। ज्ञानोत्पत्तिप्रक्रियायां छद्मस्थजीवात्मन उपयोगगुणस्य द्विधा प्रवृत्तिः, दर्शनरूपेण, ज्ञानरूपेण च। तत्र प्रथमं दर्शनं भवति, तदनन्तरं ज्ञानम्। केवलिनां तु दर्शनं ज्ञानं च युगपदेवेति विशेषः इति राजवार्तिके *(2/9/2)* **संकेतितम्। तत्र योऽन्तर्मुखः चित्प्रकाशः, यद्वा स्वसंवेदनात्मक उपयोगः, यद्वा ज्ञानाभिमुख आत्मव्यापारः, यद्वा सामान्यविशेषात्मको ज्ञेयस्तत्र आत्मसामान्यग्रहणं, यद्वा निराकारउपयोगरूपं सत्तावलोकनरूपं वा यद्भवति, तदेव दर्शनम्। बाह्यार्थग्रहणं तु साकारं खलु यत्तत् ज्ञानम्। मोक्षमार्गप्रक्रियायां पूर्वं ज्ञानम्, पुनर्यथार्थज्ञानविषयेषु च तत्त्वेषु यत् श्रद्धानं तत् सम्यग्दर्शनम् —इति राजवार्तिके** *(1/1/28)* **निर्देशितम्। तत्र स्वसंवेदनरूपं ज्ञानात् पूर्वं यद् दर्शनं, तद् दर्शनावरणक्षयोपशमादिकमपेक्षते। अन्यद् श्रद्धानरूपं यद्दर्शनं, तद् दर्शनमोहनीयकर्मणः क्षयोपशमादिकमपेक्षते —इत्यनयोर्भेदः।**

उक्तं च राजवार्तिके *(1/2/12)* **तयोः पृथक् पृथक् लक्षणम्। यथा—** *'यदिदं दर्शनमोहाख्यं कर्म, तदात्मगुणघाति, कुतश्चिदात्मपरिणामादेव उपक्षीणशक्तिकं सम्यक्त्वाख्यां लभते'।*

यहाँ यह ज्ञातव्य है— दर्शन शब्द के दो भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। ज्ञानोत्पत्ति-प्रक्रिया में छद्मस्थ जीवों के उपयोगगुण की द्विविध प्रवृत्ति होती है— दर्शन रूप से और ज्ञान रूप से। इनमें पहले दर्शन होता है, उसके बाद ज्ञान होता है। केवली (सर्वज्ञ) के दर्शन व ज्ञान युगपत् होते हैं, यह अन्तर है— ऐसा राजवार्तिक (2/9/2) में बताया गया है। इस (ज्ञान-प्रक्रिया) में जो अन्तर्मुखी चैतन्य-प्रकाश है, या स्वसंवेदनरूप उपयोग है या ज्ञानाभिमुख आत्मीय व्यापार है, या सामान्यविशेषात्मक-आत्मसामान्य का जो ग्रहण है या निराकार उपयोग रूप या सत्ता-दर्शन रूप उपयोग है, वही 'दर्शन' है। बाह्य पदार्थ का जो साकार ग्रहण है, वह 'ज्ञान' है। मोक्षमार्ग की प्रक्रिया में पहले ज्ञान होता है, फिर यथार्थ ज्ञान के विषयभूत पदार्थों में जो श्रद्धान होता है, वह सम्यग्दर्शन है —ऐसा राजवार्तिक (1/1/28) में बताया गया है। इन (दोनों दर्शनों) में स्वसंवेदन रूप, ज्ञान के पूर्व जो दर्शन होता है, उसमें (या उसकी उत्पत्ति में) दर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम आदि अपेक्षित होते हैं, इससे भिन्न जो श्रद्धान रूप दर्शन है उसमें दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयोपशम आदि की अपेक्षा रहती है —यह इन दोनों में अन्तर है।

राजवार्तिक (1/2/12) में इन दोनों के पृथक्-पृथक् लक्षण (उक्त प्रकार से ही) बताये गये हैं। उदाहरणार्थ— "यह जो दर्शनमोह नाम का कर्म है, वह आत्म-गुण का घातक होता है, किसी तरह आत्मीय परिणामों द्वारा उसकी शक्ति क्षीण कर दी जाती है, तब वह 'सम्यक्त्व' संज्ञा को धारण करता है।"

अपि च *(राजवार्तिक-9/7/11)— "तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यक्त्वमुक्तम्। तत् दर्शनमोहस्योपशमात् क्षयोपशमात् क्षयाच्च भवति"।*

अपि च *(राजवार्तिक-2/5/7)— "दर्शनं त्रिविधं क्षायोपशमिकं चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं चेति। एतत् त्रितपमपि पूर्ववत् स्वावरणक्षयोपशमापेक्षं द्रष्टव्यम्।'* **इति।**

तथा च *(राजवार्तिक-2/4/1)— "ज्ञानावरणस्य कर्मण:, दर्शनावरणस्य च कृत्स्नस्य क्षयात् केवले ज्ञानदर्शने क्षायिके भवत:'* **इति। एवं पृथक् पृथक् दर्शनशब्दस्यार्थो बोध्य:। अन्यच्च, तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं दर्शनं सविकल्पकमस्ति, स्वसंवेदनादिरूपं दर्शनं तु निर्विकल्पमेवेति तयोर्विशेष:।**

उक्तं च द्रव्यसंग्रहस्य *(गाथा-43)* **टीकायाम्—** *"तत्सत्तावलोकं दर्शनमिति भण्यते समये परमागमे। नेदमेव तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनं वक्तव्यम्। कस्माद् इति चेत्? तत्र श्रद्धानं विकल्परूपम्, इदं तु निर्विकल्पं यत:।।"*

और "तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यक्त्व कहा गया है, वह दर्शनमोह के उपशम, क्षयोपशम या क्षय से होता है (द्र. राजवार्तिक-9/7/11)।"

इसके अतिरिक्त भी— "चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शन के भेद से दर्शन तीन प्रकार का है— वह तीनों प्रकार का दर्शन पूर्ववत् अपने आवरण सम्बन्धी क्षयोपशम की अपेक्षा रखता है (द्र. राजवार्तिक-2/5/7)।"

और "समस्त ज्ञानावरण कर्म तथा दर्शनावरण कर्म के क्षय होने पर 'केवलज्ञान' और 'केवल दर्शन' उत्पन्न होते हैं (द्र. राजवार्तिक-2/4/1)।" इस प्रकार, दर्शन शब्द के पृथक् पृथक् अर्थ समझने चाहिए। और भी, जहाँ तत्त्वार्थश्रद्धान रूप दर्शन सविकल्पक है, वहाँ स्वसंवेदनादि रूप दर्शन तो निर्विकल्पक ही है— यह भी दोनों दर्शनों में अन्तर है।

बृ. द्रव्यसंग्रह (गाथा-43) की टीका में कहा गया है— "सत्ता (सामान्य) के अवलोकन को परमागम में 'दर्शन' कहा जाता है। इस 'दर्शन' को ही 'तत्त्वार्थश्रद्धान' लक्षण से युक्त 'सम्यग्दर्शन' नहीं कहा जाना चाहिए। ऐसा क्यों? (उत्तर यह है—) क्योंकि यह श्रद्धान तो विकल्परूप है और यह दर्शन (सत्तावलोकन या सामान्य अवलोकन) तो निर्विकल्प है।"

समयसारग्रन्थस्य *(गाथा-190)* **तात्पर्यवृत्तिटीकायां च भणितम्—** *"रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनरूपं भावश्रुतज्ञानम्।"*

बृ. द्रव्यसंग्रहग्रन्थस्य *(गाथा-5)* **टीकायां च प्रोक्तम्—** *"निश्चयभावश्रुतज्ञानं तच्च शुद्धात्माभिमुखसुखसंवित्तिस्वरूपं स्वसंवित्त्याकारेण सविकल्पमपि इन्द्रियमनोजनितरागादिविकल्प-जालरहितत्वेन निर्विकल्पकम्।"*

बृ. नयचक्रे *(माइल्लधवलरचिते)* **च** *(गाथा-350-351)* **भणितम्—**

मोत्तूण बहिचिंता चिंताणाणम्मि होइ सुदणाणं।
तं पिय संवित्तिगयं झाणं सद्दिट्ठिणो भणियं।।

लक्खणदो णियलक्खं अणुहवमाणस्स जं हवे सोक्खं।
सा संवित्ती भणिया सयलवियप्पाण णिद्दहणा।।

समयसार ग्रन्थ (गाथा-190) की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा गया है— "रागादि विकल्पों से रहित स्वसंवेदन रूप भावश्रुतज्ञान..."

बृ. द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ (गाथा-5) की (ब्रह्मदेवकृत संस्कृत) टीका में कहा गया है— "जो निश्चयभावश्रुतज्ञान है, वह शुद्धात्माभिमुख होने से सुख के संवेदन स्वरूप है, वह स्वसंवेदन के आकार रूप होने से सविकल्प होने पर भी, इन्द्रिय-मनोजनित रागादि विकल्प-जाल से रहित होने से निर्विकल्प है।"

(माइल्ल धवल द्वारा रचित) बृ. नयचक्र (गाथा-350-351) में भी बताया गया है—

"बाह्य चिन्ता को छोड़कर, ज्ञान का चिन्तन करने से श्रुतज्ञान होता है। वही ज्ञान संवित्तिगत होने पर सम्यग्दृष्टि का ध्यान कहा गया है।"

"लक्षण के द्वारा अपने लक्ष्य का अनुभव करते हुए जो सुख होता है, उसे संवित्ति कहते हैं। वह संवित्ति समस्त विकल्पों को नष्ट करने वाली होती है।"

इदं च सम्यग्दर्शनं द्विविधम्, व्यवहारसम्यग्दर्शनम्, निश्चयसम्यग्दर्शनं च। तत्र शुद्धोपयोगलक्षण-निश्चयरत्नत्रयभावनोत्पन्नपरमाह्लादैकरूपसुखामृतरसास्वादनमेव उपादेयम्, इन्द्रियसुखादिकं च हेयम् —इति रुचिरूपं वीतरागचारित्र-अविनाभूतं वीतराग-सम्यक्त्वाभिधानं निश्चयसम्यक्त्वं भवति। व्यवहारसम्यक्त्वं तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सरागसम्यक्त्वाख्यं भवति।

उक्तं च— रत्नकरण्डश्रावकाचारे *(श्लोक-4)*—

श्रद्धानं परमार्थानाम्, आप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्।।

तीर्थंकरादीनां गृहस्थावस्थायां च व्यवहारसम्यक्त्वमेव, तेषां सम्यक्त्वं चारित्रमोहोदयेन अस्थिरं भवतीति कारणात् तस्य पूर्णतो वीतरागचारित्रयुक्तताया अभावात्।

यह सम्यग्दर्शन भी दो प्रकार का है— व्यवहारसम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्दर्शन। इन दोनों में शुद्धोपयोग रूप, निश्चयरत्नत्रय सम्बन्धी भावना से उत्पन्न परमाह्लादमय सुखरूपी अमृतसागर का जो आस्वादन है, वही उपादेय है, इन्द्रिय-सुख आदि हेय हैं— इस प्रकार की जो रुचि है, जिसे वीतराग चारित्र से अविनाभूत (पूर्णत: सम्बद्ध) वीतराग सम्यक्त्व नाम से कहा जाता है, वही निश्चय सम्यक्त्व है। शुद्ध जीव आदि पदार्थों का श्रद्धान रूप सरागसम्यक्त्व नाम का जो सम्यक्त्व है, वह व्यवहार सम्यक्त्व है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-4) में कहा भी है—

''यथार्थ देव, शास्त्र व गुरु —इन तीनों का आठ अंगों सहित, तीन मूढ़ता व आठ मद से रहित जो श्रद्धान है, वह सम्यग्दर्शन है।''

गृहस्थ (असंयम) की अवस्था में तीर्थंकर आदि का भी सम्यक्त्व 'व्यवहार सम्यक्त्व' ही है, क्योंकि चारित्रमोहनीय के उदय से उनका सम्यक्त्व स्थिर नहीं रह पाता, इसलिए उनके वीतराग चारित्र की पूर्णता नहीं होती।

स्पष्टीकृतं च परमात्मप्रकाश-टीकायां *(गाथा-2/17)— "अत्राह प्रभाकरभट्टः। निजशुद्धात्मैव उपादेयः इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं भवतीति बहुधा व्याख्यातं पूर्वं भवद्भिः, इदानीं पुनः वीतरागचारित्र-अविनाभूतं निश्चयसम्यक्त्वं व्याख्यातम् — इति पूर्वापरविरोधः कस्माद् इति चेत्, निजशुद्धात्मैव उपादेयः इति रुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं गृहस्थावस्थायां तीर्थंकर-परमदेवभरतसगररामपाण्डवादीनां विद्यते, न च तेषां वीतरागचारित्रमस्ति — इति परस्परविरोधः, अस्तीति चेत्तर्हि तेषामसंयतत्वं कथमिति पूर्वपक्षः। तत्र परिहारमाह— तेषां शुद्धात्मोपादेयभावनारूपं निश्चयसम्यक्त्वं विद्यते परं, किन्तु चारित्रमोहोदयेन स्थिरता नास्ति, व्रतप्रतिज्ञाभंगो भवतीति तेन कारणेन असंयता वा भण्यन्ते। शुद्धात्मभावनाच्युताः सन्तो भरतादयः... शुभरागयोगात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति। या पुनस्तेषां सम्यक्त्वस्य निश्चयसम्यक्त्वसंज्ञा, वीतरागचारित्र-अविनाभूतस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य परम्परया साधकत्वादिति। वस्तुवृत्त्या तु तत्सम्यक्त्वं सरागसम्यक्त्वाख्यं व्यवहार-सम्यक्त्वमेवेति भावार्थः।"*

अत्रेदं विज्ञेयम्— सरागसम्यक्त्वं साधनम्, निश्चयसम्यक्त्वं तु साध्यम्, तत्तु शुद्धात्मानुभूतिरेव।

परमात्मप्रकाश (गाथा-2/17) की टीका में इस बात को स्पष्ट भी किया गया है— "यहाँ प्रभाकरभट्ट की ओर से कहा जा रहा है— "निज शुद्धात्मा ही उपादेय है— ऐसी रुचि रूप निश्चय सम्यक्त्व होता है— ऐसा आपने पहले कई बार कहा है, और अब आप यह कह रहे हैं कि वीतराग चारित्र का अविनाभूत निश्चय सम्यक्त्व होता है। दोनों कथनों में पूर्वापर-विरोध है, क्योंकि निज शुद्धात्मा तत्त्व ही उपादेय है— ऐसी रुचि रूप निश्चय सम्यक्त्व तो गृहस्थावस्था में तीर्थंकर परमदेव तथा भरत, सगर, राम, पाण्डव आदि के रहता ही है, परन्तु उनको वीतराग चारित्र नहीं होता, इसलिए परस्पर विरोध है। यदि 'ऐसा होता है' ऐसा मानें तो उनके असंयतपना कैसे हो सकता है? इसका उत्तर इस प्रकार है— उनके शुद्धात्मा की उपादेयता की भावना रूप निश्चय सम्यक्त्व तो रहता है, किन्तु चारित्र मोह के उदय से स्थिरता नहीं रहती, व्रत की प्रतिज्ञा भंग हो जाती है, इस कारण से उनको असंयत कहा जाता है। शुद्धात्म भावना से च्युत होकर शुभ राग के योग से वे सरागसम्यग्दृष्टि होते हैं। उनके सम्यक्त्व को जो सम्यक्त्व कहा जाता है, उसका कारण यह है कि वह वीतराग चारित्र के अविनाभूत निश्चय सम्यक्त्व का परम्परा साधक है। वस्तुतः तो वह सम्यक्त्व भी सरागसम्यक्त्व नाम का व्यवहार सम्यक्त्व ही है।"

यहाँ यह ज्ञातव्य है— सरागसम्यक्त्व साधन है और उसका साध्य है— निश्चय सम्यक्त्व, जो (वस्तुतः) शुद्धात्मानुभूति रूप ही है।

(सण्णाणं) **सत् सम्यक्, प्रशस्तं वा ज्ञानं सम्यक् ज्ञानमित्यर्थः। सम्यग्दर्शनेन सहितमेव ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं भवति, नान्यथा।**

उक्तं च सर्वार्थसिद्धिग्रन्थे *(1/1)— "यदाऽस्य दर्शन-मोहस्य उपशमात् क्षयात् क्षयोपशमाद् वा आत्मा सम्यग्दर्शनपर्यायेण आविर्भवति, तदैव तस्य मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाननिवृत्तिपूर्वकं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं चाविर्भवति, घनपटलविगमे सवितुः प्रतापप्रकाश-अभिव्यक्तिवत्"।*

तर्हि सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानयोः को विशेषः?

विशदीकृतमेतत् चारित्रप्राभृते *(गाथा-17)—*

सम्मद्दंसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया।
सम्मेण य सद्दहदि परिहरदि चरित्तजे दोसे।।

येन येन प्रकारेण जीवादयः पदार्था अवस्थिताः, तेन तेन प्रकारेण संशय-विपर्यय-अनध्यवसायरहितो नयप्रमाणविकल्पपूर्वकोऽवगमः, स एव सम्यग्ज्ञानम्।

(सज्ज्ञानम्—) सत् अर्थात् समीचीन, प्रशस्त ज्ञान, अर्थात् सम्यग्ज्ञान। सम्यग्दर्शन से युक्त ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं।

सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ (1/1) में कहा भी है— "जब दर्शनमोह के उपशम, क्षय, या क्षयोपशम से आत्मा में सम्यग्दर्शन की पर्याय प्रकट होती है, तभी इस (आत्मा) के मति-अज्ञान व श्रुत-अज्ञान की निवृत्ति होकर मतिज्ञान व श्रुत ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) उस प्रकार प्रकट होता है, जिस प्रकार बादलों के आवरण के हटने पर सूर्य का प्रताप व प्रकाश अभिव्यक्त होता है।"

ऐसी स्थिति में फिर सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान में अन्तर क्या है?

(उत्तर—) इसे चारित्रप्राभृत (गाथा-17) में स्पष्ट करते हुए कहा गया है— "जब यह जीव समीचीन दर्शन के द्वारा (मात्र-सत्ता का अवलोकन) देखता है, सम्यग्ज्ञान के द्वारा द्रव्य व पर्यायों को जानता है, तथा सम्यग्दर्शन द्वारा उनका श्रद्धान करता है, तभी चारित्र-सम्बन्धी दोषों को छोड़ता है।"

जिस जिस प्रकार से जीवादि पदार्थ स्थित हैं, उन्हें उन्हीं रूपों में, संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय से रहित, एवं नय-प्रमाण सम्बन्धी विकल्पों के साथ जो जानना होता है, वही सम्यग्ज्ञान है।

उक्तं च समन्तभद्राचार्यैः रत्नकरण्डश्रावकाचारे *(श्लोक-42)*—

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥

तत्सम्यग्ज्ञानं पञ्चविधम्। मतिश्रुतअवधिमनःपर्ययकेवलानि तस्य पञ्च भेदाः। सम्यग्ज्ञानस्य पञ्च भावनाः आदिपुराणे *(21/96)* **प्रोक्ताः**—

वाचनापृच्छने सानुप्रेक्षणं परिवर्तनम्।
सद्धर्मदेशनं चेति ज्ञातव्या ज्ञानभावनाः॥

एताः भावनाः सदैव भव्यैर्भावनीयाः, अनुष्ठेया वा। एतासां विस्तरेण परिचयो ग्रन्थान्तरेभ्यो ज्ञातव्यः। अध्यात्मभाषया तु निश्चयनयेन निजशुद्धात्मनो निरुपाधिस्वसंवेदनभेदविज्ञानेन मिथ्यात्व-रागादिपरभावेभ्यः पृथक् या परिच्छित्तिः, सैव निश्चय-सम्यग्ज्ञानम्। एतज्ज्ञानं शुद्धात्मसंवेदनरूपमेव। तत्तु अप्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिनो वीतरागचारित्राविनाभूताभेदरत्नत्रयेणैव संगच्छेत।

आ. समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड-श्रावकाचार (श्लोक-42) में कहा भी है— ''जो ज्ञान वस्तु के स्वरूप को न्यूनता-रहित व अधिकता रहित, विपरीतता-रहित, जैसा का तैसा संदेह रहित जानता है, उसी को आगमज्ञाता 'सम्यग्ज्ञान' कहते हैं।''

वह सम्यग्ज्ञान पाँच प्रकार का होता है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय व केवल (ज्ञान) —ये पाँच भेद उसके होते हैं। सम्यग्ज्ञान की पाँच भावनाओं का निरूपण आदिपुराण (21/96) में इस प्रकार किया गया है— ''वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, परिवर्तना व सद्धर्म-देशना (अर्थात् जैन शास्त्रों का स्वयं पढ़ना, दूसरों से पूछना, पदार्थ के स्वरूप का चिन्तन करना, श्लोक आदि कण्ठस्थ करना, एवं सद्धर्म का उपदेश करना) —इन पाँच ज्ञान-भावनाओं को जानना चाहिए।''

इन भावनाओं का भव्य जनों को अभ्यास करना चाहिए या इनका अनुष्ठान करना चाहिए। इनका विस्तार से परिचय अन्य ग्रन्थों से जान सकते हैं। अध्यात्मभाषा में कहें तो निश्चयनय के अनुसार, निज शुद्धात्मा का, निरुपाधि स्वसंवेदन भेदविज्ञान के साथ मिथ्यात्व, राग आदि पर-भावों से पृथक् रूप में जो ज्ञान होता है, वही निश्चय सम्यग्ज्ञान है। यह ज्ञान शुद्धात्म-संवेदन रूप ही है। वह भी अप्रमत्त आदि गुणस्थानवर्ती वीतराग चारित्र के अविनाभाव रूप अभेद रत्नत्रय के साथ ही होता है।

(च) **तथा,** *(सच्चारित्तं)* **सम्यक्चारित्रम्। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानपूर्वकमेव सच्चारित्रं भवति। रत्नकरण्डश्रावकाचारे** *(श्लोक-47-48)* **कथितमपि—**

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥

रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादि-निवर्तना कृता भवति।
अनपेक्षितार्थवृत्तिः कः पुरुषः सेवते नृपतीन्॥

यद्वा चरति याति येन हितप्राप्तिमहितनिवारणं चेति चारित्रम्। चर्यते सेव्यते सज्जनैः इति वा चारित्रं सामायिकादिकम्। वस्तुतः *"संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रमिति"* **सर्वार्थसिद्धौ** *(1/1)* **प्रोक्तम्।**

तदेतच्चारित्रं द्विविधम्— सम्यक्त्वाचरणम्, संयमाचरणं चेति। चारित्रप्राभृते *(गाथा-5-8)* **भणितमपि—**

(च) और **(सच्चारित्रम्)** सम्यक् चारित्र। सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के होने पर ही सम्यक् चारित्र हो पाता है। रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-47-48) में कहा भी गया है—

"दर्शनमोह रूपी अन्धकार का नाश होने पर सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है और तब वह सम्यग्ज्ञानी जीव राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए सम्यक् चारित्र को धारण करता है और रागद्वेषादि की निवृत्ति हो जाने पर हिंसादि की निवृत्ति पूर्णतः हो जाती है, क्योंकि आजीविका की इच्छा से रहित कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो राजा की सेवा करे।"

अथवा चारित्र वह होता है जिसके माध्यम से हित की प्राप्ति या अहित-निवृत्ति प्राप्त की जाती है। अथवा जो सत्पुरुषों द्वारा सेवित या अनुष्ठित हो, वह चारित्र होता है, जैसे सामायिक आदि। "वस्तुतः संसार के कारणों से निवृत्त होने के लिए जो उद्यत है, उस ज्ञानी द्वारा कर्म-आस्रव की क्रियाओं से विरत हो जाना ही सम्यक् चारित्र है" —ऐसा सर्वार्थसिद्धि (1/1) में कहा गया है।

ये सम्यक् चारित्र दो प्रकार का है— सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण। चारित्रप्राभृत (गाथा-5-8) में कहा भी है—

जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं।
विदियं संजमचरणं जिणणाणदेसियं तं पि।।

तत्रैव प्रोक्तं सम्यक्त्वाचरणचारित्रस्वरूपम्—

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोससंकाई।
परिहरि सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण॥

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ॥

तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय।
जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं॥

"पहला सम्यक्त्वाचरण चारित्र है जो जिनेन्द्र-कथित ज्ञान व दर्शन से शुद्ध है, दूसरा आचरणरूप चारित्र है, वह भी जिनेन्द्र-ज्ञान द्वारा उपदिष्ट व शुद्ध है।"

वहीं सम्यक्त्वाचरण चारित्र का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

"इस प्रकार, (चारित्र के भेदों को) जानकर, मिथ्यात्व के उदय से होने वाले शंका आदि मलों-दोषों को, तथा त्रिमूढ़ता (देवमूढ़ता आदि) सम्यक्त्व-सम्बन्धी मलों को —जिनका जिनेन्द्र देव ने कथन किया है— मन-वचन-काय से त्यागें।"

"निशंकित, नि:कांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना —ये सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग या गुण हैं।"

"'जिन' भगवान् सम्बन्धी श्रद्धान जब नि:शंकित आदि गुणों से विशुद्ध तथा यथार्थ ज्ञान से युक्त होता है, तब वहाँ सम्यक्त्वाचरण कहलाता है। यह सम्यक्त्वाचरण चारित्र मोक्ष प्राप्ति के लिए (उपयोगी या साधन) है।"

तात्पर्यमिदं यत् मिथ्यात्वोदयेन जायमानैः शङ्काप्रभृतिदोषैः, तथा च त्रिमूढताप्रभृतिभिः सम्यक्त्वमलैश्च रहितम्, सम्यग्दर्शनसम्बन्धिभिः निःशङ्कितप्रभृतिभिरष्टगुणैश्च समन्वितं विशुद्धाचरणरूपं प्रथमं सम्यक्त्वाचरणमस्ति। वस्तुतोऽस्य चारित्रसंज्ञोपचारतः, न च तत् स्वरूपाचरणसंज्ञक-निश्चयसकलचारित्रम्, यतो हि शास्त्रेषु चारित्रस्य पञ्चैव भेदाः प्रतिपादिताः— सामायिकचारित्रम्, छेदोपस्थापनाचारित्रम्, परिहारविशुद्धिचारित्रम्, सूक्ष्मसाम्परायचारित्रम्, यथाख्यातचारित्रं च। अथवा देशचारित्रं सकलचारित्रं चेति भेदावपि स्वीकृतौ। औपशमिकं क्षायिकं क्षायोपशमिकं चेति त्रयोऽपि भेदाः स्वीकृताः। चतुर्थपञ्चमगुणस्थानयोः स्वरूपाचरणसंज्ञकः पृथक् चारित्रप्रकारः जैनाचार्यप्रणीते क्वापि अनुयोगे कुत्रापि नैव प्राप्यते। अविरतसम्यग्दृष्टेः स्वरूपाचरणचारित्रस्य सद्भावः नैव स्वीकर्तुं शक्यते, यतो हि तत्र असंयमसद्भावेन अचारित्रमेव।

उक्तं च गोम्मटसारे *(जीवकाण्ड, गाथा-12)* **आचार्यनेमिचन्द्रसिद्धान्त-चक्रवर्तिभिः—**

एदे भावा णियमा दंसणमोहं पडुच्च भणिदा हु।
चारित्तं णत्थि जदो अविरद-अंतेसु ठाणेसु॥

तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व के उदय से जो शङ्का आदि दोष उत्पन्न होते हैं तथा तीन मूढ़ता आदि जो सम्यक्त्वसम्बन्धी मल होते हैं, उनसे जो रहित होता है, साथ ही निःशङ्कित आदि जो सम्यक्त्व के आठ गुण हैं, उनसे युक्त होता है— ऐसा विशुद्धाचरण रूप पहला सम्यक्त्वाचरण है। (किन्तु) वस्तुतः इसकी चारित्र संज्ञा उपचारतः ही है (ऐसा समझें), क्योंकि शास्त्रों में चारित्र के ये पाँच भेद ही प्रतिपादित हैं— सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापना-चारित्र, परिहारविशुद्धिचारित्र, सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र और यथाख्यात चारित्र। अथवा देशचारित्र व सकलचारित्र —ये दो भेद भी मान्य किये गये हैं। (इसके अतिरिक्त), औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक —ये तीन भेद भी मान्य किये गये हैं। परन्तु चतुर्थ-पंचम गुणस्थान में स्वरूपाचरण नाम का इनसे पृथक्, चारित्र का कोई भेद जैनाचार्य-प्रणीत किसी भी अनुयोग में कहीं भी नहीं प्राप्त होता। (दूसरी बात,) अविरत सम्यग्दृष्टि (चतुर्थगुणस्थानवर्ती, अव्रती श्रावक) के स्वरूपाचरण चारित्र का सद्भाव कभी माना नहीं जा सकता, क्योंकि वहाँ असंयम है, इसलिए अचारित्र (चारित्र का अभाव) है।

गोम्मटसार (जीवकाण्ड, गाथा-12) में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने (स्पष्ट) कहा है— ''ये जो पहले (औदयिक आदि) भाव कहे गये हैं, वे नियमतः दर्शनमोहनीय की अपेक्षा से ही कहे गये हैं, क्योंकि 'अविरत सम्यग्दृष्टि' तक के (चार) गुणस्थानों में चारित्र नहीं होता।''

स्पष्टमेव प्रोक्तगाथायां यत् मिथ्यात्वप्रभृति-अविरतसम्यग्दृष्टिसंज्ञकचतुर्थगुणस्थानं यावत् चतुर्षु गुणस्थानेषु चारित्राभावः। वस्तुतो मोक्षमार्गे संयमाचरणमेव चारित्रम्, किन्तु तस्य सम्यक्त्वाचरणस्य संयमाचरणचारित्रसंज्ञा नैव युक्ता। अपि च, अविरतसम्यग्दृष्टीनां सम्यक्त्वाचरणं यत्कथ्यते, तस्य संयमाचरणस्वरूपा-चरणसंज्ञक-निश्चयचारित्ररूपता कथमपि न युक्तियुक्ता, यतो हि तत्र सकलचारित्रं देशचारित्रं वा कथमपि न सम्भवति।

अयम्भावः— आचार्यसमन्तभद्रदेवैः चारित्रं द्विविधं *(रत्नकरण्ड, श्लोक-50)* **प्रोक्तम्—**

सकलं विकलं चरणं, तत्सकलं सर्वसङ्गविरतानाम्।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससङ्गानाम्॥

उभयोश्चारित्रयोः व्रतसंज्ञा तत्त्वार्थसूत्रे *(7/1-2)* **निर्दिष्टा—***"हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।"* **तथा** *"देशसर्वतोऽणुमहती।"*

इस प्रकार उक्त गाथा से स्पष्ट है कि मिथ्यात्व आदि से लेकर अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान तक जो चार गुणस्थान हैं, उनमें चारित्र नहीं होता। (अत:) मोक्षमार्ग में संयमाचरण ही वास्तविक चारित्र है, किन्तु उस सम्यक्त्वाचरण की संयमाचरणरूप चारित्र संज्ञा उपयुक्त नहीं है। इसके अतिरिक्त, अविरत सम्यग्दृष्टि के जो सम्यक्त्वाचरण होना कहा जाता है, उसे किसी भी तरह संयमाचरणरूप स्वरूपाचरण नामक निश्चयचारित्र मानना युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि उनके न तो सकल चारित्र का और न ही देशचारित्र का सद्भाव सम्भावित है।

तात्पर्य यह है— आचार्य समन्तभद्र ने (रत्नकरण्ड, श्लोक-50 में) चारित्र के दो भेद बताये हैं—

"चारित्र दो प्रकार का होता है— सकल चारित्र और विकल (अपूर्ण) चारित्र। सकल चारित्र समस्त परिग्रह-रहित अनगार (मुनियों) के होता है और सराग गृहस्थों का विकल चारित्र होता है।"

दोनों चारित्रों की तत्त्वार्थसूत्र (7/1-2) में व्रत संज्ञा निर्दिष्ट है— "हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य व परिग्रहों से विरत होना ही 'व्रत' है।" और "वह दो प्रकार का होता है— देशव्रत तथा सर्वविरत (महाव्रत)।"

एवं चतुर्थगुणस्थाने 'अविरतिः', व्रताभावः, एतस्माद्धेतोः चारित्राभावः। देशचारित्रं तत्र न स्वीकर्तुं शक्यते, यतो हि देशचारित्रस्य एकादश स्थानानि मन्यन्ते, यथा चारित्रप्राभृते *(गाथा-22)* **प्रोक्तम्—**

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य।
बंभारंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य॥

एतेषु देशविरतिस्थानेष्वपि व्रतस्य सद्भाव आवश्यकः। किन्तु अविरतसम्यग्दृष्टीनां व्रताभावात् देशचारित्रस्यापि सद्भावः कथमपि न सम्भवति। अतः सम्यक्त्वाचरणचारित्रं देशसकलचारित्राभ्यां पृथगेव, अतस्तस्य चारित्रसंज्ञा उपचारत एवेति निष्कर्षः। तथाऽपि यदि केचित्सम्यक्त्वाचरणं वस्तुतो निश्चयचारित्रस्वरूपाचरणचारित्ररूपं प्रतिपादयन्ति, तत् सिद्धान्त-विरुद्धमेवेत्यहं मन्ये। न हि सिद्धान्तविरुद्धं किञ्चित्प्रमाणत्वेन स्वीकरणीयं भवति।

इस प्रकार चौथे गुणस्थान में अविरति अर्थात् व्रत का ही अभाव है, इसलिए चारित्र का अभाव है। देशचारित्र भी वहाँ नहीं माना जा सकता, क्योंकि देशचारित्र के ग्यारह स्थान (भेद) माने गये हैं, उदाहरणार्थ, चारित्रप्राभृत (गाथा-22) में इस प्रकार कहा गया है—

''दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रि-भोजनत्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ-त्याग, परिग्रह-त्याग, अनुमति त्याग, और उद्दिष्ट त्याग —ये ग्यारह भेद देशविरति श्रावक के होते हैं।''

उपर्युक्त सभी देशविरति-स्थानों में व्रत (किसी न किसी विरति) का होना जरूरी है। किन्तु अविरत सम्यग्दृष्टि के व्रत होता ही नहीं, इसलिए वहाँ देशचारित्र का होना किसी भी तरह सम्भव नहीं होता। इसलिए सम्यक्त्वाचरण चारित्र, देश-चारित्र व सकल चारित्र —इन दोनों से पृथक् ही है, अतः इसकी चारित्र संज्ञा उपचार से ही है —यह निष्कर्ष है। फिर भी, यदि कुछ लोग सम्यक्त्वाचरण को ही वास्तविक निश्चय चारित्र— स्वरूपाचरण चारित्र रूप में प्रतिपादित करते हैं तो वह सिद्धान्तविरुद्ध ही है —ऐसा मेरा मानना है। और किसी सिद्धान्तविरुद्ध (प्रतिपादन) को 'प्रमाण' मानना स्वीकार्य नहीं है।

एवं श्रेष्ठतमं चारित्रं सकलचारित्रमेव। एतस्य द्वौ भेदौ— व्यवहारचारित्रम्, निश्चयचारित्रं च। व्यवहारचारित्र-स्वरूपं बृहद्-द्रव्यसंग्रहे *(गाथा-45)* **प्रोक्तमस्ति—**

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियं॥

व्यवहारचारित्रेण सहैव निश्चयचारित्रस्यापि स्वरूपं तत्र *(गाथा-46)* **प्रोक्तमस्ति—**

बहिरब्भंतरकिरियारोहो भवकारणप्पणासट्ठं।
णाणिस्स जं जिणुत्तं तं परमं सम्मचारित्तं॥

अन्येष्वपि शास्त्रेषु तथैव निरूपणं दृश्यते। यथा मोक्षप्राभृते *(गाथा-83)* **प्रोक्तम्—**

णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।
सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं।।

इस तरह सकलचारित्र ही श्रेष्ठतम चारित्र है। इसके दो भेद हैं— व्यवहार चारित्र और निश्चय चारित्र। व्यवहार चारित्र के स्वरूप को बृहद् द्रव्यसंग्रह (गाथा-45) में इस प्रकार बताया गया है— ''अशुभ कार्य से निवृत्ति और शुभकार्य में प्रवृत्ति —यह चारित्र है। जिनेन्द्र देव ने उस चारित्र को (पाँच) व्रत, (पाँच) समिति और (तीन) गुप्ति के रूप में बताया है।''

वहीं (गाथा-46), व्यवहार चारित्र के साथ निश्चय चारित्र के स्वरूप का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

''ज्ञानी जीव द्वारा संसार के कारणों को नष्ट करने के लिए बाह्य और अन्तरङ्ग क्रियाओं का जो निरोध किया जाता है, वह जिनेन्द्र-कथित उत्कृष्ट सम्यक् चारित्र है।''

अन्य शास्त्रों में भी इसी तरह के निरूपण प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ, मोक्षप्राभृत (गाथा-83) में कहा गया है—

''निश्चयनय का ऐसा अभिप्राय है कि जो आत्मा, आत्मा के लिए, आत्मा में तन्मयीभाव को प्राप्त है, वही सुचारित्र, उत्तम चारित्र है। इस चारित्र को धारण करने वाला योगी निर्वाण को प्राप्त होता है।''

पञ्चास्तिकायेऽपि *(गाथा-162)* **प्रोक्तम्—**

जो चरदि णादि पेच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं।
सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि॥

प्रवचनसारे *(1/7)* **चोक्तम्—**

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥

अथवा निजशुद्धात्मस्वरूपे चरणं स्वरूपाचरणसंज्ञकं निश्चयचारित्रम्। इति। निश्चयचारित्रम्, स्वरूपाचरणचारित्रं, वीतरागचारित्रम् —इत्येतानि एकार्थकान्येव। व्यवहारचारित्रं सरागचारित्रं चैते अपि एकार्थके। व्यवहारचारित्रेण निश्चयचारित्रं साध्यते। साध्यभूतं च तन्निजशुद्धात्मानुभूतिरूपमेव, न चान्यसंकल्पविकल्परूपमिति विज्ञेयम्।

पञ्चास्तिकाय (गाथा-162) में कहा गया है—

''यह निश्चित हो जाता है कि जो जीव पर-पदार्थ से भिन्न आत्म-स्वरूप में चरण करता है, उसे ही जानता और देखता है, वही सम्यक् चारित्र, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्दर्शन है।''

प्रवचनसार (1/7) में भी कहा गया है—

''निश्चय से चारित्र धर्म को कहते हैं, और शम या साम्य भाव को धर्म कहा गया है, मोह-मिथ्यादर्शन व क्षोभ (राग-द्वेष) से रहित आत्म-परिणाम ही शम या साम्यभाव होता है।''

अथवा अपने शुद्धात्मस्वरूप में आचरण करना स्वरूपाचरण नामक निश्चय चारित्र है। निश्चय चारित्र, स्वरूपाचरण चारित्र या वीतराग चारित्र —ये सभी एकार्थक ही हैं। इसी तरह, व्यवहार चारित्र व सरागचारित्र —ये दोनों भी एकार्थक हैं। व्यवहार चारित्र से निश्चय चारित्र की सिद्धि होती है। साध्यभूत (निश्चयचारित्र) भी निज शुद्धात्मा की अनुभूति रूप ही है, अर्थात् अन्य (आत्मेतर) सम्बन्धी संकल्प-विकल्पों से रहित है— ऐसा समझना चाहिए।

(चेव) **च एव** *(सत्तवो)* **सत्, तपः सम्यक् तपश्चरणम्। मोक्षमार्गे मिथ्यातपो न प्रयोजनसाधकम्, यतो हि न तेन सकलकर्मक्षयो भवति। कर्मक्षयार्थं तप्यते इति तपः, तच्च इच्छानिरोधरूपं भवति। अतः प्रवचनसार-तात्पर्यवृत्तावुक्तम्** *(गाथा-79, प्रक्षिप्त गाथा-5)*— *''समस्तरागादिपरसमस्तभावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः''* **इति।**

अनगारधर्मामृते *(7/2)* **प्रोक्तम्—**

तपो मनोऽक्षकायानां तपनात् संनिरोधनात्।
निरुच्यते दृगाद्याविर्भावायेच्छा-निरोधनम्॥

तच्च सम्यक् तपो द्विविधम्— निश्चयतपः, व्यवहारतपश्च। व्यवहारतपोविषये कार्तिकेयानुप्रेक्षायामुक्तम् *(गाथा-400)*—

इह परलोयसुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि समभावो।
विविहं कायकिलेसं तवधम्मो णिम्मलो तस्स॥

(चैव) इसके अतिरिक्त भी। **(सत्तपः)** सत् यानी सम्यक्, तप यानी तपश्चर्या। मोक्षमार्ग में मिथ्यातप प्रयोजनकारी नहीं होता, क्योंकि उससे समस्त कर्मों का क्षय नहीं होता।'तप' की व्युत्पत्ति भी यह है— जो कर्मक्षय हेतु तपा जाता है, वह तप होता है, वह इच्छा-निरोध स्वरूप होता है। इसलिए प्रवचनसार (गाथा-79 पर प्रक्षिप्त गाथा-5 पर) की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा गया है— ''समस्त राग आदि परकीय भावों (पदार्थों) में समस्त इच्छाओं का त्याग कर स्वस्वरूप में प्रतपन करना (दीप्तिमन्त होना), विजयन करना ही 'तप' है।''

अनगारधर्मामृत (7/2) में भी कहा गया है—

''तप का अर्थ है— मन, इन्द्रिय व शरीर (की स्वच्छन्द-प्रवृत्तियों) का निरोध करना, उन्हें तपाना। रत्नत्रय को प्रकट करने के लिए इष्ट-अनिष्ट विषयों की आकांक्षा का निरोध ही 'तप' है।''

वह समीचीन तप दो प्रकार का होता है— निश्चयतप और व्यवहारतप। व्यवहारतप के विषय में कार्तिकेयानुप्रेक्षा (गाथा-400) में कहा गया है—

''जो समभावी इस लोक और परलोक के सुख की अपेक्षा न रखकर अनेक प्रकार का कायक्लेश करता है, उसके निर्मल 'तप' धर्म होता है।''

निश्चयतपस्तु आत्मानम् आत्मनि आत्मना संधत्ते —इति अध्यात्मं तपनम्, यद्वा प्रसिद्धशुद्धकारणपरमात्मतत्त्वे सदान्तर्मुखतया प्रतपनमित्यादिकं नियमसारस्य *(गाथा-118, 123)* **तात्पर्यवृत्तौ प्रतिपादितम्। व्यवहारतपसोऽपि द्वौ भेदौ— बाह्यमाभ्यन्तरं चेति। बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात् परप्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यमुच्यते। बाह्यतपसः षड् भेदाः— अनशनम्, अवमौदर्यम्, वृत्तिपरिसंख्यानम्, रसपरित्यागः, विविक्तशय्यासनम्, कायक्लेशश्चेति।**

अनगारधर्मामृते *(7/33)* **भणितं च—**

बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वात् स्वसंवेद्यत्वतः परैः।
अनध्यासात्तपः प्रायश्चित्ताद्यभ्यन्तरं भवेत्।।

आभ्यन्तरतपसोऽपि षड्भेदाः— प्रायश्चित्तम्, विनयः, वैय्यावृत्त्यम्, स्वाध्यायः, व्युत्सर्गः, ध्यानं चेति। विस्तरस्तु तत्त्वार्थसूत्रस्य *(9/19-44)* **टीकादिषु ज्ञातव्यः।**

आत्मा को आत्मा में आत्मा से धारण करना, टिकाये रखना, जोड़े रखना जो अध्यात्म रूप है, वही निश्चय तप है। अथवा प्रसिद्ध शुद्ध 'कारण परमात्म-तत्त्व' में सदा अन्तर्मुख रहकर जो प्रतपन है, आत्मसंयम है, वह तप है— इत्यादिक निरूपण नियमसार की तात्पर्यवृत्ति में प्राप्त है। व्यवहार तप के दो भेद हैं— बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य द्रव्य की अपेक्षा रखने से और दूसरों को प्रत्यक्ष होने से 'बाह्य' (नाम से) कहा जाता है। बाह्य तप के छह भेद हैं— अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश।

अनगारधर्मामृत (7/33) में कहा भी है—

"प्रायश्चित्त आदि तपों में बाह्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं रहती है। अन्तरंग परिणामों की मुख्यता रहती है। तथा इनका स्वयं ही संवेदन होता है, ये देखने में नहीं आते, तथा इसको अनार्हत लोग धारण नहीं कर सकते, इसलिए प्रायश्चित्त आदि को अन्तरंग तप माना गया है।"

आभ्यन्तर तप के भी छः भेद हैं— प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, और ध्यान। विस्तार से इनके विषय में जानना हो तो तत्त्वार्थसूत्र (9/19-44) की टीका आदि ग्रन्थों से जानना चाहिए।

एतानि *(चउरो)* **सम्यक्त्व-सज्ज्ञान-सच्चारित्र-सत्तपांसि चत्वार्यपि (आराधनारूपाणि),** *(आदे चिट्ठदि)* **आत्मनि तिष्ठन्ति,** *(तम्हा)* **तस्मात् कारणात्।** *(हु)* **खलु, निश्चयेन,** *(मे आदा सरणं)* **मम आत्मा (एव) शरणं, नान्यः शरणभूतो भवतीति भावः। अयम्भावः— निर्विकारनिरुपाधि-निरालम्बनिजशुद्धात्मतत्त्वमेव शरणभूतम्, आलम्बनस्थानम्, एकाग्रतास्थानम्, नान्यत् इति। अतो निश्चयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपोमयशुद्धात्मानमेव शरणं प्राप्नुहि, स एव शाश्वतः, परमानन्दनिधानं च। पञ्चपरमेष्ठिप्रभृतिशरणं व्यवहारदृष्ट्या, किन्तु शुद्धात्मस्वरूपस्थितौ साध्यभूतायां तत्साधनं भवति —इति प्राथमिकभूमिकायां महदुपादेयतया ग्राह्यम्। इति गाथासारः। एवं** *'मणिमंतोसहरक्खा'* **इत्यादिगाथामादिं कृत्वा** *'सम्मत्तं सण्णाणं'* **इति गाथां यावत् सप्तगाथात्मको द्वितीयाधिकारः 'अशरणानुप्रेक्षा'-नामकः सम्पन्नः।**

[इति परमपूज्यगणाचार्यश्रीडॉ.विरागसागरकृतायां सर्वोदयानाम्न्यां टीकायाम् 'अशरणानुप्रेक्षा'-नामको द्वितीयाधिकारः सम्पन्नः।]

ये **(चत्वारि)** चारों, सम्यक्त्व, सज्ज्ञान, सच्चारित्र व सत् तप —ये चारों (आराधना रूप) भी, **(आत्मनि तिष्ठन्ति)** आत्मा में स्थित हैं, (तस्मात्) इस कारण से। **(खलु)** निश्चय से, **(मम आत्मा शरणम्)** मेरे लिए आत्मा ही शरण है, कोई दूसरा शरण नहीं होता —यह भाव है। तात्पर्य यह है— निर्विकार, निरुपाधि, निरालम्बन, निज शुद्धात्मा ही शरणभूत है, आलम्बन का स्थान है, एकाग्रता का केन्द्र है, और कोई पदार्थ शरण नहीं है। इसलिए निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र, तप रूप शुद्धात्मा की ही शरण ग्रहण करें, क्योंकि वही शाश्वत है और परमानन्द-स्रोत है। पंचपरमेष्ठी आदि की शरण लेना तो व्यवहार दृष्टि से माना गया है, किन्तु साध्यभूत जो 'शुद्धात्म-स्वरूप में स्थिति' है उसमें उक्त शरण-ग्रहण साधनभूत होता है —इसलिए प्राथमिक भूमिका में अत्यन्त उपादेय रूप में मान्य है। यह गाथा का सार है। इस प्रकार, **'मणिमंतोसहरक्खा'** इत्यादि गाथा से लेकर **'सम्मत्तं सण्णाणं'** इत्यादि गाथा तक सात गाथाओं वाला 'अशरणानुप्रेक्षा' नामक दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

[परम पूज्य गणाचार्य श्री डॉ. विरागसागर जी द्वारा कृत 'सर्वोदया' नामक टीका में, 'अशरणानुप्रेक्षा' नामक द्वितीय अधिकार सम्पन्न हुआ।]

[एयत्ताणुवेक्खा— तइयो अहियारो]
।।एकत्वानुप्रेक्षा— तृतीयोऽधिकारः।।

अथ इदानीमेकत्वानुप्रेक्षानामकः तृतीयोऽधिकारः प्रारभ्यते। अस्मिन् *'एक्को करेदि कम्मं'* **इत्यादिगाथामादिं कृत्वा** *'एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो'* **इत्यादिगाथां यावत् सप्त गाथा भवन्ति। किञ्च विस्तरः—** *'एक्को करेदि कम्मं'* **इत्यादिगाथा 'एकाकी एव जीवः कर्म करोति, एकाक्येव जन्मादिफलानि सुखदुःखात्मकानि अनुभवति' इत्यादिकथनरूपा एका। ततश्च** *'एक्को करेदि पावं'* **इत्यादिगाथैका 'स्वेन्द्रियविषयभोगवशीभूतः कषायाविष्टो जीवः पापादीनि करोति, नरकादि-दुर्गतिं प्राप्नुवानः कुफलमपि भुंक्ते' —इत्यादिकथनरूपा द्वितीया। तदनन्तरम्** *'एक्को करेदि पुण्णं'* **इत्यादिगाथा 'एकाक्येव जीवः पुण्यानुष्ठानं विधत्ते, तस्य सुगतिप्राप्तिरूपं सुफलमपि एकाकी स एवानुभवति' इत्यादिकथनरूपा तृतीया। तदनन्तरम्** *'उत्तमपत्तं भणिदं'* **इत्यादिगाथैका 'सम्यग्दृष्टिमुनिरुत्तमपात्रम्, सम्यग्दृष्टिश्रावकस्तु मध्यमपात्रम्' इतिकथनपरा चतुर्थी।**

[एकत्वानुप्रेक्षा— तृतीय अधिकार]

अब एकत्वानुप्रेक्षा नामक तीसरा अधिकार प्रारम्भ हो रहा है। इसमें **'एक्को करेदि कम्मं'** इत्यादि (14वीं) गाथा से लेकर **'एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो'** इत्यादि (20वीं) गाथा तक सात गाथाएँ आई हैं। इसे और भी विस्तार से इस प्रकार समझें —**'एक्को करेदि कम्मं'** इत्यादि (14वीं) गाथा पहली है जो यह कथन करती है कि जीव एकाकी -अकेला ही, कर्म करता है, एकाकी होकर ही सुख-दुःख से भरे जन्म आदि फलों को अनुभव करता है। इसके बाद, **'एक्को करेदि पावं'** इत्यादि (15वीं) दूसरी गाथा है, जो यह प्रतिपादित करती है कि अपनी इन्द्रियों द्वारा विषय-भोग हेतु पराधीन होता हुआ, कषाययुक्त जीव पापादि करता है, और नरक आदि दुर्गतियों को प्राप्त करता हुआ कुफल को भी भोगता है। उसके बाद, **'एक्को करेदि पुण्णं'** इत्यादि तीसरी (16वीं) गाथा है जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि यह जीव एकाकी ही पुण्य कर्म करता है, उस कर्म के शुभ फलस्वरूप सुगति भी अकेला ही प्राप्त करता है। **'उत्तमपत्तं भणिदं'** इत्यादि चौथी (17वीं) गाथा है जिसमें यह कथन किया गया है कि सम्यग्दृष्टि मुनि उत्तम पात्र होता है और सम्यग्दृष्टि श्रावक मध्यम पात्र होता है।

ततश्च '*णिद्दिट्ठो जिणसमये*' इत्यादिका गाथैका असंयतसम्यग्दृष्टिः जघन्यपात्रम्, मिथ्यादृष्टिस्तु अपात्रम् —इतिकथनपरा पञ्चमी। ततःपरं '*दंसणभट्टा भट्टा*' इत्यादिका गाथैका 'सम्यग्दर्शनप्रच्युतस्य निर्वाणमसम्भवि' —इतिकथनपरा षष्ठी। ततोऽनन्तरम् '*एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो*' इत्यादिका गाथैका 'शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन आत्मा शुद्धस्वरूपः, एकः, ज्ञानादिसमग्रः, एतादृशोऽहमेवेति संयमिना चिन्तनीयम्' इति कथनपरा सप्तमी। एवं तृतीयाधिकारे समुदायपातनिका ज्ञातव्या।

अथेदानीं जीवस्यैकाकिन एव जन्ममरणादिकर्मबन्धः, फलमपि नान्येन भुज्यते, तेनैव एकाकिना भुज्यते— इति शास्त्रकारा आवेदयन्ति—

एक्को करेदि कम्मं, एक्को हिंडदि य दीहसंसारे।
एक्को जायदि मरदि य, तस्स फलं भुंजदे एक्को॥१४॥

छाया— *एकः करोति कर्म, एकः भ्रमति च दीर्घसंसारे।*
एको जायते म्रियते च, तस्य फलं भुंक्ते एकः॥

इसके बाद, **'णिद्दिट्ठो जिणसमये'** इत्यादि पाँचवीं (18वीं) गाथा है, जो यह बताती है कि असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है, और मिथ्यादृष्टि तो अपात्र (ही) है। इसके बाद, **'दंसणभट्टा भट्टा'** इत्यादि छठी (19वीं) गाथा है, जो यह बताती है कि सम्यग्दर्शन से प्रच्युत जीव का मोक्ष पाना असम्भव है। इसके बाद, **'एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो'** इत्यादि सातवीं (20वीं) गाथा है जिसमें यह बताया गया है कि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से शुद्ध स्वरूप, एक, ज्ञानादिसमग्र, आत्मा मैं ही हूँ— इस तरह संयमी को चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार तीसरे (एकत्वानुप्रेक्षा नामक) अधिकार में समुदायपातनिका समझनी चाहिए।

अब जन्म-मरणादि से सम्बन्धित कर्म-बन्ध भी एकाकी जीव को ही होता है, उसका फल भी कोई और नहीं भोगता, अपितु उसी अकेले जीव को ही भोगना पड़ता है, इस तथ्य को शास्त्रकार (आगे की गाथा में) व्यक्त कर रहे हैं—

(14)

(गाथा-अर्थ—) अकेला ही (यह संसारी जीव) कर्म करता है, अकेला ही (इस) दीर्घ संसार में भ्रमण करता रहता है, अकेला ही जन्मता है और मरता है, (इस प्रकार) अकेला ही (कर्म के) फल को भोगता है।

(सर्वोदया टीका—) अन्वयः सुगम एव। संसारी जीवः, *(एक्को)* **एकाकी एव,** *(कम्मं करेदि)* **कर्म करोति। अत्र कर्मणामष्टविधत्वेऽपि जात्यपेक्षया एकवचनेन निर्देशः।**

उक्तं च गोम्मटसारे— *'कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं' (कर्मकाण्ड, गाथा-6)* **इति।**

मिथ्यादर्शनादिपरिणामैर्जीवेन क्रियन्ते यानि, तानि कर्माणि। अथवा क्रियन्ते जीवाः परतन्त्राः यैः इति, यद्वा कुर्वन्ति यानि जीवं परतन्त्रमिति कर्माणि। वीर्यान्तरायज्ञानावरणक्षयोपशमादिकमपेक्ष्य, मिथ्यादर्शन-अविरति-प्रमाद-कषायादि-रूपेण जीवात्मा स्वं परिणमति, तन्निमित्तेन पुद्गलात्मिकानां कर्मद्रव्यवर्गणानां कर्मरूपेण परिणतिः भवतीति सिद्धान्तः। तत्र अशुद्धनिश्चयनयेन आत्मा स्वकीयाशुद्धपरिणतेः (भावकर्मणो वा), पुद्गलं च स्वपरिणतेः (द्रव्यकर्मणो वा) पृथक् पृथक् कारणे भवतः। व्यवहारेण तु आत्मा पुद्गलात्मकस्य कर्मणः कारणम्।

(सर्वोदया टीका—) गाथा में अन्वय स्पष्ट है। संसारी जीव **(एकः)** अकेला ही, **(कर्म करोति)** कर्म करता है। 'कर्म' आठ प्रकार के होते हैं, फिर भी वहाँ 'कर्म' एकवचन में प्रयुक्त क्यों है। इसका समाधान यह है कि 'जाति' की दृष्टि से (एक मान कर) एकवचन प्रयुक्त हुआ है।

इसीलिए गोम्मटसार (कर्मकाण्ड, गाथा-6) में कहा गया है कि कर्मत्व (सामान्य जाति) की दृष्टि से वह 'एक' द्रव्य है।

कर्म का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है— जो मिथ्यादर्शन आदि परिणामों से जीव द्वारा किये जाते हैं वे कर्म होते हैं। अथवा जिनके द्वारा जीव परतन्त्र किये जाते हैं, वे कर्म होते हैं अथवा जिनको जीव करता है, वे कर्म हैं। सिद्धान्त के अनुसार वीर्यान्तराय व ज्ञानावरण के क्षयोपशम आदि की अपेक्षा रखकर, मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि रूपों में जीवात्मा स्वयं परिणत होता है, उसका निमित्त पाकर पौद्गलिक कर्मद्रव्य-वर्गणाएँ कर्मरूप में परिणत हो जाती हैं। यहाँ (नय दृष्टि यह है कि) अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा अपने अशुद्ध भावों में परिणत होता है, उस परिणति में या भाव कर्म में वह आत्मा ही कारण है। इसी तरह पुद्गल अपनी कर्म-परिणति का, या द्रव्य कर्म का कारण है, इस तरह दोनों पृथक्-पृथक् कारण हैं। व्यवहारनय से तो आत्मा पौद्गलिक (द्रव्य) कर्म का भी कारण (मान्य) है।

उक्तं च बृहद्द्रव्यसंग्रहे *(गाथा-8)*—

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं।।

परमशुद्धनिश्चयेन, शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन तु परद्रव्यसम्पर्काभावात् पर्यायाणां च द्रव्यान्तः-प्रलयाच्च शुद्धद्रव्य एवात्मा व्यवतिष्ठते, किन्तु तन्नयस्योपयोगिता साधनाया उपरितनभूमिकायामेव शुद्धात्मानुभूतिसम्पादनाय भवति, नाधस्तनभूमिकायामिति *'सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं'* **इत्यादिगाथायां समयसारे** *(गाथा-12)* **निर्दिष्टम्। एवं निश्चयनयेन भावकर्मणाम्, व्यवहारनयेन द्रव्यकर्मणां कर्तृत्वं जीवात्मनः सूपपाद्यमिति दृष्ट्या 'जीवः कर्म करोति' इतिकथनं शास्त्रकाराणां विज्ञेयम्। इत्थं कर्मकर्तृत्वसम्पन्न आत्मा कायवाङ्मनःसम्बन्धियोगेन प्रतिसमयं कर्म आस्रवति।**

बृहद् द्रव्यसंग्रह (गाथा-8) में कहा गया है—

''आत्मा व्यवहारनय से पुद्गलकर्मादि का कर्ता है, निश्चयनय से चेतन कर्मों (रागादि भावों) का कर्ता है और शुद्ध नय से वह (आत्मा) शुद्ध भावों (सम्यग्दर्शनादि) का कर्ता है।''

परमशुद्ध निश्चयनय से या शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से तो किसी भी द्रव्य का अन्य द्रव्य से सम्पर्क नहीं होता, और पर्यायें द्रव्य के अन्दर ही संनिविष्ट व विलीन हो जाती हैं— इस दृष्टि से आत्मा की शुद्ध द्रव्य रूप में ही अवस्थिति मानी गई है। किन्तु उक्त (परमशुद्ध निश्चय नय) की उपयोगिता साधना की निचली भूमिका में नहीं, अपितु साधना की ऊपरी भूमिका में ही शुद्धात्म-अनुभूति की सिद्धि हेतु होती है, परमभावदर्शियों ने आत्मा को शुद्धादेश अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से शुद्ध कहा है— ऐसा समयसार (की गाथा-12) में निर्दिष्ट है। इस प्रकार, निश्चय नय से भाव कर्मों का, व्यवहारनय से द्रव्य कर्मों का कर्तृत्व जीवात्माओं में सुगमतया सिद्ध हो जाता है— इस दृष्टि से 'जीव कर्म करता है' यह शास्त्रकार का कथन है— ऐसा समझना चाहिए। इस तरह, कर्म-कर्तृत्व से युक्त जीवात्मा अपने कायिक, वाचिक व मानसिक 'योग' (प्रवृत्ति) द्वारा प्रतिसमय कर्म का आस्रव करता है।

एकसमये द्रव्यापेक्षया अभवसिद्धिकजीवेभ्योऽनन्तगुणिताः, सिद्धजीवानामनन्त-भागमिताः कार्मणवर्गणास्कन्धाः एकजीवेन सह कर्मरूपेण परिणमन्ति —इतिधवलायां *(15/34)* **निर्दिष्टम्। कर्मणां योगकषायनिमित्तकाः प्रकृति-प्रदेश-स्थिति-अनुभागबन्धाः जीवस्य जायन्ते। कर्मणां प्रकृतिभेदादेव कर्मणामष्टविधत्वं जायते। तत्तु ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय-वेदनीय-मोहनीय-आयुः-नाम-गोत्र-अन्तरायेतिसंज्ञाभिः प्रसिद्धम्।**

कर्मबन्धानन्तरम्, आबाधाकालं यावत् कर्मणां सत्त्वम्, आबाधाकाले व्यतीते, तत्कर्मणा-मुदयः, विपाको वा जायते, तदा तत्तत्कर्मणां शुभाशुभरूपानुसारमेव सुखदुःखात्मकफलं, यः कर्ता स एव जीवोऽनुभवति— इति उच्यते— *(तस्स फलं एक्को भुंजदे)*, **अर्थात् स्व एव शुभाशुभकर्मानुष्ठाता जीवात्मा तत्तत्कर्मशुभाशुभफलं भुंक्ते, नान्यः तत्र सहायो भवति। संसारी जनः स्वपुत्रकलत्रादिनिमित्तं पापकर्म कुरुते, किन्तु तत्फलानुभवने एकाकी, निःसहाय एव स तिष्ठति, अनिच्छन्नपि स्वकृतकर्मफलं भुंक्ते एव।**

धवला (15/34) में बताया गया है कि एक समय में द्रव्य-दृष्टि से अभवसिद्धिक जीवों की अपेक्षा अनन्त गुणे, तथा सिद्ध जीवों के अनन्त भाग-परिमित, कार्मण वर्गणा-स्कन्ध प्रत्येक जीव के साथ कर्म रूप से परिणत होकर (बंधते) हैं। जीव के 'योग' व कषाय का निमित्त पाकर प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध व अनुभागबन्ध (इस तरह सम्पूर्ण कर्मबन्ध) सम्पन्न होता है। प्रकृति बन्ध में कर्मों की विविध प्रकृतियों की भिन्नता निष्पन्न होती है, और कर्म के आठ प्रकार हो जाते हैं। ये आठ भेद हैं— ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र व अन्तराय।

कर्म-बन्ध के बाद, आबाधाकाल तक कर्मों की 'सत्ता' (मात्र) रहती है, किन्तु आबाधाकाल व्यतीत होने पर उन कर्मों का विपाक या उदय होता है, तब उन शुभ-अशुभ कर्मों के अनुरूप ही प्राप्त होने वाले सुख-दुःखात्मक कर्म-फल को वही जीव भोगता है जो उनका कर्ता होता है, इसी बात को कहा जा रहा है— **(तस्य फलमेको भुंक्ते)**, अर्थात् शुभ-अशुभ कर्मों का अनुष्ठाता जीवात्मा ही अपने शुभाशुभ कर्म-फलों को भोगता है, कोई दूसरा उसका सहायक (भागीदार) नहीं होता। संसारी जीव अपने पुत्र, पत्नी आदि (पारिवारिक जनों) के लिए पाप कर्म करता है, किन्तु उस कर्म के फल को भोगने में वह अकेला, असहाय ही रहता है, नहीं चाहते हुए भी उसे अपने किये कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है।

उक्तं च ज्ञानार्णवे *(2/88)*—

वित्तपुत्रकलत्रादिकृते कर्म करोत्ययम्।
यत्तस्य फलमेकाकी भुंक्ते श्वभ्रादिभूमिषु।।

अत्रेदं तात्पर्यम्— शुभाशुभभावैः शुभाशुभकर्मणां बन्ध एव, न तत्रान्यो जनः तदनुरूपबन्धं निवारयितुं समर्थः। यदा कर्मविपाकोदयो भवति, तदाऽपि न कस्यचिदपि सामर्थ्यं तत्कर्मफलानुभवनं परिवर्तयितुम्। न च तत्फलानुभवने सहभागित्वं कस्यचिदपि सम्भवति।

उक्तं च ज्ञानार्णवे *(2/87)*—

संयोगे विप्रयोगे च संभवे मरणेऽथवा।
सुखदुःखविधौ वास्य न सखाऽन्योऽस्ति देहिनः॥

कर्मसिद्धान्तमिदं जीवानेतदपि तथ्यं प्रकटयति यत् जीवने सुख-दुःखादीनि अनुभूयन्तेऽस्माभिः, तेषु फलानुभवनेषु परकीयः पदार्थः, चेतनोऽचेतनो वा, निमित्तभूतः सन्नपि दृश्यते। अज्ञानवशेन जनाः तान् पदार्थानेव सुख-दुःखदायकान् मन्वते, किन्तु तथ्यमिदं न विस्मर्तव्यं यत्

ज्ञानार्णव (2/88) में कहा भी है— ''धन-सम्पत्ति, पुत्र, कलत्र आदि के लिए यह जीव कर्म करता है और नरक आदि स्थानों में अकेला ही उसे भोगता है।''

तात्पर्य यहाँ यह है कि शुभ या अशुभ भावों से शुभ या अशुभ कर्मों का बन्ध होता ही है, उसमें किसी अन्य व्यक्ति की क्षमता नहीं है कि वह (शुभाशुभ भावों के) अनुरूप (होने वाले शुभाशुभ) बन्ध को रोक सके। जब कर्म का विपाकोदय होता है, तब भी उस कर्म-फल की अनुभूति को रोकने में किसी की सामर्थ्य नहीं है, और न ही उस फलानुभव में सहभागी होने की सामर्थ्य है।

ज्ञानार्णव (2/87) में कहा भी गया है— ''संयोग, वियोग, जन्म या मरण तथा सुख व दुःख के विधान में इस जीव का कोई भी मित्र (अर्थात् सहभागी) नहीं होता।''

यह कर्म-सिद्धान्त जीवों को यह तथ्य अवगत कराता है कि जीवन में सुख या दुःख (जो भी) भोगे जाते हैं, उस फल को भोगने में कोई दूसरा— सचेतन या अचेतन —कोई भी निमित्त होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। अज्ञान के वशीभूत लोग उन पदार्थों को ही सुख या दुःख का देने वाला मान लेते हैं, किन्तु इस सत्य को नहीं भूलना चाहिए कि सुख या दुःख के दाता वस्तुतः अपने कर्म ही हैं, कोई अन्य नहीं। चूँकि उन कर्मों का कर्ता स्वयं जीव ही है, इसलिए वही स्वयं अपने सुख-दुःख आदि का कर्ता है, अतः

सुखदुःखदातृत्वं वस्तुतः स्वकर्मणामेव, नान्येषाम्। यतो हि तेषां कर्मणां कर्ता स्वयं जीव एव, अतः स एव स्वयं स्वकीयसुखदुःखादिकर्ता, स एव भोक्ता, नान्यः —इति मतं व्यवतिष्ठते। एतदेवाभिप्रेत्य आचार्यैरमितगतिसूरिभिः भावनाद्वात्रिंशतिकायां *(श्लोक-30-31)* **समुपदिष्टम्—**

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटम्, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

निजार्जितं कर्म विहाय देहिनः, न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचारयन्नेवमनन्यमानसः, परो ददातीति विमुञ्च शेमुषीम्॥

(य) **च, स एव एकः, एकाकी जीवः,** *(दीहसंसारे)* **दीर्घे संसारेऽस्मिन्, संसारो महासागरोपमः, तस्य पारं गन्तुं सामान्यजनो न समर्थः। अनेकैराचार्यैः स्वशास्त्रेषु संसारस्य दुस्तरत्वमवबोधयितुं सागरस्य उपमानता स्वीकृता।**

फिर भोक्ता भी उसे ही बनना है, किसी दूसरे को नहीं —यह मत (निर्विवाद) सिद्ध हो जाता है। इसी अभिप्राय को आचार्य अमितगति जी महाराज 'भावना द्वात्रिंशतिका' (श्लोक-30, 31) में इस प्रकार उपदेशरूप में व्यक्त कर रहे हैं—

"जो (भी) पहले स्वयं जीव द्वारा कर्म किया गया है, उसका शुभ या अशुभ फल उसे भोगना पड़ता (ही) है। यदि उस फल को किसी अन्य द्वारा दिया हुआ माना जाय तब तो अपने द्वारा किया हुआ कर्म सदा निरर्थक ही हो जाएगा (उस कर्म की सार्थकता फिर क्या रही?)।"

"अपने निज के अर्जित कर्म को छोड़कर देहधारी (जीव) को कोई कुछ भी (सुख या दुःख) नहीं दे सकता। इस (तथ्य) पर अन्यमनस्क न होकर विचार करते हुए (हे साधक!) इस बुद्धि को छोड़ दे कि कोई दूसरा (सुख या दुःख) देता है।"

(च) और वही एक, एकाकी जीव, **(दीर्घसंसारे)**, दीर्घ यानी विस्तृत इस संसार में। संसार की उपमा महासागर से दी जाती है, उसका पार पाना किसी सामान्य जन के सामर्थ्य की बात नहीं है। अनेक आचार्यों ने अपने शास्त्रों में संसार की दुस्तरता को समझाने के लिए सागर को उपमान के रूप में स्वीकार किया है।

यथा— कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे— *'सुट्ठु असारे संसारे दुक्खसायरे घोरे' (गाथा-62)*।

इति च हरिवंशपुराणे— *'घोरं संसारसागरम्' (43/128)*।

भगवती-आराधनेति ग्रन्थे *(गाथा-448)* **संसारसागरस्य भीषणता दुस्तरता वा इत्थं प्रकटिता—**

संसारसागरम्मि य णंते बहुतिव्वदुक्खसलिलम्मि।
संसरमाणो जीवो दुक्खेण लहइ मणुस्सत्तं।।

संसारस्य कुत्रचित् घोरवनेन, कुत्रचित् अपारमरुस्थलेनापि सादृश्यं प्रतिपादितम्। उक्तं च ज्ञानार्णवे *(2/84)*—

महाव्यसनसंकीर्णे दुःखज्वलनदीपिते।
एकाक्येव भ्रमत्यात्मा दुर्गे भवमरुस्थले।।

उदाहरणार्थ— कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-62) में कहा गया है—

"यह संसार सर्वथा असार है और एक भयानक दुःख-सागर जैसा है" (इसमें सुख कहाँ?)

हरिवंशपुराण (43/128) में भी कहा गया है— 'संसार-सागर भयंकर है'।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-448) में इस संसार-सागर की भयंकरता व दुस्तरता को इस प्रकार प्रकट किया गया है—

"प्रचुर व कठोर दुःख रूपी जल से भरे इस अनन्त संसार-सागर में यह जीव संसरण करता रहता है, बड़े कष्ट से (दुर्लभता से) मनुष्यत्व प्राप्त हो पाता है।" इत्यादि।

कहीं-कहीं संसार को घोर जंगल या अपार मरुस्थल के समान भी बताया गया है। ज्ञानार्णव (2/84) में कहा भी गया है—

"भयानक विपत्तियों से व्याप्त और दुःख रूप अग्नि से संतप्त इस दुर्गम संसार रूपी मरुस्थल (रेगिस्तान) में जीव अकेला ही परिभ्रमण करता रहता है।"

(एक्को हिंडदि) **एकः, एकाक्येव, निस्सहायतया परिभ्रमति, शीलप्राभृत-टीकायां** *(गाथा-26)* **अरहट्टघटीयन्त्रमिव जीवो निरन्तरं भ्रमत्येवेति निर्दिष्टम्। गोरिव स्वस्वामिकर्मणो भारं वहतीति आत्मख्यातौ** *(समयसार गाथा-4)* **संकेतितम्। स जीवो न कुत्रचिद् विश्रान्तेः स्थानं लभते, कर्मवशतया जन्म-मृत्यु-परम्परां नोल्लंघयितुं स समर्थः।**

भगवती-आराधनेतिग्रन्थे *(गाथा-1786-1787)* **कर्मवशीभूतस्य कर्मणो दासतामुपगतस्य वा जीवस्य दशा वर्णिता—**

संसारचक्कमारुहिय भमदि जीवो अणप्पवसो।

भारं णरो वहंतो कहिंचि विस्समदि ओरुहिय भारं।
देहभर-वाहिणो पुण ण लहंति खणं पि विस्ससिदुं।।

वस्तुतः मिथ्यात्वमज्ञानं वा संसारभ्रमणे विशिष्टकारणमिति बहुधा शास्त्रेषु निरूपितम्। यथा— ज्ञानार्णवे *(2/90)* **प्रोक्तम्—**

(एकः भ्रमति) एकाकी ही, असहाय होकर, परिभ्रमण करता रहता है। शीलप्राभृत (गा. 26) की टीका में (इसी दृष्टि से) कहा गया है कि जीव अरहट यन्त्र (मशीन) के समान निरन्तर भ्रमण ही करता है। बैल की तरह अपने स्वामी 'कर्म' का भार ही यह जीव ढोता रहता है— ऐसा आत्मख्याति (समयसार गाथा-4) में बताया गया है। वह जीव कहीं विश्राम की जगह नहीं पाता। कर्म की परतन्त्रता में जन्म-मृत्यु की परम्परा का अतिक्रमण करने की सामर्थ्य उसमें नहीं होती।

कर्म के वशीभूत या कर्म के दास बने हुए इस जीव की क्या दशा होती है, उसका वर्णन भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1786-87) में इस प्रकार किया है—

"संसार-चक्र में आरूढ़ (फँसा हुआ) यह जीव असहाय व परवश होकर घूमता रहता है"।

"(लोक-व्यवहार में तो) कोई भार-वाहक व्यक्ति भार को उतारकर विश्राम करता (भी है, कर सकता भी) है, किन्तु देह का भार लिये यह प्राणी तो क्षण भर भी विश्राम नहीं कर पाता।"।

वस्तुतः मिथ्यात्व या अज्ञान ही इस संसार-भ्रमण का विशिष्ट कारण है, ऐसा शास्त्रों में अनेक तरह से कहा गया है। उदाहरणार्थ, ज्ञानार्णव (2/90) में कहा गया है—

अज्ञातस्वस्वरूपोऽयं लुप्तबोधादिलोचनः।
भ्रमत्यविरतं जीव एकाकी विधिवञ्चितः।।

प्रवचनसारेऽपि *(1/77)— ''हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो''* **इति प्रोक्तम्।**

तथा च, *(एक्को जायदि मरदि य)* **एकाकी एव स जायते, जन्म लभते इत्यर्थः, म्रियते च अर्थात् मृत्युमपि प्राप्नोत्येव, जन्म-मरणयोः परस्परसम्बद्धत्वात्। जन्मनि, मरणे वा न कश्चित्कस्यचित्सहायकः सहवर्ती वा भवति —इति भावः।**

(एक्को तस्स फलं भुंजदे) **एकाकी तस्य फलं भुंक्ते। कर्मबन्धानन्तरं तस्य विपाकोदये स एव कर्मकर्ता जीव एकाकी एव, निस्सहायः सन् फलानुभवनं करोति, नान्यः। एकत्वानुप्रेक्षायां साधकः प्रोक्ततथ्यमेव मनसि वारं वारं चिन्तयति, अर्थात् कर्मानुभवने एकाकित्वमसहायत्वं वारंवारं विचारयति।**

''यह जीव अपने स्वरूप से अपरिचित है, ज्ञान रूपी नेत्र से रहित है, इसलिए कर्म से ठगा हुआ यह जीव एकाकी ही निरन्तर भ्रमण करता रहता है।''

प्रवचनसार (1/77) में भी कहा है— ''मोह से युक्त होकर जीव इस अपार व भयंकर संसार में भ्रमण ही करता रहता है।''

और, **(एको जायते म्रियते च)**— यह जीव अकेला ही जन्मता है, अर्थात् जन्म ग्रहण करता है। (अकेला ही) मरता है अर्थात् मृत्यु भी प्राप्त करता ही है, क्योंकि जन्म और मृत्यु —ये दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। भाव यह है कि जन्म लेने में, या मरण में कोई किसी का सहायक, सहभागी नहीं होता।

(एकः तस्य फलं भुंक्ते) अकेला ही उस (कर्म) का फल भी वह भोगता है। कर्म बँध जाने के बाद जब उसका विपाकोदय होता है, तो वही कर्म-कर्ता जीव अकेला ही, असहाय होकर, उस कर्म-फल का अनुभव करता है, कोई दूसरा नहीं करता। एकत्वानुप्रेक्षा में साधक इसी पूर्वोक्त तथ्य को मन में बार-बार चिन्तन करता है, अर्थात् कर्म-अनुभव में स्वयं के एकाकीपने व असहायता का विचार करता रहता है।

अत एवाकलंकाचार्यैः प्रोक्तम्— *''जन्म-जरामरण-वृत्तिमहादुःखानुभवनं प्रति सहायान-पेक्षत्वमेकत्वम्'' (राजवार्तिके, 9/7/4)* **इति। एतामेकत्वानुप्रेक्षां भावयतो जनस्य रागद्वैषौ क्षीयेते, निःसंगता च संवर्द्धते।**

उक्तं च राजवार्तिके *(9/7/4)— ''एवं ह्यस्य भावयतः स्वजनेषु प्रीत्यनुबन्धो न भवति, परजनेषु च द्वेषानुबन्धो नोपजायते, ततो निःसंगतामभ्युपगतो मोक्षायैव घटते''* **इति।**

अतो गाथाया अस्याः सारमिदं यत् फलानुभवने कर्मपरतन्त्रत्वं निस्सहायत्वं विचार्य पूर्वमेव पापादिभ्यो निवृत्तिः कार्या, (प्राक्तनकर्मफलेषु) वर्तमानदुःखादिषु स्वकर्मण एव कारणत्वं, नान्यस्य शत्रुप्रभृतीनामिति च हृदि निर्धार्य, भेदविज्ञानमाश्रित्य च 'अहं तु शुद्धनयेन निर्विकारः, निर्ममः, अबद्धः' इति द्रष्टा ज्ञाता भूत्वा ज्ञानचेतना समाश्रयणीया।

इसीलिए आचार्य अकलंक ने कहा है— ''जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु से सम्बद्ध महादुःख के अनुभव में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं होती''। यही चिन्तन एकत्वानुप्रेक्षा है (राजवार्तिक-9/7/4)। इसी एकत्व अनुप्रेक्षा को भावना में लाते रहने से व्यक्ति के राग-द्वेष क्षीण होते हैं, असंग भाव की वृद्धि भी होती है।

राजवार्तिक (9/7/4) में कहा भी है— ''इस प्रकार (एकत्व) भावना करते हुए जीव का अपने स्वजनों में प्रीति का अनुबन्ध नहीं होता, और परजनों के प्रति द्वेष का अनुबन्ध भी नहीं उत्पन्न होता, फलस्वरूप, निःसंगता को प्राप्त होकर, मोक्ष में ही वह दत्तचित्त हो जाता है।''

इसलिए इस गाथा का सार यही है कि फल भोगने में जीव कर्म के परतन्त्र रहता है और उसका कोई सहायक भी नहीं होता— ऐसा विचार करते हुए, पहले ही पापादि से निवृत्त हो जाना चाहिए, वर्तमान में जो (पुरातन कर्म के फलस्वरूप) सुख-दुःख आदि हैं, उनके सम्बन्ध में ऐसा हृदय में निश्चित कर लेना चाहिए कि मेरे अपने कर्म ही इसमें कारण हैं, कोई अन्य शत्रु आदि कारण नहीं हैं। इसके अतिरिक्त, भेदविज्ञान का अवलम्बन लेते हुए 'मैं तो शुद्ध नय से निर्विकार, ममत्वरहित, अबद्ध हूँ' इस प्रकार ज्ञाता-द्रष्टा भाव रखते हुए 'ज्ञानचेतना' का आश्रय लेना चाहिए।

उक्तं च स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षायाम् *(गाथा-79)*—

सव्वायरेण जाणह एक्कं जीवं सरीरदो भिण्णं।
जम्हि दु मुणिदे जीवे होदि असेसं खणे हेयं।।

शास्त्रकाराः सम्बोधयन्ति एतद्गाथामाध्यमेन यत् भो मनीषिन्! निजशुद्धात्मस्वरूपे रतिं कुरु। मिथ्यात्वरागादिविकल्पजालरहित-निजशुद्धात्मभावनोत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखसंवित्ति-रूपा च या भावना, सैव मुक्तिकारणमिति विचार्य तदर्थमेव यतितव्यम्।

सम्प्रति एकाकिना जीवेनैव पापबन्धः क्रियते, फलमपि तेन एकाकिनाऽनुभूयते —इति शास्त्रकाराः प्रतिपादयन्ति—

एक्को करेदि पावं, विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण।
णिरयतिरियेसु जीवो, तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१५॥

छाया— *एकः करोति पापं विषयनिमित्तेन तीव्रलोभेन।*
नरकतिर्यक्षु जीवः तस्य फलं भुंक्ते एकः॥

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा (गाथा-79) में कहा भी है— "समस्त आदर भाव के साथ यह जानो-समझो कि यह जीव एक है और शरीर से पृथक् है। इस बात को जान लेने पर क्षणभर में ही अन्य सभी पदार्थ हेय हो जाते हैं"।

शास्त्रकार इस गाथा के माध्यम से यह सम्बोधित कर रहे हैं कि हे मनीषी! अपने शुद्ध आत्मीय स्वरूप में ही रति करो। मिथ्यात्व, राग आदि विकल्पों से रहित, स्वशुद्धात्मभावना से प्रादुर्भूत सहज आनन्द मात्र सुख के संवेदन की भावना ही मुक्ति की कारण है— ऐसा विचार कर, उसी के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

अब, शास्त्रकार यह प्रतिपादित कर रहे हैं कि अकेला जीव ही पाप-बंध करता है और फल भी वही अकेला भोगता है—

(15)

(गाथा-अर्थ—) (यह जीव) अकेला विषय-निमित्तक (विषयों के भोग हेतु) तीव्र लोभ के कारण, पाप करता है और नरक व तिर्यञ्च गति में (जाकर) (यह) अकेला (जीव ही) उसका फल भोगता है।

(सर्वोदया टीका—) अन्वयः सुगम एव। अयमज्ञानी जीवः, *(विसयणिमित्तेण)* **विषयान् निमित्तीकृत्य, विषय-सुखप्राप्तिहेतवे। विषयाः पञ्चेन्द्रियभोग्याः, स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः पञ्च भवन्ति। तत्र पञ्च रसाः, पञ्च वर्णाः, द्वौ गन्धौ, अष्ट स्पर्शाः, सप्त स्वराः —इति सर्वे संहत्य सप्तविंशतिः, मनसश्चैकं मिलित्वा अष्टाविंशतिः विषयसंख्या जायते** *(गोम्मट. जीव. 479)*। **एतेषु विषयेषु जीव आसक्तो भवति। ऐहिकसुखदायकेषु इन्द्रियविषयेषु तेषां रागः, दुःखदायिषु इन्द्रियविषयेषु च विरक्तिः, द्वेषो वा जायते। एतौ रागद्वेषावेव पापमूलकौ। शास्त्रकाराणां मते प्रत्येकइन्द्रियविषयासक्तिरेव प्राणिनः कृते मृत्युतुल्यकष्टमादधाति, समस्तपञ्चेन्द्रियविषयसुखेऽविरतिस्तु किं किं न कष्टं दद्यात्?**

इन्द्रियवशीभूतानामज्ञानां तिर्यचां का गतिर्भवति —इति विषये भगवज्जिनसेनाचार्यैः आदिपुराणे *(11/197-206)* **यदभ्यधायि, तन्मननीयमेव सर्वेषां मानवानां कृते—**

(सर्वोदया टीका—) गाथा का अन्वय सुगम ही है। यह अज्ञानी जीव, **(विषय-निमित्तेन)** विषय को निमित्त बनाकर, अर्थात् विषय-सुख की प्राप्ति हेतु। पाँच इन्द्रियों द्वारा भोगे जाने वाले स्पर्श, रस, गंध, रूप व शब्द —ये पाँच विषय हैं। इनमें रस पाँच (प्रकार के) हैं, वर्ण (रूप) पाँच हैं, गन्ध दो हैं, स्पर्श आठ हैं, स्वर (शब्द) सात होते हैं— यह सभी विषय मिलकर सत्ताईस होते हैं। इनमें एक 'मन' (के विषय) को मिलाते हैं तो विषयों की संख्या अट्ठाईस हो जाती है (गोम्मटसार, जीव. 479)। इन विषयों में जीव आसक्त हो जाता है। ऐहिक (लौकिक) सुख देनेवाले इन्द्रिय-विषयों में उसका राग होता है, और जो इन्द्रिय-विषय दुःखदायी होते हैं, उनके प्रति उसका वैराग्य या द्वेष हो जाता है। ये राग व द्वेष ही तो पाप (प्रवृत्ति) के मूल हैं। शास्त्रकारों के अनुसार, एक भी इन्द्रिय की अपने विषय के प्रति आसक्ति हो तो वह (एक आसक्ति) ही जीव को मृत्यु-तुल्य कष्ट देती है। तो फिर समस्त पाँचों इन्द्रियों के (पाँचों) विषयों के सुख भोगने में अविरति हो तो जीव को न जाने क्या-क्या कष्ट प्राप्त होंगे?

जो इन्द्रियों के वशीभूत अज्ञानी तिर्यञ्च हैं, उनकी क्या गति (अवस्था) होती है— इस विषय में आचार्य भगवन्त जिनसेन ने आदिपुराण (11/197-206) में जो कहा है, वह सभी मनुष्यों के लिए मननीय है—

अहो विषयिणां व्यापत्पञ्चेन्द्रियवशात्मनाम्।
विषयामिषगृध्नूनामचिन्त्यं दुःखमायुषाम्॥

वने वनगजास्तुङ्गाः यूथपाः प्रोन्मदिष्णवः।
अवपातेषु सीदन्ति करिणीस्पर्शमोहिताः॥

सरन् सरसि संफुल्लकल्हारस्वादुवारिणि।
मत्स्यो वडिशमांसार्थी जीवनाशं प्रणश्यति॥

मधुव्रतः सदामोदमाजिघ्रन् मददन्तिनाम्।
मृत्युमाह्वयते गुञ्जन् कर्णतालाभिताडनैः॥

पतङ्गः पवनालोलदीपार्चिषि पतन् मुहुः।
मृत्युमिच्छत्यनिच्छोऽपि मषिसाद्भूतविग्रहः॥

यथेष्टगतिका पुष्टा मृदुस्वादुतृणाङ्कुरैः।
गीतासंगान्मृतिं यान्ति मृगयोर्मृगयोषितः॥

"अहो! जो लोग पञ्चेन्द्रियों के वशीभूत होते हैं, उन्हें विषयरूपी मांस की लालसा बनी रहती है, वे अचिन्त्य दु:ख प्राप्त करते हैं, उन्हें दु:ख ही दु:ख मिलता है।"

"वनों में बड़े-बड़े जंगली हाथी अपने अपने झुण्ड के नायक होते हैं, मदोन्मत्त भी होते हैं, किन्तु वे भी हथिनी के स्पर्श के प्रति मोहित होकर गड्ढे में गिरते हैं और दु:ख पाते हैं।"

"जिसका पानी खिले कमलों के कारण स्वादिष्ट हो रहा होता है, ऐसे तालाब में यथेच्छ विहार करने वाली मछलियाँ वंशी में लगे हुए मांस के प्रति अभिलाषा रखने से प्राण गँवा देती हैं।"

"मदोन्मत्त हाथियों के मद की सुगन्ध को ग्रहण करने वाला भौंरा उन हाथियों के कान रूपी पंखों के वार से मृत्यु को प्राप्त होता है।"

"पतंगा वायु के झोंके से टिमटिमाती दीपक की लौ पर बार-बार गिरता है, वह भी स्याही की तरह शरीर को काला करता हुआ, नहीं चाहता हुआ भी मृत्युग्रस्त हो जाता है।"

"इसी प्रकार, हरिणियाँ जो यथेच्छ जंगल में विचरण करती हैं और कोमल स्वादिष्ट तृण-अंकुर चरती हुई पुष्ट होती हैं, वे भी शिकारी के वीणा-गायन से आकृष्ट होकर मरण को प्राप्त होती हैं।"

इत्येकशोऽपि विषये बह्वपायो निषेवित:।
किं पुनर्विषया: पुंसां सामस्त्येन निषेविता:॥

हृतोऽयं'विषयैर्जन्तु: स्रोतोभि: सरितामिव।
श्वभ्रे पतित्वा गम्भीरे दु:खावर्तेषु सीदति॥

विषयैर्विप्रलब्धोऽयम् अधीरति धनायति।
धनायामासितो जन्तु: क्लेशानाप्नोति दु:सहान्॥

क्लिष्टोऽसौ मुहुरार्त: स्यादिष्टालाभे शुचं गत:।
तस्य लाभेऽप्यसंतुष्टो दु:खमेवानुधावति॥

तात्पर्यमिदं वर्तते यन्महान् शक्तिशाली गजोऽपि स्पर्शनेन्द्रियसुखासक्त: स्वयं स्वनिग्रहस्य स्वमृत्योर्वा कारणं भवति। वने भिल्लादय: शक्तिशालिगजस्य निग्रहाय कृत्रिमोपायं समाश्रयन्ति। ते यस्मिन्मार्गे स गजो विचरति, तत्र विशालं गर्तं निर्माय, तृणसमूहेन तद्गर्तमाच्छादयन्ति। तत्समीपे

''इस प्रकार सेवन किया हुआ एक-एक इन्द्रिय-विषय दु:ख से भरा होता है, तो फिर पाँचों ही इन्द्रिय-विषयों के युगपत् सेवन करने पर उसके दुष्परिणाम का क्या कहना?''

''जिस प्रकार नदियों के प्रवाह से खींचा जाता हुआ पदार्थ किसी गहरे गड्ढे में पड़कर उसकी भंवरों में फिरा करता है, वैसे ही इन्द्रिय-विषयों से आकृष्ट प्राणी नरक रूपी गहरे गड्ढे में पड़कर दु:ख रूपी भंवर में फिरा करता है और दु:खी होता रहता है।''

''विषयों से ठगा हुआ वह मूर्ख प्राणी पहले तो अधिक धन की लालसा करता है और धन के लिए प्रयत्न करते-करते दु:खी होकर अनेक क्लेशों को प्राप्त करता है।''

''क्लिष्ट होने से वह दु:खी होता है, यदि कदाचित् मनचाही वस्तु न मिले तो शोकग्रस्त होता है और यदि मनचाही वस्तु मिल भी गई तो वह उतने से सन्तुष्ट नहीं होता और फिर उसी दु:ख की परम्परा में दौड़ता रहता है।''

पूर्वोक्त कथन का तात्पर्य यह है कि महान् शक्तिशाली हाथी भी अपने स्पर्शनेन्द्रिय-सम्बन्धी सुख की आसक्ति रखकर अपने बन्धन या अपनी मृत्यु का कारण बन जाता है। जंगल में भील आदि इस शक्तिशाली हाथी को पकड़ने के लिए कृत्रिम उपाय का सहारा लेते हैं। वे जिस मार्ग से हाथी विचरण करता है, उस मार्ग में एक बड़ा गड्ढा बनाते हैं और घास-फूस से उसे ढक देते हैं। उसी के पास एक कृत्रिम हथिनी

एकां कृत्रिमकरिणीं स्थापयन्ति। मार्गे तां करिणीं दृष्ट्वा, तत्स्पर्शसुखाय आसक्तः स गजः तस्या अन्तिके जिगमिषति, अनन्तरमेव तस्मिन् गर्ते पतितः सुबद्धो निगृहीतो भवति। कदाचिच्च भिल्लास्तं गजं महार्घहस्तिदन्तप्राप्तये व्यापादयन्ति। कदाचितु (स्ववशमानीय) भारादिवहनाय स्ववशे तं स्थापयन्ति। एवं स्पर्शसुखासक्तिरेव तस्य गजेन्द्रस्य कृते दुःखपरम्परां जनयति। एवमेव, मत्स्या रसनेन्द्रियसुखासक्ताः स्वमृत्युं स्वयमेव अङ्गीकुर्वन्ति। नद्यां सरसि समुद्रे वा धीवराः मांसलोभेन मत्स्यानां निग्रहं कुर्वन्ति। तत्र ते रज्जुबद्ध-वंशदण्डस्य अग्रभागे गोधूमचूर्णपिण्डं वेष्टयन्ति, नद्यादौ तं वंशदण्डं प्रक्षिपन्ति, मत्स्याश्च रसनेन्द्रियसुखासक्तिलोभेन गोधूमादिचूर्णपिण्डं भक्षयितुं प्रयतन्ते, तदैव वंशाग्रस्थिततीक्ष्णलौहकण्टकमपि मत्स्यानां ग्रीवाभागं विध्यति, कण्टकानुविद्धान् तान्मत्स्यान् धीवराः स्वकरस्थरज्जुं समाकृष्य जलाद् बहिरानयन्ति। मत्स्यभक्षिणस्तान् क्रीणन्ति। एवं रसनेन्द्रियसुखासक्तिस्तेषां मत्स्यानां मृत्युकारणं भवति। एवं पतङ्गोऽग्निरूपासक्तः पावके पतति, म्रियते च। नेत्रेन्द्रियविषयासक्तिरेव तन्मृत्युहेतुः स्पष्टमेव। एवं भृङ्गाः (भ्रमराः) सुगन्धलोलुपाः

को बैठा देते हैं। मार्ग में उस हथिनी को देखकर, उसके स्पर्श-सुख की आसक्ति के कारण वह हाथी उसके पास आने के लिए उत्कण्ठित हो जाता है। वह तुरन्त ही उस गड्ढे में गिर जाता है और उसे पकड़कर बांध लिया जाता है। वे भील उस हाथी को बहुमूल्य हाथी दांत (आदि) की प्राप्ति के लिए कभी मार भी देते हैं। कभी-कभी उसे (वश में कर) भार आदि ढोने के काम में लगा देते हैं। इस प्रकार, स्पर्शसुख-आसक्ति ही उस गजराज के लिए दुःख-परम्परा का कारण बनती है। इसी तरह, मछलियाँ रसनेन्द्रिय-सुख में आसक्त होकर अपनी मृत्यु को स्वयं वरण करती हैं। नदी, सरोवर या समुद्र में धीवर (मछुआरे) लोग मांस-लोभ से मछलियाँ पकड़ते हैं। वहाँ वे रस्सी से बँधे हुए बांस के डण्डे में आगे गेहूँ के आटे का पिण्ड लपेट देते हैं, उस डण्डे को वे नदी आदि में डाल देते हैं, मछलियाँ रसनेन्द्रिय-सुख की आसक्ति के कारण गेहूँ के आटे के पिण्ड को खाने का यत्न करती हैं, और तभी बांस के आगे लगा हुआ तीक्ष्ण लोहे का काँटा उन मछलियों के गले को बींध देता है। काँटे से बँधी हुई उन मछलियों को मछुआरे अपने हाथ की रस्सी खींचकर जल से बाहर खींच लेते हैं। उन्हें वे मछली खाने वालों को बेच देते हैं। इस तरह, रसना इन्द्रिय के सुख की आसक्ति ही उन मछलियों की मौत का कारण बन जाती है। इसी प्रकार, पतंगा अग्नि के रूप पर आसक्त होकर आग में गिर जाता है और जान गँवा देता है। नेत्रेन्द्रिय के विषय 'रूप' के प्रति आसक्ति ही उसकी मृत्यु का कारण है— यह स्पष्ट ही है। भौंरा सुगन्ध का लोलुप होता है, वह खिले हुए कमल के मध्य बैठता है, सायंकाल

विकसितकमलमध्ये तिष्ठन्ति, सायं सूर्यास्तगमनसमये विकसितकमलं संकुचितं जायते, भृङ्गाश्च तदन्तर्निगृहीता एव भवन्ति। तत्र ते निरुद्धवायुसंचारतया म्रियन्ते, यद्वा वनगजेन तस्मिन् पुष्पे उत्खातिते सति मृत्युग्रस्ता भवन्ति। एवं मृगाः मृग्यो वा संगीतश्रवणोत्सुकाः प्रायो भवन्ति। व्याधजनाः तेषां निग्रहाय वीणाया मधुरध्वनिं कारयन्ति, मृगा मृग्यश्च संगीतध्वनिलुब्धाः तत्रैव स्तब्धाः तिष्ठन्ति, तदैव व्याधजनास्तान् व्यापादयन्ति, निगृह्णन्ति वा। एवमिन्द्रियविषयासक्तिः तिर्यचां प्राणघात-हेतुर्भवत्येव। मनुष्यस्तु सर्वेषामिन्द्रियाणां विषयेषु लुब्धः, तस्य तु दुर्गतेः का कथा! एवं पञ्चेन्द्रिय-वशीभूतोऽज्ञानी जीवः *(तिव्वलोहेण)* **तीव्रेण अत्यधिकेन लोभकषायेन च प्रवृत्तः। लोभः खलु पापस्य प्रमुखं कारणं निरूपितं शास्त्रकारैः।**

उक्तं च ज्ञानार्णवे *(18/108)* —

ये केचित् सिद्धान्ते दोषाः श्वभ्रस्य साधकाः प्रोक्ताः।
प्रभवन्ति निर्विचारं ते लोभादेव जन्तूनाम्॥

सूर्यास्त के समय खिला कमल संकुचित हो जाता है और भौंरा उसी में बन्द हो जाता है। या तो वह प्राणवायु न मिलने से वहीं मर जाता है अथवा किसी जंगली हाथी द्वारा फूल को तोड़कर फेंक दिये जाने से वह जान गँवा देता है। इसी तरह, हरिणों या हरिणियों में संगीत-श्रवण की उत्सुकता प्रायः रहती है। बहेलिये लोग उन्हें पकड़ने के लिए, वीणा की मधुर-ध्वनि करते हैं और हरिण व हरिणियाँ उस संगीत की ध्वनि से लुब्ध होकर वहीं स्तब्ध रूप में ठहर जाते हैं, और उसी समय बहेलिये उन्हें मार देते हैं या बाँध लेते हैं। इस तरह, इन्द्रिय-विषय की आसक्ति उन पशुओं के प्राण-वध का कारण होती ही है। मनुष्य तो सभी (पाँचों) इन्द्रियों के विषयों के प्रति आसक्त रहा करता है, उसकी दुर्गति का तो क्या कहना। इस तरह, पाँचों इन्द्रियों के वशीभूत हुआ अज्ञानी प्राणी, **(तीव्रलोभेन)** तीव्र यानी अत्यधिक लोभ रूप कषाय के कारण प्रवृत्ति करता है। निश्चय ही लोभ को शास्त्रकारों ने पाप के प्रमुख कारण के रूप में निरूपित किया है।

ज्ञानार्णव (18/108) में कहा भी है—

"सिद्धान्त ग्रन्थों में नरक के जो भी प्रमुख कारण कहे गये हैं, वे प्राणियों में लोभ के कारण ही विवेकहीनता में उत्पन्न होते हैं।"

लोभाविष्टो जन: किं किं न पापं करोति ? लोभी जनो हिंसां निर्लज्जतया करोति, असत्यं च वदति, परिग्रह-संचयं करोति, चौर्यं करोति, अब्रह्मसेवने च निरतो भवति। अत एव लोभं सर्वानर्थकरं व्यसनं वदन्ति विज्ञा: । लोभी जन: स्वामिगुरुप्रभृतीनामपि नि:शङ्कतया प्राणवधे प्रवृत्तो भवति।

उक्तं च ज्ञानार्णवे *(18/107)*—

स्वामिगुरुबन्धुवृद्धान् अबलाबालांश्च जीर्णदीनादीन्।
व्यापाद्य विगतशङ्को लोभार्तो वित्तमादत्ते॥

(एक्को) **एकाकी एव, तीव्रलोभाविष्ट:, निजात्मसुधारसं विहाय विषयासक्तोऽज्ञानी जीव: एकाकी एव, न तस्य दुष्परिणामभोगे कोऽपि सहायको भवति। उक्तं च ज्ञानार्णवे** *(2/89)* —

सहाया अस्य जायन्ते, भोक्तुं वित्तानि केवलम्।
न तु सोढुं स्वकर्मोत्थां निर्दयां व्यसनावलीम्॥

लोभ के आवेश में व्यक्ति कौन-कौन सा पाप नहीं करता ? लोभी व्यक्ति निर्लज्ज होकर हिंसा करता है, असत्य भाषण करता है, परिग्रह-संचय करता है, चोरी करता है, अब्रह्म-सेवन में तत्पर रहता है। इसीलिए विद्वान् लोग लोभ को समस्त अनर्थों का कारण एक व्यसन मानते हैं। लोभी व्यक्ति अपने स्वामी, गुरु, बन्धु-बान्धव आदि तक के प्राण लेने में नि:शंक होकर प्रवृत्त होता है।

ज्ञानार्णव (18/107) में कहा भी गया है—

''लोभी व्यक्ति निर्दय होकर स्वामी, गुरु, बन्धु, वृद्ध, स्त्री, बालक, दुर्बल व दरिद्र आदि प्राणियों का वध करता हुआ उनके धन को छीनता है।''

(एक:) एकाकी ही, तीव्र लोभ से युक्त एवं अपने आत्मीय सुधारस को छोड़कर विषयों में आसक्त रहने वाला अज्ञानी व्यक्ति एकाकी ही रहता है, (अर्थात्) पाप-कर्मों के दुष्परिणाम भोगते समय उसका कोई सहायक नहीं होता। ज्ञानार्णव (2/89) में कहा गया है—

''इस (लोभी व्यक्ति) के मात्र धन-वैभव का सुख भोगने के लिए तो अनेक सहायक हो जाते हैं, किन्तु उस (पाप के) धन को संचित करने में उसने जिस (पाप-) कर्म को उपार्जित किया है, उससे उत्पन्न हुए क्रूर दु:खों के समूह के भोगने में उनमें से कोई भी सहायक नहीं होता।''

एवं वस्तुस्थितिमजानन्, *(जीवो पावं करेदि)* **जीवः पापकार्यं करोति। हिंसा-असत्य-चौर्य-कुशील-परिग्रहसंज्ञकानि पञ्च पापानि प्रमुखतः प्रसिद्धानि। समस्तानि दुष्कृत्यानि एतेषां पञ्चानामेव वृक्षभूतानां शाखाप्रशाखाभूतानि विज्ञेयानि। तथा पापकारी स जनः,** *(एक्को)* **एकाकी एव, निःसहायतया,** *(णिरयतिरियेसु)* **नरकतिर्यग्गतिषु तत्पापकर्मकारणात् जन्म लब्ध्वा,** *(तस्स फलं भुंजदे)* **तस्य फलं भुंक्ते, अनुभवति। लोभनिमित्तकपापकर्मकुफलान्यनुभवन् स तदा किं शोचति, चिन्तयति वेतिविषये ज्ञानार्णवे** *(33/46-47)* **प्रोक्तम्—**

न दृश्यन्तेऽत्र ते भृत्या न पुत्रा न च बान्धवाः।
येषां कृते मया कर्म कृतं स्वस्यैव घातकम्॥

न कलत्राणि मित्राणि, न पापप्रेरको जनः।
पदमप्येकमायातो मया सार्द्धं गतत्रपः॥

वस्तुतः स्वकृतं कर्मैव सहायकं घातकं वेति मन्तव्यम्। ज्ञानार्णवे *(33/51)* **प्रोक्तमपि—**

इस प्रकार वस्तुस्थिति को न समझ कर, (जीवः पापं करोति) जीव पाप कर्म में प्रवृत्त होता है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील (अब्रह्मचर्य) व परिग्रह नाम वाले पाँच पाप प्रमुखतया प्रसिद्ध हैं। (अन्य) समस्त दुष्कृत्य इन्हीं पाँच पाप रूपी वृक्षों की शाखा-प्रशाखाएँ हैं— ऐसा जानना चाहिए। तथा वह पापी व्यक्ति **(एकः)** अकेला ही, बिना किसी सहायक के ही, **(नरकतिर्यक्षु)** नरक व तिर्यंच गतियों में, उन पाप-कर्मों के कारण, जन्म लेकर, **(तस्य फलं भुंक्ते)** उन पापों का फल भोगता है, अनुभव करता है। इस लोभ के कारण अर्जित पाप कर्मों के कुफल को भोगते हुए वह तब क्या सोचता है या चिन्तन करता है— इस विषय में ज्ञानार्णव (33/46-47) में इस प्रकार कहा गया है—

"जिन नौकर-चाकर आदि के लिए मैंने अपना ही विनाश करनेवाले दुष्कर्म का आचरण किया है, उनमें से (कोई भी) न तो नौकर अब दिखाई देते हैं, न पुत्र दिखते हैं, न ही बन्धु दिखते हैं। मेरी स्त्रियाँ, मित्र और निर्लज्ज होकर मुझे पाप की ओर प्रेरित करने वाले दूसरे लोग भी इस समय मेरे साथ एक कदम भी साथ नहीं चले।"

वस्तुतः अपने द्वारा किया हुआ (सुकृत या दुष्कृत) कर्म ही सहायक या घातक होता है— यह मानना चाहिए। ज्ञानार्णव (33/51) में भी कहा गया है—

सहाय: कोऽपि कस्यापि नाभून्न च भविष्यति।
मुक्त्वैकं प्राक्कृतं कर्म, सर्वसत्त्वाभिनन्दकम्॥

गाथायास्तात्पर्यमिदं यत् पापकर्मसम्बन्धिनीं प्रोक्तां वस्तुस्थितिं सम्यक् विचार्य, तत्त्यागाय प्रयतितव्यम्, अन्यथा तदीयदुष्परिणामा: भोक्तव्या एव भविष्यन्ति, न कश्चिदपि तत्र सहायक:, त्रायको वा प्राप्स्यते —इत्येवं मनसि वारंवारं भावनीयमनुप्रेक्षणीयं वेति।

अथ एकाकिना जीवेनैव सत्पात्रदाननिमित्तं पुण्यकर्म समर्ज्यते, एकाकिनैव च तेन सुगतिप्राप्तिरूपं तदीयफलं समनुभूयते —इति सम्प्रति आचार्यवर्यै: विव्रियते—

एक्को करेदि पुण्णं, धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण।
मणुय-देवेसु जीवो, तस्स फलं भुंजदे एक्को।।१६।।

छाया— *एक: करोति पुण्यं धर्मनिमित्तेन पात्रदानेन।*
मनुजदेवेषु जीव:, तस्य फलं भुंक्ते एक:।।

''सभी प्राणियों को अभिनन्दित या सुखी करने वाले पूर्वकृत कर्म को छोड़कर अन्य कोई भी किसी का न कभी सहायक हुआ है और न कभी भविष्य में होगा।''

प्रकृत गाथा का यह तात्पर्य है कि पाप कर्म से सम्बन्धित उक्त वस्तुस्थिति को अच्छी तरह विचार कर, उस पाप को छोड़ने का यत्न करना चाहिए, अन्यथा उसके दुष्परिणामों को भोगना ही पड़ेगा, तब उस स्थिति में कोई सहायक या रक्षक व्यक्ति उपलब्ध नहीं होगा— ऐसी मन में बार-बार भावना या अनुप्रेक्षा करनी चाहिए।

अब, एकाकी जीव ही सत्पात्र को दान देने के कारण पुण्य का उपार्जन करता है और उस कर्म का सुगति-प्राप्ति रूप फल भी वह एकाकी ही भोगता है— ऐसा आचार्यप्रवर स्पष्ट कर रहे हैं—

(16)

(गाथा-अर्थ—) जीव अकेला ही धर्म के कारणभूत (सु) पात्र-दान द्वारा पुण्य (अर्जित) करता है और अकेला ही मनुष्य व देवों में (जन्म लेकर) उस (पुण्य) का फल भोगता है।

(सर्वोदया टीका—) *(एक्को)* **एकाकी एव** *(जीवो)* **संसारी जीवः,** *(धम्मणिमित्तेण)* **धर्मानुष्ठाने निमित्तभूतेन, कारणभूतेन,** *(पत्तदाणेण)* **पात्रदानेन,** *(पुण्णं करेदि)* **पुण्यं पुण्यार्जनं पुण्यबन्धं वा करोति। अत्रेदं विज्ञेयम्— परानुग्रहबुद्ध्या स्वस्यातिसर्जनं दानं** *(सर्वार्थसिद्धि-6/12)* **कथ्यते। दानमनेकविधम्— आहारदानम्, औषधदानम्, संयमोपकरणदानम्, आवासदानम्, अभयदानम्, ज्ञानदानमित्यादिरूपम्। एतद्दानं धर्मनिमित्तं सम्यग्दृष्टेरेव भवति, न तु मिथ्यादृष्टेरभव्यस्य वा।**

उक्तं च श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रवरैः भावप्राभृते *(गाथा-82)*—

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि।
पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं।।

मिथ्यादृष्टेः धर्मश्रद्धानं तत्त्वार्थश्रद्धानं वा न भवति। स मिथ्यात्ववशात् 'संवरनिर्जराभ्यां मोक्षः, यद्वा निजशुद्धस्वभावरूपो धर्मः, तत्फलं मोक्षः' —इत्यादिश्रद्धानाभावात् यद् यत् कर्म करोति, तत्र भोगाकांक्षा एव प्रेरिका, न हि मोक्षाकांक्षा भवति। पञ्चेन्द्रियविषयाधीनतया तस्य

(सर्वोदया टीका—) (एकः) अकेला ही। (जीवः) संसारी जीव **(धर्मनिमित्तेन)** धर्मानुष्ठान में निमित्तभूत, कारणभूत **(पात्रदानेन)** पात्र को दिये गये दान से, **(पुण्यं करोति)** पुण्य अर्जित करता है, अर्थात् पुण्य का बन्ध करता है। यहाँ यह जानना चाहिए— अन्य पर अनुग्रह बुद्धि के साथ अपने स्वत्व का त्याग करना दान कहा जाता है (सर्वार्थसिद्धि- 6/12)। यह दान अनेक प्रकार का होता है, जैसे आहारदान, औषध-दान, संयम-सम्बन्धी उपकरणों का दान, आवास का दान, अभयदान और ज्ञानदान आदि-आदि। यह दान धर्म में निमित्त होता है तो वह सम्यग्दृष्टि के लिए ही, न कि मिथ्यादृष्टि या अभव्य प्राणी के।

आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द ने भावप्राभृत (गाथा-82) में कहा भी है— "जो प्राणी पुण्य का श्रद्धान करता है, उसी पर प्रतीति करता है, उसे ही अच्छा समझता है और बार-बार उसे ही धारण करता है, उसका वह कार्य भोग का तो कारण हो सकता है, किन्तु कर्म-क्षय का नहीं।"

मिथ्यादृष्टि को धर्म पर या तत्त्वों पर श्रद्धान नहीं होता। मिथ्यात्व के कारण उसे यह श्रद्धान नहीं होता कि मोक्ष की प्राप्ति संवर व निर्जरा से होती है या निज शुद्धात्मा का स्वभाव ही धर्म है और उसी का फल मोक्ष है इत्यादि। अतः वह जो जो कर्म करता है, उसमें उसकी भोग-सम्बन्धी आकांक्षा ही प्रेरक होती है, न कि मोक्ष की आकांक्षा। वह पंचेन्द्रियों के विषयों के अधीन होता है, इसलिए उसकी रति भोग की

भोगे एव रतिर्भवति, न तु कदाचिदात्मरतिः। शुद्धात्मस्वरूपपरिचयोऽपि तस्य नास्त्येव। कामभोगकथैव तस्य बहिरात्मनः सुपरिचिता। अतो बाह्यसांसारिकभोगाकांक्षयैव, आकुलीभूतः सन् स 'धर्मो भोग-साधनम्' इत्येव श्रद्दधाति, प्रत्येति, तदेव तस्मै रोचते, तथा वारं वारं तथैवाचरति, ततश्च दुर्लभमनुष्यपर्यायं प्राप्यापि तं निष्फलं करोति।

समयसारस्य तात्पर्यवृत्तौ *(गाथा-224-227)* **विशदतया कथितमपि—** *''कोऽपि जीवोऽभिनवपुण्यकर्मनिमित्तं भोगाकांक्षानिदानरूपेण शुभकर्मानुष्ठानं करोति, सोऽपि पापानुबन्धिपुण्यराजा कालान्तरे भोगान् ददाति। तेऽपि निदानबन्धेन प्राप्ता भोगा रावणादिवत् नारकादिदुःखपरम्परां प्रापयन्ति — इति भावार्थः।''*

किन्तु सम्यग्दृष्टिः श्रद्दधाति यत् विषयसुखं क्षणिकं सुखाभासरूपं च, कामभोगासक्तिरिह परत्र च दुःखपरम्परामेव जनयति। अतः स विषयकषायवञ्चनार्थं यद्यपि कदाचित् व्रतशीलदान-

---

तरफ होती है, कभी आत्म-रति नहीं हो पाती। शुद्धात्मस्वरूप से तो वह परिचित ही नहीं होता। उस बहिरात्मा के लिए कामभोगकथा ही सुपरिचित होती है। अतः बाह्य सांसारिक भोग की ही आकांक्षा के कारण वह आकुल-व्याकुल होता हुआ 'धर्म भोग का साधन है' —इसी मान्यता पर श्रद्धा करता है, उसी की प्रतीति करता है, वही उसे अच्छा लगता है, उसी का वह बार-बार आचरण करता है। फलस्वरूप, वह दुर्लभ मनुष्य-पर्याय को प्राप्त करके भी उसे बेकार गँवा देता है।

समयसार (गाथा-224-227) की टीका तात्पर्यवृत्ति में कहा भी है— ''कोई एक (मिथ्यादृष्टि जीव नवीन पुण्य कर्म के निमित्तभूत शुभ कर्म का अनुष्ठान, अपनी भोगाकांक्षा के निदान रूप से करता है, तो वह पापानुबन्धी पुण्य रूपी राजा कालान्तर में उसे भी विषयभोग उपलब्ध कराता है। निदान-बन्ध पूर्वक प्राप्त होने वाले वे विषय-भोग भी, रावण आदि की तरह, उसे अगले भव में नरक आदि की दुःख-परम्परा में डालते हैं— यह तात्पर्य है।''

किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव की इस बात पर श्रद्धा रहती है कि विषय-सुख क्षणिक है और सुख न होकर सुखाभास (नकली सुख) रूप हैं, और काम-भोग में आसक्ति इस लोक और परलोक, दोनों में दुःख-परम्परा को ही उत्पन्न करती है। इसलिए वह (सम्यग्दृष्टि), इस उद्देश्य से कि विषय-कषाय में कहीं लिप्त न हो जाऊँ, कभी-कभी व्रत, शील, दान आदि शुभ कर्मों का आचरण भी करता है, किन्तु उसकी भोगों में

प्रभृतिशुभकर्मानुष्ठानं करोति, तथापि भोगाकांक्षाया अभावात् निदानबन्धरहितमेव तद् भवति, तस्य पुण्यानुबन्धिपुण्यरूपः, तेन भवान्तरे, पूर्वजन्मभावितभेदविज्ञानवासनाबलेन भरतादीनामिव रागादिपरिणामाभावात् न तस्य पुनः दुःखपरम्परा प्रवर्तते।

अयम्भावः— सम्यग्दृष्टिः उपादेयरूपेण स्वशुद्धात्मानमेव भावयति। चारित्रमोहोदयात् तत्रासमर्थः, विषयकषायदुर्ध्यानत्यागाय दानादिके शुभकर्मणि प्रवृत्तो भवति, तेन पुण्यबन्धः। भवान्तरे च तदर्जितपुण्यकर्मफलरूपवैभवादिप्राप्तौ सत्यामपि, स तत्र भरतादिक इव निरासक्त एव तिष्ठति, तेन नवकर्मबन्धपरम्परा न प्रवर्द्धते —इति। एवं पुण्यफलभोगे मिथ्यादृष्टि-सम्यग्दृष्ट्योर्विशेषः। किन्तु उभावेव पुण्यफलमेकाकिनौ एव भुञ्जाते —इति तात्पर्यम्।

अत्र धर्मनिमित्तकं पात्रदानं यत्कथितम्, तत्र धर्मशब्देन दुर्ध्यानप्रतिरोधिधर्मध्यानमपि बोध्यम्। सम्यग्दृष्टिः श्रावकः प्रतिदिनं षडावश्यकानि समाचरति, तेषु दानमपि परिगण्यते।

आकांक्षा नहीं रहती, अतः उसका पुण्य-बन्ध निदानपूर्वक नहीं होता, एवं उसका कर्मबन्ध पुण्यानुबन्धी पुण्य रूप होता है, फलस्वरूप अगले जन्म में, पूर्व जन्म में भावित भेदविज्ञान की वासना (संस्कार) के बल से, भरत आदि की तरह रागादि परिणामों के अभाव होने से उसे पुनः दुःखपरम्परा में नहीं जाना होता।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि निज शुद्धात्मा को ही उपादेय मानता है, किन्तु चारित्र -मोह के उदय से, उस (शुद्धात्मभावना में ही रहने) में असमर्थ होता हुआ, विषय-सम्बन्धी रागादि कषाय रूप दुर्ध्यान से बचने की दृष्टि से दान आदि शुभकर्म में प्रवृत्त होता है, जिससे उसे पुण्य बन्ध होता है। अगले जन्म में उस अर्जित पुण्य कर्म के फलस्वरूप वैभव आदि की प्राप्ति होने पर भी, वह (सम्यग्दृष्टि) भरत (चक्रवर्ती) आदि की तरह निरासक्त ही रहता है, जिससे नवीन कर्मों के बन्ध की परम्परा आगे नहीं बढ़ती। इस प्रकार, पुण्य-फल को भोगने में मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि (की भावनाओं) में अन्तर समझना चाहिए। किन्तु, दोनों ही व्यक्ति अपने पुण्य-फल को अकेले ही भोगते हैं—यह तात्पर्य है।

यहाँ जो पात्रदान को धर्मनिमित्तक कहा गया है, वहाँ 'धर्म' शब्द से दुर्ध्यान का विरोधी धर्मध्यान अर्थ भी ग्राह्य है। सम्यग्दृष्टि श्रावक प्रतिदिन छः आवश्यक क्रियाओं का अनुष्ठान करता है, उनमें दान भी परिगणित है।

उक्तं च पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे *(6/7)*—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानञ्चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने।।

दानं श्रावककृत्येषु प्रमुखं कृत्यं शास्त्रकारैर्निर्दिष्टम्। यथा रयणसारे *(गाथा-11)* **प्रोक्तम्—** *''दाणं पूया मुक्खं सावयधम्मे, ण सावया तेण विणा''* **इति।**

अत्रेदं विज्ञेयम्— सम्यग्दृष्टिश्रावकेन कृतं सत्पात्रदानं व्यवहारधर्माचरणं तु भवत्येव, निश्चयधर्मध्यानसाधकमपि भवति। अत्र आरेका स्यात् यत् चतुर्थपञ्चमगुणस्थानयोः निश्चयधर्मध्यानाभावः, तस्य तु सप्तमगुणस्थानादेव आरम्भः इति। समाधानं चात्र समुपस्थाप्यते यत् परम्परया निश्चयधर्मध्यानसाधकं यद्भवति तद् व्यवहारधर्मध्यानं तस्य भवतीत्यभिप्रेतम्।

अत एव देवसेनाचार्यैः भावसंग्रहे *(गाथा-371)* **प्रत्यपादि—**

पद्मनन्दिपंचविंशतिका ग्रन्थ (6/7) में कहा भी गया है—

''देवपूजा, गुरु-सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप व दान —ये गृहस्थों के छः कर्म हैं जो प्रतिदिन किये जाते हैं।''

दान को शास्त्रकारों ने श्रावक के कृत्यों में प्रमुख कृत्य के रूप में निर्दिष्ट किया है। रयणसार (गाथा-11) में कहा भी गया है— ''दान व पूजा —ये मुख्यतः श्रावक-धर्म हैं, इनके बिना श्रावक नहीं कहलाते।''

यहाँ यह जानना चाहिए कि सम्यग्दृष्टि श्रावक द्वारा सत्पात्र को जो (प्रशस्त) दान दिया जाता है, वह व्यवहार धर्म का आचरण तो है ही, निश्चय धर्मध्यान का साधक भी होता है। यहाँ यह शंका की जा सकती है कि चतुर्थ व पंचम गुणस्थान में (श्रावक की अवस्था में) तो निश्चय धर्म ध्यान होता नहीं, क्योंकि उसका प्रारम्भ सप्तम गुणस्थान से ही होता है। इसका समाधान यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है कि परम्परा से निश्चय धर्मध्यान का साधन है— ऐसा व्यवहार धर्मध्यान उनको होता है, यह अभिप्राय है।

इसी दृष्टि से आचार्य देवसेन ने भावसंग्रह (गाथा-371) में कहा गया है—

मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पमायविरहिए ठाणे।
देसविरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्वं।।

अतो विज्ञेयं यत् श्रावकः सम्यक्त्वसम्पन्नः सत्पात्रदानादिना साधुपरमेष्ठिनां सत्सङ्गतिमवाप्नोति, तेन च संसारासक्तेर्नाशः, विरक्तेश्च वृद्धिः, क्रमशो निश्चयधर्मध्याने च रुचिः प्रवर्द्धते, संस्कारवशात् परभवेऽपि विरक्तिः, प्रव्रजितस्य निश्चयधर्मध्यानावाप्तिश्च सम्भवति। अतः पारम्पर्येण निश्चयधर्मध्यानं सिषाधयिषया श्रावकेण प्रतिदिनं सत्पात्रदानं कर्तव्यम्, कुपात्रदानात्तु सावधानतया निवर्तितव्यम्। एवं तस्य कृते सत्पात्र-कुपात्रविवेक आवश्यकः।

संसारसागरस्य स्वयं तरणे, तथा अन्येषामपि तारणे यः समर्थः, स एव सत्पात्रम्। व्यवहारे च काष्ठं स्वयं नद्यां तरति, नौकारूपेण अन्यानपि तारयति, किन्तु पाषाणं न स्वयं तरति, न चान्यांस्तारयति, एवमेव सत्पात्रमेव संसारतारणविधौ समुपयोगि भवति। सत्पात्र-उत्तमपात्र-अपात्रविषये स्वयं ग्रन्थकारा अग्रे गाथाद्वये निरूपयिष्यन्ति।

''मुख्य रूप से धर्मध्यान अप्रमत्त (सातवें) गुणस्थान में होता है, प्रमत्त व देशविरति गुणस्थान में (तो) उपचार से ही वह माना जाता है— ऐसा समझना चाहिए।''

इस प्रकार यह जानें कि कोई सम्यत्वयुक्त श्रावक सत्पात्र-दान आदि द्वारा साधु परमेष्ठियों की सत्संगति प्राप्त करता है, उससे संसार-आसक्ति नष्ट होकर वैराग्य की वृद्धि होती है, क्रमशः निश्चय धर्मध्यान में भी रुचि बढ़ती है और संस्कार-वश अन्य जन्म में भी विरक्ति के भाव उदित होते हैं, और प्रव्रजित होने की स्थिति में निश्चय धर्मध्यान की प्राप्ति भी सम्भव होती है। इसलिए परम्परया निश्चय धर्मध्यान की सिद्धि की कामना से श्रावक को चाहिए कि वह प्रतिदिन सत्पात्रों को दान करे और सत्पात्र व कुपात्र-दान से स्वयं को दूर रखे। इस प्रकार उसके लिए सत्पात्र व कुपात्र के अन्तर का ज्ञान जरूरी हो जाता है।

सत्पात्र तो वही है जो स्वयं संसार-सागर को पार करने में समर्थ हो और दूसरों को भी तारने में सक्षम हो। व्यवहार में हम देखते हैं कि काष्ठ स्वयं नदी में तैरता है और नौका के रूप में (प्रयुक्त होकर) दूसरों को भी तैरने में सहायक होता है, किन्तु पाषाण न स्वयं तैरता है और न अन्य किसी को पार कराता है, इसी तरह सत्पात्र ही संसार के पार करने की विधि में उपयोगी होता है। सत्पात्र, उत्तम पात्र, अपात्र —इनके (स्वरूपादि के) विषय में स्वयं ग्रन्थकार आगे की दो गाथाओं (17-18) में स्पष्टीकरण करने जा रहे हैं।

कुपात्रेभ्यो मिथ्यादृष्टिभ्यो यद्वा मिथ्याचारित्रमाचरद्भ्य: कृतं दानं कुगतिदायकमेवेति विस्तरेण शास्त्रकारैरुपदिष्टम्। यथा जिनसेनाचार्यै: प्रोक्तं हरिवंशपुराणे *(7/115)*—

कुपात्रदानतो भूत्वा तिर्यंचो भोगभूमिषु।
संभुञ्जतेऽन्तरं द्वीपं कुमानुषकुलेषु वा।।

तथा तत्रैव *(हरिवंशपुराणे-7/118-119)*—

अम्बु निम्बद्रुमे रौद्रं कोद्रवे मदकृद् यथा।
विषं व्यालमुखे क्षीरमपात्रे पतितं तथा।।

सुपात्रे सुफलं दानं कुपात्रे कुफलं भवेत्।
अपात्रे दु:खदं तस्मात् पात्रेभ्य: प्रतिपादयेत्।।

एवमेव अमितगतिश्रावकाचारे *(11/84-88)* **निरूपितं वर्तते**—

कुपात्रदानतो याति कुत्सितां भोगमेदिनीम्।
उप्ते क: कुत्सिते क्षेत्रे सुक्षेत्रफलमश्नुते।।

कुपात्र या मिथ्यादृष्टि या मिथ्याचारित्र के धारकों को दिया गया दान कुगति देने वाला ही होता है— ऐसा विस्तार से शास्त्रकारों ने बताया है। उदाहरणार्थ, आचार्य जिनसेन-कृत हरिवंशपुराण (7/115) में कहा गया है— ''कुपात्र-दान के दुष्प्रभाव से मनुष्य भोगभूमियों में तिर्यञ्च होते हैं अथवा कुमानुष कुलों में पैदा होकर अन्तर्द्वीपों का उपभोग करते हैं।''

और वहीं (हरिवंशपुराण-7/118-119) यह भी कहा गया है— ''जिस प्रकार नीम के वृक्ष में पड़ा हुआ पानी कड़वा हो जाता है, कोदों में दिया हुआ पानी मदकारक हो जाता है और सर्प के मुख में पड़ा हुआ दूध विष हो जाता है, उसी प्रकार सुपात्र को दिया हुआ दान सुफल को देता है, कुपात्र को दिया दान कुफल को देता है, और अपात्र को दिया दान दु:खदायक होता है, अत: पात्र (सत्पात्र) को ही दान देना चाहिए।''

इसी तरह, अमितगति-कृत श्रावकाचार (11/84-88) में बताया गया है—

''कुपात्र-दान से जीव कुभोगभूमियों में उत्पन्न होता है। यह ठीक ही है, क्योंकि कुत्सित क्षेत्र में बीज बो कर किसे उत्तम क्षेत्र का फल प्राप्त हो पाता है?''

येऽन्तरद्वीपजाः सन्ति ये नरा म्लेच्छखण्डजाः।
कुपात्रदानतः सर्वे ते भवन्ति यथायथम्।।

वर्यमध्यजघन्यासु तिर्यञ्चः सन्ति भूषु ये।
कुपात्रदानवृक्षोत्थं भुञ्जन्ते तेऽखिलाः फलम्।।

दासीदासद्विपम्लेच्छसारमेयादयोऽत्र ये।
कुपात्रदानतो भोगस्तेषां भोगवतां स्फुटम्।।

दृश्यन्ते नीचजातीनां ये भोगा भोगिनामिह।
सर्वे कुपात्रदानेन ते दीयन्ते महोदयाः।।

कुपात्राय सुवर्णादिदानमपि दातुः कुपात्रस्य चाहितमेव करोति। तत एवोक्तं तत्रैव *(अमितगति-श्रावकाचारे-9/50)—*

"अन्तर्द्वीपों व म्लेच्छ खण्ड में जो मनुष्य उत्पन्न होते हैं, वे सभी कुपात्र-दान से ही यथायोग्य स्थिति प्राप्त करने वाले होते हैं।"

"उत्तम, मध्यम, जघन्य भोगभूमियों में जो तिर्यंच हैं, वे सब कुपात्र-दान रूपी वृक्ष के फल का ही भोग करते हैं।"

"इस आर्यखण्ड में दास-दासी, हाथी, म्लेच्छ व कुत्ते आदि जो भी जीव हैं वे कुपात्र-दान के फल रूप भोग को ही भोग रहे हैं।"

"इसी तरह, इस आर्यखण्ड में नीच जाति के भोगी जीव हैं, उन्हें भी कुपात्र-दान के द्वारा प्रदत्त कुफल प्राप्त है।"

कुपात्र को सुवर्ण (जैसी वस्तु) आदि का दान भी किया जाय तो वह दाता और कुपात्र —दोनों का अहितकर ही होता है। इसी दृष्टि से वहीं (अमितगति-कृत श्रावकाचार-9/50) यह भी कहा गया है—

तद् येनाष्टापदं यस्य दीयते हितकाम्यया।
स तस्याष्टापदं मन्ये दत्ते जीवितशान्तये।।

आचार्यकुन्दकुन्दैरपि प्रवचनसारे *(3/57)* **प्रोक्तम्—**

अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु।
जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुवेसु।।

सम्यग्दृष्टिना सत्पात्रेभ्यो विहितं दानं स्वर्गसुखादिकं प्रयच्छति। उक्तं च अमितगति-श्रावकाचारे *(11/102, 123)*—

पात्राय विधिना दत्वा दानं मृत्वा समाधिना।
अच्युतान्तेषु कल्पेषु जायन्ते शुद्धदृष्टयः।।

निषेव्य लक्ष्मीमितिशर्मकारिणीं प्रथीयसीं द्वित्रिभवेषु कल्मषम्।
प्रदह्यते ध्यानकृशानुनाऽखिलं श्रयन्ति सिद्धिं विगतापदं सदा।।

"(कुपात्र को) यदि कोई हित-कामना से सुवर्ण देता है, तो वह मानो उस क्रूर (अष्टापद) हिंसक जीव का ही दान देता है (अर्थात् व हित के बजाय अहित ही करता है, और दाता को भी उसका दुष्परिणाम भोगना होता है)।"

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी प्रवचनसार (3/57) में कहा है—

"परमार्थ से अनभिज्ञ तथा विषय-कषाय की अधिकता वाले व्यक्तियों की सेवा करना, चाकरी करना एवं उन्हें दान देना कुदेवों व नीच मनुष्यों में उत्पत्ति में प्रतिफलित होता है।"

किन्तु सम्यग्दृष्टि द्वारा सत्पात्रों को किये गये दान से उसे स्वर्ग-सुख आदि सुफल प्राप्त होता है। अमितगति-कृत श्रावकाचार (11/102,123) में कहा गया है—

"सम्यग्दृष्टि जीव पात्र को विधिपूर्वक दान देकर, तथा समाधि-मरण कर अच्युत कल्प तक के स्वर्गों में उत्पन्न होते हैं।"

"इस प्रकार अत्यन्त सुखदायी विशिष्ट लक्ष्मी के सुख को भोगकर, दो-तीन भवों में ध्यान-अग्नि से समस्त पाप कर्मों का दहन कर निरापन्न मोक्ष-सिद्धि को प्राप्त करते हैं।"

रयणसारे *(गाथा-16)* **च प्रत्यपादि—**

दिण्णदि सुपत्तदाणं विसेसदो होदि भोगसग्गमही।
णिव्वाणसुहं कमसो णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं।।

अस्मिन् प्रसङ्गे दानस्वरूपमपि धवलाग्रन्थे *(पु. 13, खण्ड-5, भाग-5, सू. 137)* **यत् निरूपितं तदपि मननीयम्—** *''रत्नत्रयवद्भ्यः स्ववित्तपरित्यागो दानं रत्नत्रयसाधनदित्सा वा''* **इति।**

देयवस्तूनामपि रत्नकरण्डश्रावकाचारे *(श्लोक-117)* **निर्देशः कृतः—**

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन।
वैय्यावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः।।

एवं चतुर्विधदानं तथा वैयावृत्त्यसंज्ञकमन्तरङ्गं तपश्च सर्वथाऽऽदरेण समनुष्ठेयम्। दानकार्यं श्रावकस्य कृते 'अतिथिसंविभाग'-संज्ञकव्रतरूपेण तृतीये शिक्षाव्रते परिगणितं वर्तते।

रयणसार (गाथा-16) में भी प्रतिपादित किया गया है—

''सुपात्र को दिये गये दान के फलस्वरूप विशेष रूप से भोगभूमि व स्वर्ग की प्राप्ति होती है और क्रमशः निर्वाण-सुख मिलता है— ऐसा जिनेन्द्र देवों ने कहा है।''

दान के जिस स्वरूप को धवला ग्रन्थ (पु. 13, खण्ड-5, भाग-5, सू. 137) में बताया गया है, वह भी इस प्रसङ्ग में मननीय है— ''रत्नत्रय के धारक (मुनियों) के लिए अपने धन-वैभव का त्याग करना या रत्नत्रय के साधन (उपकरणादि) के दान की इच्छा (भावना) —यही 'दान' कहलाता है।''

देय वस्तु के सम्बन्ध में भी रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-117) में (आचार्य समन्तभद्र) ने इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है—

''चार ज्ञानों के धारक गणधरों ने आहार, औषध व ज्ञान के साधन शास्त्रादि उपकरण एवं निवासस्थान के दान द्वारा किये जाने वाले चार प्रकार के वैयावृत्य का कथन किया है।''

इस प्रकार, चतुर्विध दान तथा वैयावृत्त्य नामक अन्तरङ्गतप का सर्वतोभावेन आदर पूर्वक अनुष्ठान करना चाहिए। श्रावक द्वारा किया जाने वाला दान कार्य 'अतिथिसंविभाग' नामक व्रत है और उसे तीसरे शिक्षाव्रत के रूप में परिगणित किया गया है।

उक्तं च स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षेतिग्रन्थे *(गाथा-361)*—

सिक्खावयं च तिदियं तस्स हवे सव्वसिद्धिसोक्खयरं।
दाणं चउव्विहं पि य सव्वे दाणाण सारयरं।।

अत्रेदं ज्ञेयम्— यदि पूर्वं मनुष्यायुष्यं बद्धमस्ति, तर्हि जीवः पात्रभेदानुसारेण उत्तम-मध्यम-जघन्यभोगभूमिषु जन्म लभते, यदि बद्धयते तर्हि देवायुष्यबन्धं कृत्वा स्वर्गसुखं लभते जीवः। अथवा मनुष्यायुष्यबन्धं कृत्वा पूर्वोक्तभोगभूमिषु सुखं लभते। सत्पात्रदानेन जीवो नारकतिर्यगायुषो बन्धं न करोति, न च तत्रोत्पद्यते।

उक्तं च स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षेतिग्रन्थे *(गाथा-366)*—

उत्तमपत्तविसेसे उत्तमभत्तीए उत्तमं दाणं।
एयदिणे वि य दिण्णं इंदसुहं उत्तमं देदि।।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-361) में कहा भी गया है—

''दान देना तीसरा शिक्षाव्रत है। यह चार प्रकार का दान सब दानों में श्रेष्ठ है और समस्त सुखों व सिद्धियों का दायक है।''

यहाँ यह ज्ञातव्य है— यदि पूर्व में (दान से पहले) आयु का बन्ध हो चुका हो तो पात्र-भेद के अनुरूप उत्तम, मध्यम या जघन्य भोग-भूमियों में जन्म होता है, यदि बाद में आयु बँधे तो देव आयु का बन्ध कर जीव स्वर्ग-सुख प्राप्त करता है। अथवा मनुष्य आयु का बन्ध करके पूर्वोक्त भोगभूमियों में सुख प्राप्त करता है। सत्पात्र-दान से जीव नरक व तिर्यंच आयु का बन्ध नहीं करता, और वहाँ उत्पन्न भी नहीं होता।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-366) में कहा गया है—

''विशेष उत्तम पात्र को उत्तम भक्ति पूर्वक एक दिन भी दिया गया दान उत्तम इन्द्र-पद के सुख को प्रदान करता है।''

मिथ्यादृष्टिषु ये भद्रजनाः, यदि तेऽपि सत्पात्रेभ्यो दानं विदधति, तर्हि तेऽपि उत्तमादिभोगभूमिषु जायन्ते। सम्यग्दृष्टिर्यदि सत्पात्रेभ्यो (सर्वविरत— देशविरत-अविरतेभ्यो) दानं विदधाति, तर्हि स्वर्गे महर्द्धिकदेवरूपेण जन्म लभते -इति प्राक् प्रतिपादितम्। एवं सत्पात्रदानपरिणामरूपेण *(तस्स फलं)* **सत्पात्रदानफलम्,** *(मणुयदेवेसु)* **मनुष्यगतौ देवगतौ वा जन्म लब्ध्वा** *(एक्को भुंजदे)* **एकाकी एव संसारी जीवः भुंक्ते, अनुभवति इत्यर्थः।**

गाथायास्तात्पर्यमिदं वर्तते यत् शुभाशुभकर्मणः फलं स्वयं कर्त्रा एकाकिनाऽनुभूयते। किन्तु विशेषतो ज्ञेयमिदं यत् दानादिशुभकर्म कृत्वाऽपि स्वर्गसुखं सुगतिसुखं वा यदि लभ्यते, तत्रापि विवेकोऽयं कार्यो यच्छुभकर्मापि बन्धनकारकं भवति। अतः शुभाशुभकर्म परित्यज्य, कर्तृत्वभावं च विहाय शुद्धात्मस्वभावाश्रयणे यत्नो विधेयः।

अथ सम्प्रति आनुषङ्गिकतया पात्र-अपात्रस्वरूपं विव्रियते ग्रन्थकारैर्गाथाद्वयेन—

मिथ्यादृष्टियों में जो भद्रपरिणामी व्यक्ति हैं, यदि वे भी सत्पात्र को दान दें तो वे भी उत्तम भोगभूमियों में उत्पन्न होते हैं। और यदि सम्यग्दृष्टि व्यक्ति सत्पात्र (सर्वविरत, देशविरत, अविरत) को दान देता है तो स्वर्ग में महर्द्धिक देव रूप से उत्पन्न होता है— यह पहले प्रतिपादित किया जा चुका है। इस प्रकार सत्पात्र-दान से प्राप्त **(तस्य फलम्)**, सुपात्र-दान के फल को। **(मनुजदेवेषु)** मनुष्य-गति व देव-गति में जन्म लेकर **(एकः भुंक्ते)** अकेला ही संसारी जीव भोगता है, अर्थात् अनुभव करता है।

गाथा का तात्पर्य यह है कि शुभ या अशुभ कर्म के फल को स्वयं उसका कर्ता ही अनुभव करता है। किन्तु विशेष ज्ञातव्य यह है कि दान आदि शुभ कर्म करके भी स्वर्ग-सुख या सुगति-सुख प्राप्त होता है, तो वहाँ भी यह विवेक रखना चाहिए कि शुभ कर्म भी बन्धकारक ही होता है। अतः शुभ व अशुभ —दोनों कर्मों को छोड़कर, कर्तृत्व भाव से रहित होकर शुद्धात्मा के आश्रयण में प्रयत्नशील होना चाहिए।

अब प्रासङ्गिक रूप से पात्र-अपात्र के स्वरूप को शास्त्रकार दो गाथाओं द्वारा स्पष्ट करने जा रहे हैं—

उत्तमपत्तं भणिदं, सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू।
सम्मादिट्ठी सावय, मज्झिमपत्तो हु विण्णेओ ॥१७॥

णिद्दिट्ठो जिणसमए, अविरदसम्मो जहण्णपत्तो त्ति।
सम्मत्तरयणरहिदो, अपत्तमिदि संपरिक्खेज्जो ॥१८॥

छाया— *उत्तमपात्रं भणितं सम्यक्त्वगुणेन संयुतः साधुः।*
सम्यग्दृष्टिः श्रावकः मध्यमपात्रं खलु विज्ञेयः॥

निर्दिष्टो जिनसमये अविरतसम्यक्त्वः जघन्यपात्रमिति।
सम्यक्त्वरत्नरहितः अपात्रमिति संपरीक्ष्यः॥

(सर्वोदया टीका—) *(सम्मत्तगुणेण संजुदो)* **सम्यक्त्वसंज्ञकेन गुणेन संयुक्तः, अत्र सम्यक्त्वपदं सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रेतिरत्नत्रयस्य बोधकमवगन्तव्यम्। अतो रत्नत्रयसम्पन्नः इत्यर्थः।** *(साहू)* **साधुः श्रमणो वा। वीतरागचारित्राविनाभूतं स्वशुद्धात्मानं यः साधयति, स साधुर्भवति।**

उक्तं च बृहद्द्रव्यसंग्रहे *(गाथा-54)*—

(17-18)

(गाथा-अर्थ—) सम्यक्त्व गुण से संयुक्त साधु उत्तम पात्र कहा गया है और सम्यग्दृष्टि श्रावक को मध्यम पात्र जानना चाहिए। जिनेन्द्र भगवान् के मत में अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र कहा गया है और सम्यक्त्व रत्न से रहित (मिथ्यादृष्टि) तो अपात्र है— इस प्रकार (पात्र-अपात्र की) परीक्षा करनी चाहिए।

(सर्वोदया टीका—) (सम्यक्त्वगुणेन संयुतः) सम्यक्त्व नामक गुण से युक्त। यहाँ 'सम्यक्त्व' पद सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र —इन (तीनों के समुदित रूप) रत्नत्रय का बोधक है— ऐसा जानना चाहिए। इसलिए अर्थ हुआ— रत्नत्रय से सम्पन्न। **(साधुः)** साधु या श्रमण, जो वीतरागचारित्र से अविनाभूत निज शुद्धात्मा की साधना करता है, वह साधु कहलाता है।

बृ. द्रव्यसंग्रह (गाथा-54) में कहा भी है—

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू सो मुणी णमो तस्स॥

प्रवचनसारे *(3/8)* **व्रतसमितिप्रभृति-अष्टाविंशतिमूलगुणानां निरूपणं कृतमस्ति, प्रत्येकं साधुस्तेषां पालनं करोति। अतस्तैः मूलगुणैरपि संयुक्तः इत्यपि विशेषणं साधोः बोध्यम्। एतादृशः साधुर्यः, सः** *(उत्तमपत्तं भणियं)* **उत्तमं दानपात्रमस्तीति कथितम्। इतोऽग्रे मध्यमपात्रं निरूप्यते—** *(सम्मादिट्ठी सावय)* **सम्यग्दृष्टिः श्रावकः,** *(मज्झिमपत्तो हु विण्णेओ)* **मध्यमपात्रं खलु भवतीति ज्ञातव्यम्। अत्र सम्यग्दृष्टिर्देशव्रती श्रावकः पञ्चमगुणस्थानवर्ती एव ग्राह्यः, न तु अविरतः सम्यग्दृष्टिः, यतो हि अत्रैवाग्रे अविरत-सम्यक्त्वस्य जघन्यपात्रत्वेन निरूपणं कृतमस्ति। अपि च, श्रावकपदेन वस्तुतो देशव्रतिन एव ग्रहणं भवति, अविरत-सम्यग्दृष्टेस्तु उपचारेणैव ग्रहणं विधीयते।**

अतएव सागारधर्मामृते *(1/15)* **श्रावकस्वरूपं यन्निरूपितं, तद् देशव्रतिश्रावके एव संगच्छते। उक्तं च तत्र—**

"दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण, मोक्षमार्गस्वरूप, सदाशुद्ध (वीतराग) चारित्र को जो साधता है (उसकी आराधना करता है), वह मुनि साधु (परमेष्ठी) है, उन्हें नमस्कार हो।"

प्रवचनसार (3/8) में व्रत, समिति आदि जिन अट्ठाईस मूलगुणों का निरूपण किया गया है, उनका भी साधु पालन करता है, इसलिए उक्त मूलगुणों से भी सम्पन्न —यह विशेषण भी साधु का जानना चाहिए। (पूर्वोक्त गुणों से युक्त) ऐसा जो साधु होता है, वह **(उत्तमपात्रं भणितम्)** उत्तम दान-पात्र होता है— ऐसा (शास्त्रों में) कहा गया है। इसके आगे मध्यम पात्र का निरूपण किया जा रहा है— **(सम्यग्दृष्टिः श्रावकः)** सम्यग्दृष्टि श्रावक को **(मध्यमपात्रं खलु विज्ञेयः)** मध्यम पात्र के रूप में जानना चाहिए। यहाँ सम्यग्दृष्टि से देशव्रती पंचम गुणस्थानवर्ती का ही ग्रहण करना चाहिए, न कि अविरत सम्यग्दृष्टि का, क्योंकि (शास्त्रकार द्वारा) आगे इसी गाथा में अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य पात्र के रूप में निरूपित किया जाने वाला है। दूसरी बात, श्रावक पद से वस्तुतः देशव्रती का ही ग्रहण किया जाता है, अविरत सम्यग्दृष्टि का ग्रहण तो औपचारिक ही है।

इसीलिए सागारधर्मामृत (1/15) में श्रावक का स्वरूप जो बताया गया है, वह देशविरत श्रावक में ही संगत होता है। वहाँ कहा गया है—

मूलोत्तरगुणनिष्ठामधितिष्ठन् पञ्चगुरुपदशरण्यः।
दानयजनप्रधानो ज्ञान-सुधां श्रावकः पिपासुः स्यात्॥

अत्रेदं विज्ञेयं यत् सम्यक्त्वेन विना जघन्यपात्रताऽपि न भवति। तथा प्रोक्तगुणाः सम्यक्त्व-रहितस्यापि सम्भवन्ति, अतस्तस्य मध्यमपात्रता न भवति, सम्यक्त्वाभावे पञ्चमगुणस्थानस्यापि अभावात्। श्रद्धानं ज्ञानं च विना संयमो न प्रवर्तते। अत एव शास्त्रकारैरुक्तम् *(भगवती-आराधना, गाथा-115-118, विजयोदयाटीकायामुद्धृता गाथा)*—

पंचवदाणि जदीणं अणुव्वदाइं च देसविरदाणं।
ण हु सम्मत्तेण विणा तो सम्मत्तं पढमदाए॥

अनिवृत्तविषयभोगाकांक्षस्य मुक्तिकांक्षारहितस्य मिथ्यादृष्टेः संयमः प्रत्याख्यानं वा नोपपद्यते —इति। अतः कारणात् *(हु)* **खलु, निश्चयनयेन, स एव स देशयतिः श्रावकः मध्यमपात्रमिति ज्ञातव्यम्।**

"जो मूलगुण व उत्तरगुण में निष्ठा रखता है (अर्थात् लौकिक फल की अपेक्षा न रखकर, उन्हें निराकुलता-पूर्वक धारण करता है), अर्हन्त आदि पाँच गुरुओं के चरणों को ही अपना शरण मानता है, दान व पूजा जिसके मुख्य कार्य हैं तथा ज्ञान (स्वपरभेदविज्ञान) रूपी अमृत को पीने का जो इच्छुक है, वह श्रावक कहलाता है।"

यहाँ यह जानना चाहिए कि सम्यक्त्व के बिना तो जघन्य पात्र भी नहीं होता और पूर्वोक्त गुण सम्यक्त्व-रहित के भी हो सकते हैं, इसलिए उसकी मध्यमपात्रता नहीं मानी जाएगी, क्योंकि सम्यक्त्व के अभाव में तो पाँचवें गुणस्थान का भी वहाँ अभाव है। (सम्यक्) श्रद्धान व ज्ञान के बिना संयम की प्रवृत्ति नहीं होती। इसीलिए शास्त्रकारों ने (भगवती-आराधना की गाथा-115-118 पर रचित विजयोदया टीका में) कहा है—

"सम्यक्त्व के बिना न तो यतियों के पाँच व्रत होते हैं और न ही देशविरत श्रावकों के अणुव्रत होते हैं, इसलिए सम्यक्त्व की प्रथमता (प्रधानता, श्रेष्ठता) है"।

मिथ्यादृष्टि विषय-भोग की आकांक्षा से निवृत्त नहीं होता और मुक्ति की कांक्षा भी नहीं करता, उसके संयम या प्रत्याख्यान उत्पन्न नहीं होता। इस कारण से **(खलु)** निश्चय दृष्टि से उसी को अर्थात् देशविरत श्रावक को मध्यम पात्र जानना चाहिए।

सर्वविरतमुनि-उत्तमपात्रदृष्ट्या हीनत्वात्, अविरतसम्यग्दृष्टि रूपजघन्यपात्रदृष्ट्या श्रेष्ठत्वात् मध्यमपात्रतैव युक्तिसङ्गता ज्ञेया तस्य। तथा *(अविरदसम्मो)* **अविरतसम्यग्दृष्टिः, चतुर्थगुणस्थानवर्ती अस्ति, तस्य स्वरूपं गोम्मटसारे** *(जीवकाण्ड, गाथा-29)* **पञ्चसंग्रहे** *(गाथा-11)* **चेत्थं प्रोक्तम्—**

णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो।।

स सम्यग्दृष्टिः, *(जिणसमए)* **जिनानां तीर्थकराणां समये, सिद्धान्ते, आगमे वा। समयशब्दस्यार्थः स्याद्वादमञ्जरीकारेण आचार्यमल्लिषेणेन इत्थं निरूपितः—** *''सम्यगेति गच्छति, शब्दोऽर्थमनेन इति 'पुं-नाम्नि घः', समयः संकेतः। यद्वा सम्यग् अवैपरीत्येन ईयन्ते ज्ञायन्ते जीवाजीवादयोऽथवाऽनेन इति समयः सिद्धान्तः। अथवा सम्यग् अयन्ते गच्छन्ति जीवादयः पदार्थाः स्वरूपे प्रतिष्ठां प्राप्नुवन्ति अस्मिन्निति समय आगमः'' (स्याद्वादमंजरी, का. 30)*।

सर्वविरति मुनि —जो उत्तम पात्र है, उससे वह हीन है और अविरत सम्यग्दृष्टि रूप जघन्य पात्र की तुलना में वह श्रेष्ठ है, इस दृष्टि से उस **(देशविरत)** का मध्यम पात्र कहा जाना युक्तिसंगत है —ऐसा जानना चाहिए, और **(अविरतसम्यक्त्वः)** अविरतसम्यग्दृष्टि चतुर्थगुणस्थानवर्ती है, उसका स्वरूप गोम्मटसार (जीवकाण्ड, गाथा-29) में तथा पंचसंग्रह (प्राकृत, गाथा-11) में कहा गया है—

''जो पाँचों इन्द्रियों के विषयों में विरत नहीं है, और न त्रस व स्थावर जीवों के घात से ही विरत है, किन्तु मात्र जिनोक्त तत्त्व का श्रद्धान करता है, वह चतुर्थगुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि होता है।''

वह (अविरत) सम्यग्दृष्टि **(जिनसमये)** जिन अर्थात् तीर्थंकरों के 'समय' यानी उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त या आगम में। स्याद्वादमंजरीकार आचार्य मल्लिषेण ने 'समय' शब्द का अर्थ इस प्रकार बताया है— ''जिससे शब्द का अर्थ ठीक-ठीक ज्ञात हो, वह 'समय' है। अथवा 'सम्' उपसर्गपूर्वक गति-अर्थ वाची 'ई' धातु से' पुंनाम्नि घः' इस सूत्र से 'घ' प्रत्यय होकर 'समय' शब्द निष्पन्न होता है। अथवा जिससे जीव, अजीव आदि पदार्थों का सम्यक् प्रकार से ज्ञान हो, ऐसा सिद्धान्त 'समय' है। अथवा जिसमें जीव आदि ज्ञात होते हैं— स्व-स्वरूपों से प्रतिष्ठित होते हैं, वह आगम 'समय' है'' (स्याद्वादमंजरी, का. 30)।

अतो जिनप्रोक्ते आगमे सिद्धान्ते वा, *(जहण्णपत्तो त्ति णिद्दिट्ठो)* **जघन्यं पात्रमिति निर्दिष्टः। तथैव** *(सम्मत्तरयणरहिदो)* **सम्यक्त्वेन रत्नेन रहितः, सम्यग्दर्शनरहित इत्यर्थः। मोक्षमार्गरूपे रत्नत्रये सम्यग्दर्शनं प्रथमं रत्नं निर्दिष्टमस्ति। तेन यो रहितः, मिथ्यादृष्टिरिति फलितार्थः, सः** *(अपत्तं)* **अपात्रम्, कुपात्रं वा। अत्रेदं ज्ञेयम्— सम्यक्त्वरहितोऽपि व्रततपःशीलसम्पन्नः कुपात्रम्। सम्यक्त्वरहितो व्रतादिरहितस्तु अपात्रमिति तयोरन्तरमिति वसुनन्दिश्रावकाचारग्रन्थे** *(गाथा-223)* **प्रत्यपादि।** *(इदि संपरिक्खेज्जो)* **इति सम्यक्तया, पूर्वोक्तउत्तम-मध्यम-जघन्यपात्र-अपात्र-कुपात्र-रूपाणां सम्यक् परीक्षणं कर्तव्यमिति भावः। परीक्षा च सप्रमाणः सयुक्तिको विचारः।**

उक्तं च न्यायदर्शने— *'लक्षितस्य यथालक्षणम् उपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा''* **इति।**

प्रोक्तं च न्यायदीपिकायां *(सू. 1/1 टीका)* **धर्मभूषणयतिवर्यैः—** *''विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्य-दौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा, सा खलु 'एवं चेद् एवं स्यात्, एवं न चेदेवं स्याद्' इत्येवं प्रवर्तते।''*

इसलिए जिनेन्द्र-उपदिष्ट आगम या सिद्धान्त में, **(जघन्यपात्रम् इति निर्दिष्टः)** उसे जघन्य पात्र कहा गया है। इसी तरह, **(सम्यक्त्वरत्नरहितः)** सम्यक्त्व रूपी रत्न से रहित, अर्थात् सम्यग्दर्शनरहित (मिथ्यादृष्टि)। मोक्षमार्ग रूपी 'रत्नत्रय' में सम्यग्दर्शन को प्रथम रत्न के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। अतः उससे जो रहित है, फलितार्थ रूप में जो मिथ्यादृष्टि है, वह **(अपात्रम्)** अपात्र या कुपात्र है। यहाँ यह ज्ञातव्य है— सम्यक्त्वरहित होकर भी व्रत, तप व शील से सम्पन्न जीव कुपात्र है और सम्यक्त्व से रहित होने के साथ-साथ, व्रत आदि से (भी) रहित जीव अपात्र है— यह दोनों में अन्तर है— ऐसा वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा-223) में प्रतिपादित किया गया है। **(इति संपरीक्ष्यः)** इस प्रकार सम्यक् रीति से, पूर्वोक्त उत्तम, मध्यम व जघन्य पात्र एवं अपात्र व कुपात्र के स्वरूपों का सम्यक् परीक्षण करना चाहिए —यह तात्पर्य है। 'परीक्षा' का अर्थ है— (किसी विषय का) प्रामाणिक व युक्तिसंगत विचार।

न्याय दर्शन में कहा गया है— ''उद्दिष्ट पदार्थ के जो लक्षण कहे गये, वे ठीक हैं या नहीं— इसका प्रमाण द्वारा निश्चय करना —यह परीक्षा है।''

न्यायदीपिका (सू.1/1) में आ. धर्मभूषण यतिवर्य ने भी कहा है— ''परस्परविरुद्ध अनेक युक्तियों में से कौन-सी युक्ति प्रबल है और कौन-सी दुर्बल है— इसका निश्चय करने के लिए 'यदि ऐसा माना जाएगा तो ऐसा होगा, और ऐसा न माना जाए तो ऐसा होगा' —इस प्रकार जो विचार किया जाता है, उसे परीक्षा कहा जाता है''।

अत्र परीक्षायामेषा युक्तिः— श्रेष्ठाश्रेष्ठविचारे चारित्रस्यैव प्राधान्यमङ्गीक्रियते। दानपात्र-विचारेऽपि पद्धतिरियं स्वीकर्तव्या। सम्यक्त्व-समन्वितसंयमादिचारित्रधारी उत्तमः, एकदेशसंयमयुक्तो मध्यमः, संयमहीनोऽपि सम्यक्त्वयुक्तो यः स जघन्यः, सम्यक्त्वहीनस्य तु अपात्रता कुपात्रता वेति निर्णये न काऽपि विप्रतिपत्तिः।

अत्रायं विशेषः— कस्मिन् सम्यक्त्वं वर्तते, कस्मिन्न वर्तते —इति ज्ञानं न सुकरम्, तस्य सूक्ष्मत्वाद्, इन्द्रियाग्राह्यत्वाच्च। उक्तं च पंचाध्यायीग्रन्थे *(2/375-376)*—

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम्।
गोचरं स्वावधिस्वान्तःपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः॥

न गोचरं मतिज्ञानश्रुतज्ञानद्वयोर्मनाक्।
नापि देशावधेस्तत्र विषयोऽनुपलब्धितः॥

प्रस्तुत प्रसंग में परीक्षा करें तो युक्ति इस प्रकार होगी— चूँकि श्रेष्ठ व अश्रेष्ठ के विचार में (जीवन में) चारित्र की ही प्रधानता मानी जाती है। अतः दान-पात्र के सम्बन्ध में भी यही पद्धति स्वीकार करनी चाहिए। अतः सम्यक्त्वसमन्वित संयमादि चारित्र का धारक ही उत्तम (पात्र) है, एकदेश (आंशिक) संयम का धारक मध्यम है, संयमहीन होते हुए भी जो सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) से युक्त है, वह जघन्य है, और सम्यक्त्वरहित तो अपात्र या कुपात्र है— इस प्रकार निर्णय करने में कोई वैमत्य नहीं रह जाता।

यहाँ विशेष ज्ञातव्य यह है— किसी व्यक्ति में सम्यक्त्व है, किसी में नहीं है— ऐसा जानना-पहचानना सरल नहीं है,क्योंकि वह सूक्ष्म व इन्द्रिय-अग्राह्य भी है। पंचाध्यायी ग्रन्थ (उत्तरार्द्ध, 375-376) में कहा भी है—

"सम्यक्त्व वास्तव में सूक्ष्म है और केवलज्ञान द्वारा (ही) दृश्य है। तथा (परमावधि, सर्वावधि) अवधि व मनःपर्यय ज्ञान द्वारा भी ज्ञेय है।"

"परन्तु मति, श्रुत तथा देशावधि ज्ञान द्वारा (तो) उसकी उपलब्धि किंचित् भी नहीं है।"

किन्तु प्रशमादिचिन्हैस्तस्य सद्भावोऽनुमातुं शक्यते— इतिदृष्ट्या न तस्य सर्वथा अपरोक्षता चेति स्याद्वादिनां समय:। किन्तु यदि प्रशम-संवेग-प्रभृतिलक्षणानि दृष्ट्वा तदनुमीयते, तर्हि मायाविनां कपटाचरणेन प्रशमादिअभिव्यक्ति: सम्भवति, तत्र सम्यक्त्वसद्भावोऽपि अनुमातुं शक्यते, किन्तु तद् सम्यक् न भवति, अत: सम्यक्त्वादिपरीक्षणे कदाचिद् याथार्थ्यं न निर्णेतुं शक्यते। एवं सामान्यजनानां कृते मतमेकं शास्त्रकारैरुपस्थापितम् *(उपासकाध्ययने, 818)*—

भुक्तिमात्रप्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम्।
ते सन्त: सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्ध्यति।।

किञ्च तत्रैव *(सागारधर्मा. 2/54)*—

नामत: स्थापनातोऽपि जैन: पात्रायतेतराम्।
स लभ्यो द्रव्यतो धन्यैर्भावतस्तु महात्मभि:॥

किन्तु चूँकि प्रशम आदि चिन्हों के आधार पर सम्यक्त्व के सद्भाव का अनुमान —ज्ञान सम्भव है— इस दृष्टि से वह सर्वथा अपरोक्ष भी नहीं है— यह स्याद्वादसमर्थित मत है। किन्तु यदि प्रशम, संवेग आदि लक्षणों को देखकर सम्यक्त्व का अनुमान किया जा सकता है तो मायावी पुरुषों में भी कभी कपटाचरणपूर्वक प्रशम आदि भावों आदि की अभिव्यक्ति होती देखी जा सकती है, तब वहाँ सम्यक्त्व के सद्भाव का अनुमान लगाया जा सकता है (किन्तु वह अनुमान सम्यक्, यथार्थ नहीं होता)। इस प्रकार सम्यक्त्व आदि की परीक्षा से कभी यथार्थतया निर्णय कर पाना सम्भव नहीं होता।

इस प्रकार सामान्य जनों को दृष्टि में रखकर उनके लिए शास्त्रकारों ने एकमत उपस्थापित किया है—

''मात्र आहार-दान में तपस्वियों की परीक्षा क्या करनी? वे सज्जन (सत्पात्र) हों या न हों, गृहस्थ तो दान से शुद्ध होता है'' (उपासकाध्ययन, 818)।

और, वहीं (सागारधर्मामृत, 2/54) यह भी कहा गया है—

''चाहे नाम से जैन हो या स्थापना (निक्षेप) से जैन हो, वह तो पात्र ही है। द्रव्य (निक्षेप) से जैन पुण्यवानों को प्राप्त होता है और भाव (निक्षेप) से जैन तो महाभागों को ही मिलता है।''

किन्तु परीक्षाप्रधानपुरुषाणां कृते तु शास्त्रकाराणामत्र गाथायां निर्देशो यत् पात्रापात्रविचारं विधाय, सत्पात्रेभ्य एव दानं देयं न चापात्रेभ्यः। अत एव सागारधर्मामृतेऽपि *(5/44)* **प्रोक्तम्—**

यतिः स्यादुत्तमं पात्रं मध्यमं श्रावकोऽधमम्।
सुदृष्टिस्तद्विशिष्टत्वं विशिष्टगुणयोगतः।।

अन्यैरपि आचार्यैः मतमेतदेव समर्थितम्। यथा, रयणसारे *(115, 117-118)*—

उवसमणिरीहझाणज्झयणादि महागुणा जहा दिट्ठा।
जेसिं ते मुणिणाहा उत्तमपत्ता तहा भणिदा॥

दंसणसुद्धो धम्मज्झाणरदो संगवज्जिदो णिस्सल्लो।
पत्तविसेसो भणिदो, सो गुणहीणो दु विवरीदो॥

किन्तु यहाँ परीक्षाप्रधान पुरुषों को दृष्टि में रखते हुए शास्त्रकार का प्रस्तुत गाथा में यह निर्देश है कि पात्र व अपात्र का विचार कर, सत्पात्रों को ही दान देना चाहिए, अपात्रों को दान नहीं देना चाहिए। इसीलिए सागारधर्मामृत (5/44) में भी कहा गया है—

"यति (सर्वविरत) उत्तम पात्र है, श्रावक मध्यम पात्र है, सम्यग्दृष्टि अधम पात्र है, इस प्रकार गुण-विशेषता के आधार पर पात्र की विशिष्टता होती है।"

अन्य भी आचार्यों ने इसी मत का समर्थन किया है। जैसे— रयणसार (115, 117-118) में कहा है—

"जिन मुनियों में उपशम, निरीहता, ध्यान, अध्ययन आदि महान् गुण जैसे देखे गये, उसी प्रकार से मुनिराज उत्तम पात्र माने गये हैं।"

"निर्दोष सम्यग्दर्शन वाले, धर्मध्यान में रत, परिग्रह रहित और तीन शल्यों (माया, मिथ्यात्व व निदान) से रहित विशेष पात्र कहे गये हैं। जो इन गुणों से रहित है, वह विपरीत (अर्थात् अपात्र, कुपात्र) है।

सम्मादिगुणविसेसं पत्तविसेसं जिणेहि णिद्दिट्ठं।
तं जाणिदूण देदि सुदाणं जो सो हु मोक्खरदो॥

तथा च अमितगतिकृते श्रावकाचारे *(10/4)*—

तत्रोत्तमं तपस्वी विरताविरतश्च मध्यमं ज्ञेयम्।
सम्यग्दर्शनभूषः प्राणी पात्रं जघन्यं स्यात्॥

तथा तत्रैव *(अमितगति-श्रावकाचारे-10/18)*—

यस्येत्थं स्थेयस्य सम्यग्व्रतसमितिगुप्तयः सन्ति।
प्रोक्तः स पात्रमुत्तममुत्तमगुणभाजनं जैनैः॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपाये *(श्लोक-171)* **च**—

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरत-सम्यग्दृष्टिर्विरताविरतश्च सकलविरतश्च॥

जिसमें सम्यक्त्व आदि विशेष गुण हैं, उसे जिनेन्द्र देव ने विशेष पात्र कहा है। जो व्यक्ति उस पात्र-विशेष को जानकर सुदान देता है, वह निश्चय से मोक्षमार्ग में रत है।''

इसी प्रकार, आ. अमितगति-कृत श्रावकाचार (10/4) में कहा गया है—

''इनमें तपस्वी (संयमी, सर्वविरत) उत्तम पात्र है, विरत व अविरत (सम्यग्दृष्टि) को मध्यम पात्र समझें, तथा सम्यग्दर्शन से भूषित प्राणी जघन्य पात्र होता है।''

तथा वहीं (आ. अमितगति-कृत श्रावकाचार-10/18) यह भी कहा गया है—

''जिस मुनि में इस प्रकार सम्यक् पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तियाँ हैं, उस उत्तम गुणी व्यक्ति को जैनों ने उत्तम पात्र कहा है।''

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक-171) में भी कहा गया है—

''मोक्ष के कारणरूप गुणों (रत्नत्रय) का संयोग जिसमें हो, वह दान का पात्र होता है। उसके तीन भेद हैं— अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती और सकलव्रती (महाव्रती)।''

तत्त्वार्थसूत्रेऽपि *(7/39)*— *'विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात् तद्विशेषः'* **इतिसूत्रमाध्यमेन पात्रभेदानां, तद्विषयकदानफलभेदस्यापि स्पष्टं संकेतः कृतो दृश्यते। विधिविशेषकृतो दानफलभेदोऽत्र यः संकेतितः, तत्र विधिविशेषः कः इति विचार्यते। नवधाभक्तिरेव दाने विशेषविधि-अङ्गभूता। नवधाभक्तिस्वरूपं च पुरुषार्थसिद्ध्युपायग्रन्थे** *(168)* **प्रोक्तम्**—

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च।
वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः।।

आदिपुराणे च *(20/86)*—

प्रतिग्रहणमत्युच्चैः स्थानेऽस्य विनिवेशनम्।
पादप्रधावनं चार्चा नतिः शुद्धिश्च सा त्रयी॥

सागारधर्मामृतेऽपि *(5/45)* **एष विधिरेव समर्थितः। आचार्यवसुनन्दिभिः श्रावकाचारे** *(गाथा-226-231)* **विस्तरेण निरूपितो नवधाभक्तिसंवलितो दानविधिः**—

तत्त्वार्थसूत्र (7/39) में भी 'विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात् तद्विशेषः' इस सूत्र के माध्यम से पात्र के भेदों और उन्हें दिये जाने वाले दान के विभिन्न फल का भी स्पष्ट संकेत किया गया दृष्टिगोचर होता है। उक्त सूत्र में विधि-विशेष से होने वाले दान के विविध फलों का जो संकेत किया गया है, वहाँ विधि-विशेष क्या है— इसका भी विचार यहाँ किया जा रहा है। नवधाभक्ति ही दान-सम्बन्धी विशेष विधि का अंग है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ (168) में नवधा भक्ति का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

"प्रतिग्रहण, उच्च स्थान-प्रदान, चरण-प्रक्षालन, पूजा, प्रणाम, मनःशुद्धि, वचन-शुद्धि, कायशुद्धि और भोजन-शुद्धि —इसे नवधा भक्ति कहा गया है।"

आदिपुराण (20/86) में कहा गया है— "मुनिराज का पड़गाहन करना, उन्हें ऊँचे स्थान पर विराजमान करना, उनके चरण धोना, उनकी पूजा करना, उन्हें नमस्कार करना, अपने मन-वचन व काय की त्रिविध शुद्धि, और आहार-शुद्धि (—इस प्रकार नवधा भक्ति होती है)।

सागारधर्मामृत (5/45) में भी इसी विधि का समर्थन किया गया है। आचार्य वसुनन्दी ने श्रावकाचार (गाथा- 226-231) में नवधा भक्ति युक्त दान-विधि का इस प्रकार विस्तार से निरूपण किया है—

पत्तं णियघरदारे दट्ठूणण्णत्थ वा विमग्गित्ता।
पडिगहणं कादव्वं णमोत्थु ठाहुत्ति भणिऊण॥

णेऊण णिययगेहं णिरवज्जाणु तह उच्चठाणम्मि।
ठविऊण तओ चलणाण धोवणं होइ कादव्वं॥

पाओदयं पवित्तं सिरम्मि काऊण अच्चणं कुज्जा।
गंधक्खयकुसुमणेवज्जदीवधूवेहिं य फलेहिं॥

पुप्फंजलिं खिवित्ता पयपुरओ वंदणं तओ कुज्जा।
चइऊण अट्टरुद्दे मणसुद्धी होइ कादव्वा॥

णिट्ठुरकक्कसवयणाइवज्जणं तं वियाण वचिसुद्धिं।
सव्वत्थ संपुडंगस्स होइ तह कायसुद्धी वि॥

चउदसमलपरिसुद्धं जं दाणं सोहिऊण जइणाए।
संजमिजणस्स दिज्जइ सा णेया एसणासुद्धी॥

"पात्र को अपने घर के द्वार पर देखकर, अथवा अन्यत्र से विमार्गण कर —खोजकर, 'नमोऽस्तु, ठहरिये' —ऐसा कहकर प्रतिग्रहण करना चाहिए।"

"पुन: अपने घर में ले जाकर निर्दोष व ऊँचे स्थान पर बिठाकर, उसके बाद, चरणों को धोना चाहिए।"

"पवित्र पादोदक को शिर में लगाकर, पुन: गन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलों से पूजन करना चाहिए।"

"उसके बाद, चरणों के सामने पुष्पांजलि-क्षेपण कर वंदना करें। तथा आर्त व रौद्र ध्यान छोड़ कर मन:शुद्धि करना चाहिए।"

"निष्ठुर व कर्कश आदि वचनों के त्याग करने को वचन-शुद्धि जानना चाहिए। सभी ओर से पाँचों इन्द्रियों को सीप की तरह संवृत करने से कायशुद्धि होती है।"

"तथा नख-रोम आदि चौदह मलों से रहित शुद्ध वस्तु को भी शोधकर/देखकर जैन श्रावकों के द्वारा संयमी जन को दिया गया जो आहार है, वह एषणा-शुद्धि अर्थात् आहार जलशुद्धि होती है।"

प्रोक्तो विधिः (उत्तममध्यमजघन्येतिसंज्ञकेषु) आर्यिकास्वपि करणीयः, यतो हि मूलाचारे *(गाथा-187)* **आर्यिकाणां सर्वाः क्रिया मुनिवदेवोपदिष्टाः—**

एसो अज्जाणंपि अ सामाचारो जहक्खिओ पुव्वं।
सव्वम्हि अहोरत्ते विभासिदव्वो जधाजोग्गं॥

क्षुल्लकस्यापि कृते नवधा भक्तिर्निर्दिष्टा। यथा— श्रावकधर्मप्रदीपे— *''परमश्रद्धया सन्तुष्टेन भक्तिवता ज्ञानवता च श्रावकेण धैर्यमालम्ब्य उदारचित्तेन स्वशक्त्यनुसारं यद्दानं नवधाभक्तिपूर्वकं दीयते, तदैव ग्राह्यं भवति क्षुल्लकस्य, नान्यथा''* **इति। तत्र देयवस्तुविषयेऽपि विचारोऽत्र प्रासङ्गिकः। आचार्यवैरमृतचन्द्रैः पुरुषार्थसिद्ध्युपाये** *(श्लोक-170)* **निर्दिष्टम्—**

रागद्वेषासंयममदद:खभयादिकं न यत् कुरुते।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरम्॥

उपर्युक्त विधि का अनुष्ठान तीनों (उत्तम, मध्यम, जघन्य संज्ञक) पात्रों तथा आर्यिकाओं के प्रति भी करना चाहिए, क्योंकि मूलाचार (गाथा-187) में मुनियों की तरह ही आर्यिकाओं की क्रियाएँ होती हैं— ऐसा उपेदश दिया गया है—

''जिस प्रकार का आचार पूर्व में (मुनियों के लिए) बताया गया है, वही आचार आर्यिकाओं को भी सम्पूर्ण अहोरात्र में यथायोग्य रूप से करना चाहिए।''

क्षुल्लक के लिए भी नवधा भक्ति का निर्देश किया गया है। उदाहरणार्थ, श्रावकधर्मप्रदीप में कहा गया है— ''परमश्रद्धा से संतुष्ट, भक्तिपूर्ण ज्ञानी श्रावक धैर्य रखकर उदार चित्त से यथाशक्ति नवधा भक्ति के साथ जो दान देता है, वही क्षुल्लक के लिए ग्राह्य है, अन्यथा नहीं।'' इस प्रसंग में देय (दानयोग्य) वस्तुएँ कैसी होनी चाहिएँ— इस विषय में भी यहाँ विचार करना प्रासङ्गिक होगा। आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक-170) में कहा है—

''जो द्रव्य राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख व भय आदि को पैदा नहीं करता, और जो द्रव्य (दान-पात्र के) उत्तम तप व स्वाध्याय को समृद्ध करे, वही दानयोग्य है।''

रयणसारे *(गाथा-23-24)* **च कथितम्—**

सीदुण्हवायपिउलं सिलेसिम्मं तह परिसमं वाहिं।
कायकिलेसुववासं जाणिच्चा दिण्णदे दाणं॥

हिदमिदमण्णं पाणं णिरवज्जोसहिं णिराउलं ठाणं।
सयणासणमुवयरणं जाणिच्चा देदि मोक्खमग्गरदो॥

दातृ-स्वरूपविषयेऽपि निरूपणं कुर्वद्भिः शास्त्रकारैः तदीय-सप्तगुणानां संकेतोऽपि विहितः, यथा आदिपुराणे *(20/82-85)*—

श्रद्धा शक्तिश्च भक्तिश्च विज्ञानं चाप्यलुब्धता।
क्षमा त्यागश्च सप्तैते प्रोक्ता दानपतेर्गुणाः॥

श्रद्धाऽऽस्तिक्यमनास्तिक्ये प्रदाने स्यादनादरः।
भवेच्छक्तिरनालस्यं भक्तिः स्यात् तद्गुणादरः॥

रयणसार (गाथा-23-24) में भी कहा गया है— ''शीत या उष्ण (ऋतु, समय), (मुनि की) वात, पित्त, कफ (की प्रकृति), (धार्मिक अनुष्ठानों में होने वाले) परिश्रम, रोग, कायक्लेश तप व उपवास (-इन सारी बातों) को जानकर (अर्थात् ध्यान में रखकर) दान दिया जाता है।''

''मोक्षमार्ग में अनुरक्त श्रावक (सत्पात्र को) हितकारी, परिमित मात्रा वाले, अन्न-पान, निर्दोष औषधि, निराकुल स्थान, शयन व आसन के उपकरण को (उसकी आवश्यकता आदि को) जानकर (विवेक पूर्वक) देता है।''

दाता का स्वरूप कैसा हो— इस विषय में भी निरूपण करते हुए शास्त्रकारों ने दाता के सात गुणों का संकेत किया है। उदाहरणार्थ, आदिपुराण (20/82-85) में कहा गया है— ''श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा व त्याग —ये दानपति अर्थात् दाता के सात गुण कहलाते हैं।''

''श्रद्धा आस्तिक्य बुद्धि को कहते हैं, आस्तिक्य बुद्धि के न होने पर दान देने में अनादर हो सकता है। दान देने में आलस्य नहीं करना —यह शक्ति नामक गुण है। पात्र के गुणों में आदर करना— यह भक्ति नाम का गुण है।''

विज्ञानं स्यात् क्रमज्ञत्वं देयासक्तिरलुब्धता।
क्षमा तितिक्षा ददतस्त्यागः सद्व्ययशीलता॥

इति सप्तगुणोपेतो दाता स्यात् पात्रसंपदि।
व्यपेतश्च निदानादेः दोषान्निःश्रेयसोद्यतः॥

प्रोक्तसप्तगुणानां निरूपणं पुरुषार्थसिद्ध्युपायेऽपि *(श्लोक-169)* **विहितमस्ति—**

ऐहिकफलानपेक्षा, क्षान्तिर्निष्कपटताऽनसूयत्वम्।
अविषादित्व-मुदित्वे निरहंकारित्वमिति हि दातृगुणाः॥

एवं विधि-द्रव्य-दातृ-पात्रविशेषतया दानफलेऽपि वैशिष्ट्यं भवत्येव —इति विचार्य श्रावकैः सविधि दानं दातव्यम्। एवं शास्त्रगाथायास्तात्पर्यमिदम्— भो श्रावक! सत्पात्रेभ्यो नित्यं दानं देहि, यतो हि दानं प्रमुखः श्रावकधर्मः। श्रावकत्वगुणसम्पन्नतायामेव अनुप्रेक्षात्मकं सच्चिन्तनं सम्भवति। अतः सत्पात्रेभ्यो दानं विधाय, तत्सकाशात् धर्मोपदेशश्रवणमपि कर्तव्यं येन मोक्षमार्गे गमनं सुकरं स्यादिति।

"दान देने आदि के क्रम का ज्ञान होना —यह विज्ञान नाम का गुण कहलाता है। दान के प्रति आसक्ति (प्रगाढ़ भाव) को अलुब्धता कहते हैं। सहनशीलता होना क्षमा गुण कहलाता है। उत्तम द्रव्य दान में देना —यह त्याग नाम का गुण है।"

"इस प्रकार जो दाता ऊपर कहे हुए सात उत्तम गुणों से सहित और निदान आदि दोषों से रहित होकर पात्र रूपी सम्पदा में जो दान देता है, वह मोक्ष प्राप्त करने के लिए तत्पर (उद्यत) कहा जाता है।"

उक्त सात गुणों का निरूपण पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक-169) में भी किया गया है— "लौकिक फल की आकांक्षा न रखना, क्षमा या सहनशीलता, निष्कपटता, ईर्ष्यारहित होना, अखिन्नता, हर्षभाव, निरभिमानता —ये दाता के सात गुण होते हैं।"

इस प्रकार, विधि, द्रव्य, दाता, दान-पात्र —इन सब की विशेषता से दान-फल में भी विशेषता होती ही है —ऐसा सोच-विचार कर, श्रावकों को चाहिए कि वे विधिपूर्वक दान दें। इस तरह, प्रकृत शास्त्र-गाथा का यह तात्पर्य है —हे श्रावक! सत्पात्रों को नित्य दान दो, क्योंकि दान एक प्रमुख श्रावक-धर्म है। श्रावक

अथ सम्यग्दर्शनभ्रष्टस्य निर्वाणं नैव भवतीति कथनद्वारा सम्यग्दर्शनस्य माहात्म्यं निरूपयन्ति शास्त्रकाराः—

दंसणभट्टा भट्टा, दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा, दंसणभट्टा ण सिज्झंति॥१९॥

छाया— *दर्शनभ्रष्टा भ्रष्टाः, दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम्।*
सिद्ध्यन्ति चारित्रभ्रष्टाः, दर्शनभ्रष्टा न सिद्ध्यन्ति॥

(सर्वोदया टीका—) इयं गाथा दर्शनप्राभृते *(गाथा-3)* **तथा भगवती आराधनायां** *(गाथा-737)* **च समुपनिबद्धा दृश्यते। ततश्च गाथायामस्यां निहितस्यार्थस्य महत्त्वमेव प्रकटितं भवति।**

(दंसणभट्टा भट्टा) **दर्शनभ्रष्टाः भ्रष्टाः। अत्र दर्शनपदं सम्यग्दर्शनबोधकम्। व्यवहारे समस्तपदस्थाने तदेकदेशोऽपि प्रयुज्यते, यथा— सत्यभामा इतिस्थाने सत्या भामा वा इति पदं**

के गुणों से युक्त होने पर ही अनुप्रेक्षात्मक प्रशस्त चिन्तन सम्भव हो पाता है। इसलिए सत्पात्रों को दान देकर, उन से धर्मोपदेश सुनें ताकि मोक्षमार्ग में अग्रसर होना सरल हो।

अब 'सम्यग्दर्शन से रहित (मिथ्यादृष्टि) को निर्वाण नहीं प्राप्त होता' इस कथन के माध्यम से शास्त्रकार सम्यग्दर्शन के माहात्म्य का निरूपण कर रहे हैं—

(19)

(गाथा-अर्थ—) जो (सम्यक्) दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे (वस्तुतः) भ्रष्ट हैं, क्योंकि (सम्यक्) दर्शन से भ्रष्ट को निर्वाण नहीं प्राप्त होता। जो चारित्र से भ्रष्ट हैं, वे (कभी) सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु (सम्यक्) दर्शन से भ्रष्ट (कभी) सिद्ध (मुक्त) नहीं होते।

(सर्वोदया टीका—) यह गाथा दर्शन प्राभृत (गाथा-3) तथा भगवती-आराधना (गाथा-737) में भी उपनिबद्ध की गई उपलब्ध होती है। इससे इस गाथा में निहित अर्थ की महत्ता ही अभिव्यक्त होती है।

(दर्शनभ्रष्टाः भ्रष्टाः) दर्शन से जो भ्रष्ट हैं, वे (ही) भ्रष्ट हैं। यहाँ 'दर्शन' पद सम्यग्दर्शन अर्थ का वाचक है। व्यवहार में समस्त पद के स्थान पर उसका एकदेश (अंश) भी प्रयुक्त किया जाता है। जैसे—

व्यवह्रियते। तथैव सम्यग्दर्शनस्थाने दर्शनेति पदं प्रयुक्तमत्र। शास्त्रेष्वपि अनेकत्र सम्यग्दर्शनस्थाने दर्शनपदस्य प्रयोगो निर्ग्रन्थमुनिमुद्रारूपेषु च विहितो दृश्यते। यथा दर्शनप्राभृते *(गाथा-14)* **प्रोक्तम्—**

दुविहं पि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि।
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होई॥

बोधप्राभृते च *(गाथा-14-15)*—

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संजमं सुधम्मं च।
णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं॥

जह फुल्लं गंधमयं भवदि हु खीरं स घियमयं चावि।
तह दंसणं हि सम्मं।।

एवं दर्शनाद्, तथा सम्यग्दर्शनाद् ये भ्रष्टाः, च्युताः, रहिताः, पतिताः, ते एव वस्तुतः सर्वथा भ्रष्टाः, स्वलक्ष्यात् मोक्षपुरुषार्थात् नितान्तं दूरे स्थिताः, इति ज्ञेयम्।

'सत्यभामा' के स्थान पर सत्या या भामा पद भी व्यवहृत होता है, उसी तरह, सम्यग्दर्शन के स्थान पर यहाँ 'दर्शन' पद ही प्रयुक्त किया गया है। शास्त्रों में भी अनेक स्थानों पर सम्यग्दर्शन की जगह दर्शन पद का प्रयोग निर्ग्रन्थ मुनि-मुद्रा के रूप में भी किया गया उपलब्ध होता है। उदाहरणार्थ दर्शनप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-14) में कहा गया है—

''जहाँ अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग होता है, मन-वचन-शरीर —इन तीन योगों का संयम होता है, कृत-कारित-अनुमोदना से ज्ञान की शुद्धता रहती है, और खड़े होकर भोजन किया जाता है, वहाँ दर्शन (यानी सम्यग्दर्शन) होता है।''

इसी प्रकार, बोधप्राभृत (गाथा-14-15) में कहा गया है—

''जो सम्यक्त्व रूप, संयम रूप, उत्तम धर्मरूप, निर्ग्रंथता रूप एवं ज्ञानमय मोक्षमार्ग का दर्शन कराता है, वह जिनमार्ग में (अन्तरंग व बहिरंग रूप) दर्शन है। जिस प्रकार फूल में गंध और दूध में घृत रहता है, उसी तरह यहाँ सम्यक् प्रकार से दर्शन को भी जानना चाहिए।''

इस प्रकार, जो दर्शन से, (तथा) सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, अर्थात् च्युत हैं, रहित हैं, पतित हैं, वे ही वस्तुतः भ्रष्ट हैं अर्थात् अपने लक्ष्य मोक्ष रूप पुरुषार्थ से नितान्त दूर स्थित हैं— यह जानें।

अतएव रयणसारे *(गाथा-4)* **प्रोक्तम्—** *''सम्मत्तरयणसारं मोक्खमहारुक्खमूलमिदि भणिदं''* **इति। यथा मूले नष्टे वृक्षस्य नाशो निश्चित एव, तथैव सम्यक्त्वरूपमूलनाशे स्वतः मोक्षवृक्षस्य पातः, इत्येवं दर्शनभ्रष्टानां भ्रष्टेष्वपि भ्रष्टता या कथिता सा सर्वथा औचितीं वहति। सम्यक्त्वच्युत एव वस्तुतो च्युतः इति तात्पर्यम्।**

(दंसणभट्टस्स णिव्वाणं णत्थि) **दर्शनभ्रष्टस्य सम्यग्दर्शनरहितस्य वा, निर्वाणं मोक्षप्राप्तिः नास्ति, न भवत्येवेति तात्पर्यम्। तथ्यमेतत् समर्थितं दर्शनप्राभृते** *(गाथा-10)*—

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परवड्ढी।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति॥

दर्शनभ्रष्टानां विषये तु गाथायामस्यां निरूपितम्। किन्तु ये रत्नत्रयेनैव विरहिताः, तेषामधमता स्वत एव निर्विवादा। तद्विषयेऽपि दर्शनप्राभृते *(गाथा-8-9)* **विशदीकृतम्—**

इसीलिए रयणसार (गाथा-4) में कहा गया है— ''सम्यक्त्व रूपी श्रेष्ठ रत्न मोक्षरूपी महान् वृक्ष का मूल है।'' जिस प्रकार, मूल के नष्ट होने पर, वृक्ष का नाश (अध:पतन) निश्चित ही होता है, उसी तरह सम्यक्त्वरूप मूल के नष्ट होने पर मोक्ष वृक्ष का पतन होता ही है, इसी दृष्टि से दर्शन-भ्रष्ट व्यक्तियों को जो भ्रष्टों में भ्रष्ट कहा गया है, वह सभी दृष्टियों से उचित ही है। कहने का तात्पर्य है कि सम्यक्त्व-च्युत ही वस्तुत: च्युत है।

(दर्शनभ्रष्टस्य निर्वाणं नास्ति) दर्शनभ्रष्ट या सम्यग्दर्शन से रहित को निर्वाण अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, तात्पर्य है कि उसे निर्वाण की प्राप्ति होती ही नहीं। इसी तथ्य को दर्शनप्राभृत (गाथा-10) (आ. कुन्दकुन्द) ने भी समर्थन करते हुए कहा है—

''जिस प्रकार मूल के नष्ट होने पर वृक्ष के परिवार (शाखा आदि) की वृद्धि नहीं होती, उसी प्रकार जिनोक्त दर्शन से भ्रष्ट, अपने मूल से नष्ट होते हुए की तरह सिद्धि (मोक्ष) नहीं प्राप्त कर पाते।''

दर्शनभ्रष्ट लोगों के सम्बन्ध में तो इस गाथा में वस्तुस्थिति बता दी गई है। किन्तु जो रत्नत्रय से रहित हैं, उनकी अधमता तो स्वत: ही निर्विवाद है। इस विषय में भी दर्शनप्राभृत (गाथा-8-9) में स्पष्ट किया गया है—

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य।
एदे भट्ठविभट्ठा सेसं वि जणं विणासंति॥

जो को वि धम्मसीलो संजमतवणियमजोयगुणधारी।
तस्स य दोस कहंता भग्गा भग्गत्तणं दिंति॥

एवं निर्वाण-अभीप्सुभिः सदा सम्यक्त्वं संवर्धनीयं, निर्दोषतया रक्षणीयमिति गाथाया हार्दम्। पूर्वोक्तमेव शब्दान्तरैः समर्थयन्तः शास्त्रकाराः निरूपयन्ति— *(चरियभट्ठा सिज्झंति)* **चारित्रभ्रष्टाः सिद्ध्यन्ति। यद्यपि प्रमुखतया चारित्रात् सम्यक्त्वादिसहकृतादेव निर्वाणं भवति, यतो हि प्रवचनसारे** *(1/6)* **उक्तम्—**

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो।।

तथाऽपि 'चारित्रभ्रष्टाः' इत्यनेन 'व्यवहारचारित्रेण रहिताः' इति अर्थो ग्राह्यः, तेन शास्त्रवचनानां परस्परसंगतिः सम्पद्यते, परस्परविरोधश्च निर्मूलतां याति।

"जो मनुष्य दर्शन से भ्रष्ट हैं, ज्ञान से भ्रष्ट हैं, और चारित्र से भ्रष्ट हैं, वे तो भ्रष्टों में भी भ्रष्ट हैं, अत्यन्त भ्रष्ट हैं तथा वे अन्य जनों को भी भ्रष्ट करते हैं।"

"जो कोई धर्मात्मा संयम, तप, नियम और योग आदि गुणों का धारक है, उनके दोषों को जो कहते वे क्षुद्रबुद्धि मनुष्य स्वयं तो भ्रष्ट हैं ही, दूसरों को भी भ्रष्ट बनाते हैं।"

इस तरह, निर्वाण चाहने वालों को चाहिए कि वे सम्यक्त्व को संवर्द्धित करें, निर्दोष रखते हुए उसकी रक्षा करें —यह गाथा का हार्द (आशय) है। पूर्वोक्त तथ्य का ही अन्य शब्दों से समर्थन करते हुए शास्त्रकार आगे कह रहे हैं— (चारित्रभ्रष्टाः सिद्ध्यन्ति) चारित्रभ्रष्ट सिद्ध (मुक्त) होते हैं। यद्यपि प्रमुखतया सम्यक्त्व आदि से समन्वित चारित्र से ही निर्वाण होता है, क्योंकि प्रवचनसार (1/6) में कहा गया है—

"जीव को दर्शन-ज्ञान प्रधान चारित्र से देवेन्द्र व चक्रवर्ती आदि के वैभव के साथ-साथ निर्वाण की प्राप्ति होती है।"

तथापि 'चारित्र भ्रष्ट' इस पद का यहाँ 'व्यवहार चारित्र से भ्रष्ट' अर्थ ग्राह्य है, अतः शास्त्रीय वचनों की परस्पर संगति हो जाती है और परस्पर विरोध भी निर्मूल (नष्ट) हो जाता है।

अयम्भावः— यतिलक्षणब्रह्मचर्यप्रत्याख्यानाभ्यां क्वचित्कदाचिदतिचारादिस्खलिताः सामग्रीं प्राप्यापि श्रेणिकमहाराजादिवत् स्तोकेन कालेन मोक्षं प्राप्नुवन्ति। यद्वा अध्यात्मसाधनाया उपरितने सोपाने स्थितस्य साधोर्बहिरङ्गचारित्रे विद्यमानेप्यतरङ्गनिश्चयचारित्रं भवति, किन्तु प्रतिक्रमण-स्तुतिवन्दनादिबाह्यचारित्रविषयकौ संकल्पविकल्पौ न भवतः, केशलुञ्चनादिविकल्पस्यापि सद्भावो न भवति, भरतमुनिवत्। अथवा ईर्यासमित्या गच्छता यतिना दृष्टिदोषेण यदि केचित्कीटादयो जीवा म्रियन्ते, यद्वा कदाचित् करणसम्बन्धिदोषो लग्नः, तस्यालोचनार्थं गमनसमये मृत्युः स्यात्, तर्हि व्यवहारे व्यवहारचारित्रं सदोषं दृष्टिगम्यं भवत्यपि, किन्तु अन्तरङ्गे निश्चयचारित्रे सति स वस्तुतो न भ्रष्टः, स सिद्ध्यति। किन्तु *(दंसणभट्ठा ण सिज्झंति)* दर्शनभ्रष्टास्तु न सिद्ध्यन्त्येवेति भावः।

गाथायास्तात्पर्यमिदं हृदि स्थापनीयम्— मुक्त्यर्थं सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रेति-समुदितानि त्रीणि रत्नानि सर्वैर्धारणीयानि, अन्यथा मुक्त्यभाव एव। त्रयाणां समस्तानां रत्नानां धारणे यदि सामर्थ्याल्पता स्यात् तर्हि सम्यग्दर्शनन्तु नित्यं सर्वथा रक्षणीयम्, तद्रक्षार्थं च निरन्तरं

तात्पर्य यह है— यति की भूमिका के योग्य ब्रह्मचर्य व प्रत्याख्यान (संयम) से स्खलित होने वाले निमित्त-सामग्री (उपयुक्त) मिले तो भी वे श्रेणिक महाराज आदि की तरह अल्प समय में मोक्ष प्राप्त कर लेंगे। अथवा अध्यात्म-साधना के उच्च सोपान (भूमिका) में स्थित साधु के बहिरङ्गचारित्र रहते हुए भी अन्तरङ्ग निश्चय चारित्र रहता है, किन्तु प्रतिक्रमण, स्तुति, वन्दना आदि बाह्य चारित्र के संकल्प-विकल्प नहीं होते, केशलोंच आदि के विकल्पों का सद्भाव भरत मुनि की तरह नहीं रहता। अथवा ईर्या समिति से चलते हुए यति द्वारा दृष्टि-दोष के कारण यदि कोई कीट आदि जीव मर जाएँ, अथवा कभी इन्द्रियों को दोष लगे तो उसकी आलोचना हेतु जाते समय मृत्यु हो जाय, तो (उस परिस्थिति में) व्यवहार में व्यवहारचारित्र सदोष है तो भी दृष्टिगोचर हो रहा होता है, किन्तु अन्तरङ्ग में निश्चय चारित्र रहता ही है, तब वह (साधक) वस्तुतः भ्रष्ट नहीं है, वह सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त करता है। किन्तु **(दर्शनभ्रष्टा न सिद्ध्यन्ति)** जो दर्शन से, सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे तो कभी सिद्ध नहीं हो पाते —यह तात्पर्य है।

गाथा के इस तात्पर्य को हृदय में रख लेना चाहिए —मुक्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र —इनके समुदित रूप रत्नत्रय का धारण सभी को करना चाहिए, अन्यथा मुक्ति नहीं मिलेगी। इन तीनों समस्त रत्नों के धारण करने में यदि सामर्थ्य अल्प हो तो सम्यग्दर्शन की तो रक्षा सर्वथा करनी ही चाहिए, उसकी रक्षा हेतु निरन्तर भावना भी भानी चाहिए। उसी तरह, वीतराग चारित्र के अविनाभूत

भावना अपि भावितव्याः। तथैव वीतरागचारित्राविनाभाविनिश्चयसंज्ञक- वीतरागसम्यग्दर्शनमपि सेवस्व, तेनैव निजशुद्धचैतन्यशालि-निर्भरानन्दमय-अखण्डाविनाशिशुद्धात्मनो लाभो भविष्यति, तत एव त्वं समस्तकर्मक्षयं कतुं समर्थो भविष्यसि —इति दिक्।

अथ एकत्वानुप्रेक्षामुपसंहरन्तः शास्त्रकाराः सम्प्रति शुद्धात्मन उपादेयतां समर्थयन्ति—

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो, णाणदंसणलक्खणो।
सुद्धेयत्तमुपादेयं, एवं चिन्तेज्ज संजदो ॥२०॥

छाया— *एकोऽहं निर्मम: शुद्ध: ज्ञानदर्शनलक्षण:।*
शुद्धैकत्वमुपादेयम्, एवं चिन्तयेत् संयत: ॥

(सर्वोदया टीका—) गाथायामन्ते '*एवं संजदो चिन्तेज्ज*' इति कथ्यते, अर्थात् संयमिना चिन्तनीयम्, तच्चिन्तनमेकत्वानुप्रेक्षात्मकमेव। तच्चिन्तनस्य किं स्वरूपमिति गाथाप्रारम्भे प्रोच्यते— 'एक्कोहं' इत्यादिकम्।

निश्चयसम्यग्दर्शन या वीतरागसम्यग्दर्शन का भी सेवन करो, उसी से अपने शुद्ध चैतन्यशाली पूर्णानन्दमय अखण्ड अविनाशी शुद्धात्मा की प्राप्ति होगी, और तभी तुम समस्त कर्मों का क्षय करने में समर्थ होओगे। अब इतना ही कहना पर्याप्त है।

अब एकत्व-अनुप्रेक्षा का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार शुद्धात्मा की उपादेयता का समर्थन कर रहे हैं—

(20)

(गाथा-अर्थ—) मैं एक हूँ, मेरा किसी में ममत्व भाव नहीं है, मैं शुद्ध हूँ, मैं ज्ञान-दर्शन स्वरूपी हूँ, शुद्ध एकत्व (एक शुद्ध आत्म-स्वरूप) ही उपादेय है— इस प्रकार संयमी (मुनि) को चिन्तन (अनुप्रेक्षण) करना चाहिए।

(सर्वोदया टीका—) इस गाथा के अन्त में '**एवं संजदो चिन्तेज्ज**' (इस प्रकार संयत मुनि चिन्तन करे) ऐसा कहा गया है, अर्थात् संयमी मुनि को चिन्तन करना चाहिए, वह चिन्तन एकत्व-अनुप्रेक्षा ही है। उस चिन्तन का क्या स्वरूप है, इसका उत्तर गाथा के प्रारम्भ में दिया जा रहा है— 'एक्कोहं' इत्यादि।

(*एक्को हं*) अहमेकः, एकाकी, द्वितीयः कश्चिदपि मम न, यथा— पिता, भ्राता, सुतः, यद्वा माता, पत्नी, पुत्री इत्यादिका न मे सन्ति, धनधान्यादिकमपि नाहं, न मम चेति शुद्धनिश्चयनयेन न केनापि मम सम्बन्धो वर्तते। जनक-जननी-पत्नीप्रभृतिसम्बन्धाः प्रतिभवं परिवर्तन्ते, अतो न नित्याः। किम्बहुना, एकभवेऽपि सम्बन्धो न शाश्वतः।

उक्तं च स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे *(गाथा-64-65)*—

पुत्तो वि भाउ जाओ सो चिय भाओ वि देवरो होदि।
माया होदि सवत्ती जणणो वि य होदि भत्तारो॥

एयम्मि भवे एदे सम्बन्धा होंदि एयजीवस्स।
अण्णभवे किं भण्णइ जीवाणं धम्मरहिदाणं॥

वस्तुतः स्वार्थसिद्धिनिमित्तकाः सर्वे सम्बन्धाः प्रायः, ते स्वार्थानुसारं परिवर्तन्ते, वर्धन्ति, नश्यन्ति चेति सर्वैरनुभूयते। अन्यच्च, जीवनाधारभूतं शरीरमपि जरारोगादिभिराक्रान्तं न शाश्वतिकम्। अतः शरीरादपि आत्मा पृथगेव। आत्मद्रव्यस्य पुद्गलात्मकशरीरद्रव्येण सह परस्परावगाहलक्षण-

---

(एकोऽहं) मैं एक, एकाकी हूँ। पिता, माता, भाई, पुत्र इत्यादि कोई दूसरा मेरा नहीं है या माता, पत्नी, पुत्री इत्यादि कोई भी मेरे नहीं हैं। धन-धान्यादिक भी मैं नहीं हूँ और वह मेरे नहीं है। पिता, माता, पत्नी आदि रूप में जो सम्बन्ध होते हैं, वे प्रत्येक जन्म में परिवर्तित हो जाते हैं, इसलिए वे नित्य नहीं होते। अधिक क्या, एक जन्म में भी सम्बन्ध शाश्वत नहीं रहते।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-64-65) में इसी दृष्टि से कहा है—

"पुत्र भी भाई होता है, वह भाई भी देवर हो जाता है, माता सौत हो जाती है, पिता भी पति होता है। जब एक जीव के एक ही जन्म में ये सम्बन्ध होते हैं, तो धर्मरहित जीवों के दूसरे जन्मों में तो कहना ही क्या?"

वस्तुतः सभी सम्बन्ध प्रायः स्वार्थपूर्ति के निमित्त से बनते हैं, वे स्वार्थ के अनुरूप परिवर्तित हो जाते हैं, समृद्ध होते हैं और नष्ट भी होते हैं— इसका अनुभव सभी को है। दूसरी बात, जीवन का आधारभूत शरीर भी बुढ़ापा, रोग आदि से आक्रान्त हो जाता है और वह स्थायी नहीं रह जाता। इसलिए शरीर से भी आत्मा पृथक् ही है। यद्यपि आत्मद्रव्य और पुद्गलात्मक शरीर द्रव्य के साथ परस्पर अन्योन्यावगाह सम्बन्ध होता

सम्बन्धे सत्यपि तादात्म्यसम्बन्धाभावात् तयोः सर्वदा पार्थक्यमेव। एवं पूर्णतया एकोऽहं। तथैव *(णिम्ममो)* **अहं निर्ममः, ममत्वहीनः। न मम ममत्वभावः आत्मातिरिक्तेषु पदार्थेषु, अतोऽपि अहमेक एवेति भावः।**

उक्तं च समयसारे *(गाथा-38)*—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि॥

ममत्वबुद्धिः मुमुक्षूणां कृते विनाशकारिण्येव। ममत्वेन सङ्कल्पविकल्पोत्पत्तिः, मूर्च्छा आसक्तिर्वा समुत्पद्यते, लोभादिकषायाणां च प्रादुर्भावः, ततश्च आर्तरौद्रध्याने, ततश्च संसारस्थितिः सुदृढा भवति। अतोऽस्मात् कारणात् ममत्वं परित्याज्यमेव।

उक्तं च इष्टोपदेशे *(श्लोक-26)*—

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत्।।

है, फिर भी उन दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध न होने से उन दोनों का सदा पार्थक्य ही रहता है। इस प्रकार, मैं पूर्णतया 'एक' हूँ। इसी प्रकार, **(निर्ममः)** मैं निर्मम अर्थात् ममत्वहीन हूँ। मेरा आत्मेतर पदार्थों में कोई ममत्व नहीं है, इसलिए भी 'मैं एक हूँ' —यह भाव है।

समयसार (गाथा-38) में कहा है— ''मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानदर्शनमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, अन्य कोई परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।''

ममत्व बुद्धि मुमुक्षु जनों के लिए विनाशकारी होती है। ममत्व के कारण संकल्प-विकल्पों की उत्पत्ति और फिर मूर्च्छा या आसक्ति भी उत्पन्न होती है, साथ ही लोभ आदि कषायों का प्रादुर्भाव भी होता है, फलस्वरूप आर्त व रौद्र ध्यान और उनसे संसार की स्थिति (बन्ध) सुदृढ़ होती है। इसलिए या इस कारण से ममत्व को छोड़ना ही चाहिए।

इष्टोपदेश (श्लोक-26) में कहा भी है— ''ममत्व व निर्ममत्व से क्रमशः बन्ध व मोक्ष होता है, इसलिए सभी प्रयास करके ममत्वहीनता का चिन्तन करना चाहिए।''

(सुद्धो) शुद्धः, निर्विकारश्चाहम्। अत्र कश्चित् शंकते— यदि आत्मा सर्वथा निर्विकारः, शुद्धः, तर्हि तस्य संसारे परिभ्रमणं किन्निमित्तम्? केन कारणेन स दुःखमनुभवति? कथं न मुक्त इव लोकाग्रे सिद्धालये तिष्ठति? अस्य प्रश्नस्य समाधानं दीयते— आत्मा न सर्वथा शुद्धः, स शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुद्धः, व्यवहारनयेन तु कर्मबद्धत्वादशुद्ध एव।

बृहद्द्रव्यसंग्रहेऽपि *(गाथा-13)* **समुद्घोषितम्—**

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया॥

सरलव्यावहारिकभाषायां कथयितुं शक्यते यत् संसारी आत्मा शक्तिरूपेण शुद्धः, न तु व्यक्तिरूपेण, अभिव्यक्तिदृष्ट्या वा। आत्मनि शुद्धत्वप्राप्तिशक्तिः बीजरूपेण सर्वदा तिष्ठति, अन्यथा कदाचिदपि न कर्मक्षयः। यथा अग्निः भस्मावृतोऽपि दाहशक्तिसम्पन्न एव, किन्तु तच्छक्ति-अभिव्यक्तिस्तु न भवति भस्मावृतत्वात्, भस्म-अपनयने तु दाहशक्तेरभिव्यक्तिर्भवत्येव, तथैव आत्मा

(शुद्धः) मैं शुद्ध हूँ— निर्विकार हूँ। यहाँ कोई शंका कर सकता है— यदि आत्मा सर्वथा निर्विकार या शुद्ध है, तब वह किस कारण संसार में भ्रमण कर रहा है? किस कारण से वह दुःखी हो रहा है? क्यों नहीं वह मुक्तात्मा की तरह लोकाग्र में सिद्धालय में पहुँच जाता? इस प्रश्न का समाधान यह है— आत्मा सर्वथा शुद्ध नहीं है, वह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से (ही) शुद्ध है, व्यवहार नय से तो वह कर्मबद्ध होने से अशुद्ध ही है।

बृहद् द्रव्यसंग्रह (गाथा-13) में भी यह उद्घोषित किया गया है—

''मार्गणा, चौदह गुणस्थान —ये अशुद्ध नय से होते हैं, किन्तु शुद्धनय से तो सभी संसारी जीवों को 'शुद्ध' (ही) समझें।''

सरल व्यावहारिक भाषा में इसे यूँ कहा जा सकता है कि संसारी आत्मा शक्ति रूप से शुद्ध है, किन्तु व्यक्ति रूप से या अभिव्यक्ति की दृष्टि से शुद्ध नहीं है। आत्मा में शुद्धता प्राप्त करने की शक्ति (क्षमता) बीज रूप में सर्वदा निहित रहती है, अन्यथा उस (जीव) का कभी कर्म-क्षय नहीं हो पाएगा। जिस प्रकार अग्नि, भस्म से आच्छादित होती हुई भी, जलाने की शक्ति से युक्त ही रहती है, किन्तु भस्म से ढकी होने से उस शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं होती। ज्यों ही भस्म हटा दी जाय तो दाहशक्ति अभिव्यक्त होती ही है। इसी तरह

अनन्त-ज्ञानादिवैभवपूर्णः सन्नपि कर्मावृतत्वात् शुद्धरूपेणाभिव्यक्तो न भवति, कर्मक्षये तु स्वतःशुद्धतां प्रकटयन् मुक्तिमधिगच्छति। यथा बीजमेव वृक्षरूपेण प्रकटितं भवति, अतः परमार्थदृष्ट्या बीजे वृक्षरूपाविर्भावशक्तिः सन्तिष्ठते —इति स्वीकर्तव्यमेव। किन्तु व्यवहारे बीजं बीजमेव, यतो न तु वृक्षरूपतया तस्य अभिव्यक्तिः। बीजे वृक्षनिर्माणशक्ति-अभावे तस्मात् कथमपि वृक्षोत्पादो न सम्भवति, अतो मन्तव्यमेव यद् बीजं शक्तिरूपेण वृक्षः, किन्तु वृक्षस्य व्यावहारिकदृष्ट्या उत्पादस्तु तदैव स्वीक्रियते यदा बीजस्य वृक्षनिर्माणशक्तिः विशालवृक्षरूपेण अभिव्यक्ता भवति। एवमेव, संसारी जीवः शक्तिरूपेण सदा शुद्धतां वहत्येव, किन्तु अभिव्यक्तिरूपेण तस्य शुद्धता संवरनिर्जराजनिते कर्मक्षये सत्येव ज्ञानगोचरा भवति।

एवं निश्चयनय-व्यवहारनययोः सम्यक्त्वस्वरूपं तदन्तरं च विज्ञातव्यम्। बाह्यव्यवहारे तु व्यवहारनयमनुसृत्यैव व्यवहारो भवति, किन्तु अध्यात्ममार्गे चिन्तन-अनुप्रेक्षण-ध्यानादिअनुष्ठाने, साधनाया उपरितनभूमिकायां तु शुद्धनिश्चयनय एव उपयोगीति समयसारे *(गाथा-12)* **निर्दिष्टम्—**

आत्मा अनन्त ज्ञान आदि वैभव से सम्पन्न होता हुआ भी कर्म से आवृत होने के कारण, शुद्ध रूप से अभिव्यक्त नहीं होता, किन्तु कर्म-क्षय होने पर स्वतः उसकी शुद्धता प्रकट हो जाती है और वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार, बीज ही वृक्ष रूप में प्रकट होता है, अतः परमार्थ दृष्टि से बीज में वृक्ष रूप से प्रकट होने की शक्ति निहित है— यह मानना ही पड़ेगा। किन्तु व्यवहार में बीज-बीज (मात्र) ही है, क्योंकि उसमें अभी वृक्ष रूप से अभिव्यक्ति नहीं हो पाई है। यदि बीज में वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति न मानी जाय तो उससे वृक्ष की उत्पत्ति कभी सम्भव नहीं होगी, इसलिए मानना होगा कि बीज शक्ति रूप से वृक्ष है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वृक्ष की उत्पत्ति तभी मानी जाती है जब बीज की वृक्षनिर्माण-शक्ति विशाल वृक्ष के रूप में अभिव्यक्त हो। इसी तरह, संसारी जीव शक्ति रूप से सदा शुद्धता लिए है, किन्तु अभिव्यक्ति रूप से उसकी शुद्धता तभी ज्ञानगोचर होती है जब संवर व निर्जरा से कर्मों का क्षय हो जाये।

इस तरह, निश्चयनय व व्यवहारनय के सम्यक् स्वरूप को तथा उनके अन्तर को समझना चाहिए। बाह्य व्यवहार में तो व्यवहारनय का अनुसरण करके ही व्यवहार किया जाता है, किन्तु अध्यात्म-मार्ग में, चिन्तन अनुप्रेक्षा-ध्यान आदि के अनुष्ठान में, साधना की ऊपरी भूमिका में तो शुद्ध निश्चयनय ही उपयोगी होता है। ऐसा समयसार (गाथा-12) में निर्देश है—

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे॥

यदि तत्र (उपरितनभूमिकायां) ध्येयभूतस्यात्मनोऽशुद्धता स्वीक्रियते यद्वा व्यवहारनयः समाश्रितः स्यात्तर्हि अशुद्धात्मन एव प्राप्तिः स्यात्।

उक्तं च समयसारे *(गाथा-186)*—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि।।

एवं विस्तरेण तु समयसारादिग्रन्थेभ्यः सद्गुरुनिर्देशने सम्यगवगन्तव्यम्। तथा (णाणदंसण-लक्खणो) ***ज्ञानदर्शनलक्षणोऽहम् (इति चिन्तयेत्)। संसारिणि मुक्ते वा सर्वत्र जीवे ज्ञान-दर्शनयोः सद्भावः। जीवस्य लक्षणमुपयोगः। उपयोगस्यैव द्वे रूपे ज्ञानदर्शने। ज्ञानदर्शनाभावे स्वीकृते तु जीवस्य अजीवता समापद्यते।***

"जो परम भाव अर्थात् उत्कृष्ट दशा में स्थित हैं, उनके द्वारा शुद्ध तत्त्व का उपदेश करने वाला शुद्ध नय जानने (मानने) योग्य है, और जो अपरम भाव में अर्थात् निचली भूमिका में स्थित हैं, वे व्यवहारनय से उपदेश करने योग्य हैं।"

यदि वहाँ (उपरितन भूमिका में) ध्येयभूत आत्मा की अशुद्धता मान ली जाय अथवा व्यवहार नय का (ही) आश्रय लिया जाय तो (साधक को) अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होगी।

समयसार (गाथा-186) में कहा भी गया है—

"शुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव शुद्ध ही आत्मा को पाता है और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव अशुद्ध ही आत्मा को प्राप्त करता है।"

इस प्रकार विस्तार से तो सद्गुरु के निर्देशन में समयसार आदि ग्रन्थों से इस विषय को सम्यक् समझना चाहिए। तथा **(ज्ञानदर्शनलक्षणः)** मैं ज्ञान-दर्शनलक्षण वाला, अर्थात् ज्ञानदर्शनस्वरूपी आत्मा हूँ (ऐसा चिन्तन करे)। संसारी हो या मुक्त आत्मा हो, सर्वत्र ज्ञान-दर्शन का सद्भाव रहता है। जीव का लक्षण (ही) उपयोग है। (इसी) उपयोग के दो रूप हैं— ज्ञान और दर्शन। यदि जीव में ज्ञान व दर्शन का अभाव मानें तो जीव 'अजीव' हो जाएगा।

उक्तं च पञ्चास्तिकाये *(गाथा-40)*—

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो।
जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि॥

अतो ज्ञानदर्शनमयता जीवे सर्वदा वर्तते। उपयोगस्यैव ज्ञानदर्शनादिभेदोपभेदाः शास्त्रेषु निरूपिताः। यथा बृहद्द्रव्यसंग्रहे *(गाथा-4-5)* **प्रोक्तम्**—

उवओगो दुवियप्पो दंसणणाणं च दंसणं चदुधा।
चक्खु अचक्खू ओही दंसणमध केवलं णेयं॥

णाणं अट्ठवियप्पं मदिसुदओही अणाणणाणाणि।
मणपज्जय केवलमवि पच्चक्खपरोक्खभेयं च॥

नियमसारे *(गाथा-10-13)* **च प्रोक्तम्**—

पंचास्तिकाय (गाथा-40) में कहा भी है—

"ज्ञान व दर्शन से संयुक्त होने के कारण उपयोग दो प्रकार का होता है, वह उपयोग जीव से सदा अनन्य-अभिन्न रहता है।"

इसलिए जीव में ज्ञानमयता व दर्शनमयता सदा रहती है। उपयोग के ही ज्ञान-दर्शन आदि भेद-उपभेद होते हैं— ऐसा शास्त्रों में बताया गया है। जैसे बृहद्द्रव्यसंग्रह (गाथा-4-5) में कहा गया है—

"दर्शन व ज्ञान —इन दो भेदों से उपयोग दो प्रकार का है। उनमें दर्शनोपयोग के चार प्रकार हैं— चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन। मतिज्ञान, मति-अज्ञान, श्रुतज्ञान, श्रुत-अज्ञान, अवधिज्ञान, विभङ्ग ज्ञान, मन:पर्यय ज्ञान, केवलज्ञान —ये आठ प्रकार के ज्ञान हैं। इनमें (अवधिज्ञान, विभंग ज्ञान, मन:पर्यय व केवल —ये) चार प्रत्यक्ष हैं, अन्य परोक्ष हैं।"

नियमसार (गाथा-10-13) में भी कहा भी है—

जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होइ।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विहावणाणं ति॥

केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावणाणं ति।
सण्णाणिदरवियप्पे विहावणाणं हवे दुविहं॥

सण्णाणं चउभेदं मदिसुदओही तहेव मणपज्जं।
अण्णाणं तिवियप्पं मदियाई भेददो चेव।

तह दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं॥

अत्रेदं ज्ञेयम्— 'एकोऽहम्' इति विशेषणं ब्रह्माद्वैतवादनिरासाय प्रदत्तम्। एकोऽहमिति चिन्तनं प्रत्येकजीवस्य साधकस्य भवति, अतः प्रतिशरीरं भिन्ना भिन्ना आत्मानः, एवमनन्तास्ते ज्ञायन्ते, न तु अद्वैतरूपेण एक एवात्मा— इति ब्रह्माद्वैतवादो निरस्यते। 'निर्ममः' इतिविशेषण-

---

''जीव उपयोगमय है। उपयोग ज्ञानदर्शनरूप है। उनमें ज्ञानोपयोग, स्वभावज्ञान व विभाव ज्ञान के भेद से दो प्रकार का है।''

''इन्द्रियों से रहित, बाह्य पदार्थों की अपेक्षा न रखने वाला केवलज्ञान स्वभाव ज्ञान है। विभावज्ञान के दो भेद हैं— सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान।''

''सम्यग् विभावज्ञान के चार भेद हैं— मति, श्रुत, अवधि व मन:पर्यय। अज्ञानरूप विभावज्ञान तीन प्रकार का है— कुमति, कुश्रुत व कुअवधि (विभङ्ग) ज्ञान।''

उसी प्रकार, दर्शनोपयोग के दो भेद हैं— स्वस्वभावदर्शनोपयोग, और विभाव दर्शनोपयोग। इनमें इन्द्रियों से रहित, पर पदार्थ की सहायता से निरपेक्ष जो केवलदर्शन है, वह स्वभावदर्शन है— ऐसा कहा गया है।''

यहाँ यह ज्ञातव्य है— 'एकोऽहम्' (मैं 'एक' हूँ) —यह विशेषण ब्रह्माद्वैतवाद के निराकरण हेतु यहाँ दिया गया है। 'मैं एक हूँ' यह चिन्तन प्रत्येक साधक जीव को होता है, इसलिए प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मा स्थित होने से उनकी संख्या अनन्त होती है, इस दृष्टि से अद्वैत रूप से एक ही आत्मा मानने वाले ब्रह्माद्वैतवाद का निराकरण किया गया है। 'निर्ममः' (मैं ममत्वहीन हूँ) यह विशेषण ईश्वर के अवतार

मीश्वरावतारवादिनः प्रति स्ववैमत्यप्रदर्शनाय प्रदत्तम्। ईश्वरावतारवादिनो मन्यन्ते यदीश्वरः सज्जनानुग्रहबुद्ध्या संसारे सशरीरतया जन्म गृह्णाति। अनुग्रहबुद्धिर्ममत्वमूलैव। वस्तुतः शुद्ध आत्मा वीतरागः, ममत्वादिकषायरहित एवेति 'निर्ममोऽहम्' इति विशेषणेन प्रतिपाद्यते। 'शुद्धोऽहम्' इतिविशेषणेन च तेनैकान्तमते वैमत्यं प्रदर्शितम्। व्यवहारनयेन अशुद्धोऽपि आत्मा शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुद्धः, इत्यतस्तस्य सर्वथा शुद्धता अशुद्धता वा निरस्यते। एवं 'ज्ञानदर्शनलक्षणः' इति विशेषणेन नैयायिकान् प्रति वैमत्यं प्रदर्शितम्, यतो हि ते मन्वते यन्मुक्तौ ज्ञानं समुच्छिन्नं जायते। *'णाणप्पमाणमादा' (प्रवचनसार, 1/24)* **तथा** *'णाणी णाणसहावो' (तत्रैव, 1/28)* **इति जैनाः स्वीकुर्वते, अतो ज्ञानदर्शनलक्षण आत्मा इति विशेषणं सम्यगुपात्तम्।**

(सुद्धेयत्तं उपादेयं) **शुद्धैकत्वमेव उपादेयम्। शुद्धपदं पूर्णवीतरागतायाः, परमस्वास्थ्यरूपायाः बोधकम्, एकत्वं च अखण्डरूपबोधकम्, यथा निर्दिष्टं च समयसारकलशे** *(14)— अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहिः, महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।*

मानने वालों से अपना वैमत्य प्रदर्शित करने के उद्देश्य से किया गया है। ईश्वर-अवतारवादी मानते हैं कि ईश्वर सज्जनों आदि पर अनुग्रह रखकर संसार में सशरीर जन्म ग्रहण करता है। उक्त अनुग्रह-बुद्धि में ममत्व ही मूल होता है। वस्तुतः शुद्ध आत्मा तो वीतराग एवं 'ममत्व आदि कषायों से रहित' ही होता है— इस तथ्य को 'मैं निर्मम हूँ' इस विशेषण के माध्यम से प्रतिपादित किया गया है। 'मैं शुद्ध हूँ' इस विशेषण के माध्यम से एकान्तवाद (अर्थात् जो आत्मा को कर्मबद्ध ही मानते हैं, उन) से अपना वैमत्य प्रदर्शित किया गया है। व्यवहारनय से यह आत्मा यद्यपि अशुद्ध है, किन्तु द्रव्यार्थिक नय से शुद्ध है, इस प्रकार उसकी सर्वथा शुद्धता या अशुद्धता का निराकरण किया गया है। इसी तरह, 'ज्ञानदर्शन लक्षण' यह विशेषण नैयायिकों के प्रति मतभेद सूचित करने के लिए प्रयुक्त है। वे नैयायिक यह मानते हैं कि मुक्ति में आत्मा का ज्ञान नष्ट हो जाता है। जैन मान्यता तो यह है कि आत्मा ज्ञान प्रमाण है (प्रवचनसार, 1/24)। और 'ज्ञानी ज्ञानस्वभावी आत्मा है' (वहीं, 1/28)। इसलिए यहाँ आत्मा का ज्ञानदर्शनलक्षण यह विशेषण जो प्रयुक्त है, वह समीचीन है।

(शुद्धैकत्वमुपादेयम्) शुद्ध व एक आत्मतत्त्व ही उपादेय है। यहाँ शुद्ध पद पूर्ण वीतरागता का या परम स्वस्थता का बोधक है, और एकत्व अखण्डता का बोधक है। समयसारकलश (14) में कहा गया है— "हमें वह उत्कृष्ट तेज-प्रकाश प्राप्त हो जो अखण्डित है, निराकुल है, अविनाशी रूप से अन्तरंग व बहिरंग में प्रकट रूप से दैदीप्यमान है, जो सहज एवं एकरूप प्रतिभासमान है।"

ध्येयरूपे शुद्धात्मनि दर्शनज्ञानचारित्रेति त्रित्वमपि गौणं भवति, तत्रैकत्वमेव प्रमुखतया भासते। अतएव समयसारे *(गाथा-16)* **प्रोक्तम्—** *ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।*

समयसारकलशे *(139)* **च—** *एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम् इति।*

(एवं संजदो चिन्तेज्ज) **एवं पूर्वोक्तप्रकारेण 'अहं शुद्धः, एकः, निर्ममः' इत्यादिरूपेण संयतः, मुनिः साधुर्वा, एकदेशसंयमधारी च, चिन्तयेत्= वारंवारं चिन्तनं कुर्यात्, एकत्वानुप्रेक्षां मनसि भावयेदिति भावः। इमामेकत्वानुप्रेक्षां भावयतः स्वजनेषु मोहानुबन्धः क्षीयते, परकीयेषु द्वेषानुबन्धोऽपि न वर्द्धते, ततश्च निःसङ्गतोत्पद्यते, ततश्च मोक्षः सुकरः** *(राजवार्तिक, 9/7/4)*। **इत्यलम्। एवं** *'एक्को करेदि कम्मं'* **इत्यादिगाथामादिं कृत्वा** *'एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो'* **इत्यादिगाथां यावत् सप्तगाथात्मकः 'एकत्वानुप्रेक्षा'-नामकः तृतीयाधिकारः सम्पन्नतां गतः।**

[इति परमपूज्यगणाचार्यश्रीडॉ.विरागसागरकृतायां सर्वोदयानाम्न्यां टीकायाम् 'एकत्वानुप्रेक्षा-' नामकस्तृतीयाधिकारः सम्पन्नतां प्राप्तः।]

ध्येय रूप शुद्ध आत्मा में तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र की त्रिविधता भी गौण हो जाती है, मात्र एकत्व ही प्रमुख रूप से भासित होता है। इसी दृष्टि से समयसार (गाथा-16) में कहा गया है— "निश्चयनय से (दर्शन-ज्ञान-चारित्र, इन) तीनों को एक आत्मरूप ही जानो।"

समयसारकलश (139) में कहा गया है— "वह एक ही पद आस्वादनयोग्य है जो विपदाओं का 'अपद' है (जहाँ कोई भी विपत्ति नहीं आती)"।

(एवं संयतः चिन्तयेत्) पूर्वोक्त प्रकार से, 'मैं शुद्ध, एक, ममत्वहीन हूँ' इत्यादि रूप से, संयत अर्थात् मुनि, साधु या एकदेश संयम के धारक को चिन्तन करना चाहिए, बार-बार चिन्तन करना चाहिए, एकत्वसम्बन्धी अनुप्रेक्षा को मन में भावित करना चाहिए -यह भाव है। इस एकत्वानुप्रेक्षा वाले साधक का स्वजनों में मोह-सम्बन्ध क्षीण होता है, परकीयों में द्वेष भाव बढ़ता नहीं, फलस्वरूप निःसङ्गता पैदा होती है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति सुकर होती है (राजवा.-9/7/4)। यहाँ इतना ही कथन पर्याप्त है। इस प्रकार, **'एक्को करेदि कम्मं'** इत्यादि गाथा से लेकर **'एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो'** इत्यादि गाथा तक सात गाथाओं वाला 'एकत्वानुप्रेक्षा' नामक तीसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

[परम पूज्य गणाचार्य श्री डॉ. विरागसागर जी द्वारा कृत सर्वोदया नामक टीका में 'एकत्वानुप्रेक्षा' नामक तीसरा अधिकार सम्पन्न हुआ।]

[अण्णत्ताणुवेक्खा— चउत्थो अहियारो]
।। अन्यत्वानुप्रेक्षा— चतुर्थोऽधिकारः ।।

अथ अन्यत्वानुप्रेक्षानामकः चतुर्थोऽधिकारः प्रारभ्यते। प्रथमं पातनिका निर्दिश्यते। तत्र *'मादापिदरसहोदर'* इत्यादिगाथामादिं कृत्वा *'अण्णं इमं सरीरादिगं'* इत्यादिगाथापर्यन्तं तिस्र एव गाथा भवन्ति। तासु प्रथमतः *'मादापिदरसहोदर'* इत्यादिका मातापितृभ्रातृपत्नीपतिप्रभृतिसम्बन्धाः स्वार्थसाधननिमित्ताः नश्वरा एवेति कथनरूपा प्रथमा गाथा। तदनन्तरम् *'अण्णो अण्णं सोयदि'* इत्यादिका 'अन्यप्रियजनवियोगादिशोकं करोति जीवः, किन्तु संसारसमुद्रे निमज्जतः स्वात्मनो विषये न शोचति' —इत्यादिकथनपरा द्वितीया गाथा। तदनन्तरम् *'अण्णं इमं सरीरादिगं'* इत्यादिका 'मत्तः शरीरादिकं पृथगेव, निजात्मा तु सर्वद्रव्यविलक्षणो ज्ञानदर्शनस्वभावी' इत्यादिनिरूपणपरा तृतीया गाथा भवतीति समुदायेन तिसृभिर्गाथाभिः चतुर्थाधिकारस्य समुदायपातनिका निर्दिष्टा।

[अन्यत्वानुप्रेक्षा— चतुर्थाधिकार]

अब अन्यत्वानुप्रेक्षा नामक चतुर्थ अधिकार प्रारम्भ हो रहा है। सबसे पहले पातनिका का निर्देश किया जा रहा है। इस अधिकार में '**मादा-पिदरसहोदर**' इत्यादि (21वीं) गाथा से लेकर '**अण्णं इमं सरीरादिगं**' इत्यादि (23वीं) गाथा तक तीन ही गाथाएँ हैं। इनमें सर्वप्रथम '**मादापिदरसहोदर**' इत्यादि प्रथम गाथा है जिसमें 'माता, पिता, भाई, पत्नी, पति आदि के सम्बन्ध स्वार्थसिद्धि हेतु बनते हैं और नश्वर ही होते हैं'— यह बताया गया है। इसके बाद, '**अण्णो अण्णं सोयदि**' इत्यादि दूसरी गाथा है जिसमें यह बताया गया है कि जीव दूसरे प्रिय लोगों के वियोग आदि का शोक तो करता है, किन्तु संसार-सागर में डूब रही अपनी आत्मा के बारे में कभी (चिन्तन व) शोक नहीं करता। इसके बाद '**अण्णं इमं सरीरादिगं**' इत्यादि तीसरी गाथा है जिसमें यह बताया गया है (ज्ञानी यह सोचे) कि 'मुझसे (आत्मा से) शरीर आदि पृथक् ही हैं, मेरी निज आत्मा तो सभी द्रव्यों से विलक्षण (भिन्न) तथा ज्ञानदर्शनस्वभावी है' इत्यादि। इस प्रकार तीन गाथाओं से युक्त इस चतुर्थ अधिकार से सम्बन्धित 'समुदाय पातनिका' का निर्देश किया गया।

अथ सम्प्रति 'इयं मम माता, अहमस्याः पुत्रः' इत्यादिकानां पारिवारिकसामाजिकादि-सम्बन्धानामवास्तविकत्वं निरूपयन्तः शास्त्रकाराः अन्यत्वानुप्रेक्षां प्रस्तुवन्ति—

मादापिदासहोदर-पुत्तकलत्तादिबंधुसंदोहो ।
जीवस्स ण संबंधो, णिय-कज्जवसेण वट्टंति ॥२१ ॥

छाया— *मातृपितृसहोदरपुत्रकलत्रादिबन्धुसन्दोहः।*
जीवस्य न सम्बन्धो निजकार्यवशेन वर्तन्ते॥

(सर्वोदया टीका—) *(मादा)* **माता, जन्मदायिका जननी।** *(पिदा)* **पिता, स च शरीरं जनयति, इत्यतो 'जनकः' इति च कथ्यते। मातुः रुधिरं रजो वा, पितुश्च शुक्रम्— एतयोः शरीरत्वेन उपादानं विधाय मातृगर्भे जीवः समायाति। गर्भे शरीर-रचनाक्रमो यथा भवति, तस्य भगवती-आराधनाग्रन्थे** *(गाथा-998-1004)* **स्पष्टतया प्रतिपादितमस्ति, तत एवावेक्षणीयम्। एवं संसारेऽधिकोपकारत्वात् माता पिता चेत्येतयोरत्र प्रथममुपादानम्, तयोरपि मातुरभ्यधिको भवत्युपकारः**

अब, 'यह मेरी माता है, मैं इसका पुत्र हूँ' इत्यादि जो पारिवारिक या सामाजिक सम्बन्ध (नाते-रिश्ते) हैं, उनकी अवास्तविकता का निरूपण करते हुए शास्त्रकार 'अन्यत्वानुप्रेक्षा' को प्रस्तुत कर रहे हैं—

(21)

(गाथा-अर्थ—) माता, पिता, सहोदर भाई, पुत्र, पत्नी एवं बन्धु-बान्धवों का समूह, इनसे जीव का कोई (वास्तविक) सम्बन्ध नहीं है। (ये सभी सम्बन्ध) अपने कार्यवश (स्वार्थवश निर्मित) हुआ करते हैं।

(सर्वोदया टीका—) (मातृ) माँ, जन्म देने वाली जननी, (पितृ) पिता यानी शरीर को जन्म देने वाला और इसीलिए उसे 'जनक' भी कहा जाता है। माता के रक्त और पिता का वीर्य —इन दोनों के उपादान कारण से निर्मित शरीर को लेकर जीव माता के गर्भ में आता है। गर्भ में उसके शरीर की जो (क्रमिक) संरचना होती है, उसका 'भगवती-आराधना' ग्रन्थ (गाथा-998-1004) में स्पष्ट रूप से निरूपण किया गया है, वहीं से उसकी जानकारी ली जा सकती है। इस प्रकार, संसार में अधिक उपकारक होने के कारण, माता-पिता —इन दोनों को (अन्य सभी सम्बन्धों में) प्रथम स्थान दिया गया है। इन दोनों में भी माता का अत्यधिक उपकार है— इस दृष्टि से उसका नाम सर्वप्रथम यहाँ लिया गया है। इस तरह,

इति तस्याः सर्वप्रथमं नामग्रहणं कृतम्। एवं लौकिकसम्बन्धेषु मातृपितृसम्बन्धो सर्ववरेण्यः सम्मतः। प्रत्येकभवे कस्यचित् काचिन्माता कश्चित् पिता च भवति, भवान्तरे तत्सम्बन्धपरिवर्तनमेवेति कारणात् सम्बन्धयोरनयोः न नित्यता। *(सहोदर)* **ययोः (मातुरुदरं) समानमेव गर्भस्थानं भवति, तौ परस्परं सहोदरभ्रातरौ भवतः।** *(पुत्तकलत्तादि)* **पुत्रः सुतः, कलत्रं धर्मपत्नी इत्यादि। पाणिग्रहणसंस्कारो यया सह सम्पद्यते, सा पत्नी, धर्मपत्नी कथ्यते, तस्याश्चापरं नाम कलत्रमिति भवति। आदिपदेन पितृव्य-मातुल-पितामह-मातामह-भगिनी-प्रभृतीनां ग्रहणं विधेयम्।** *(बंधुसंदोहो)* **बन्धूनां सन्दोहः समूहः। येऽन्ये कुटुम्बिनः, तेऽत्र बन्धुपदेन संकेतिताः। व्यवहारे उपकार्य-उपकारकरूपेण पारिवारिका अनेके सम्बन्धा जायन्ते, ततश्च जीवस्य बन्धुबान्धवानां विशालः परिवारो निर्मीयते।**

(जीवस्स ण संबंधो) **वस्तुतः प्रोक्ताः सर्वेऽपि सम्बन्धाः असद्भूताः। अत्र निश्चयनयेन — इति सर्वं योजनीयम्। व्यवहारनयेन तु ते सद्भूता एव, अन्यथा सर्वव्यवहारलोपः स्यात्। किन्तु परमार्थदृष्ट्या विचार्यते चेत्, तर्हि प्रयोजनसिद्धिनिमित्तक-कल्पना प्रसूता एवेत्यतोऽसद्भूताः प्रतीयन्ते।**

लौकिक सम्बन्धों में माता-पिता का सम्बन्ध सर्वश्रेष्ठ माना गया है। प्रत्येक जन्म में किसी की कोई न कोई माता एवं कोई न कोई पिता होता है। अन्य जन्म में वह सम्बन्ध परिवर्तित हो ही जाता है— इस कारण से इन दोनों सम्बन्ध की स्थायिता नहीं है। **(सहोदर)** जिन का (मातृ-उदर रूप) गर्भस्थान एक हो, वे परस्पर सहोदर (सगे भाई) कहलाते हैं। **(पुत्रकलत्रादि)** पुत्र यानी सुत, कलत्र यानी धर्मपत्नी, इत्यादि। जिसके साथ पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न हो, वह पत्नी या धर्मपत्नी कहलाती है, उसी का दूसरा नाम 'कलत्र' भी है। आदि पद से चाचा, मामा, दादा, नाना, बहिन —इत्यादि का ग्रहण समझना चाहिए। **(बन्धुसन्दोहः)** बन्धुओं का संदोह अर्थात् समूह। जो कुटुम्ब के अन्य लोग हैं, उन्हें यहाँ 'बन्धु' नाम से निर्दिष्ट किया गया है। व्यवहार-जगत् में उपकार्य-उपकारक रूप से अनेक पारिवारिक सम्बन्ध बन जाते हैं, फलस्वरूप जीव के बन्धु-बान्धवों का एक विशाल परिवार बन जाता है।

(जीवस्य न सम्बन्धः) वस्तुतः पूर्वोक्त सभी सम्बन्ध असद्भूत हैं (अवास्तविक हैं)। यहाँ 'निश्चयनय से' यह कथन जोड़ना चाहिए। (क्योंकि) व्यवहारनय से तो वे सम्बन्ध सद्भूत ही हैं, अन्यथा सभी व्यवहार लुप्त हो जाएँगे। किन्तु परमार्थ दृष्टि से विचार करें तो वे सभी सम्बन्ध अपने किसी निजी प्रयोजन की सिद्धि के उद्देश्य से काल्पनिक रूप से बनाये हुए हैं, अतः वे असद्भूत ही प्रतीत होते हैं।

एतदेव तथ्यं विवृण्वन्तः शास्त्रकाराः कथ्यन्ति— *(णिय-कज्जवसेण वट्टंति)*, **यतो हि प्रोक्ताः सर्वेऽपि सम्बन्धाः निज-निजकार्योपयोगितां मनसि संचिन्त्य कल्पनया संस्थापिताः वर्तन्ते, भवन्ति। कल्पना तु न चिरस्थायिनी, यतो हि निजकार्यवशेन सा उत्पद्यते। स्वार्थसिद्धि-भ्रंशो यदि स्यात्, तर्हि स सम्बन्धो नश्यति, रागस्थाने विद्वेषरूपेण च सत्त्वात्। परमार्थदृष्टिरत्र सत्यं समुद्घाटयति— सम्बन्धे वास्तविके ऐक्यरूपावाप्तिः। ऐक्यं च पृथक् पृथक् स्वतन्त्रनिरपेक्षस्थितिकयोः, विरुद्धस्वभावयोश्च कथमपि न भवति। यैः पदार्थैः चेतनैरचेतनैर्वा ऐक्यं न सम्भवति, तत्र न कोऽपि वास्तविकः सम्बन्धः, काल्पनिक एवेति। एतया दृष्ट्या मातृपितृभ्रातृप्रभृतिसम्बन्धाः न वास्तविकाः सिद्ध्यन्ति।**

अत एवोक्तं ज्ञानार्णवे *(2/99-104)*—

मूर्तैर्विचेतनैः चित्रैः स्वतन्त्रैः परमाणुभिः।
यद् वपुर्विहितं तेन कः सम्बन्धस्तदात्मनः॥

इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार कहते हैं— **(निजकार्यवशेन वर्तन्ते)**, चूँकि पूर्वोक्त सभी सम्बन्ध अपने-अपने निजी कार्यसिद्धि में उपयोगिता को ध्यान में रखकर, कल्पना से बनाये गये होते हैं। और कल्पना चिरस्थायी नहीं होती, क्योंकि वह अपने कार्य (लक्ष्य) के निमित्त से की जाती है। यदि स्वार्थ सिद्धि नहीं हो पाती, तो वह सम्बन्ध नष्ट हो जाता है, और राग की जगह विद्वेष होने लगता है। इस प्रसंग में परमार्थ दृष्टि इस सत्य का उद्घाटन करती है— जिस सम्बन्ध में एकरूपता होती हो, वही सम्बन्ध वास्तविक होता है। यह एकरूपता या ऐक्य उन दो में किसी तरह भी नहीं होता जिनकी पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र व निरपेक्ष सत्ता हो और जो परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले हों। जिन चेतन या अचेतन पदार्थों में ऐक्य सम्भव नहीं होता, तो उनमें कोई वास्तविक सम्बन्ध भी नहीं होता, होता है तो काल्पनिक सम्बन्ध होता है। इस दृष्टि से माता-पिता, भाई आदि के सम्बन्ध वास्तविक सिद्ध नहीं होते।

इसीलिए ज्ञानार्णव (2/99-104) में कहा गया है—

"जो शरीर मूर्त व अचेतन एवं विचित्र प्रकार के स्वतन्त्र परमाणुओं से बना है, उसके साथ चेतन व अमूर्त आत्मा का क्या सम्बन्ध हो सकता है? (अर्थात् कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।)"

अन्यत्वमेव देहेन स्याद्भृशं यत्र देहिनः।
तत्रैक्यं बन्धुभिः सार्धं बहिरङ्गैः कुतस्तनम्॥

ये ये सम्बन्धमायान्ति पदार्थाश्चेतनेतराः।
ते ते सर्वेऽपि सर्वत्र स्वस्वरूपाद् विलक्षणाः॥

पुत्रमित्रकलत्राणि वस्तूनि च धनानि च।
सर्वथाऽन्यस्वभावानि भावय त्वं निरन्तरम्॥

अन्यः कश्चिद् भवेत्पुत्रः, पिताऽन्यः कोऽपि जायते।
अन्येन केनचित् सार्द्धं कलत्रेणानुरज्यते॥

स्वस्वरूपमतिक्रम्य पृथक् पृथग्व्यवस्थिताः।
सर्वेऽपि सर्वथा मूढ भावास्त्रैलोक्यवर्तिनः॥

"देही (आत्मा) की शरीर के साथ भी अत्यन्त भिन्नता है, तब उसकी बाहरी बन्धु जनों के साथ एकता कैसे हो सकती है? (अर्थात् नहीं हो सकती।)"

"जो चेतन या अचेतन पदार्थ परस्पर सम्बन्ध को प्राप्त होते (दृष्टिगोचर) हैं, वे सभी सर्वत्र अपने-अपने स्वरूप से विलक्षण होते हैं, पृथक्-पृथक् स्वभाव वाले होते हैं। (अतः उनमें वास्तविक सम्बन्ध हो ही नहीं सकता)।"

"अतः हे भव्य! पुत्र, मित्र, पत्नी तथा अन्य वस्तुएँ और धन —ये सभी सर्वथा भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले होते हैं, ऐसा विचार करो।"

"इस संसार में अन्य कोई पुत्र होता है, अन्य कोई पिता होता है, अन्य किसी स्त्री (पत्नी) के साथ राग होता है। (ये सम्बन्ध नियत, सर्वकालस्थायी नहीं होते)।"

"हे मूढ़! त्रिलोक में जितने पदार्थ हैं, वे सभी अपने निज स्वरूप को छोड़कर सर्वथा अपने-अपने भिन्न स्वरूप में स्थित रहते हैं, विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होते रहते हैं (मित्र शत्रु बन जाता है, शत्रु मित्र बन जाता है, इत्यादि)।"

एभिः काल्पनिकसम्बन्धैः सह यः कश्चिदपि मोहेन ऐक्यं भावयति, तर्हि कर्मबन्ध एव, न कदाचिन्मुक्तिः। उक्तं च ज्ञानार्णवे *(2/91)*—

यदैक्यं मनुते मोहादयमर्थैः स्थिरेतरैः।
तदा स्वं स्वेन बध्नाति तद्विपक्षः शिवीभवेत्।।

अत्रायं विस्तरः— माता वा पिता वा स्वपुत्रस्य पालनादिकं यत् कुरुते, तत्र स्वकार्यसिद्धि-अभिलाषैव प्रेरिका। तौ विचारयतो यदयं मम पुत्रः वृद्धावस्थायां प्रत्युपकारभावेन सेवां करिष्यति, धनादिना सहयोगं च विधास्यति। एवं भर्ताऽपि स्वभार्यां सुखिनीं करोति, तस्या इच्छायाश्च पूर्तिं करोति, यतो हि सोऽपि मनुते यत् यदियं मम पत्नी पुत्रोत्पादनादिना मदीयवंशवृद्धौ सहायिका भविष्यति, दैनिककार्यसम्पादने, सुखदुःखयोश्च सहभागिनी, अनुकूला सती साहाय्यं प्रदास्यति। सुपत्न्याः स्वरूपमपि सुभाषितरत्नभाण्डागारे, *(पृ. 351, श्लोक-28, सतीवर्णन)* **प्रोक्तं यत्—**

इन काल्पनिक सम्बन्धों के साथ जो कोई भी मोहवश ऐक्य मान लेता है, उसे कर्मबन्ध ही होगा, कभी मुक्ति नहीं होगी। ज्ञानार्णव (2/91) में कहा भी गया है—

"जब जीव मोहवश स्थिर या अस्थिर पदार्थों के साथ अपनी एकता मानता है, तब वह स्वयं को उनसे स्वयं ही बाँधता है, किन्तु इसके विपरीत जो एकता नहीं मानता, वह बन्धन से मुक्त होकर शिव पद प्राप्त करता है।"

यहाँ कुछ विस्तार से कहने की बात है— माता या पिता अपने पुत्र की पालना करते हैं, उसमें उनकी निजी स्वार्थ-सिद्धि की अभिलाषा ही प्रेरक होती है। वे दोनों सोचते हैं कि हमारा यह पुत्र बुढ़ापे में प्रत्युपकार की भावना से हमारी सेवा करेगा, धन आदि से हमारी सहायता करेगा। इसी तरह पति भी अपनी पत्नी को सुख देता है, उसकी इच्छाओं की पूर्ति करता है, क्योंकि वह मानता है कि वह पत्नी भी पुत्र-उत्पत्ति आदि के द्वारा वंश-वृद्धि में सहायक होगी, दैनिक कार्यों को पूरा करने में एवं सुख-दुःख की स्थितियों में यह मेरी सहभागी, अनुकूल होती हुई सहायक होगी। इसी दृष्टि से सुभाषितरत्न भाण्डागार (पृ. 351, श्लोक-28, सतीवर्णन) में एक अच्छी पत्नी का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी, भोज्येषु माता शयनेषु रम्भा।
धर्मेऽनुकूला क्षमया धरित्री, भार्या च षाड्गुण्यवतीह दुर्लभा।।

किन्तु सा भार्याऽपि पत्युरानुकूल्यं तथैव स्वार्थभावेन सम्पादयति, यतो हि सा जानाति यत्पत्युरानुकूल्ये एव मम सुखसाधनानि भवन्ति, पत्यौ प्रतिकूले न कश्चित्सहायतां करिष्यति — इत्येवं जनकसुतयोः, जननीपुत्रयोः, पतिपत्न्योश्च परस्परं स्वार्थसिद्धिनिमित्तक एव सम्बन्धः। यदैव उभयोरेकस्य स्वार्थभ्रंशमपेक्ष्य अन्यस्मात् वैतृष्ण्यं जायते, तदा स एव सम्बन्धो दुर्भावमिश्रितत्वात् वैपरीत्यं प्राप्नोति। तयोरेकोऽन्यस्य प्राणवधमपि कर्तुं निस्त्रपो भवति।

अन्यच्च, एते पारिवारिकसम्बन्धाः निर्दोषतया प्रवर्तिता अपि परस्पररागप्रवर्द्धकाः, परिणामतो निःश्रेयसमार्गे प्रायः प्रतिबन्धका भवन्ति। वस्तुतो निःश्रेयसमार्गे सहयोगिनः सम्बन्धास्तु प्रायो विरला एव भवन्ति।

"जो सभी कामों में मन्त्री की तरह, आज्ञा-पालन में दासी की तरह, भोजन कराने में माता की तरह, शयन में रम्भा (अप्सरा) की तरह, धर्माचरण में अनुकूल, क्षमा करने में पृथ्वी की तरह —इस प्रकार छः गुणों वाली भार्या लोक में दुर्लभ है।"

किन्तु वह पत्नी भी पति के प्रति अनुकूल आचरण उसी तरह स्वार्थ भाव से करती है, क्योंकि वह जानती है कि पति की अनुकूलता में ही मेरे लिए सुख-साधन बने रहने वाले हैं, पति की प्रतिकूलता में कोई भी मेरा सहायक नहीं होगा— इस तरह पुत्र व पिता में, माता व पुत्र में तथा पति व पत्नी में जो सम्बन्ध होता है, वह स्वार्थसिद्धि पर टिका होता है। ज्यों ही दोनों में से किसी एक की स्वार्थसिद्धि नहीं होती, तब एक को दूसरे से वितृष्णा हो जाती है, तभी वह सम्बन्ध दुर्भावना-ग्रस्त होने से विपरीत रूप धारण कर लेता है। उन दोनों में एक दूसरे का प्राण लेने में भी कोई लज्जा नहीं करता।

दूसरी बात, ये पारिवारिक सम्बन्ध निर्दोष रूप से प्रवर्तित हों (बने भी रहें) तो भी परस्पर राग के वर्द्धक होते हुए वे परिणाम में मोक्षमार्ग में प्रायः रुकावट ही पैदा करते हैं। वस्तुतः ऐसे पारिवारिक सम्बन्ध प्रायः विरले ही पाये जाते हैं जो मोक्षमार्ग में सहयोगी हों।

किञ्च, प्रोक्ताः सर्वे सम्बन्धाः न चिरस्थायिनः। मृत्युसमये, मानसिकपीडायां, वृद्धावस्थादिजनितशरीरशक्तिक्षये, प्राक्कर्मकृतदुष्फलानुभूतौ न कश्चिदपि सहायकः, सहभागी वा भवितुमर्हति। जन्मान्तरे तु भिन्ना एव सम्बन्धिनो जायन्ते, पूर्वजन्मसम्बन्धाः विस्मृताः, विच्छिन्ना एव भवन्ति। एवं सर्वविधसम्बन्धानां कुतः चिरस्थायित्वम्? अत एव च तेषामवास्तविकत्वं च विज्ञेयम्।

गाथायास्तात्पर्यमिदं यत् भो मनीषिन्! लौकिकसम्बन्धा उपेक्षणीयाः, ज्ञानदर्शनाद्यनन्तगुणस्वरूपः शाश्वतचैतन्यमयो निजशुद्धात्मैव वास्तविकः सम्बन्धी, अन्ये च चेतना अचेतना वा पदार्थाः भिन्नाः, भिन्नस्वभावाः, तैः सह सम्बन्धोऽसद्भूतः, अतो निजात्मनि एव रतिः कार्या, अक्षयानन्तसुखात्मकमोक्षप्राप्तिं सैव विधास्यति —इत्येवं वारं वारं चिन्तय, अनुप्रेक्षस्व चेति।

अथ प्रमाददोषतः निजात्मरतेश्च्युतो जीवात्मा अशोच्यं शोचति, शोच्यं च न शोचति — इति शास्त्रकाराः निरूपयन्ति—

और भी, पूर्वोक्त सभी सम्बन्ध चिरस्थायी नहीं रहते। मृत्यु के समय, मानसिक पीड़ा में, वृद्धावस्था आदि से होने वाले शारीरिक शक्ति-क्षय में तथा पूर्वकृत कर्मों के दुष्परिणामों को भोगते समय कोई भी (सम्बन्ध) सहायक या सहभागी नहीं होता। अन्य जन्म में तो भिन्न ही सम्बन्धी बनते हैं, और पूर्वजन्म के सम्बन्ध विस्मृत हो जाते हैं और विच्छिन्न हो जाते हैं। इस प्रकार सभी प्रकार के सम्बन्धों की चिरस्थायिता कहाँ रही? इसीलिए उनकी अवास्तविकता को जानना-समझना चाहिए।

इस गाथा का तात्पर्य यह है कि हे मनीषिन्! लौकिक सम्बन्धों की उपेक्षा करो, ज्ञानदर्शन आदि अनन्त गुण स्वरूप वाला शाश्वत चैतन्यमय अपना शुद्धात्मा ही वास्तविक सम्बन्धी है, दूसरे चेतन या अचेतन पदार्थ (आत्मा से) भिन्न हैं, भिन्न स्वभाव वाले हैं, उनके साथ सम्बन्ध असद्भूत (अवास्तविक) हैं, अतः अपनी आत्मा में ही रति करनी चाहिए, उसी से अक्षय-अनन्त सुख स्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होगी —इस प्रकार बार-बार चिन्तन करो, अनुप्रेक्षा करो।

अब, प्रमाद-दोष के कारण निजात्म-रति से च्युत होता हुआ जीव अशोचनीय का तो शोक करता है, और जिसका शोक करना चाहिए, उसका शोक नहीं करता —यह शास्त्रकार आगे प्रतिपादित कर रहे हैं—

अण्णो अण्णं सोयदि, मदो त्ति मम णाहगो ति मण्णंतो।
अप्पाणं ण हु सोयदि, संसारमहण्णवे वुड्ढं ॥२२॥

छाया— *अन्य: अन्यं शोचति, मृत: इति मम नाथक: इति मन्यमान:।*
आत्मानं न खलु शोचति, संसार-महार्णवे मग्नम् ॥

(सर्वोदया टीका—) इयं गाथा मूलाचारग्रन्थेऽपि *(गाथा-703)* **समागता।** *(मम णाहगो)* **अयं मम नाथ:, स्वामी शासक:, भर्ता, पतिर्वा,** *(मदो)* **मृत:, मृत्युं प्राप्त:** *(त्ति मण्णंतो)* **इति मन्वान:, स्वीकुर्वन्, जानन् वा,** *(अण्णो अण्णं सोयदि)* **अन्यो जनो जनमन्यं शोचति, परात्मभूते जने मृते सति शोकं प्रकटयति।**

अत्रेदं ज्ञेयम्— सर्वेऽपि जीवात्मान: प्रतिशरीरं भिन्ना:। तेषां पृथक् पृथगेव स्वतन्त्रनिरपेक्षसत्ता वर्तते। स्वस्वकर्मानुरूपमेव प्रत्येकं जीवात्मा पृथक् पृथगेव, एकाकी एव फलमनुभवति। कथं च तस्य शोक: प्रादुर्भवति? तत्र मोह एव कारणम्। मोहश्च प्रमादजनित आत्मीयो वैभाविकपरिणाम:। तेन तस्य निजात्मेतरपदार्थेषु ममत्वं संजायते।

---

(22)

(गाथा-अर्थ—) यह मेरा स्वामी है और यह मृत्यु को प्राप्त हो गया है —ऐसा मानता हुआ (संसारी जीव) अन्य (जीव) के लिए शोक करता रहता है, किन्तु संसार-समुद्र में डूब रहे (निरन्तर संसरणशील) निज आत्मा के बारे में शोक नहीं करता।

(सर्वोदया टीका—) यही गाथा मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-703) में भी आई है। **(मम नाथक:)** ये मेरा नाथ, स्वामी, शासक, भरणकर्ता या पति है, **(मृत:)** मरा हुआ, अर्थात् मृत्यु को प्राप्त, **(इति मन्यमान:)** ऐसा मानता हुआ, स्वीकारता हुआ या समझता हुआ **(अन्य: अन्यं शोचति)** अन्य जन अन्य जन के विषय में शोक करता है, जो अपने से पर है, भिन्न है, उस व्यक्ति के मरने पर शोकाकुल होता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सभी जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न हैं। उनकी परस्पर-निरपेक्ष स्वतन्त्र सत्ता है। अपने-अपने कर्मों के अनुरूप ही प्रत्येक जीवात्मा, पृथक्-पृथक् ही, एकाकी ही फल भोगता है। (प्रश्न है कि) उसे शोक उत्पन्न क्यों होता है? (उत्तर है कि) वहाँ मोह ही कारण है। यह मोह प्रमाद-जनित आत्मा का वैभाविक परिणाम है। इसी कारण जीवात्मा का ममत्व भाव अपने से भिन्न पदार्थों में हो जाता है।

उक्तं च समयसारे *(गाथा-96)*—

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ।
अप्पाणं अवि य परं करेइ अण्णाणभावेण॥

ममत्वेन अनुकूलेषु रागः, प्रतिकूलेषु च द्वेषः समुत्पद्यते। यत्र रागः, स इष्टपदार्थः, यत्र द्वेषः, सोऽनिष्टपदार्थः। इष्टवियोगे दुःखं शोको वा भवति, अनिष्टसंयोगेऽपि दुःखं शोको वा भवति। यं जनं जीवः स्वनाथं, रक्षकं प्रियं वा मनुते, तस्य मृत्युं दृष्ट्वा, तद्वियोगे महान्तं शोकं प्रकटयति। अनिष्टविषयसंयोगेऽपि शोकं स प्रकटयति। स च शोक आर्तध्यानरूपः।

उक्तं च तत्त्वार्थसूत्रे *(9/30-31)— "आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः" तथा च "विपरीतं मनोज्ञस्य"* **इति च। इष्टपदार्थस्य वियोगे तदीयं सततं स्मरणं कुर्वन्, तथा अनिष्टपदार्थस्य प्राप्तौ 'कथमेतद्वियोगः स्यात्' इतिसततं चिन्तनं कुर्वन् जीवः शोचते, आर्तध्यानाविष्टश्च तिष्ठति। इदं चार्तध्यानमविद्या-वासनयैव समुत्पद्यते।**

समयसार (गाथा-96) में कहा भी है— "इस प्रकार, अज्ञानी अज्ञान भाव से पर द्रव्यों को अपना (आत्मरूप) मानता है और आत्मा को 'पर' (परकीय) करता है।"

ममत्व के कारण अनुकूल (इष्ट) पदार्थों के प्रति राग होता है और (प्रतिकूल) (अनिष्ट) पदार्थों के प्रति द्वेष भाव होता है। जहाँ राग है, वह (जीव का) अभीष्ट पदार्थ हो जाता है और जहाँ द्वेष होता है, वह अनिष्ट पदार्थ होता है। अभीष्ट पदार्थ के वियोग होने पर तथा अनिष्ट पदार्थ के संयोग होने पर दुःख व शोक होते हैं। जिस व्यक्ति को जीव अपना नाथ, रक्षक या प्रिय मानता है, उसकी मृत्यु देखकर उसके वियोग में महान् शोक प्रकट करता है। अनिष्ट विषय के संयोग में भी वह शोक प्रकट करता है। यह शोक आर्तध्यान रूप ही होता है।

तत्त्वार्थसूत्र (9/30-31) में कहा भी गया है— "अमनोज्ञ (अप्रिय) पदार्थ की प्राप्ति में उसके वियोग के लिए चिन्ता (स्मृति) का सतत बने रहना आर्तध्यान होता है।" "मनोज्ञ (प्रिय) पदार्थ के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिए चिन्ता (स्मृति) का सतत बने रहना —यह भी आर्तध्यान कहलाता है।" इष्ट पदार्थ के वियोग में उसी का सतत स्मरण करते हुए, तथा अनिष्ट पदार्थ के मिलने पर 'इसका किस प्रकार वियोग हो' इस प्रकार सतत चिन्तन करते हुए जीव शोक करता है और आर्तध्यान से युक्त हो जाता है। यह आर्तध्यान अविद्या वासना से ही प्रकट होता है।

उक्तं च ज्ञानार्णवे *(23/21)*—

ऋते भवमथार्तं स्यात्, असद्ध्यानं शरीरिणाम्।
दिग्मोहोन्मत्ततातुल्यम्, अविद्यावासनावशात्॥

मृतस्य जीवस्य स्वसम्बन्धिनो न पुनर्जीवनं भविता, किञ्च शोकेन संसारस्थितिवर्द्धकः कर्मबन्धोऽपि नूनं भविता, तथाऽपि अज्ञानिनो जनस्य मोहवशाच्छोको भवति। अत्र मोहोऽज्ञान-जनितरागादिप्रतीकरूपो बोध्यः। एतद्दुष्प्रभावत एव शलाकापुरुषेषु परिगण्यमानो बलभद्रोऽपि मोहेनैव नारायणकृष्णस्य मृतशरीरमपि षण्मासपर्यन्तमवोढ, जनैः सम्बोधितः स कुपितोऽभवत्— इत्यादिवर्णनं पुराणेषु उपनिबद्धम् *(हरिवंशपुराण, 63 सर्ग आदि)*। **वस्तुतो रागद्वेषौ मोहजनितौ दीर्घकर्मबन्धनं कारयतः।**

उक्तं च समयसारे *(गाथा-150)*—

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥

ज्ञानार्णव (23/21) में कहा भी है— ''आर्त्त पद की निर्युक्ति है —ऋत यानी कष्ट में होने वाला। शरीरधारियों को होने वाला यह अप्रशस्त ध्यान अविद्या (अज्ञान) वासना के कारण होता है और दिग्मूढ़ता या उन्मत्तता जैसी स्थिति के समान हुआ माना गया है।''

यद्यपि मरा हुआ निज सम्बन्धी पुनर्जीवित नहीं होता, और शोक करने से संसार-स्थिति को बढ़ानेवाला कर्म-बन्ध भी अवश्य होता है, फिर भी अज्ञानी के मोह-वश शोक होता है। यहाँ मोह को अज्ञान-कृत रागादि का प्रतीक रूप भाव समझना चाहिए। इसी के दुष्प्रभाव से ही शलाकापुरुषों में परिगणित बलभद्र भी मोह के कारण (अपने भाई) नारायण कृष्ण के मृत शरीर को भी छः मास तक ढोते रहे, लोगों ने उन्हें उद्बोधित किया तो उन पर भी वे कुपित हुए —इत्यादि वर्णन पुराणों में दिया हुआ है (हरिवंशपुराण, 63 सर्ग आदि)। वस्तुतः मोहजनित ये राग-द्वेष दीर्घ कर्म-बन्धन कराते हैं।

समयसार (गाथा-150) में कहा भी है— ''रागी कर्म बाँधता है और वैराग्यसम्पन्न मुक्त होता है। यह जिनेन्द्र का उपदेश है, इसलिए कर्मों में राग मत करो।''

मोह-माहात्म्यमेव निरूप्यते— *(संसारमहण्णवे वुड्डं)* **संसारसागरे कर्मभारेण निमज्जन्तम्** *(अप्पाणं ण हु सोयदि)* **आत्मानं न शोचते —इति महान् मोह एव, नान्यद्। अयं भावः— 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः', अतः कस्यचिन्मरणे कः शोकः? अशाश्वतस्य शरीरस्य नाशो भवत्येव, अतस्तत्र कः शोकः? तथापि यः शोचते, स मूढ एव। अन्यच्च, निजात्मा संसारसागरे निमज्जति, तथापि तद्विषये स न शोचति, इति स महान् मूढ एव।**

मूढपुरुषस्य का स्थितिः इतिविषये ज्ञानार्णवे *(2/57)* **विशदीकृतम्—**

परस्येव न जानाति, विपत्तिं स्वस्य मूढधीः।
वने सत्त्वसमाकीर्णे दह्यमाने तरुस्थवत्॥

अन्यच्च तत्रैव *(2/52)*—

शोच्यन्ते स्वजनं मूर्खाः, स्वकर्मफलभोगिनम्।
नात्मानं बुद्धिविध्वंसाद्, यमदंष्ट्रान्तरस्थितम्॥

इसी मोह के माहात्म्य का निरूपण कर रहे हैं— (संसारमहार्णवे मग्नम्) संसार-समुद्र में कर्म के भार से डूब रहे **(आत्मानं न खलु शोचति)** अपने आत्मा के बारे में शोक नहीं करता —यह महान् मोह ही है, और कुछ नहीं। तात्पर्य यह है— जो जन्मा है, मृत्यु उसकी अवश्यम्भावी है, इसलिए किसी की मृत्यु पर शोक किसलिए? अशाश्वत शरीर का तो नाश होना ही था, अतः उसका भी शोक किसलिए? फिर भी जो शोक करता है तो वह मूढ़ ही है। दूसरी बात, अपनी आत्मा संसार-सागर में जो डूब रही है, फिर भी उसके बारे में जीव शोक नहीं करता, तो वह महान् मूढ़ ही है।

मूढ़ पुरुष की क्या स्थिति होती है— इस विषय में ज्ञानार्णव (2/57) में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है— "अनेक पशु-पक्षियों से व्याप्त वन में आग लग जाने पर वृक्ष पर स्थित मनुष्य अन्य प्राणियों को तो जलता हुआ देखता है, परन्तु वह स्वयं के विषय में नहीं सोचता कि वह भी वृक्ष के जलने पर भस्म हो जाने वाला है।"

और भी वहीं (2/52) यह भी कहा गया है— "जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है, वे मूर्ख अपने आयु कर्म के क्षय होने पर मृत्यु को प्राप्त कुटुम्बी जन का तो शोक करते हैं, किन्तु अपने आपको यम की दाढ़ों के बीच में स्थित (मरणोन्मुख) नहीं देखते हैं।"

गाथायास्तात्पर्यमिदं यत् भो अज्ञानिन्! परपदार्थसम्बन्धि आर्तध्यानं विहाय, आत्मकल्याणाय चिन्तनं कुरु। निजात्मा कर्मशत्रुभिः केनोपायेन रक्षणीयः —इतिविषये सम्यक् विचारः कार्यः। निःश्रेयससिद्धिस्तु परपदार्थेभ्यः पृथग्भूतस्य शुद्धचिदात्मन आश्रयणादेव। तच्चाश्रयणम् 'अन्यत्वानुप्रेक्षया' सुकरं भवति। एवमात्मनिःश्रेयससिद्ध्यै एव सततं पुरुषार्थः कार्यः।

सम्प्रति अन्यत्वानुप्रेक्षामुपसंहरन्तः शास्त्रकाराः आत्मनः शरीरादिभिन्नतां निरूपयन्ति—

अण्णं इमं सरीरादिगं पि जं होज्ज बाहिरं दव्वं।
णाणं दंसणमादा, एवं चिंतेहि अण्णत्तं ॥२३॥

छाया— *अन्यद् इदं शरीरादिकमपि यद् भवति बाह्यं द्रव्यम्।*
ज्ञानं दर्शनमात्मा, एवं चिन्तय अन्यत्वम्॥

(सर्वोदया टीका—) इयं गाथाऽपि मूलाचारे *(गाथा-704)* **निर्दिष्टा। अस्यां गाथायामन्यत्वानुप्रेक्षा साररूपेणोपस्थापिता।**

गाथा का तात्पर्य यह है कि हे अज्ञानी! पर-पदार्थ सम्बन्धी आर्तध्यान को छोड़ो, आत्म-कल्याण के विषय में चिन्तन करो। अपनी आत्मा को कर्म-शत्रुओं से किस प्रकार सुरक्षित रखना है— इस विषय में सम्यक्तया विचार करना चाहिए। निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि तो पर-पदार्थों से पृथग्भूत शुद्ध चिदात्मा के आश्रयण से ही होगी। वह आश्रयण अन्यत्वानुप्रेक्षा से सुकर होता है। इस तरह, आत्मीय निःश्रेयस की सिद्धि के लिए ही पुरुषार्थ करना चाहिए।

अब, अन्यत्वानुप्रेक्षा (अधिकार) का उपसंहार करते हुए शास्त्रकार आत्मा की शरीर आदि से भिन्नता का निरूपण कर रहे हैं—

(23)

(गाथा-अर्थ—) यह शरीर आदि जो (भी) हैं, वे बाह्य द्रव्य हैं और (आत्मा से) अन्य (भिन्न) हैं। आत्मा तो ज्ञान-दर्शनमय है, इस प्रकार अन्यत्व का (बार-बार) चिन्तन करें।

(सर्वोदया टीका—) यह गाथा भी (पूर्वगाथा की तरह) मूलाचार (गाथा-704) में पठित है। इस गाथा में अन्यत्वानुप्रेक्षा के सार को प्रस्तुत किया गया है।

राजवार्तिके *(9/7/5)* **प्रोक्तम्—** *''शरीराद् व्यतिरेको लक्षणभेदाद् अन्यत्वम्''।* **तथा च तत्रैव—** *''ऐन्द्रियिकं शरीरम्, अतीन्द्रियोऽहम्, अज्ञं शरीरं ज्ञोऽहम्, अनित्यं शरीरं नित्योऽहम्, आद्यन्तवच्छरीरम्, अनाद्यनन्तोऽहम्, बहूनि मे शरीरशतसहस्राणि अतीतानि संसारे परिभ्रमतः स एवाहमन्यस्तेभ्यः —इत्येवं शरीरादन्यत्वं मे, किमङ्ग पुनर्बाह्येभ्यः परिग्रहेभ्य इति चिन्तनम् अन्यत्वानुप्रेक्षा''।*

एतदेव अग्रे विव्रियते— *(इमं जं पि सरीरादिगं)* **इदं यद् अपि शरीरादिकम्। इदमित्यनेन सर्वेषां प्रत्यक्षत्वेनानुभूयमानं दृश्यं वा शरीरं, तत्सदृशं पौद्गलिकं द्रव्यं भवनादिकं च सूच्यते।** *(बाहिरं दव्वं होज्ज)* **बाह्यं बहिर्लोके स्थितं द्रव्यं भवेत्, तद्,** *(अण्णं)* **आत्मद्रव्यात् पूर्णतो भिन्नं, स्वलक्षणतः पृथग्भूतम्, इति सर्वैः ज्ञातव्यम्।**

अयम्भावः— मुमुक्षुभिरात्मा श्रद्धातव्यः, ज्ञातव्यः, अनुचरितव्यश्चेति समयसारे *(गाथा-17-18)* **निर्दिष्टम्। जीव-अजीवयोः, आत्मानात्मतत्त्वयोर्वा पृथक् पृथक् लक्षणं विज्ञायैव आत्मनः**

तत्त्वार्थराजवार्तिक (9/7/5) में कहा भी है— ''लक्षण-भेद के आधार पर (आत्मा की) शरीर से व्यतिरिक्तता अर्थात् भिन्नता —यही अन्यत्व है।'' और वहीं (यह भी कहा गया है कि)— ''यह शरीर तो इन्द्रियग्राह्य (मूर्त) है, किन्तु मैं (आत्मा) तो अतीन्द्रिय हूँ, यह शरीर अज्ञ (जड़) है, मैं तो 'ज्ञ' हूँ, यह शरीर अनित्य है, मैं तो नित्य हूँ, यह शरीर सादि-सान्त है, मैं तो अनादि-अनन्त हूँ, संसार में भ्रमण करते हुए मेरे लाखों शरीर अतीत हो गये, किन्तु मैं तो उनसे अन्य हूँ —इस प्रकार मेरी शरीर से ही जब अन्यता, भिन्नता है तो बाह्य परिग्रहों की तो बात ही क्या? (उनसे तो मैं भिन्न हूँ ही) —इस रीति से विचार करना —यही अन्यत्वानुप्रेक्षा है।''

इसी तथ्य को आगे स्पष्ट किया जा रहा है— **(इदं यदपि शरीरादिकम्)** यह जो भी शरीर आदि हैं। 'यह' इस पद से उन सब पदार्थों का संकेत है जो सभी को प्रत्यक्ष अनुभूत या दृष्टिगोचर हो रहे हैं, जैसे शरीर और उसी के जैसे अन्य भवन आदि पौद्गलिक द्रव्य। **(बाह्यं द्रव्यं भवति)** और जो बाह्य लोक में स्थित द्रव्य हैं, वे (भी) (अन्यद्) आत्म द्रव्य से पूर्णतया भिन्न हैं, अपने लक्षण के आधार पर पृथक् स्थित हैं— यह तथ्य सभी को अवगत होना चाहिए।

तात्पर्य यह है— समयसार (गाथा-17-18) में कहा गया है कि मुमुक्षु जनों को आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान और उसी का अनुचरण करना चाहिए। जीव व अजीव या आत्मा व अनात्मा —इनका पृथक्-पृथक् लक्षण जानकर ही आत्मतत्त्व का सम्यक् श्रद्धान व ज्ञान सम्भव होता है। किन्तु प्रायः लोग देह को ही

सम्यक् श्रद्धानं ज्ञानं वा सम्भवति। किन्तु प्रायो जनाः देहमेव आत्मरूपेण व्यवहरन्ति। शास्त्रकाराः अत्र प्रमुखतो देहात्मवादिनां मतं निराकुर्वन्त आत्मशुद्धस्वरूपं निर्दिशन्ति। यदि देह एवात्मा, तर्हि मृतेऽपि तत्र वेदनाज्ञानानुभूतिः कथं न भवति? अत आत्मा शरीरात् पूर्णतः पृथक्, द्वयोः परस्परं स्वभावभेदोऽपि वर्तते —इति श्रद्धातव्यं ज्ञातव्यं च। एवं चार्वाका लोकायतिका वेदं प्रतिपादयन्ति यद् देह एवात्मा, देहस्य नाशे आत्मनाशः, अतो न पुनर्जन्म, न कश्चन परलोकः, स्वर्गनरकादीनां सत्ता न वर्तते। किञ्च—

यावज्जीवेत्सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

अतः पुण्यपापावपि न भवतः। इत्यादि चार्वाकोक्तं कथनमुपेक्षणीयमेव।

अत्र कश्चित् शंकते— यदि देहो नैवात्मा, तर्हि अहं रुग्णः, अहं स्वस्थः, अहं काणः, अहं दुःखी, अहं श्रान्तः —इत्यादिप्रयोगाः कथं भवन्ति? किञ्च, अशरीरस्य परमात्मनः शरीरादिगुणस्तुतिः कथं संगच्छते?

आत्मा रूप में व्यवहृत करते हैं। यहाँ शास्त्रकार प्रमुख रूप से देहात्मवादियों (देह को ही आत्मा मानने वालों) के मत का निराकरण करते हुए आत्मा के शुद्ध स्वरूप का निर्देश कर रहे हैं। यदि देह ही आत्मा है तो मृत्यु हो जाने पर वहाँ (मृत शरीर में) वेदना व ज्ञान की अनुभूति क्यों नहीं होती? इसलिए आत्मा शरीर से पूर्णतः पृथक् है, क्योंकि दोनों का परस्पर स्वभाव भेद भी है— ऐसी श्रद्धा करनी चाहिए और जानना चाहिए। इस प्रकार, चार्वाक या लोकायतिक यह प्रतिपादित करते हैं कि देह ही आत्मा है, देह का नाश ही आत्मा का नाश है, इसलिए पुनर्जन्म नहीं होता, कोई परलोक —स्वर्ग, नरक आदि का सद्भाव भी नहीं है। और—

"जब तक जीएँ, सुख से जीएँ, ऋण लेकर भी घृत पीएँ (अर्थात् भोगों को भोगें), क्योंकि देह के भस्म हो जाने पर उसका पुनरागमन (पुनर्जन्म) कैसे हो सकता है?"

अतः पाप-पुण्य (पदार्थ) भी नहीं होते। इत्यादि चार्वाकों का उक्त कथन उपेक्षणीय (तिरस्कार-योग्य) ही है।

यहाँ कोई शंका करता है— यदि देह आत्मा नहीं है तो मैं रुग्ण हूँ, मैं स्वस्थ हूँ, मैं काना हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं थक गया हूँ —इत्यादि प्रयोग किस कारण से होते हैं? और अशरीर परमात्मा के शरीर आदि के गुणों (सौन्दर्य आदि) की स्तुति जो की जाती है, वह किस प्रकार संगत होती है?

अत्र समाधानं विधीयते— 'देह आत्मा' इति मतं व्यवहारनयस्य वर्तते, अर्थात् व्यावहारिकदृशैव सामान्यजनानां कृते देह आत्मा भवति —इत्यनयोरेकत्वम्, यतो हि व्यवहारकथने उपचारेण, तथा असद्भूतार्थस्यापि कथनेन कदाचित् आरोपो विधीयते।

आलापपद्धतिग्रन्थे *(सू. 228)* **अध्यात्मनयप्रभेदनिरूपणे कथितमपि यत् संश्लेषसहित-वस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरिता-सद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य शरीरमिति। अत एव व्यवहारे 'अहं रुग्णः' इत्यादि प्रयोगाः सम्भवन्ति। स्तुतिरपि व्यवहारनयमाश्रित्यैव ज्ञेया। किन्तु परमार्थतः निश्चयनयेन देहात्मनोर्नैक्यम्, तयोः पूर्णतया पार्थक्यम्, भेदो वा वर्तते।**

उक्तं च समयसारे *(गाथा–27)*—

ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयणयस्स जीवो देहो य कदावि एक्कट्ठो॥

इस शंका का समाधान यह है— 'देह आत्मा है' यह मान्यता 'व्यवहारनय' की है, अर्थात् व्यावहारिक (स्तर या) दृष्टि से ही, सामान्य जनों के लिए देह व आत्मा —इनकी एकता मानी जाती है, क्योंकि व्यवहार-कथन में उपचार का आश्रय लिया जाता है और कभी असद्भूत अर्थ का आरोप भी किया जाता है।

आलापपद्धति ग्रन्थ (सू. 228) में अध्यात्म के भेद-प्रभेद का निरूपण करते हुए कहा भी गया है कि संश्लेषसहित वस्तुओं के सम्बन्ध को विषय करने वाला अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है, जैसे— 'जीव का शरीर है' —ऐसा कहना। इसीलिए व्यवहार में 'मैं रोगी हूँ' इत्यादि कथन सम्भव हैं। स्तुति में भी व्यवहारनय का आश्रय ही लिया जाता है। किन्तु परमार्थ रूप में, निश्चयनय के अनुसार, देह व आत्मा में एकता मान्य नहीं है, उन दोनों में पूर्णतया पार्थक्य या भेद है।

समयसार (गाथा-27) में कहा भी गया है—

''व्यवहारनय यह कहता है कि जीव (आत्मा) व देह एक है। किन्तु निश्चयनय के अनुसार जीव व देह —इन दोनों में ऐक्य कदापि नहीं होता।''

अत्राध्यात्ममार्गे निश्चयनयमाश्रित्य 'अन्यत्वानुप्रेक्षाया:' निरूपणं कृतमस्ति। अतो यो ज्ञानी भवति, स तु जीव-अजीवयो: परस्परलक्षणाधारेण पार्थक्यं श्रद्दधाति, विश्वसिति च। स जानाति यत् यद्वस्तु रूपयुक्तं मूर्तं वा दृश्यते, तत्सर्वं पौद्गलिकमजीवमेव, न तस्य जीवरूपता वर्तते। ज्ञानघनरूपेण अन्त:स्थितं चिन्मात्रतत्त्वमेव आत्मा जीवात्मा वा वर्तते।

उक्तं च समयसारकलशे *(पद्य-43)—*

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं,
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तम्।

तथा च तत्रैव *(पद्य-39)—*

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा, यत: स विज्ञानघनस्ततोऽन्य:॥

यहाँ अध्यात्ममार्ग में निश्चय का आश्रय लेकर 'अन्यत्वानुप्रेक्षा' का निरूपण किया गया है। इसलिए जो ज्ञानी होता है, वह तो जीव व अजीव के परस्पर लक्षणों के आधार पर दोनों में पार्थक्य का ही श्रद्धान व विश्वास करता है। वह जानता है कि जो भी रूपी या मूर्त पदार्थ दृष्टिगोचर होता है, वह समस्त पौद्गलिक है और अजीव ही है, वह जीव रूप नहीं है। ज्ञानघन रूप से अन्तरङ्ग में स्थित चिन्मय तत्त्व ही आत्मा या जीवात्मा है।

समयसारकलश (पद्य-43) में कहा गया है—

"अपने भिन्न-भिन्न लक्षणों के कारण जीव से अजीव भिन्न है, उसे ज्ञानीजन स्वत: विलसित, परिणमित होता हुआ अनुभव करते हैं।"

इसके अतिरिक्त, वहीं (समयसारकलश, पद्य-39 में) कहा गया है—

"ये वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव हैं, उन सब को उस पुद्गल (अजीव) की रचना जानो, इसलिए यह भाव पुद्गल ही हैं, आत्मा नहीं हैं, क्योंकि आत्मा तो विज्ञानघन है, ज्ञानपुञ्ज है, इसलिए वह इन वर्णादि से अन्य (ही) है।"

(आदा) **आत्मा तु** *(णाणं दंसणं)* **ज्ञानदर्शनस्वरूपः। न तु देहादिस्वरूपः।** *(एवं अण्णत्तं चिंतेहि)* **—उक्तप्रकारेण अन्यत्वभावनां चिन्तय। देहादिपदार्थाः ज्ञानदर्शनशून्याः, मूर्ताः, आत्मा तु तद्विलक्षणः ज्ञानदर्शनसमग्रः, अमूर्तः, इति स्पष्टमनयोः अन्यत्वम्। तयोःपार्थक्यज्ञानमेव भेदविज्ञानम्, येन मुक्तिः संप्राप्यते। उक्तं च समयसारकलशे** *(पद्य-131)*—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।

भेदविज्ञानस्य महत्त्वं विविधरूपेणान्यैराचार्यैरपि प्रत्यपादि। यथा— इष्टोपदेशे *(श्लोक-33)* **आचार्यपूज्यपादैर्भणितम्—**

गुरूपदेशादभ्यासात् संवित्तेः स्वपरान्तरम्।
जानाति यः, स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरम्॥

समाधिशतके *(तन्त्रे)* **च** *(श्लोक-94)* **समर्थितमेतत्—**

(आत्मा) आत्मा तो **(ज्ञानं दर्शनम्)** ज्ञान-दर्शन स्वरूपी है, देहादि स्वरूपी नहीं है। **(एवम् अन्यत्वं चिन्तय)** उक्त रीति से 'अन्यत्व' भावना का चिन्तन करें। देह आदि पदार्थ तो ज्ञान-दर्शन से शून्य हैं, मूर्त हैं, किन्तु आत्मा तो उनसे विलक्षण ज्ञानदर्शनमय, अमूर्त है, अतः इनमें स्पष्ट रूप से अन्यत्व है। इन दोनों के पार्थक्य का ज्ञान हो जाना ही 'भेद विज्ञान' है, जिससे मुक्ति प्राप्त होती है। समयसारकलश (पद्य-131) में कहा भी है—

''जो भी सिद्ध हुए हैं, वे सभी भेदविज्ञान से ही हुए हैं। और जो भी बद्ध हैं, वे सब भेदविज्ञान के अभाव के कारण हैं।''

भेदविज्ञान की महत्ता को अन्य आचार्यों ने भी विविध प्रकार से प्रतिपादित किया है। उदाहरणार्थ— इष्टोपदेश (श्लोक-33) में आचार्य पूज्यपाद ने इस प्रकार कहा है—

''जो कोई प्राणी गुरु के उपदेश से, अथवा शास्त्र-अभ्यास से या स्वात्मानुभव से स्व व पर के भेद को जानता है, वही पुरुष सदा मोक्ष-सुख को जानता है।''

समाधिशतक (तन्त्र) में भी (श्लोक-94) इसका समर्थन करते हुए कहा गया है—

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते॥

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे *(गाथा-466)* **च भेदज्ञानमेव यथार्थं शास्त्रज्ञानं वर्तते —इति प्रतिपादितं वर्तते। उक्तं च तत्र—**

जो ण वि जाणदि अप्पं णाणसरूवं सरीरदो भिण्णं।
सो ण वि जाणदि सत्थं आगमपाढं कुणंतो वि॥

अतएव आत्मख्यातौ *(समयसार, गाथा-314)* **स्पष्टमुद्घोषितमस्ति—** *स्वपरयोरेकत्वज्ञानेन अज्ञायको भवति... स्वपरयोर्विभागज्ञानेन ज्ञायको भवति।*

अत्रायं विशेषः— न केवलमन्यत्वं ज्ञेयम्, अपितु तदाधारेण तस्य शुद्धात्मनः उपासनमाश्रयणं चावश्यकमिति स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे *(गाथा-81-82)* **निर्दिष्टम्—**

"शरीर में आत्मबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा समस्त शास्त्रों को जान लेने पर भी मुक्त नहीं होता और देह से भिन्न आत्मा का अनुभव करने वाला अन्तरात्मा सोता या उन्मत्त होता हुआ भी मुक्त हो जाता है।"

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-466) में 'भेदविज्ञान ही यथार्थ शास्त्र-ज्ञान है' —यह प्रतिपादित किया गया है। वहाँ कहा गया है—

"जो ज्ञानस्वरूप आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं जानता, वह आगम का पठन-पाठन करते हुए भी शास्त्र को नहीं जानता है।"

इसी दृष्टि से आत्मख्याति (समयसार की गाथा-314 की टीका) में स्पष्ट उद्घोषणा की गई है— "आत्मा स्व व पर के एकत्व-ज्ञान से अज्ञायक (अज्ञानी) होता है... आत्मा स्व व पर के भेदविज्ञान से ज्ञायक (ज्ञानी) होता है।"

यहाँ यह विशेष कथनीय है— केवल अन्यत्व का ज्ञान ही कर्तव्य नहीं है, अपितु उस ज्ञान के आधार से उस शुद्धात्मा की उपासना या आश्रयण भी आवश्यक है— ऐसा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-81-82) में इस प्रकार निर्देश किया गया है—

एवं बाहिरदव्वं जाणदि रूवादु अप्पणो भिण्णं।
जाणंतो वि हु जीवो तत्थेव हि रच्चदे मूढो॥

जो जाणिदूण देहं जीवसरूवादु तच्चदो भिण्णं।
अप्पाणं पि य सेवदि कज्जकरं तस्स अण्णत्तं।।

एनामन्यत्वानुप्रेक्षां यो भावयति, तस्य शरीरादिषु स्पृहा न भवति, मनःसमाधिश्च भवति, ततश्च श्रेयोमार्गे प्रगतिः सुकरा भवतीति राजवार्तिके *(9/7/5)* **संकेतितम्।**

एवं देहाद् भिन्नं शुद्धात्मानं सम्यगवगम्य, तदन्यत्वभावना सततं भावनीयेति शास्त्रकाराशयः। एवं *'मादापिदरसहोदर'* **इत्यादिगाथामादिं कृत्वा** *'अण्णं इमं सरीरादियं'* **इत्यादिगाथां यावत् गाथात्रयात्मकश्चतुर्थाधिकारः पूर्णतां गतः।**

[इति परमपूज्यगणाचार्यश्रीडॉ.विरागसागरकृतायां सर्वोदयानाम्न्यां टीकायां 'अन्यत्वानुप्रेक्षा-' नामकश्चतुर्थाधिकारः सम्पन्नः।]

''इस प्रकार मूढ़ जीव बाह्य द्रव्यों को आत्मा से भिन्न जानता है, किन्तु वैसा जान-समझ कर भी वह उन्हीं से राग करता है। जो आत्मस्वरूप से शरीर को यथार्थ में भिन्न जानकर अपनी आत्मा की ही सेवा (उपासना, ध्यानादि) करता है, उसकी अन्यत्वानुप्रेक्षा कार्यकारी (सफल व प्रभावकारी) होती है।''

इस अन्यत्वानुप्रेक्षा का जो चिन्तन (भावना) करता है, उस (साधक) की शरीर आदि में स्पृहा नहीं रहती, मानसिक समाधि (निराकुलता) होती है, फलस्वरूप मोक्षमार्ग में प्रगति सुकर हो जाती है— ऐसा राजवार्तिक (9/7/5) में संकेत किया गया है।

इस प्रकार, देह से भिन्न शुद्ध आत्मा का सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर, अन्यत्व भावना को भावित करना चाहिए— यह शास्त्रकार का आशय है। इस प्रकार '**मादापिदरसहोदर**' इत्यादि गाथा से लेकर '**अण्णं इमं सरीरादियं**' इत्यादि गाथा तक तीन गाथाओं वाला चतुर्थ अधिकार पूर्ण हुआ।

[परम पूज्य गणाचार्य श्री डॉ. विरागसागर जी द्वारा रचित इस 'सर्वोदया' नामक टीका में 'अन्यत्वानुप्रेक्षा' नामक चतुर्थ अधिकार सम्पन्न हुआ।]

[संसाराणुवेक्खा— पंचमो अहियारो]
।।संसारानुप्रेक्षा— पञ्चमोऽधिकारः।।

इदानीं संसारानुप्रेक्षानामकस्य पञ्चमाधिकारस्य पातनिका निर्दिश्यते। अस्मिन्नधिकारे '*पंचविहे संसारे*' इत्यादिगाथामादिं कृत्वा '*संसारमदिक्कंतो*' इत्यादिगाथां यावत् पञ्चदशगाथाः सन्ति। तासु सर्वप्रथमं '*पंचविहे संसारे*' इत्यादिका 'जिनमार्गश्रद्धानादिं विना चिरकालं पञ्चविधे संसारे परिभ्रमणं भवति' —इतिकथनपरा प्रथमा गाथा। तदनन्तरं 'सव्वे वि पोग्गला खलु' इत्यादिगाथामादिं कृत्वा '*सव्वे पयडिट्ठिदिओ*' इत्यादिगाथां यावत् पञ्चसु गाथासु क्रमशो द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावपरिवर्तनरूपसंसारस्य पञ्चविधस्य स्वरूपं प्रतिपादितमस्ति। तदनन्तरं '*पुत्तकलत्तणिमित्तं*' इत्यादिका गाथैका, यस्यां प्रतिपादितमस्ति यत् जीवः पुत्रपत्नीनिमित्तं दयादानादिकमुपेक्ष्य धनार्जने पापमर्जयति, संसारे दीर्घं भ्रमति, परिभ्रमति इति। तदनन्तरं '*मम पुत्तं मम भज्जा*' इत्यादिका गाथैका, यस्यां प्रतिपादितमस्ति यत् प्राणी पुत्रकलत्रेषु धनधान्यप्रभृतिसम्पत्सु च लोभगृद्ध्या धर्मबुद्धिविरहितः सन् दीर्घसंसारे परिभ्रमति।

[संसारानुप्रेक्षा— पञ्चम अधिकार]

अब, संसारानुप्रेक्षा नामक पाँचवें अधिकार की पातनिका बताई जा रही है। इस अधिकार में '**पंचविहे संसारे**' इत्यादि गाथा से लेकर, '**संसारमदिक्कंतो**' इत्यादि गाथा तक पन्द्रह गाथाएँ हैं। उनमें सबसे पहले '**पंचविहे संसारे**' इत्यादि एक गाथा है जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि जिनमार्ग में श्रद्धान आदि हुए बिना जीव पाँच प्रकार के संसार में चिरकाल तक घूमता रहता है। इसके बाद, '**सव्वे वि पोग्गला खलु**' इत्यादि गाथा से लेकर '**सव्वे पयडिट्ठिदओ**' इत्यादि गाथा तक पाँच गाथाओं में क्रमशः द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव —इन पाँच परिवर्तनों वाले पाँच प्रकार के संसार का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। इसके बाद, '**पुत्तकलत्तनिमित्तं**' इत्यादि एक गाथा है जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि पुत्र व पत्नी के निमित्त से दया, दान आदि धर्म की उपेक्षा कर, धन कमाने में व्यक्ति पाप कमाता है, और संसार में सुदीर्घ काल तक घूमता-भटकता रहता है। इसके बाद, '**मम पुत्तं मम भज्जा**' इत्यादि एक गाथा है जिसमें यह बताया गया है कि प्राणी अपने पुत्र व पत्नी में तथा धन-धान्य आदि सम्पत्ति में लोभ-बुद्धि से धर्मरहित होता हुआ दीर्घ संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

तदनन्तरं 'मिथ्यात्वोदयेन जिनधर्मनिन्दायां प्रवृत्तः कुधर्मकुलिङ्गश्रद्धानयुक्तो दीर्घसंसारे परिभ्रमति' इत्यादिप्रतिपादनपरा '*मिच्छोदएण जीवो*' इत्यादिका गाथैका। तदनन्तरं 'मधुमदिरा-मांससेवनप्रवृत्तः परद्रव्यपरस्त्रीसेवनतत्परः संसारे परिभ्रमति' इत्यादिकथनपरा '*हंतूण जीवरासिं*' इत्यादिका गाथैका। ततः पश्चात् '*जत्तेण कुणदि पावं*' इत्यादिका 'मोहवशेन पञ्चेन्द्रियविषयसेवनासक्तः पापकर्मभिर्बद्धः संसारे परिभ्रमति' इत्यादिकथनपरा गाथैका। तदनन्तरं चतुरशीतिलक्षयोनि-भेदप्रतिपादिका '*णिच्चिदरधादु सत्त य*' इत्यादिका गाथैका। तदनन्तरं '*संजोगविप्पजोगं*' इत्यादिका 'संसारे इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग-अपमानप्रभृतीनि दुःखानि भवन्त्येव' इतिप्रतिपादयन्ती गाथैका। तदनन्तरं '*कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि*' इत्यादिका 'कर्मबद्धः (व्यवहारनयेन) संसारे परिभ्रमन्नपि जीवात्मा निश्चयनयेन कर्मविमुक्तः' इति प्रतिपादनपरा गाथैका। तदनन्तरं '*संसारमदिक्कंतो*' इत्यादिका 'संसारमतिक्रम्य स्थित आत्मा उपादेयः, कर्मबद्धः (संसारी) आत्मा तु हेय एवेति प्रतिपादनपरा गाथैका। एवं पञ्चदशगाथाप्रमाणस्य पञ्चमाधिकारस्य समुदायपातनिका विज्ञेया।

इसके बाद, 'मिथ्यात्व के उदय से व्यक्ति जिन-धर्म की निन्दा में प्रवृत्त होता हुआ, कुधर्म व कुलिङ्ग के प्रति श्रद्धान रखकर दीर्घ संसार में परिभ्रमण करता रहता है' —इस तथ्य को प्रतिपादित करने वाली '**मिच्छोदएण जीवो**' इत्यादि एक गाथा है। इसके बाद, '**हंतूण जीवरासिं**' इत्यादि एक गाथा है जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि मधु, मदिरा व मांस के सेवन में प्रवृत्ति रखने वाला और परकीय द्रव्य व परकीय स्त्री के सेवन में परायण व्यक्ति संसार में भ्रमण करता ही रहता है। इसके बाद, '**जत्तेण कुणदि पावं**' इत्यादि एक गाथा है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि मोह के कारण पाँचों इन्द्रियों द्वारा विषयों के सेवन में आसक्त रहने वाला व्यक्ति पाप कर्मों से बँधकर संसार में भ्रमण करता रहता है। इसके बाद, चौरासी लाख योनियों के भेद का प्रतिपादन करने वाली '**णिच्चिदरधादुसत्त य**' इत्यादि एक गाथा है। इसके बाद, '**संजोगविप्पजोगं**' इत्यादि एक गाथा है जिसमें यह बताया गया है कि संसार में इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग, अपमान आदि दुःख होते ही हैं। इसके बाद, '**कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि**' इत्यादि एक गाथा है जिसमें प्रतिपादित किया गया है कि (व्यवहारनय से) कर्मबद्ध होकर संसार में भ्रमण करता हुआ भी जीवात्मा निश्चयनय से कर्ममुक्त है। इसके बाद, '**संसारमदिक्कंतो**' इत्यादि एक गाथा है जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि संसार से अतीत (अस्पृष्ट) आत्मा ही उपादेय है, कर्मबद्ध (संसारी) आत्मा तो हेय ही है। इस प्रकार, पन्द्रह गाथाओं वाले पाँचवें अधिकार की समुदाय पातनिका जाननी चाहिए।

अथ जिनोक्तमार्गे श्रद्धानं यस्य नास्ति, तस्य संसारे भवति परिभ्रमणमिति शास्त्रकारा आवेदयन्ति—

पंचविहे संसारे, जादि-जरा-मरण-रोग-भयपउरे।
जिणमग्गमपेच्छंतो, जीवो परिभमदि चिरकालं ॥२४॥

छाया— पञ्चविधे संसारे जाति-जरा-मरण-रोग-भय-प्रचुरे।
जिनमार्गमपश्यन् जीवः परिभ्रमति चिरकालम् ॥

(सर्वोदया टीका—) *(जिणमग्गं)* **जिनस्य पन्थानम्, जिनेन्द्रेण, तीर्थंकरेण यो मोक्षमार्गः प्रतिपादितः, उपदिष्टः, तम्** *(अपेच्छंतो)* **अपश्यन्, अश्रद्दधानः सन्। 'अपेच्छंतो' इत्यस्य संस्कृतरूपाणि चत्वारि सम्भवन्ति— अप्रेक्षमाणः, अपेक्षमाणः, अपश्यन्, अपेच्छन् इति। अप्रेक्षमाणः= यः प्रेक्षां न कुर्वन्, अर्थात् यस्तच्चिन्तनमपि न कुरुते, आचरणस्य तु दूरे कथा। अतो जिनोपदेशाद् सर्वथा विमुखः इति भावः। अपेक्षमाणः= योऽपगतम् ईक्षते, अपगतम्= दूरे स्थितं दोषयुक्तं वा, विनष्टं वा च। अतः यो जिनोक्तमार्गं सदोषमेव स्वीकरोति, तादृशो जनः इत्यर्थः।**

अब, जिन-प्रतिपादित मार्ग में जिसका श्रद्धान नहीं होता, उसका संसार में परिभ्रमण होता रहता है— ऐसा शास्त्रकार प्रतिपादित कर रहे हैं—

(24)

(गाथा-अर्थ—) जिन-मार्ग को नहीं चाहने वाला (या श्रद्धानरहित) जीव जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, रोग, भय की बहुलता वाले पाँच प्रकार के संसार में चिरकाल तक भ्रमण करता रहता है (मुक्त नहीं होता)।

(सर्वोदया टीका—) (जिनमार्ग) 'जिन' के मार्ग पर, जिनेन्द्र अर्थात् तीर्थंकर द्वारा जिस मोक्षमार्ग का उपदेश दिया गया है, प्रतिपादन किया गया है, उसे **(अपश्यन्)** नहीं देखता हुआ, उस पर श्रद्धा नहीं करता हुआ। 'अपेच्छंतो' इस पद के चार संस्कृत रूप संभव हैं— अप्रेक्षमाणः, अपेक्षमाणः, अपश्यन्, अपेच्छन्। (इन चारों के अर्थ इस प्रकार हैं—) अप्रेक्षमाणः अर्थात् प्रेक्षा नहीं करता हुआ, अर्थात् जो (जिन-मार्ग का) चिन्तन भी नहीं करता, आचरण तो दूर की बात है। अतः अर्थ हुआ —जिन-उपदेश से सर्वथा विमुख रहता हुआ। अपेक्षमाणः= जो (जिन-मार्ग को) अपगत, दूरस्थित, दोषयुक्त या विनाशी रूप में देखता-समझता है, इसलिए अर्थ होगा— जिन-प्रतिपादित मार्ग को दोषयुक्त ही माने, स्वीकारे, ऐसा व्यक्ति।

दृश् (पश्य)-धातोः स्थाने प्राकृतव्याकरणे 'पेच्छ' इत्यादेशो भवति। अतः अपेच्छंतो= अपश्यन्। अत्र दृशिधातोः मोक्षमार्गप्रकरणवशेन श्रद्धान-अर्थः स्वीक्रियते, अतः अश्रद्दधानः, सम्यग्श्रद्धानरहितः, मिथ्यादृष्टिर्वेति अर्थाः ग्राह्या भवन्ति। अपेच्छन्= अपगतम् यथा स्यात्तथा अपगतम् इच्छन्। एवं यस्येच्छा रुचिर्वा जिनोक्तमार्गे न विद्यते, स सम्यग्दर्शनरहितः, मिथ्यादृष्टिर्वा भवन्निति अर्थो ग्राह्यः। एवम् अप्रेक्षमाणः, अपेक्षमाणः —इत्यादीनां सर्वेषां पदानां फलितार्थस्तु प्रायः समान एव।

जिनमार्गश्रद्धानरहितो मूढ एवास्ति जनः, उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे *(गाथा-39-40)*—

मोहोदएण जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं अणुवइट्ठं वा॥

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो॥

प्राकृत व्याकरण में 'दृश' (पश्य) धातु को 'पेच्छ' आदेश भी हो जाता है, अतः अपेच्छंतो= नहीं देखता हुआ। चूँकि मोक्षमार्ग का प्रकरण है, अतः यहाँ दृश धातु का 'श्रद्धान करना' अर्थ ग्राह्य है, इसलिए इसके अर्थ होंगे— श्रद्धा नहीं करता हुआ, सम्यग्दर्शन से रहित या मिथ्यादृष्टि। अपेच्छन् (अप+इच्छन्)= अपगत रूप में (अर्थात् नहीं) चाहता हुआ। जिसकी इच्छा या रुचि जिनप्रतिपादित मार्ग में नहीं होती, वैसा सम्यग्दर्शन-शून्य या मिथ्यादृष्टि होता हुआ —यह अर्थ होगा। इस प्रकार, अप्रेक्षमाण इत्यादि कोई भी पद मानें, उनका फलितार्थ (तात्पर्य) तो प्रायः समान ही है।

जिन-मार्ग के प्रति जिसका श्रद्धान नहीं होता, वह तो मूढ़ ही होता है। भगवती-आराधना (गाथा-39-40) में कहा भी है—

मोह के उदय से जीव ('जिन' द्वारा) उपदिष्ट प्रवचन पर श्रद्धा नहीं करता है। मिथ्यात्व का वेदन (अनुभवन) करने वाला विपरीत श्रद्धान करता है। उसे धर्म उसी प्रकार नहीं अच्छा लगता है जिस प्रकार ज्वरग्रस्त व्यक्ति को मधुर रस रुचिकर नहीं लगता।''

एतादृशो *(जीवो)* **जीवः, प्राणी वा।** *(जादिजरामरणरोगभयपउरे)* **जाति-जरा-मरण-रोग-भय-प्रचुरे, जातिः= जन्म, जरा= वृद्धावस्था, मरणं मृत्युः, रोगाः शरीर-अस्वास्थसूचकाः, भयं च, इत्यादीनां सर्वेषां प्रचुरता बहुलता यत्र वर्तते, एतादृशे** *(संसारे)* **जगति इति भावः।**

यदुदयाद् उद्वेगः सञ्जायते, तद्भयम्। धवलाग्रन्थे *(पु. 6, खण्ड-1, भाग-9, चूलिका-1, सू. 24, पृ. 47-48)* **च प्रतिपादितम्—**

कम्मक्खंधेहि उदयमागदेहि जीवस्स भयमुप्पज्जइ।
तेसिं भयमिदि सण्णा, कारणे कज्जुवयारादो॥

भयं सप्तविधमुक्तम्— इहलोकभयम्, परलोकभयम्, असुरक्षाभयम्, अगुप्तिभयम्, मरणभयम्, वेदनाभयम्, आकस्मिकभयं चेति *(मूलाचार-53)*।

अत्र विस्तरः— ममेष्टपदार्थस्य वियोगो न स्यात्, अनिष्टपदार्थसंयोगो न स्यादित्यादिकं क्रन्दनात्मकं भयमिहलोकभयम्। परलोके, अन्यजन्मनि दुर्गतिसंयोगो मा भूत्, सुगतेश्च्युतिर्न स्यादिति भाविजन्मविषयको यस्त्रासः, स परलोकभयम्।

ऐसी प्रकृति वाला **(जीवः)** जीव या प्राणी। **(जातिजरामरण-रोगभयप्रचुरे)** जाति यानी जन्म, जरा यानी वृद्धावस्था, मरण यानी मृत्यु, रोग यानी शारीरिक अस्वस्थता के सूचक (लक्षण), और भय — इन सबकी जहाँ प्रचुरता या अधिकता हो, ऐसे **(संसारे)** जगत् में —यह भाव है।

जिसके उदय से उद्वेग हो, उसे भय कहते हैं। धवला ग्रन्थ (पु. 6, खण्ड-1, भाग 9, चूलिका-1, सू. 24, पृ. 47-48) में कहा गया है—

"जिन कर्मस्कन्धों के उदय में आने पर जीव को भय पैदा होता है, उन कर्मस्कन्धों की 'भय' संज्ञा है, यहाँ कारण में कार्य का उपचार किया गया है।"

भय के सात भेद कहे गये हैं— इहलोकभय, परलोकभय, असुरक्षा भय, अगुप्तिभय (असुरक्षित स्थान को लेकर भय), मरणभय, वेदनाभय, आकस्मिक भय (मूलाचार-53)।

यहाँ कुछ विस्तार से कथन योग्य है— मुझे इष्ट पदार्थ का वियोग प्राप्त न हो, अनिष्ट पदार्थ का संयोग भी नहीं प्राप्त हो —इत्यादि रूप से रोने-चिल्लाने के साथ जो भय होता है, वह इहलोकभय है। परलोक में, दूसरे जन्म में मुझे दुर्गति कहीं न मिले, सुगति से च्युत न हो जाऊँ— इस प्रकार भावी जन्म से सम्बन्धित जो त्रास है, वह परलोकभय कहलाता है।

प्रतिसमयं पदार्थो नश्यति, एवं क्षणिकैकान्तपक्षे आत्मनोऽपि नाशश्चेत् तद्रक्षणे तु मम अक्षमता, असामर्थ्यमिति चिन्तनम् अरक्षाभयमेव। सतोऽपि नाशो भवति, असतश्च समुत्पादः सम्भवति —इति मतमाश्रयतो जनस्य संसारनाशात्मकमुक्तिअवसरः कुतः इति या व्याकुलता, सैव अगुप्तिभयम्। मम मरणं न स्यात्, सर्वदा जीवन्नेव स्याम्, इतीच्छतः, भाविमृत्युं सम्भावयतः या दुश्चिन्ता प्रवर्तते, सैव मृत्युभयम्। वातपित्तकफादिवैषम्यजनितां भाविनीं व्याधिं समाकलय्य मोहेन प्रागेव यत् परिदेवनं भवति, तदेव वेदनाभयम्। अहं सदा नीरोगः स्याम्, कदाचिदपि मे रुग्णता न स्यात्, तथा विद्युत्पात-शिलापात-यानदुर्घटनादिभिः मम प्राणनाशो न स्यात् —इत्यादिकं व्याकुलतापूर्वकचिन्तनं तदेव आकस्मिकभयम्। प्रोक्तैः सप्तभिर्भयैः युक्त एव संसारः। एतादृशे *(पंचविहे संसारे)* **द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भवेतिपञ्चप्रकारकः संसारः, तस्मिन्।**

मूलाचारे *(गाथा-706)* **तु चतुर्विध एव संसार उक्तः—**

दव्वे खेत्ते काले भावे य चदुव्विहो य संसारो।
चदुगदिगमणणिबद्धो बहुप्पयारेहि णादव्वो।।

प्रतिसमय पदार्थ नष्ट हो रहा है —इस मान्यता वाले क्षणिक एकान्त पक्ष में आत्मा का नाश हो तो उसकी रक्षा में मेरी तो अक्षमता, असामर्थ्य है— इस प्रकार चिन्तन 'अरक्षाभय' कहा जाता है। सत् का भी नाश होता है, असत् की भी उत्पत्ति होती है— इस मत को मानने वाले व्यक्ति को 'संसार-नाश रूपी मुक्ति का प्राप्त होना कैसे सम्भव होगा' —यह जो व्याकुलता होती है, वह अगुप्तिभय है। मेरी कहीं मृत्यु न हो जाय, मैं सदा जीता ही रहूँ —ऐसी इच्छा वाले व्यक्ति को भावी मृत्यु की कल्पना से ही जो दुश्चिन्तन होता रहता है, वह मृत्युभय होता है। वात, पित्त, कफ आदि की विषमता से होने वाली सम्भावित भावी व्याधि को सोचकर मोहवश पहले ही जो चीखना-चिल्लाना होता है, वह वेदनाभय होता है। मैं सदा नीरोग रहूँ, कभी मुझे रोग न हों, तथा बिजली गिरने, शिला गिरने, यान आदि की दुर्घटना आदि से मेरा कहीं प्राण न चला जाए —इत्यादि व्याकुलता के साथ जो चिन्तन है, वह आकस्मिक भय होता है। उपर्युक्त सात भयों से युक्त संसार होता है। ऐसे **(पञ्चविधे संसारे)** द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व भव —इन पाँच प्रकार वाला संसार होता है, उसमें।

मूलाचार (गाथा-706) में तो चार प्रकार का ही संसार बताया गया है— ''द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव रूप चतुर्विध संसार होता है। यह चतुर्गति के गमन से युक्त है और इसे अनेक प्रकार से जानना चाहिए।''

अत्र भवसंसारस्य चतुर्ष्वेव एतेषु समावेशो ज्ञातव्यः। *(चिरकालं परिभमदि)* **चिरकालमेव परिभ्रमति, न तस्मान्मुक्तो भवति —इति भावः।**

अत्रायं विशेषः— प्रोक्तः पंचविधः संसारो नित्यनिगोदजीवान् विहाय शेषान्यसंसारिजीवानां भवति। ईदृशा अनन्ता नित्यनिगोदजीवाः सन्ति ये कदाचिदपि त्रसभावं न प्राप्नुवन्ति *(मूलाचार, गाथा-1205)*। **पञ्चविधसंसारस्य निरूपणमत्राधिकारे शास्त्रकाराः पृथक् पृथक् विदधति।**

अस्या गाथायास्तात्पर्यं मूलाचारगाथायामपि *(गाथा-705)* **शब्दान्तरेण प्रकटितम्—**

मिच्छत्तेणाच्छण्णो मग्गं जिणदेसिदं अपेक्खंतो।
भमिहदि भीमकुडिल्ले जीवो संसारकंतारे॥

मोह एवाश्रद्धायाः कारणमत्र ज्ञेयम्। उक्तं च— मूलाचारे *(गाथा-732)*—

धिद्धी मोहस्स सदा जेण हिदत्थेण मोहिदो संतो।
ण विबुज्झदि जिणवयणं हिदसिव सुहकारणं मग्गं॥

यहाँ 'भव' संसार को इन्हीं चारों में समाविष्ट समझना चाहिए। **(चिरकालं परिभ्रमति)** चिरकाल तक परिभ्रमण करता रहता ही है, उससे मुक्त नहीं हो पाता —यह भाव है।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है— पूर्वोक्त पंचविध संसार नित्यनिगोद जीवों को छोड़कर, अवशिष्ट अन्य संसारी जीवों के ही हुआ करता है। ऐसे अनन्त नित्यनिगोद जीव हैं, जिन्होंने कभी त्रस भाव को प्राप्त नहीं किया (मूलाचार, गाथा-1205)। पाँच प्रकार के संसार का निरूपण शास्त्रकार द्वारा आगे की गाथाओं में अलग से किया जाएगा।

इस गाथा के तात्पर्य को मूलाचार की एक गाथा (सं. 705) में भी अन्य शब्दों से प्रकट किया गया है— ''मिथ्यात्व से युक्त जीव जिनेन्द्र-कथित मार्ग को नहीं देखता हुआ (श्रद्धान से रहित होता हुआ) भयंकर व कुटिल (गहन) संसार रूपी जंगल में भ्रमण करता रहता है।''

इस अश्रद्धा में मोह ही कारण जानना चाहिए। मूलाचार (गाथा-732) में कहा भी गया है— ''मोह को धिक्कार हो, क्योंकि हृदयस्थित मोह द्वारा मोहित होता हुआ जीव हितकारी, शिव सुख के कारण, मोक्ष-मार्ग रूपी जिन-वचन को (सम्यक् रूप में) समझ नहीं पाता है।''

एतत्सर्वं विपरीतश्रद्धानदुष्परिणामं विज्ञाय भो भव्य! त्वं जिनप्रणीते धर्मे, मुक्तिमार्गे च श्रद्धानं दृढीकुरु। जिनेन्द्राः स्वयं तपसा कर्मक्षयं विधाय सर्वज्ञतामाप्तवन्तः, यथार्थतया तत्त्वं सम्यक् विज्ञाय वीतरागस्थितौ लोककल्याणकारिणं मुक्तिमार्गमुपदिष्टवन्तः। *'नान्यथावादिनो जिनाः'* **— इतिपुरातनाचार्योक्तिमनुसृत्य तद्वचनेषु निःशंकतया त्वया श्रद्धातव्यम्।**

निःशंकितत्वस्वरूपं समन्तभद्राचार्यप्रवरैर्निर्दिष्टमपि रत्नकरण्डश्रावकाचारे *(श्लोक-11)*—

इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः॥

किञ्च *'न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि'* **इत्युक्तिरपि** *(रत्नकरण्ड. श्लोक-34)* **सम्यग्मननीया। तथा च निःशंकितगुणसमन्वितं दृढं निर्दुष्टं श्रद्धानं विधेयम्, अन्यथा संसारे निरन्तरपरिभ्रमणं दुर्निवारमेव स्यादिति गाथाया आशयः।**

इस प्रकार विपरीत श्रद्धा के इन सभी दुष्परिणामों को जानकर, हे भव्य! तुम जिन-प्रणीत धर्म में, मुक्ति-मार्ग में अपने श्रद्धान को दृढ़ करो। जिनेन्द्र भगवान् ने स्वयं तप द्वारा अपने कर्मों का क्षय किया था और सर्वज्ञ स्थिति प्राप्त की थी, और यथार्थ तत्त्व ज्ञान को अच्छी तरह जान-समझ कर, वीतराग स्थिति में लोककल्याणकारी मुक्ति-मार्ग का उपदेश दिया था। 'जिनेन्द्र कभी अयथार्थ भाषण नहीं करते' इस प्राचीन आचार्यों की उक्ति का अनुसरण कर, उनकी वाणी में शंका न करते हुए उस पर श्रद्धा करनी चाहिए।

निःशंकित (गुण) के स्वरूप को रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-11) में आचार्यप्रवर समन्तभद्र ने इस प्रकार बताया है— "जिन-उपदिष्ट तत्त्व इसी तरह (सम्यक्) है, इससे भिन्न नहीं है, इसी तरह ही समीचीन है, इस प्रकार सन्मार्ग में लोहे के पानी (तलवार की धार पर चढ़े पानी) के समान जो निश्चल व संशयहीन रुचि होती है, वह सम्यग्दर्शन है।"

इसी प्रसंग में 'सम्यक्त्व के समान कोई (श्रेष्ठ वस्तु) इस त्रिलोक में तथा त्रिकाल में भी नहीं है' (रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक-34 की) —इस उक्ति का भी सम्यक् मनन करना चाहिए। साथ ही, श्रद्धा को निःशंकित गुण से युक्त तथा दोषरहित बनाना चाहिए, अन्यथा संसार में निरन्तर भ्रमण का रुकना सम्भव नहीं —यह गाथा का आशय है।

अथ सम्प्रति पञ्चविधेषु संसारेषु द्रव्यसंसारस्य पुद्गलपरावर्तेत्यपरनामकस्य स्वरूपं निरूपयन्ति शास्त्रकाराः—

सव्वे वि पोग्गला खलु एगे भुत्तुज्झिदा हु जीवेण।
असयं अणंतखुत्तो, पोग्गलपरिवट्टसंसारे ॥२५॥

छाया— *सर्वे अपि पुद्गलाः खलु एकेन भुक्त-उज्झिताः हि जीवेन।*
असकृद् अनन्तकृत्वः पुद्गल-परिवर्तसंसारे।।

(सर्वोदया टीका—) *(पोग्गलपरिवट्टसंसारे)* **पुद्गल-(परिवर्तन)-परावर्तनमितिसंज्ञको यः संसारः, तस्मिन्।** *(एगे जीवेण)* **एकेनापि जीवेन, प्रत्येकजीवेनेति भावः।** *(खलु)* **निश्चयेन, निःसंशयमिति तदर्थः।** *(सव्वे वि)* **सर्वाणि, लोके जीवभोगार्हाणि यान्यपि,** *(पोग्गला)* **पुद्गलद्रव्याणि,** *(असयं)* **असकृद्, अनेकवारम्,** *(अणंतखुत्तो)* **अनन्तकृत्वः, अनन्तवारमित्यर्थः।** *(हु)* **हि, अवश्यमेव, वस्तुतः,** *(भुत्तुज्झिदा)* **भुक्त्वा उज्झिताः त्यक्ताः। प्रोक्ततथ्यमेव 'भावप्राभृते'** *(गाथा-19-21, 24)* **विशदीकृतं दृश्यते—**

अब शास्त्रकार (उक्त) पाँच प्रकार के संसारों में 'द्रव्य संसार' का, जिसका दूसरा नाम पुद्गल परावर्त भी है, स्वरूप बता रहे हैं—

(25)

(गाथा-अर्थ—) (इस) पुद्गल-परावर्तन रूप संसार में एक (ही) जीव द्वारा निश्चय ही समस्त पुद्गलों को बार-बार, अनन्त बार, भोगकर उन्हें छोड़ दिया जा चुका है।

(सर्वोदया टीका—) (पुद्गलपरिवर्तसंसारे) पुद्गल-(परिवर्तन)-परावर्तन नाम का जो संसार है, उसमें। **(एकेन जीवेन)** एक ही जीव ने, अर्थात् प्रत्येक जीव ने। **(खलु)** निश्चय ही, अर्थात् निस्सन्देह। **(सर्वे अपि)** सभी, संसार में जीव के भोगयोग्य जो भी **(पुद्गलाः)** पुद्गल-द्रव्य हैं, उन्हें **(असकृद्)** अनेक बार, बार-बार, **(अनन्तकृत्वः)** अर्थात् अनन्त बार। **(हि)** ही, अवश्य ही, वस्तुतः, **(भुक्त-उज्झिताः)** भोगकर छोड़ दिया है। उपर्युक्त तथ्य 'भावप्राभृत' (गाथा-19-21, 24) में इस प्रकार स्पष्ट किया हुआ दृष्टिगोचर होता है—

तुह मरणे दुक्खेण अण्णण्णाणं अणेयजणणीणं।
रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिला दु अहिययरं॥

भवसायरे अणंते छिण्णुज्झियकेसणहरणालट्ठी।
पुंजइ जइ कोवि जए हवदि य गिरिसमधिया रासी॥

जलथलसिहिपवणंबरगिरिसरिदरितरुवणाइं सव्वत्तो।
वसिओ सि चिरं कालं तिहुवणमज्झे अणप्पवसो॥

गहिउज्झियाइं मुणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं।
ताणं णत्थि पमाणं अणंतभवसायरे धीर॥

किञ्च, तत्रैव *(गाथा-35)*—

पडिदेससमयपुग्गल आउगपरिणामणामकालट्ठं।
गहिउज्झियाइं बहुसो अणंतभवसायरे जीव॥

"हे जीव! तुम्हारी मृत्यु पर दुःख से रोने वाली विविध अनेक माताओं के आँसू समुद्र के जल से भी अधिक परिमाण वाले होंगे।"

"इस अनन्त संसार-सागर में तुम्हारे कटे व छोड़े हुए केश, नख व हड्डी को यदि कोई देव एकत्रित करे तो उसकी राशि मेरु पर्वत से भी ऊँची हो जाय।"

"तुमने पराधीन होकर तीनों लोकों में जल, स्थल, अग्नि, वायु, आकाश, पर्वत, नदी, गुफा, वृक्ष व वन आदि स्थानों में चिरकाल तक निवास किया है।"

"हे मुनिवर! हे वीर! इस अनन्त संसार-सागर में तुमने जो अनेक शरीर ग्रहण किये तथा छोड़े हैं, उनका कोई परिमाण (नियत) नहीं है (अर्थात् अपरिमित हैं)।"

और भी वहीं (गाथा-35) यह भी कहा गया है—

"अनन्त संसार-सागर के बीच हे जीव! तुमने प्रत्येक देश, प्रत्येक समय, प्रत्येक पुद्गल, प्रत्येक आयु, प्रत्येक रागादि भाव, प्रत्येक नाम आदि कर्म तथा उत्सर्पिणी आदि काल में स्थित अनन्त शरीरों को अनेक बार ग्रहण किया और छोड़ा है।"

अत्रायं विस्तर:— पुद्‌गलपरिवर्तनं द्रव्यपरिवर्तनमित्यनयोरेकार्थत्वम्। तत्र द्रव्यपरिवर्तनं द्विभेदम्— कर्मपरिवर्तनं नोकर्मपरिवर्तनं चेति। तत्र नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनम्— (औदारिक-वैक्रियिक-आहारकेति) -त्रयाणां शरीराणां, षण्णां पर्याप्तीनां च ये योग्याः पुद्‌गलाः सन्तिः, ते सर्वे एकेन जीवेन एकस्मिन् समये गृहीताः स्निग्धरूक्षवर्णगन्धादिविभिन्नाः तीव्रमन्दमध्यभावेन च यथास्थिताः, ते द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णाः, ततो गृहीताः पुद्‌गलवर्गणाः अनन्तवारं गृहीत्वा त्यक्ताः, ततो मिश्रकाश्च अनन्तवारं गृहीताः, त्यक्ताश्च। पुनः स एव जीवः प्रथमसमयादारभ्य, पूर्वोक्तेनैव विधिना तावत्य एव पुद्‌गलवर्गणाः, तथाविधभावैः, तथा तथाविधान् स्निग्धरूक्षादिपरमाणून्, यावति काले गृहीत्वा नोकर्मभावं परिणमयति, तावान् समुदितः कालः नोकर्मद्रव्यपरिवर्तनसंज्ञको भवति *(सर्वार्थसिद्धि-2/10, मूलाचार, 706 पर आचारवृत्ति)*।

कर्मद्रव्यपरिवर्तनम्— एकस्मिन्समये जीवेन एकेन अष्टविधकर्मभावेन ये पुद्‌गलाः गृहीताः, ते समयाधिक-आवलिकाले व्यतीते द्वितीयादिषु समयेषु निर्जीर्णाः, तदनन्तरं गृहीत-अगृहीत-मिश्ररूपाः कर्मवर्गणा अनन्तवारं गृहीतास्त्यक्ताश्च। ते एव कर्मस्कन्धाः तेनैव विधिना तस्यैव

यहाँ विस्तार से कुछ कहना अपेक्षित है— पुद्‌गल परिवर्तन और द्रव्यपरिवर्तन —ये दोनों एकार्थक हैं। इनमें द्रव्य परिवर्तन दो प्रकार का है— कर्मपरिवर्तन और नोकर्मपरिवर्तन। इनमें नोकर्म द्रव्य परिवर्तन का स्वरूप इस प्रकार है— (औदारिक, वैक्रियिक, आहारक —इन) तीन शरीरों और छः पर्याप्तियों के योग्य जितने पुद्‌गल हैं, उन सब को एक जीव ने एक समय में ग्रहण किया, उन्हें ग्रहण करने में जीव के तीव्र, मन्द व मध्यम रूप भाव थे, और वे वर्गणाएँ स्निग्ध, रूक्ष, वर्ण आदि से भिन्न-भिन्न रही थीं, वे गृहीत वर्गणाएँ द्वितीय आदि समयों में निर्जीर्ण हो गईं। तदनन्तर उसी जीव ने गृहीत पुद्‌गल-वर्गणाओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा, पुनः वही जीव उस पहले समय के ग्रहण किये गये प्रकार से उतनी ही पुद्‌गल-वर्गणाओं को उसी प्रकार के भावों से, और वैसे ही स्निग्ध, रूक्ष, वर्ण व गन्ध वाले परमाणुओं को जब ग्रहण करता है, तब उतने काल-प्रमाण को 'नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन' कहा जाता है (सर्वार्थसिद्धि, 2/10, मूलाचार, 706 पर आचारवृत्ति)।

कर्मद्रव्यपरिवर्तन का स्वरूप इस प्रकार है— एक समय एक जीव ने आठ प्रकार के कर्म रूप में जिन पुद्‌गलों का ग्रहण किया, एक समय अधिक एक आवली काल के बीतने पर द्वितीय आदि समयों में वे कर्म-वर्गणाएँ निर्जीर्ण हो गईं। पुनः गृहीत, अगृहीत व मिश्र पुद्‌गल-वर्गणाओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ देने के बाद, वही जीव उन्हीं पूर्व के कर्म-स्कन्धों को, उसी विधि से कर्म भाव से परिणमन कराता है।

जीवस्य कर्मभावमापद्यन्ते यावति काले, तावत्कालमानं कर्मद्रव्यपरिवर्तननाम्ना संकेत्यते। द्रव्यसंसारस्वरूपे चिन्त्यमाने स्वेच्छानिरोधे, संयमवृत्तौ, अनासक्तौ, वैराग्ये च स्वतो रुचिर्वर्द्धतेतराम्। व्यवहारे च उच्छिष्टभोजने कस्यचिदपि रुचिर्न भवति, अपितु वैतृष्ण्यमेव दृश्यते।

इष्टोपदेशे *(श्लोक-30)* **तथाविधा प्रेरणा च दृश्यते—**

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहात्, मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा॥

गाथायास्तात्पर्यमिदं यत् भो जीव! इन्द्रियविषयभोगेषु रतिं मा कृथाः, समस्तानामभीष्टानाम् इन्द्रियविषयाणां तु त्वया अनन्तवारं भोगोपभोगः कृतः, तथापि तव इच्छा नैव क्षीणा, कदाचिदपि सा क्षीणतां यास्यत्यपि नैव। अतः नित्याविनाश्यनन्तचतुष्टयसम्पन्नं निजात्मानमेव समाश्रय। सहजशुद्धपरमचैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवति निजात्मनि उपादेयबुद्धिं विधाय अनन्तज्ञानादिरूपोऽहमित्यादिभावनारूपम् आभ्यन्तरधर्मध्यानं विधेयम्, तत एव संसारनिरोधः सुकरो भवतीति गाथासारः।

प्रारम्भ से लेकर तब तक के काल-प्रमाण को 'कर्मद्रव्यपरिवर्तन' नाम से कहा जाता है। 'द्रव्यसंसार' के उक्त स्वरूप का चिन्तन-मनन किया जाय तो जीव की अपनी इच्छा के निरोध, संयम-वृत्ति, अनासक्ति व वैराग्य में रुचि स्वतः समृद्ध होती जाती है। व्यावहारिक जगत् में उच्छिष्ट भोजन में किसी की भी रुचि नहीं होती, अपितु वितृष्णा ही होती है।

इष्टोपदेश (श्लोक-30) ग्रन्थ में (आ. पूज्यपाद द्वारा) वैसी प्रेरणा भी दी गई उपलब्ध होती है— ''मैं मोहवश समस्त पुद्गलों को बार-बार भोग भोगकर छोड़ चुका हूँ, अतः इन उच्छिष्ट जैसे भोग-विषयों में मुझ ज्ञानी की कैसी स्पृहा?''

गाथा का तात्पर्य यह है कि हे जीव! इन्द्रिय के विषय भोगों में रति मत करो। तुमने समस्त अभीष्ट इन्द्रिय-विषयों का अनन्त बार उपभोग कर लिया है, तथापि तुम्हारी इच्छा क्षीण नहीं हुई, और भविष्य में वह कभी क्षीण भी होने वाली नहीं है। इसलिए नित्य-अविनाशी, अनन्तचतुष्टय सम्पन्न निज आत्मा का ही आश्रय लो। सहज शुद्ध परम चैतन्यशाली, परिपूर्ण आनन्द के धारक भगवान् निजात्मा में ही उपादेय बुद्धि रखो और 'मैं अनन्तज्ञानादिरूप हूँ' इत्यादि भावना रूप आभ्यन्तर धर्मध्यान करो, उसी से संसार-निरोध सुकर हो पाएगा —यह गाथा का सार है।

अथ सम्प्रति क्षेत्रपरिवर्तनसंसारस्य स्वरूपं शास्त्रकारा निरूपयन्ति—

सव्वम्हि लोयखेत्ते, कमसो तं णत्थि जं ण उप्पण्णं।
ओगाहणेण बहुसो, परिभमिदो खेत्तसंसारे॥२६॥

छाया— सर्वस्मिन् लोकक्षेत्रे क्रमशः तत् नास्ति यत्र न उत्पन्नः।
अवगाहनेन बहुशः परिभ्रान्तः क्षेत्रसंसारे॥

(सर्वोदया टीका—) *(सव्वम्हि लोयखेत्ते)* **सर्वस्मिन् लोकक्षेत्रे। लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्थाः यत्र स लोकः —इति व्युत्पत्त्या लोकपदं लोकाकाशस्य बोधकम्। अलोकाकाशे आकाशेतरस्य सर्वस्यापि पदार्थस्य अभावो भवति, अतस्तत्र जीवस्य भ्रमणं सम्भवत्येव न हि। अयं च लोकाकाशः असंख्यप्रदेशात्मकः। अस्मिन् विशिष्टावगाहनशक्तिवशादेव अनन्तजीवानां ततोऽपि अनन्तगुणानां पुद्गलानां, लोकाकाशप्रमित-असंख्यातकालाणुद्रव्याणां तथैव लोकाकाश-परिव्याप्तयोः धर्माधर्मद्रव्ययोश्च अवस्थानं सहैव सम्भवति। एतावति विशाले लोकाकाशेऽपि** *(तं णत्थि)* **तत् स्थानं न विद्यते, न अवशिष्यते इति तात्पर्यम्।** *(जं ण उप्पण्णं)* **यत्र न उत्पन्नः। एतादृश**

अब शास्त्रकार क्षेत्रपरिवर्तन रूप संसार का निरूपण कर रहे हैं—

(26)

(गाथा-अर्थ—) समस्त लोकक्षेत्र (लोकाकाश) में वह (स्थान अवशिष्ट) नहीं है, जहाँ (यह जीव) क्रमशः बहुत सी अवगाहनाओं के द्वारा उत्पन्न न हुआ हो, इस प्रकार क्षेत्र संसार में (यह जीव) परिभ्रमण करता रहा है।

(सर्वोदया टीका—) (सर्वस्मिन् लोकक्षेत्रे) सारे लोक रूपी क्षेत्र में। 'लोक' पद की (व्याकरण-सम्मत) व्युत्पत्ति इस प्रकार है— 'जहाँ जीवादि पदार्थ अवलोकित, दृष्टिगोचर होते हैं, वह 'लोक' होता है।' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'लोक' पद लोकाकाश का बोधक है। अलोकाकाश में आकाश से इतर सभी पदार्थों का अभाव होता है, अतः वहाँ जीव का भ्रमण संभव नहीं होता है। यह लोकाकाश असंख्यप्रदेशात्मक होता है, (फिर भी) इसमें विशिष्ट अवगाहन शक्ति के कारण, अनन्त जीवों, तथा उनसे भी अनन्तगुने पुद्गलों, लोकाकाश के समान प्रमाण वाले असंख्यात कालाणु द्रव्यों तथा लोकाकाश में व्याप्त रहने वाले धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्यों का एक साथ ही अवस्थान सम्भव होता है। इतने विशाल लोकाकाश में भी **(तत् नास्ति)** वह स्थान नहीं है, तात्पर्य है— ऐसा कोई स्थान बचा नहीं है,

आकाशप्रदेशो नावशिष्टः, यत्र संसारी जीवो न जन्म गृहीतवान्, सर्वत्रैवाकाशप्रदेशेषु जीवस्योत्पत्तिः संजाता, एषा स्थितिर्जीवस्य अनन्तवारं जन्म गृहीतवतः सम्भवति। एतज्जन्म कैः प्रकारैर्गृहीतमिति स्पष्टीक्रियते— *(ओगाहणेण बहुसो)* **बहुविधाभिः अवगाहनाभिः। एता अवगाहनाः सर्वजघन्य-जघन्य-मध्यम-उत्कृष्टादिभेदभिन्नाः सूक्ष्माः स्थूला वा बहुसंख्यका भवन्ति —इत्यतो 'बहुशः' इति पदमुपात्तम्। एवं प्रत्येकजीवः** *(खेत्तसंसारे परिभमिदो)* **क्षेत्रसंसारे परिभ्रमणं कुर्वन् संसारितां न त्यजति। रत्नत्रयाश्रयणं विना न तस्य संसारपरिभ्रमणं रोद्धुं शक्यते इति भावः।**

अत्रायं विस्तरः— सूक्ष्मनिगोदजीवोऽपर्याप्तकः सर्वजघन्यप्रदेशशरीरवान् लोकस्य अष्टमध्यप्रदेशान् स्वशरीरमध्यप्रदेशभूतान् विधाय उत्पन्नः, क्षुद्रभवग्रहणं जीवित्वा मृतः। स एव पुनस्तेनैव अवगाहनेन द्विवारमुत्पन्नः, तथा त्रिवारं, चतुर्वारमित्येवं यावन्तो घनाङ्गुलस्य असंख्येयभागप्रमित-आकाशप्रदेशाः, तावतो वारान् तत्रैव उत्पद्यते, पुनरेकैकप्रदेशाधिकभावेन सर्वं लोकमेव जन्मक्षेत्रभावं नयति। एषा यावति काले स्थितिः, तावत्कालप्रमाणं क्षेत्रपरिवर्तनम्।

(यत्र न उत्पन्नः) जहाँ यह जीव उत्पन्न नहीं हुआ हो। ऐसा कोई आकाश का प्रदेश बचा ही नहीं, जहाँ संसारी जीव ने जन्म न लिया हो, अर्थात् सभी आकाश-प्रदेशों में जीव की उत्पत्ति हुई है, और यह स्थिति उसी जीव की हो सकती है जिसने अनन्त बार जन्म ग्रहण किया हो। ये जन्म किन रूपों में लिये गये — इसको स्पष्ट कर रहे हैं— **(अवगाहनेन बहुशः)** बहुत प्रकार की अवगाहनाओं के साथ। ये अवगाहना सर्वजघन्य, जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट आदि तथा सूक्ष्म या स्थूल आदि भेदों के कारण विविध रूप वाली होती है, इसलिए इन्हें ('बहुशः') बहुत प्रकार वाली कहा गया है। इस प्रकार प्रत्येक जीव **(क्षेत्रसंसारे परिभ्रान्तः)** क्षेत्र संसार में परिभ्रमण करता है और संसारीपने को छोड़ता नहीं। रत्नत्रय का आश्रयण लिये बिना उस (जीव) का संसार-भ्रमण रुक नहीं पाता —यह भाव है।

यहाँ विस्तार से (क्षेत्रपरिवर्तन के स्वरूप का) कथन इस प्रकार है— जिसका शरीर आकाश के सबसे कम प्रदेशों पर स्थित है— ऐसा एक सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीव लोक के आठ मध्यप्रदेशों को अपने शरीर के मध्य में करके पैदा हुआ और क्षुद्र भवग्रहण काल तक जीवन जीकर मर गया। इसके बाद, वही जीव फिर उसी अवगाहना से वहाँ दूसरी बार पैदा हुआ, तीसरी बार, चौथी बार भी पैदा हुआ। इस तरह उसने, अंगुल के असंख्यात भाग में आकाश के जितने प्रदेश प्राप्त हों, उतनी बार वहीं जन्म लिया। फिर उसने आकाश के एक-एक प्रदेश को बढ़ाते हुए सारे लोकाकाश को अपना जन्म-क्षेत्र बनाया। इस प्रकार,

कुत्रचित् स्वक्षेत्र-परक्षेत्रेतिभेदेन क्षेत्रपरिवर्तनं द्विविधं निरूपितम्। तत्र सर्वजघन्यावगाहनाप्रमाणमेव स्वक्षेत्ररूपम्। तथा कश्चिज्जीवः सूक्ष्मनिगोदजघन्यावगाहनया उत्पन्नः, स्वस्थितिं जीवित्वा मृतः, पुनः प्रदेशोत्तरावगाहनेन तत्रैव उत्पन्नः। एवं द्व्यादिप्रदेशाधिकक्रमेण महामत्स्य-अवगाहनपर्यन्ताः संख्यातघनाङ्गुलप्रमित-अवगाहनविकल्पाः तेनैव जीवेन यावन्तः स्वीकृताः, तत्सर्वं समुदितं स्वक्षेत्रपरिवर्तनं कथ्यते। एतदनन्तरं तत्स्वक्षेत्रमतिरिच्य एकैकप्रदेशाधिकभावेन समस्तलोकं यज्जन्मक्षेत्रं भवति, तत्परक्षेत्रपरिवर्तनम्। एवमुभयपरिवर्तनं *(कमसो)* **क्रमशः, यथानुरूपं संसारपरिभ्रमणरूपं भवति।**

गाथायास्तात्पर्यमिदं यद् अनन्तसंसारे अनन्तवारं परिभ्रमतो जीवस्य कामभोगकथा तु श्रुतपरिचितानुभूतैव, सा तु संसारस्थितिं वर्धयत्येव। अतः सर्वपरकीयभावपरिहारेण शुद्धो निजात्मा उपादेयः, समाश्रयणीयश्च, तत एव संसारभयात्सर्वथा विमुक्तिः सुप्राप्या।

जितना काल इसमें लगा, वह सब समग्र रूप से 'क्षेत्र परिवर्तन' कहा जाता है। किन्हीं ग्रन्थों में क्षेत्रपरिवर्तन के दो भेद बताये गये हैं— स्वक्षेत्रपरिवर्तन और परक्षेत्र परिवर्तन। वहाँ सर्वजघन्य अवगाहन प्रमाण ही स्वक्षेत्र जानना चाहिए। और, जैसे कोई जीव सूक्ष्म निगोद वाली जघन्य अवगाहना के साथ उत्पन्न हुआ, और अपनी आयु प्रमाण जीवन पूर्णकर मरण को प्राप्त हुआ। फिर वही जीव एक प्रदेश अधिक अवगाहना लेते हुए उत्पन्न हुआ फिर एक-एक प्रदेश अधिक की अवगाहनाओं को क्रमशः धारण करते-करते महामत्स्य की उत्कृष्ट अवगाहना पर्यन्त संख्यात घनांगुल प्रमाण अवगाहना के विकल्पों को वही जीव जितने समय में धारण करता है, उतना समग्र काल 'स्वक्षेत्र परिवर्तन' है। इसके बाद, अपने क्षेत्र को छोड़कर, एक-एक प्रदेश की अधिकता करते हुए जो सारे लोक को उस जीव ने जन्मस्थान बनाया, वह 'परक्षेत्रपरिवर्तन' है। इस प्रकार, दोनों परिवर्तन **(क्रमशः)** क्रम से, यथानुरूप संसार-परिभ्रमण रूप होते हैं।

गाथा का तात्पर्य यह है कि अनन्त संसार में अनन्तबार परिभ्रमण कर चुके इस जीव के लिए काम भोग सम्बन्धी कथा तो अनन्त बार सुनी हुई है, परिचित है और अनुभूत ही है, वह तो संसार की स्थिति को और भी सुदृढ़ करने वाली है। इसलिए समस्त परकीय भावों का त्याग कर शुद्ध निज आत्मा ही उपादेय है और वही आश्रयण योग्य है, उसी से संसार-भय से सर्वथा मुक्त हो पाना सरल होगा।

अथ सम्प्रति कालपरिवर्तनस्य स्वरूपं शास्त्रकारा: निरूपयन्ति—

अवसप्पिणि-उस्सप्पिणि-समयावलियासु णिरवसेसासु।
जादो मुदो य बहुसो, परिभमिदो कालसंसारे॥२७॥

छाया— *अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी-समयावलिकासु निरवशेषासु।*
जातो मृतश्च बहुश: परिभ्रान्त: कालसंसारे॥

(सर्वोदया टीका—) *(अवसप्पिणि-उस्सप्पिणि)* **अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी चेतिखण्डद्वयं कालचक्रस्य। उभे नामनी अन्वर्थकतां वहत:। अनुभवादिभिरुत्सर्पणशीला उत्सर्पिणी, अवसर्पण-शीला तु अवसर्पिणी। यस्मिन् काले जीवानां बलम्, आयु:, शरीरोत्सेध:, तेज:, ऋद्धि: इत्यादिकानां वृद्धिर्भवति, स उत्सर्पिणीकाल:। यत्र ह्रासो भवति, स तु अवसर्पिणीकाल:। अस्मिन् काले शरीरोत्सेधायुष्यप्रमाणादिको ह्रास: क्रमेण प्रवर्तते एव।**

उक्तं च तिलोयपण्णत्तौ *(4/398)*—

अब शास्त्रकार कालपरिवर्तन के स्वरूप का निरूपण करने जा रहे हैं—

(27)

(गाथा-अर्थ—) (इस संसारी जीव ने) अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी काल की समस्त समयावलियों में अनेक बार जन्म लिया है और मृत्यु प्राप्त की है। (इस प्रकार) कालपरिवर्तन रूप संसार में (यह जीव) परिभ्रमण करता रहा है।

(सर्वोदया टीका—) (अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी) अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी —ये कालचक्र के दो खण्ड (क्रमिक) होते हैं। दोनों ही नाम अन्वर्थक हैं (अर्थात् उनकी जैसी संज्ञा है, वैसा ही उनका स्वरूप होता है)। अनुभव आदि रूपों में जो उत्सर्पण (वृद्धि) के स्वभाव से युक्त है, वह उत्सर्पिणी होती है, और जो अवसर्पण (ह्रास) के स्वभाव से युक्त है, वह अवसर्पिणी होती है। जिस समय में जीवों का बल, आयु, शारीरिक ऊँचाई, तेज, ऋद्धि —इनकी वृद्धि होती है, उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं, किन्तु जिसमें ह्रास होता है, वह अवसर्पिणी काल कहा जाता है। इस काल में जीवों के शरीर की ऊँचाई, आयु सम्बन्धी परिमाण आदि में क्रमिक ह्रास प्रवृत्त होता रहता है।

तिलोयपण्णत्ति (4/398) में कहा भी है—

कालम्मि सुसमसुसमे चउकोडाकोडिउवहिउवमम्मि।
पढमादो हीयंते, उच्छेहाऊबलद्धितेआइं॥

साम्प्रतिकः कालोऽस्ति अवसर्पिणीकालः। अस्य दशकोटाकोटिसागरोपमपरिमाणमस्ति। उत्सर्पिण्या अपि एतावदेव परिमाणम्। प्रत्येककालस्य षड् भेदा भवन्ति। यथा अवसर्पिणीकालस्य षड्भेदाः— सुषमासुषमा, सुषमा, सुषमा-दुःषमा, दुःषमा-सुषमा, दुःषमा, दुःषमा-दुःषमा च। अत्र 'समा' इतिवर्षपर्यायः। 'सु' इति प्रशंसार्थकः, 'दुः' इति च निन्दार्थक उपसर्गः एवं 'सुषमा' इति पदं शुभवर्षाणां प्रशस्तसमयस्य वा बोधकं तद्विपरीतं तु 'दुःषमा' इतिपदम्।

एतेषु षड्भेदेषु सुषमा-सुषमा इति कालविभागः, यः चतुष्कोटाकोटिसागरप्रमाणः। अयमुत्तमभोगभूमिसदृशः कालो भवति। तत्रादौ, यथा देवोत्तरकुरुक्षेत्रे उत्तमभोगभूमौ मनुष्यास्तिर्यञ्चो वा भवन्ति, तथैव अत्रापि मनुष्याः तिर्यञ्चो भवन्ति। भूमौ रजः, धूमः, अग्निः, हिमः, कण्टकाः, अभ्रशिला, तथा वृश्चिकप्रभृति-उपसर्गाश्च कुत्रचित् न भवन्ति। निर्मलदर्पणतुल्या, निन्दितद्रव्य-

"चार कोड़ा-कोड़ी सागरोपम प्रमाण सुषमासुषमा काल में पहले की तुलना में शरीर की ऊँचाई, आयु, बल, ऋद्धि व तेज आदि हीन होते चले जाते हैं।"

वर्तमान में जो काल प्रवर्तमान है, वह अवसर्पिणी काल है। इसका परिमाण दस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम है। उत्सर्पिणी का भी इतना ही परिमाण है। प्रत्येक काल (उत्सर्पिणी हो या अवसर्पिणी) के छः छः भेद होते हैं। उदाहरणार्थ— अवसर्पिणी काल के छः भेद इस प्रकार हैं— (1) सुषम-सुषमा, (2) सुषमा, (3) सुषमादुःषमा, (4) दुःषमा-सुषमा और (5) दुःषमा और (6) दुःषमा-दुःषमा। यहाँ 'समा' का अर्थ है— वर्ष। 'सु' का अर्थ प्रशस्त होना और 'दुः' का अर्थ निन्दित होना है। ये (दोनों ही) उपसर्ग हैं (अर्थात् ये अपने उत्तरवर्ती पद की विशेषता व्यक्त करते हैं)। इस प्रकार, 'सुषमा' यह पद शुभ वर्षों या प्रशस्त काल का बोधक होता है, किन्तु 'दुःषमा' यह पद पूर्वोक्त से विपरीत अर्थ का (अर्थात् अशुभ वर्ष व अप्रशस्त काल का) बोधक होता है।

इन छः भेदों में (प्रथम) सुषमा-सुषमा नाम का जो काल-खण्ड है, उसका परिमाण चार कोड़ा-कोड़ी सागर का होता है। यह काल उत्तम भोगभूमि के जैसा (सुखद) होता है। इसके प्रारम्भ में जिस तरह 'देवोत्तरकुरु' नामक 'उत्तम भोगभूमि' में मनुष्य व तिर्यञ्च होते हैं, उसी तरह यहाँ भी मनुष्य व तिर्यञ्चों की स्थिति होती है। भूमि पर मिट्टी (धूल), धुआँ, अग्नि, बर्फ, काँटे, पर्वतशिला एवं बिच्छू आदि के उपसर्ग (संकट) कहीं नहीं होते। (सर्वत्र) निर्मल दर्पण के समान, निन्दित द्रव्यों के मिश्रण से रहित, मनोहर व

अमिश्रिता, मनोनयनानन्दकारिणी दिव्या सिकता भवति। सुगन्धसुवर्ण-सुरसोपेतानि चतुरंगुलप्रमाणानि तृणानि, सुन्दरपुष्पसम्पन्नाश्च वृक्षाः, निर्मलजलपरिपूर्णाः जलक्रीडासाधनभूता दीर्घिकाः, अमृतोपमक्षीरपूर्णा नद्यश्च विलसन्ति। अस्मिन्काले विकलेन्द्रियजीवा न भवन्ति। असंज्ञिजीवाश्च न भवन्ति। स्वामिभृत्यादिभेदोऽपि न दृश्यते। रात्रिदिनभेदः, अन्धकारः, उष्णता-शैत्यादिजन्याः अप्रीतिकरा वेदनाः, परस्त्रीरमणम्, परधनहरणं चेत्यादीनां सद्भावो न भवति। सर्वे यौगलिका एव जीवा भवन्ति, अर्थात् पतिपत्नीरूपेणैव नरनार्योर्जन्म भवति। भ्राता, भगिनी, मातुलः, पितृव्यः इत्यादिकाः सम्बन्धा न भवन्ति। कल्पवृक्षा दशविधाः तत्र भवन्ति, यन्माध्यमेन सर्वविधा भोजनादिसामग्री समुपलभ्यते। ग्राम-नगर-पण्यक्रयविक्रयस्थानादीनां च निर्माणं न तदा भवति। पुरुषाः स्त्रियश्च सर्वे सौन्दर्ययुक्ताः, सुन्दराभरणशोभिताश्च भवन्ति। नरनारीयुगलानि उत्तमभोगसामग्रीं संप्राप्य, विक्रियया विविधशरीराणि च विरच्य भोगोपभोगान् भुञ्जते। कदलीघातमरणमपि न तेषां सम्भवि। मनुष्याणां तिर्यचां वा, यदा तेषामायुषां नव मासा एव अवशिष्यन्ते, तदा गर्भधारणं भवति, युगलं च समुत्पाद्य तत्कालमेव तेषां मृत्युर्भवति। जनकस्य

आनन्ददायक दिव्य 'सिकता' (रेत) होती है। सुगन्धित व सरस तृण होते हैं जिनका प्रमाण चार अंगुल तक का होता है। वृक्ष सुन्दर पुष्पों से युक्त होते हैं। निर्मल जल से परिपूर्ण बावड़ियाँ होती हैं जो जलक्रीड़ा के योग्य होती हैं। नदियाँ अमृततुल्य जल से युक्त होती हैं। इस काल-खण्ड में विकलेन्द्रिय जीव नहीं होते। असंज्ञी जीव भी नहीं होते। वहाँ स्वामी-भृत्य आदि का भेद भी दृष्टिगोचर नहीं होता। रात-दिन, अन्धकार, (अधिक) उष्णता या शीतलता के कारण होने वाली अप्रीतिकारक वेदना, परस्त्रीरमण तथा परधनहरण इत्यादि घटनाओं का भी सद्भाव नहीं होता। सभी जीव 'यौगलिक' (युगल रूप में उत्पन्न) होते हैं, अर्थात् मनुष्य व स्त्री का जन्म पति-पत्नी के रूप में होता है। भाई, बहिन, मामा, चाचा आदि सम्बन्ध नहीं हुआ करते। इस काल में दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं जिनके माध्यम से सब प्रकार की भोजन आदि सामग्री प्राप्त हो जाती है। इस समय ग्राम, नगर, वस्तु खरीदने या बेचने के स्थान आदि का निर्माण भी नहीं होता। सभी पुरुष व स्त्रियाँ सुन्दर रूपवाले तथा सुन्दर आभरण से शोभित होते हैं। इस प्रकार, नर-नारी युगल उत्तम भोग की सामग्री प्राप्त करते हैं और विक्रिया शक्ति से विविध शरीरों का निर्माण कर भोग व उपभोग किया करते हैं। उनका कदलीघात (अकाल) मरण भी सम्भव नहीं होता। मनुष्य या तिर्यञ्च प्राणियों की आयु पूर्ण होने में जब नौ मास अवशिष्ट रहते हैं, तब वे गर्भधारण करते हैं और (अपने जैसे ही) 'युगल' को जन्म देकर तत्काल मृत्यु प्राप्त करते हैं। पिता (नर) की छींक के साथ तथा माता (नारी) की जम्हाई के साथ

छिक्कया सह, जनन्याश्च जृम्भया सह मरणमापद्यते। तेषां मृतशरीराणि शरत्कालमेघवत् यद्वा कर्पूरवत् पूर्णतो विलीयन्ते। सद्योजातयुगलं शय्यायां दिनत्रयं यावत् स्वाङ्गुष्ठलेहनं करोति। तदनन्तरम्, उपवेशने, अस्थिरगमने, स्थिरगमने, कलागुणप्राप्तौ, तारुण्यप्राप्तौ, सम्यक्त्वयोग्यताप्राप्तौ च प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि दिनानि व्यतीयन्ते। तस्य युगलस्य देहो मलमूत्रादिरहितः, शुचिः, प्रशस्तलक्षणसमन्वितः, समचतुरस्रसंस्थानयुक्तश्च भवति। आहारग्रहणं च तेन युगलेन चतुर्थे दिने (अष्टमभक्तकाले) बदरीप्रमाणमेव, तदपि एकवारमेव क्रियते। तेषामायुष्यं त्रिपल्यप्रमाणं भवति, शरीरोत्सेधश्च षट्सहस्रधनुःप्रमाणं भवति।

अत्र भोगभूमौ के उत्पद्यन्ते? शास्त्रकारैः प्रतिपादितं यद् ये मिथ्यात्वभावयुक्ताः अपि मन्दकषायिनः, पैशून्यासूयारहिताः, मांसाहारविरताः, मधुमद्यादिसेवनरहिताः, सत्यवादिनः, निरभिमानाः, वेश्यापरस्त्रीविरताः, उपवासेन जातकृशशरीराः, आर्जवादिसम्पन्नाः जिनार्चनपराः, तथा संयमियतिभ्य आहारदाने तत्पराश्च भवन्ति, ते भोगभूमौ जन्म लभन्ते। आहारदानमतिरिच्य,

---

मृत्यु होती है। उनके मृत शरीर शरत्कालीन मेघ की तरह या कपूर की तरह पूर्णतया विलीन हो जाते हैं। जो नवजात 'युगल' होता है, वह शय्या पर तीन दिनों तक अँगूठा चूसता है। इसके बाद बैठने, हिलने-डुलने, चलने, कलासम्बन्धी गुणों की प्राप्ति, तारुण्य-प्राप्ति तथा सम्यक्त्व-सम्बन्धी योग्यता की प्राप्ति, प्रत्येक में तीन-तीन दिन लगते हैं। उस युगल का शरीर मल-मूत्रादि रहित, शुद्ध, शुभ लक्षणों से युक्त तथा समचतुरस्र संस्थान से युक्त होता है। वह युगल (तीन दिनों के अन्तराल के बाद) चौथे दिन ही आहार ग्रहण करता है और वह आहार भी बेर के परिमाण वाला ही होता है (अधिक नहीं)। और वह भी वे दिन में एक बार ही करते हैं। उनकी आयु तीन पल्य प्रमाण होती है और शरीरोत्सेध छः हजार धनुष प्रमाण होता है।

इस भोग-भूमि में कौन उत्पन्न होते हैं? (इसके उत्तर में) शास्त्रकारों ने यह प्रतिपादित किया है कि जो मिथ्यात्वी होते हुए भी मन्दकषाय वाले, पैशून्य व असूया (चुगलखोरी व दूसरों के गुणों में दोष खोजने की प्रवृत्ति) से रहित, मांस-भक्षण से विरत, मधु-मद्य आदि के सेवन का त्याग करने वाले, सत्यवादी, अभिमानरहित, वेश्या व पर-स्त्री का सेवन न करने वाले, उपवास के द्वारा जिनके शरीर कृश हो गए हैं, आर्जव आदि गुणों से युक्त, जिनेन्द्र-पूजा में तत्पर तथा जो संयमी यतियों को आहार देने में तत्पर होते हैं, वे लोग भोग-भूमि में जन्म लेते हैं। आहारदान के अलावा, जो अभयदान, औषधदान, ज्ञानोपकरणदान भी यतियों को करते हैं, वे भी उस पुण्यकर्म के फलस्वरूप भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं। इसके अलावा, जिन्होंने

अभयदानऔषधदान-ज्ञानोपकरणदानमपि यतिभ्यः प्रदाय तत्पुण्यकर्मफलेन भोगभूमौ जना उत्पद्यन्ते। बद्धपूर्वायुष्काश्च तीर्थकरपादमूले प्राप्तक्षायिकसम्यग्दर्शना अपि भोगभूमिजा भवन्ति।

सुषमा-सुषमाकालादनन्तरं सुषमानामको द्वितीयः काल आरभ्यते। अयं त्रिकोटाकोटि-सागरप्रमाणो भवति कालः। मध्यमभोगभूमौ हरिवर्षक्षेत्रे या स्थितिर्भवति, सैवात्रकाले भवति। मनुष्याः समचतुरस्रसंस्थानवन्तो भवन्ति। दिनद्वयानन्तरं (तृतीये दिने) अक्षफलपरिमितमेवाहारं गृह्णन्ति ते। पूर्वकालवदेव नवमासपरिमिते आयुष्यकालेऽवशिष्टे, युगलं गर्भं धारयति, सन्तानमुत्पाद्य म्रियते। समुत्पन्नयुगलं पञ्च दिनानि यावत् स्वाङ्गुष्ठं लेढि। तदनन्तरं च उपवेशने, अस्थिरगमने, स्थिरगमने, कलागुणार्जने, तारुण्यप्राप्तौ सम्यक्त्वग्रहणयोग्यताप्राप्तौ च प्रत्येकं पञ्च पञ्च दिनानि व्यतीत्य, पञ्चत्रिंशद्दिनेषु पूर्णयौवनं तत् प्राप्नोति। आयुष्यं च सर्वेषां पल्यद्वयं भवति। तेषां शरीरोत्सेधश्च चतुःसहस्रधनुःप्रमाणो भवति। शेषवर्णनमुत्तमभोगभूमिवद् ज्ञेयम्।

पूर्व में आयु बाँध ली है, ऐसे जीव तीर्थंकर के चरणों में स्थित होकर क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं, तो वे भी भोग-भूमि में उत्पन्न होते हैं।

सुषमा-सुषमा काल के व्यतीत होने के बाद, सुषमा नामक दूसरा काल प्रारम्भ होता है। इसका परिमाण तीन कोड़ा-कोड़ी सागरोपम होता है। मध्यम भोग-भूमि 'हरिवर्ष' क्षेत्र में जो स्थिति रहती है, वही इस काल में रहती है। मनुष्य समचतुरस्र संस्थान वाले होते हैं। वे दो दिनों के अन्तराल के बाद (तीसरे दिन) और 'बहेड़ा' फल के बराबर आहार ग्रहण करते हैं। पूर्व (सुषमासुषमा) काल की तरह ही, जब उनकी आयु नौ मास शेष रह जाती है, तब वह युगल गर्भ धारण करता है और सन्तान (युगल) को उत्पन्न कर मरण को प्राप्त हो जाता है। उत्पन्न युगल पाँच दिनों तक अपना अँगूठा चूसता है। उसके बाद, वह युगल बैठने में, अस्थिर गमन, स्थिरता के साथ चलने में, कला-गुणों के अर्जन में, तारुण्य-प्राप्ति में तथा सम्यक्त्व ग्रहण के योग्य होने में, प्रत्येक में पाँच-पाँच दिन व्यतीत करता है, और इस प्रकार पैंतीस दिनों में पूर्ण यौवन को प्राप्त कर लेता है। सभी की आयु दो पल्य प्रमाण होती है। उनके शरीर की ऊँचाई चार हजार धनुष प्रमाण होती है। शेष वर्णन उत्तम भोग-भूमि की तरह समझना चाहिए।

क्रमशः शरीरोत्सेधादिह्रासे प्रवर्तमाने तृतीयः कालः 'सुषमादुःषमा' इतिसंज्ञक आयाति। अयं द्विकोटाकोटिसागरोपमः स्वीकृतः। तत्र प्रारम्भे मनुष्याणां शरीरोत्सेधो द्विसहस्रधनुःपरिमितो भवति, आयुष्यं चैकपल्यप्रमितं भवति। आहारग्रहणं चैकदिनान्तराले सति तैः क्रियते। आहारस्य चामलकफलवत् प्रमाणं वेदितव्यम्। पूर्ववदेव नवमासप्रमिते आयुषि अवशिष्टे युगलं गर्भं दधाति, युगलं च जनयित्वा म्रियते। उत्पन्नं युगलसन्तानं सप्तदिवसान् यावत् स्वाङ्गुष्ठं लेढि। तदनन्तरमुपवेशने, अस्थिरगमने, स्थिरगमने, कलागुणार्जने, तारुण्यप्राप्तौ, सम्यक्त्वार्जन-योग्यताधिगमे च प्रत्येकं सप्त सप्त दिनानि व्यतीयन्ते। एवं एकोनपञ्चाशद्दिनेषु तद्युगलं तारुण्यपूर्णं सम्भवति। शेषं प्रायः पूर्ववद् ज्ञेयम्। यदाऽस्य कालस्य पल्योपम-अष्टमभागोऽवशिष्यते, तदा कुलकराणां समुत्पत्तिर्भवति। ते कुलकराः चतुर्दश भवन्ति, तत्र प्रथमः प्रतिश्रुतिनामकः, अन्तिमो नाभिराजनामकः। एतेषां 'मनु' इतिसंज्ञाऽपि वर्तते। ते सामयिकीं समस्यां समाधातुं यथोचितं जीवनोपायविषये जनानुपादिशन् —इति तेषां सामाजिकोपयोगित्वं स्पष्टमेव।

इसके साथ ही शारीरिक ऊँचाई आदि में ह्रास होता रहता है, और (अंत में) सुषमा-दुःषमा नामक तीसरा काल आ जाता है। इसका परिमाण दो कोड़ा-कोड़ी सागरोपम माना गया है। इसमें प्रारम्भ में मनुष्यों की शारीरिक ऊँचाई दो हजार धनुष परिमाण वाली होती है और एक पल्य प्रमाण आयु होती है। वे एक दिन के अन्तराल से आहार ग्रहण करते हैं। उनके आहार का प्रमाण आँवले के फल जितना जानना चाहिए। पूर्ववत् ही, जब उस युगल की आयु नौ मास शेष रह जाती है, तब वह गर्भ धारण करता है और युगल को जन्म देकर मरण को प्राप्त हो जाता है। वह उत्पन्न (नवजात) युगल सात दिनों तक अँगूठा चूसता रहता है। उसके बाद, बैठने, अस्थिरगमन, स्थिरता के साथ (संभलकर) चलने, कला-गुणों के अर्जन में, तारुण्य प्राप्त करने तथा सम्यक्त्व की योग्यता प्राप्त करने में प्रत्येक में सात-सात दिन बीतते हैं। इस प्रकार, उनचास दिनों में वह युगल तारुण्य को प्राप्त कर पाता है। शेष विवरण पूर्व की तरह जानना चाहिए। जब इस काल में पल्योपम का आठवाँ भाग शेष रहता है, तब कुलकरों की उत्पत्ति होती है। वे कुलकर चौदह होते हैं, उनमें प्रथम कुलकर का नाम है— प्रतिश्रुति। अन्तिम कुलकर 'नाभिराय' होते हैं। इनकी 'मनु' संज्ञा भी है। ये सामयिक समस्याओं के समाधान हेतु तथा यथोचित जीवन जीने के बारे में लोगों को उपदेश (परामर्शादि) देते हैं— इस दृष्टि से इनकी सामाजिक उपयोगिता स्पष्ट है।

तृतीयकालानन्तरं दुःषमा-सुषमानामकः चतुर्थः काल आरभ्यते। अस्य कालस्य द्विचत्वारिंशत्सहस्रवर्षोनम् एककोटाकोटिसागरोपमं प्रमाणं निरूपितमस्ति। मनुष्याणां शरीरोत्सेधः प्रारम्भे पञ्चविंशत्यधिक-पञ्चशतधनुःप्रमाणो भवति, आयुष्यं च तेषामुत्कृष्टतया एकपूर्वकोटिप्रमितं भवति। अस्मिन्नेव काले सामान्यतः चतुर्विंशतितीर्थंकराः, नव नारायणाः, नव प्रतिनारायणाः, नव बलभद्राः, द्वादश चक्रवर्तिनः —इत्येते त्रिषष्टिशलाकापुरुषाः समुत्पद्यन्ते। असंख्यातावसर्पिण्युत्सर्पिणीकाले व्यतीते एको हुण्डावसर्पिणीकाल-समागमोऽपि भवति।

अत्रेदं ज्ञेयम्— वर्तमानावसर्पिणी हुण्डावसर्पिणीति-नाम्ना निरूपिता। अतः एतत्प्रभावात् अपवादरूपेण सामान्यनियमातिक्रमणं जातम्। तेन तृतीयकालान्तिमे भागे एव प्रथमतीर्थंकर ऋषभदेवः, तत्पुत्रश्च भरतः प्रथमचक्रवर्ती समजायताम्। ऋषभदेव-काले एव भोगभूमिस्थितेर्ह्रासः प्रावर्तत, कर्मभूमिस्थितिश्च प्राकट्यं प्राप्ता। राज्ञा च ऋषभदेवेन असि-मषि-कृषि-शिल्पविद्या-वाणिज्यादि-कर्मणां शिक्षणं प्रदत्तम्। प्रथमतीर्थंकरस्य ऋषभदेवस्य निर्वाणाद् वर्षत्रये सार्द्धाष्टमासाधिके व्यतीते सति वर्तमानावसर्पिण्याः चतुर्थः कालः प्रारभत्। चतुर्थकाले तु पूर्णतः कर्मभूमिस्थितिरवस्थिता। कर्मभूमिस्थितौ आजीविकोपायरूपं कर्मविशेषं जनाः स्वीकुर्वन्ति, तथा

तीसरे काल के बाद, दुःषमा-सुषमा नामक चतुर्थ काल प्रारम्भ होता है। इसका प्रमाण बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम बताया गया है। प्रारम्भ में मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण होती है और उनकी उत्कृष्ट आयु एक पूर्वकोटि प्रमाण वाली होती है। इसी काल में सामान्यतः चौबीस तीर्थंकर, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण, नौ बलभद्र और बारह चक्रवर्ती —ये तिरेसठ शलाकापुरुष उत्पन्न हुआ करते हैं। असंख्यात अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी काल के बीत जाने पर एक हुण्डावसर्पिणी काल भी आता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है— वर्तमान अवसर्पिणी काल को 'हुण्डावसर्पिणी' के नाम से निरूपित किया गया है। इसलिए इसके प्रभाव से सामान्य नियमों का अपवाद रूप से अतिक्रमण (उल्लंघन) हो गया है। अतः तीसरे काल के अन्तिम भाग में ही प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और उनके पुत्र भरत प्रथम चक्रवर्ती हो गये। ऋषभदेव के समय में ही भोग-भूमि की स्थिति में ह्रास प्रारम्भ हो गया और कर्म-भूमि की स्थिति प्रकट हो गई। राजा ऋषभदेव ने असि (शास्त्र), मषि (लेखन), कृषि (खेती), शिल्प-विद्या व वाणिज्य (व्यापार) आदि कर्मों का शिक्षण दिया था। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के निर्वाण के तीन वर्ष साढ़े आठ मास व्यतीत होने पर वर्तमान अवसर्पिणी का चतुर्थ काल 'दुःषमा-सुषमा' प्रारम्भ हो गया। इस चतुर्थ काल में तो पूर्णतया कर्मभूमि की स्थिति हो गई थी। कर्मभूमि की स्थिति में लोग अपनी आजीविका के साधन के रूप में

तीर्थंकरैः सहान्येऽपि जनाः स्वपुरुषार्थेन रत्नत्रयाचरणेन कर्मविमुक्तिरूपं मोक्षं लब्धुं प्रयतन्ते, केचित् सफला अपि भवन्ति। चतुर्थकालादारभ्य विकलेन्द्रियजीवोत्पत्तौ वृद्धिः प्रवर्तते। तेजोबलायुष्यादीनामपि ह्रासः क्रमेण संवर्द्धते एव।

अन्तिमतीर्थंकरस्य भगवतो महावीरस्य निर्वाणात् वर्षत्रये अष्टसु मासेषु एकपक्षे च व्यतीते सति पञ्चमकालो दुःषमासंज्ञकः प्रारभते। अयं काल एकविंशतिसहस्त्रवर्षप्रमाणो भवति। अत्र मनुष्याणामुत्कृष्टायुष्यं विंशत्यधिकमेकशतवर्षं यावद् भवति, शरीरोत्सेधश्च सप्तहस्तप्रमाण उत्कृष्टतया भवति। आहारग्रहणं च प्रतिदिनं मनुष्यैः क्रियते। कालदोषेण ह्रासमुपगतस्य श्रुतस्य व्युच्छेदश्चात्र भवति। मुकुटधरेषु सम्राट् चन्द्रगुप्तोऽन्तिमः प्रव्रजितः जैनीं दीक्षां गृहीतवान्, तदनन्तरं न कोऽपि अन्यो मुकुटधरो राजा प्रव्रज्यामङ्गीकृतवान्। राजवंशेषु अनैतिकता-न्यायविमुखतादिदोषाः समुद्भवन्ति। धर्मविरोधिनां न्यायनीतिप्रतिकूलाचरणानां कल्कि-उपकल्किसंज्ञकानां राज्ञां च क्रमशः समुत्पत्तिरत्र भवति। एतौ क्रमशः सहस्रवर्षान्तराले पञ्चशतवर्षान्तराले च भवतः। हुण्डावसर्पिणी-प्रभावेन तदुभयोरेकैकस्य एकविंशतिरिति द्विचत्वारिंशत्परिमिता संख्या तेषां भवति।

किसी विशेष कर्म को करते हैं तथा तीर्थंकरों के साथ अन्य भी मनुष्य अपने पुरूषार्थ से अर्थात् रत्नत्रय रूप आचरण से कर्म-मुक्ति रूप मोक्ष को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, उनमें कुछ सफल भी होते हैं। चतुर्थ काल के आरम्भ होने पर विकलेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति में वृद्धि होने लगती है। तेज, बल, आयु आदि का भी ह्रास क्रमशः होता रहता है।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण से तीन वर्ष आठ मास व एक पक्ष बीतने पर 'दुःषमा' नामक पाँचवाँ काल प्रारम्भ होता है। यह काल इक्कीस हजार वर्ष का है। इसमें मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक सौ बीस वर्ष तक की होती है और उत्कृष्ट शारीरिक ऊँचाई सात हाथ प्रमाण की हुआ करती है। आहार-ग्रहण मनुष्यों द्वारा प्रतिदिन किया जाता है। काल-दोष से श्रुत का ह्रास होते-होते, उसका उच्छेद भी इस काल में होता है। मुकुटधर राजाओं में अन्तिम सम्राट् 'चन्द्रगुप्त' ने प्रव्रजित होकर जिन-दीक्षा ग्रहण की, उसके बाद किसी अन्य मुकुटधर राजा ने प्रव्रज्या स्वीकार नहीं की। राजवंशों में अनैतिकता, न्यायविमुखता आदि दोष प्रकट होने लगते हैं। इस काल में धर्मविरोधी एवं न्याय-नीति के प्रतिकूल आचरण वाले कल्की व उपकल्की नामक राजाओं की क्रमशः उत्पत्ति होती है। ये (दोनों) क्रमशः एक हजार वर्ष तथा पाँच सौ वर्षों के अन्तराल में उत्पन्न होते हैं। हुण्डावसर्पिणी के प्रभाव के कारण उनकी कुल संख्या (प्रत्येक की इक्कीस) बयालीस होती है।

अन्तिमः एकविंशः कल्की भविष्यति। तस्मिन्समये वीराङ्गजनामको मुनिः, सर्वश्रीनामिका आर्यिका, तथा अग्निदत्तः पंगुश्री च —इत्येतौ श्रावकः श्राविका च भविष्यतः। स कल्की राजा मुनेः प्रथमग्रासं राज्यकर-रूपेण याचते। येन मुनिराजः प्रथमग्रासं कररूपेण तस्मै दत्वाऽन्तरायं परिपाल्य निजवसतिकां गच्छति। तत्र मुनिना जातावधिज्ञानेन दुःषमाकालस्यावसानं कथं भवितेति ज्ञातम्। त्रिदिनपर्यन्त-मेवास्माकं जीवनमवशिष्टमिति च मुनिना ज्ञायते। तथा स मुनिः धर्मविनाशकालं ज्ञात्वा चतुर्विधसंघाय निवेदयति, तच्छ्रुत्वा सर्व एव सल्लेखनामङ्गीकृत्य कार्तिककृष्ण-अमावास्यायां प्राणान् त्यजन्ति, सौधर्मस्वर्गे च समुत्पद्यन्ते। मुनिभक्त एकोऽसुरदेवः क्रोधाविष्टः तं कल्किनृपं हन्ति। कल्किनृपास्तु सर्वे नरकगामिनो भवन्त्येव। सायंकाले अग्निरपि विनश्यति।

अन्तिमकल्किनृपमृत्योः त्रिषु वर्षेषु, अष्टसु मासेसु एकस्मिंश्च पक्षे व्यतीतेषु षष्ठः कालः दुःषमादुःषमानामकः समागच्छति। अस्मिन् षष्ठे काले मनुष्यायुः विंशतिवर्षात्मकमेव भवति, शरीरोत्सेधश्च हस्तत्रयप्रमाणं सार्द्धहस्तत्रयप्रमाणं वा भवति। मनुष्याः सर्वे धूम्रवर्णाः, तेषामाहारश्च

अन्तिम इक्कीसवाँ कल्की होगा, उसके समय में वीराङ्गज नामक मुनि, सर्वश्री नामक आर्यिका, तथा अग्निदत्त श्रावक व पंगुश्री श्राविका होंगे। वह कल्की राजा मुनि से राज्य-कर (टैक्स) के रूप में प्रथम ग्रास माँगता है, और मुनिराज प्रथम ग्रास को कर (टैक्स) के रूप में उसे देकर अन्तराय करते हैं और उसकी पालना कर वे मुनिराज अपनी वसतिका में चले जाते हैं। वहाँ वे मुनि प्राप्त अवधिज्ञान के बल पर जान लेते हैं कि 'दुःषमा' नामक पंचम काल का अन्त किस प्रकार होने वाला है। मुनि यह भी जान जाते हैं कि हमारा जीवन तीन दिनों का ही है। इस प्रकार, मुनिराज (भावी) धर्म-विनाश काल को जानकर इसके बारे में चतुर्विध संघ को बताते हैं, जिसे सुनकर सभी सल्लेखना को अंगीकार कर कार्तिक कृष्ण अमावस्या को प्राण त्याग देते हैं और मरकर सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। एक मुनिभक्त असुर देव क्रोधित होकर उस कल्की राजा को मार देता है। सभी कल्की राजा मरकर नरकगामी ही होते हैं। उसी दिन, सायंकाल अग्नि भी नष्ट हो जाती है।

अन्तिम कल्की राजा की मृत्यु के तीन वर्ष, आठ मास व एक पक्ष बीतने पर छठा काल 'दुःषमा-दुःषमा' आता है। इस छठे काल में मनुष्य की आयु मात्र 20 वर्ष की ही रह जाती है और शारीरिक ऊँचाई तीन हाथ या साढ़े तीन हाथ प्रमाण होती है। सभी मनुष्य धुएँ जैसे वर्ण वाले होते हैं, और उनका आहार

मूल-फल-मत्स्यादिरूपो भवति। सर्वे निवासरहिताः नग्ना एव यत्र तत्र विचरन्ति, यतो हि वस्त्र-निवास-ग्राम-नगरविन्यासो ध्वस्तो भवति। प्रायः सर्वे पशुवदाचरन्ति। प्रायस्ते क्रूराः, बधिराः, अन्धाः, काणाः, मूकाः, दरिद्राः, नानाव्याधिपीडिताः, तीव्रकषाययुक्ताः, स्वभावतः पापिष्ठाः, स्वजनविरहिताः, दुर्गन्धिशरीराः, दीर्घकेशाः, भयंकररूपाश्च भवन्ति। तेषामायुर्बलादिह्रासोऽधिकतया प्रवर्तते।

अस्मिन्काले नरकतिर्यग्गत्योरेवागमनम्, मृत्वा च तयोरेव गमनं भवति। अयं काल एकविंशतिसहस्रवर्षप्रमाणो भवति। अन्तिमेषु एकोनपञ्चाशद्दिनेषु प्रलयो भवति। प्रथमं सप्तदिनानि यावत् संवर्तक-नामकः प्रचण्डवायुः प्रवहति, तेन वृक्ष-पर्वतादिनाशो जायते। मनुष्याः तिर्यञ्चश्च महादुःखिता रक्षार्थं क्रन्दन्ति। तदैव द्विसप्ततिसंख्यकयुगलानि गंगासिन्धुनदीतटे तथा विजयार्द्धवन-मध्ये प्रविश्य शरणं लभन्ते। देवाः विद्याधराश्च करुणार्द्रचित्ताः कांश्चिज्जनान् संख्यातप्रमाणान् तत्प्रदेशेषु च स्थापयन्ति। ततश्च मेघाः गम्भीरगर्जनया सह सप्तदिनानि शीतलजलम्, सप्तदिनानि

कन्दमूल, फल एवं मछली आदि का होता है। सभी बिना निजी घर-बार के तथा नंगे ही इधर-उधर घूमते रहते हैं, क्योंकि वस्त्र, घर-मकान, ग्राम व नगर के ढाँचे ध्वस्त हो जाते हैं। प्रायः सभी पशु-तुल्य आचार-व्यवहार करते हैं। वे प्रायः क्रूर, बहरे, अन्धे, काने, गूँगे, दरिद्र, नाना-व्याधियों से पीड़ित, तीव्र कषाय से युक्त, स्वभावतः पापी, स्वजन-रहित, दुर्गन्धित शरीरवाले, लम्बे-लम्बे बालोंवाले और भयंकर रूप वाले होते हैं। उनमें आयु, बल आदि का भी ह्रास अधिक रूप में होता रहता है।

इस काल में नरक व तिर्यञ्च —इन दो गतियों से ही आकर जन्म लेते हैं और मरकर इन्हीं दो गतियों में जाते हैं। इस काल का परिमाण इक्कीस हजार वर्ष का होता है। अन्तिम उनचास दिनों में प्रलय हो जाता है। प्रथम सात दिनों तक संवर्तक नामक प्रचण्ड वायु बहती है, जिसके कारण वृक्ष, पर्वत आदि नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य व तिर्यञ्च अत्यन्त दुःखित होकर रक्षा के लिए चिल्लाते हैं। तभी बहत्तर संख्या वाले युगल गंगा-सिन्धु नदी के तट पर और विजयार्द्ध वन में प्रविष्ट होते हैं और वहाँ शरण लेते हैं। देव और विद्याधर भी करुणा युक्त मन से संख्यात प्रमाण के (अर्थात् गिनती करने लायक, कुछ) लोगों को इन प्रदेशों में स्थापित करते हैं। इसके बाद, सात दिनों तक गम्भीर गर्जना के साथ मेघ शीतल जल की वर्षा करते हैं, फिर सात दिनों तक क्षार (एसिड) जल बरसाते हैं, और फिर सात दिनों तक विष जल (विषतुल्य जल) बरसाते हैं।

क्षारजलम्, सप्तदिनानि च विषजलं वर्षन्ति। ततश्च ते धूमः, धूलिः, वज्रम्, ज्वलन्ती दुष्प्रेक्ष्यज्वाला, इत्येतेषां प्रचण्डवर्षां प्रत्येकैकक्रमेण सप्त दिनानि यावत् कुर्वन्ति। एवं भरतक्षेत्रान्तर्गतस्य आर्यखण्डे चित्रापृथिव्याः उपरितनो वृद्धिंगतो भाग एकयोजनप्रमितो दह्यते। वज्र-महानलबलेन आर्यखण्डस्य वृद्धिंगता भूमिः स्वपूर्ववर्तिस्कन्धरूपं विहाय लोकान्तं यावत् प्रसरति। एवमेकोनपञ्चाशद्दिनानन्तरम् आर्यखण्डः शेषभूमिवत् दर्पणतलवत् स्वच्छतां कालुष्यराहित्यं च प्राप्नोति। तत्रस्थानां जनानां शरीरोत्सेधः उत्कर्षेण एकहस्तप्रमाणम्, आयुष्यं च षोडशवर्षप्रमितं पंचदशवर्षप्रमितं वा भवति।

ततश्च उत्सर्पिणीकालः प्रारब्धो भवति। आषाढपूर्णिमायां युगस्य पूर्णता जायते। श्रावणकृष्णप्रतिपदायां नक्षत्रस्य अभिजित्-नामकस्य चन्द्रेण सह योगे युगारम्भो भवति। अस्मिन् युगे शरीरोत्सेधादिकं क्रमशो वृद्धिं याति। उत्सर्पिणीकालोऽपि अवसर्पिणीकालप्रमाण एव। अस्यापि षड् भागाः क्रमशो भवन्ति— अतिदुःषमा, दुःषमा, दुःषमसुषमा, सुषमदुःषमा, सुषमा, सुषमसुषमा चेति। उत्सर्पिणीकालारम्भे पुष्करमेघाः सप्तदिनानि यावत् सुखकारिजलं वर्षन्ति, क्षीरमेघाः सप्तदिनानि यावत् क्षीरजलं वर्षन्ति, ततश्च अमृतमेघाः सप्तदिनानि यावत् अमृतजलं वर्षन्ति,

इसके बाद, वे मेघ धुआँ, धूलि, वज्र, जलती भयंकर ज्वाला —इनमें से प्रत्येक की सात-सात दिनों तक प्रचण्ड वर्षा करते हैं। इस रीति से भरत क्षेत्र के अन्दरूनी भाग आर्यखण्ड की चित्रा पृथिवी का ऊपरी बढ़ा हुआ एक योजन का भाग जल जाता है। वज्र व प्रचण्ड आग के कारण आर्यखण्ड की बढ़ी हुई भूमि अपने पूर्ववर्ती स्कन्ध रूप को छोड़कर लोकान्त तक फैल जाती है। इस प्रकार, उनचास दिनों के बाद आर्यखण्ड शेष भूमियों की तरह दर्पण-तल की तरह स्वच्छ व कालुष्यरहित हो जाता है। इसमें स्थित व्यक्तियों की शारीरिक ऊँचाई अधिकाधिक एक हाथ की रह जाती है और आयु भी सोलह या पन्द्रह वर्ष की होती है।

इस सब के बाद उत्सर्पिणी काल प्रारम्भ होता है। आषाढ़ पूर्णिमा के दिन युग की समाप्ति होती है। श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन अभिजित् नक्षत्र का चन्द्र के साथ योग होने के साथ नये युग का आरम्भ हो जाता है। इस काल में शारीरिक ऊँचाई आदि की क्रमशः वृद्धि होने लगती है। उत्सर्पिणी काल का प्रमाण भी अवसर्पिणी काल के जितना होता है। इसके भी छः भाग होते हैं, जो इस प्रकार हैं— 1. अतिदुःषमा, 2. दुःषमा, 3. दुःषम-सुषमा, 4. सुषम-दुःषमा, 5. सुषमा, 6. सुषमसुषमा। उत्सर्पिणी काल के प्रारम्भ में पुष्कर मेघ सात दिनों तक सुखदायी जल बरसाते हैं, फिर क्षीर मेघ सात दिनों तक दूध (जैसा) जल बरसाते हैं, इसके बाद अमृतमेघ सात दिनों तक अमृत (जैसा) जल बरसाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप भूमि पर

तत्परिणामतः भूम्यां लता-गुल्मादिकानां समुत्पत्तिः प्रारभ्यते। ततश्च रसमेघाः सप्तदिनानि यावत् दिव्यरसं वर्षन्ति, तेन च सरसत्वमौषधिप्रभृतीनां संजायते। शीतलः सुगन्धो वायुश्च प्रवहति। सुखद-परिस्थितिमिमां निरीक्ष्य मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च गुहातो बहिः निस्सरन्ति। ते नग्नाः पशुवत् वनप्रदेशे फल-मूल-पत्रादिकं खादन्ति। कालस्वभावेन आयुष्यं, तेजः, बुद्धिः, बाहुबलम्, देहोत्सेधः, क्षमाभावः, धृतिभावः इत्यादीनां क्रमशो वृद्धिः प्रारभते। एवमेकविंशतिसहस्रवर्षप्रमाणः 'अतिदुःषमा'-संज्ञकः कालखण्डः पूर्णतां याति।

ततश्च 'दुःषमा'-नामको द्वितीयो भागः प्रारभते। अस्यापि प्रमाणमेकविंशतिसहस्रात्मकं भवति। शरीरोत्सेधो मनुष्याणां हस्तत्रयप्रमितः, आयुष्यं च विंशतिवर्षात्मकं भवति। यदा अस्य कालखण्डस्य समाप्तौ सत्यामेकसहस्रवर्षाणि अवशिष्यन्ते, तदा चतुर्दशकुलकराणामुत्पत्तिर्भवति। अग्निप्राकट्यम्, अन्नपाकक्रिया, विवाहादिविधश्चेत्यादिविषये कुलकरैर्यथोचितमुपदेशो जनेभ्यो दीयते तथा सामाजिकप्रवृत्तिः क्रमेण वर्द्धते। एवं दुःषमाकालोऽपि पूर्णतां याति।

लता, गुल्म आदि की उत्पत्ति प्रारम्भ हो जाती है। इसके बाद रस-मेघ सात दिनों तक दिव्य रस की वर्षा करते हैं, जिससे औषधि आदि में सरसता आने लगती है। शीतल व सुगन्धित वायु बहने लगती है। इस सुखद परिस्थिति को देखकर मनुष्य व तिर्यञ्च गुफाओं से बाहर निकलते हैं। वे सभी नग्न रहते हुए पशुओं की तरह वन-प्रदेशों में फल, मूल, कन्द आदि का भक्षण करते हैं। काल-स्वभाव के कारण, उनमें आयु, तेज, बुद्धि, बाहुबल, देह की ऊँचाई, क्षमाभाव, धैर्य —इत्यादि की क्रमशः वृद्धि होने लगती है। इस प्रकार इक्कीस हजार वर्ष वाला अतिदुःषमा नामक कालखण्ड समाप्त हो जाता है।

इसके बाद 'दुषमा' नामक दूसरा भाग प्रारम्भ होता है। इसका भी प्रमाण इक्कीस हजार वर्षों का होता है। प्रारम्भ में, मनुष्यों की शारीरिक ऊँचाई तीन हाथ की होती है और आयु बीस वर्ष की होती है। जब इस कालखण्ड की समाप्ति में एक हजार वर्ष शेष रहते हैं, तब चौदह कुलकरों की उत्पति होती है। अग्नि का प्रकट होना, अन्न पकाने की क्रिया, विवाह आदि विधियाँ, आदि-आदि विषयों में कुलकर प्रजा को यथोचित उपदेश देते हैं और इस प्रकार सामाजिक प्रवृत्ति में क्रमशः वृद्धि होती है। इस रीति से दुःषमा नामक काल पूर्ण होता है।

तदनन्तरं 'दुःषमा-सुषमा' नामकः कालखण्डस्तृतीयः प्रारभते। अस्य कालस्य प्रमाणम्— द्विचत्वारिंशद्वर्षसहस्रोनमेककोटाकोटीसागरोपमं भवतीति ज्ञेयम्। प्रारम्भे मनुष्याणां शरीरोत्सेधः सप्तहस्तप्रमितः, आयुष्यं च विंशत्यधिकमेकशतवर्षात्मकं भवति। प्रायो नराः पञ्चवर्णशरीरधारिणः, विनयलज्जादिसम्पन्नाः, सन्तोषवृत्तयश्च भवन्ति। अस्मिन्नेव काले चतुर्विंशतितीर्थंकराः, तथाऽन्ये च शलाकापुरुषा जायन्ते। विदेहक्षेत्र-सदृशी स्थितिः प्रायशो दरीदृश्यते। एतत्कालावसानं यावत् मनुष्याणामायुरेकपूर्वकोटिप्रमितम्, शरीरोत्सेधश्च पञ्च-विंशत्यधिक-पञ्चशतधनुष्यप्रमितो भवति।

अन्ततश्चतुर्थः 'सुषमा-दुःषमा'-नामकश्चतुर्थः कालो द्विकोटाकोटिसागरोपमप्रमाण आरभते। अस्मिन् काले हैमवत-हैरण्यवतक्षेत्रसदृशी जघन्यभोगभूमिस्थितिः समुत्पद्यते। अन्ततो मनुष्याणामायुष्यमेकपल्यप्रमितं भवति। शरीरोत्सेधश्च मनुष्याणामेकक्रोशप्रमितो भवति।

एतत्कालावसाने 'सुषमा' नामकः पञ्चमः कालखण्ड आरभते। अयं पञ्चमः कालः त्रिकोटाकोटीसागरोपमः। हरिरम्यकवर्षक्षेत्रवत् मध्यमभोगभूमिसदृशी स्थितिरत्र। मनुष्याः क्रोशद्वयप्रमाणोत्सेधवन्तः, पूर्णचन्द्रसदृशाननाः, द्विपल्यप्रमाणायुषः, विनयशीलसम्पन्नाश्च भवन्ति।

इसके बाद, 'दुष्षमा-सुषमा' नामक तीसरा काल-खण्ड प्रारम्भ होता है। इस काल का प्रमाण बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ा-कोड़ी सागरोपम होता है— ऐसा जानना चाहिए। प्रारम्भ में मनुष्यों की शारीरिक ऊँचाई सात हाथ, तथा आयु एक सौ बीस वर्ष की होती है। प्रायः मनुष्यों का शरीर पाँच वर्णों (में से किसी एक वर्ण) का होता है। वे विनय व लज्जा आदि से युक्त तथा सन्तोष वृत्ति के होते हैं। इसी समय में चौबीस तीर्थंकर तथा अन्य 'शलाका पुरुषों' की उत्पत्ति होती है। प्रायः विदेह क्षेत्र जैसी स्थिति दृष्टिगोचर होती है। इस काल के अन्त तक मनुष्यों की आयु एक पूर्वकोटि जितनी होती है और शरीर की ऊँचाई पाँच सौ पच्चीस धनुष जितनी होती है।

अन्त में सुषमा-दुःषमा नामक चतुर्थ काल प्रारम्भ होता है, जिसका काल दो कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण होता है। इस (चतुर्थ) काल में हैमवत व हैरण्यवत वर्ष क्षेत्रों की जैसी जघन्य भोग-भूमि की स्थिति होती है। अन्त में मनुष्यों की एक पल्य प्रमाण आयु होती है और शारीरिक ऊँचाई एक कोस जितनी होती है।

इस काल की समाप्ति पर 'सुषमा' नामक पाँचवाँ कालखण्ड प्रारम्भ होता है। यह पंचम काल तीन कोड़ा-कोड़ी सागरोपम प्रमाण वाला होता है। इसमें 'हरिवर्ष व रम्यक वर्ष क्षेत्रों की जैसी मध्यम भोग-भूमि

एतत्कालावसाने षष्ठः कालः 'सुषमासुषमा'-नामकः प्रारभते। अत्र पृथ्वी देवोत्तरकुरुवद् उत्तमभोगभूमिरूपेण प्रथिता भवति। कालावसाने मनुष्याणामायुष्यं पल्यत्रयप्रमितम्, उत्सेधश्च क्रोशत्रयप्रमितो भवति। प्रायो मनुष्याः उदीयमानसूर्यसमानोज्ज्वलशरीरयुक्ता भवन्ति। षष्ठस्यास्य कालखण्डस्य प्रमाणं चतुःकोटाकोटी-सागरोपमं भवति। अवसर्पिण्युत्सर्पिण्योः संयोगेनैकः कल्पकालः उच्यते। एतयोरुत्सर्पिणी-अवसर्पिणीकालयोः *(समयावलियासु णिरवसेसासु)* **समस्त-समयावलिकासु, समय-आवलिकयोः समाहारः— समयावलिकाः, तासु, 'परिभ्रान्तः' इत्यर्थः।**

उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी-कालयोस्तथा तदीयकालखण्डानां च विषये विस्तरतस्तु तिलोयपण्णत्ति-प्रभृतिग्रन्थान्तरेभ्यो विज्ञेयम्। एवं निरन्तरप्रवर्तमानयोः उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी-कालयोः अनेके खण्डाः, प्रत्येकखण्डे अनेके संवत्सराः, प्रत्येकसंवत्सरे अनेके मासाः, प्रत्येकमासे च अनेकदिनानि भवन्ति। प्रत्येकदिने चतुर्विंशतिसंख्यका होरा भवन्ति। प्रत्येकहोरा सार्द्धद्वय-घटिकाप्रमिता भवति। प्रत्येकघटिका विंशतिकलाप्रमिता भवति। प्रत्येककला त्रिंशत्काष्ठाप्रमिता

की स्थिति हुआ करती है। मनुष्यों की शारीरिक ऊँचाई दो कोस प्रमाण वाली होती है। सभी मनुष्य पूर्णचन्द्र के जैसे मुख वाले, दो पल्य प्रमाण आयु वाले तथा विनय व शील से सम्पन्न होते हैं।

इस काल के व्यतीत होने पर सुषमा-सुषमा नामक छठा काल प्रारम्भ होता है। इसमें पृथ्वी देवकुरु व उत्तरकुरु की तरह उत्तमभोगभूमि के रूप में सुस्थित होती है। इस काल के अन्त तक, मनुष्यों की आयु तीन पल्य की तथा शारीरिक ऊँचाई तीन कोस जितनी होती है। प्रायः मनुष्य उदीयमान सूर्य के समान उज्ज्वल शरीर से युक्त होते हैं। इस छठे कालखण्ड का प्रमाण चार कोड़ा-कोड़ी सागरोपम का होता है। एक अवसर्पिणी और एक उत्सर्पिणी काल को मिलाकर एक कल्पकाल कहा जाता है। इन उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल की **(समयावलिकासु निरवशेषासु)** समस्त समय-आवलिकाओं में, 'समयावलिका' का अर्थ है— समय और आवलिका —इनका समाहार (अर्थात् समस्त समय और समस्त आवलिका), उनमें (जीव ने) 'परिभ्रमण' किया है— यह अर्थ है।

उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी एवं इनके छः-छः खण्डों के विषय में विस्तार से तिलोयपण्णत्ति आदि अन्य ग्रन्थों से जाना जा सकता है। इस प्रकार, निरन्तर प्रवर्तित होते रहने वाले उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल में अनेक खण्ड, प्रत्येक खण्ड में अनेक वर्ष, प्रत्येक वर्ष में अनेक महीने, प्रत्येक महीने में अनेक दिन होते हैं, प्रत्येक दिन में चौबीस होरा (घण्टे) होते हैं, प्रत्येक होरा ढाई घड़ी प्रमाण होता है। प्रत्येक घड़ी बीस कला प्रमाण होती है। प्रत्येक कला तीस काष्ठा प्रमाण की होती है। प्रत्येक काष्ठा पन्द्रह निमिष प्रमाण होती

भवति। प्रत्येककाष्ठा पञ्चदशनिमिषप्रमाणा भवति। प्रत्येकनिमिषोऽसंख्यातावलिकाप्रमितो भवति। सा चावलिका असंख्यातसमयानां भवति। समयस्तु सूक्ष्मतमः निर्विभागः कालभागः। एकस्माद् आकाशप्रदेशाद् आकाशस्यान्यप्रदेशं यावद् पुद्गल-परमाणोर्यद् मन्दगमनम्, तत्र यः कालो व्यत्येति, स समयो विज्ञेयः।

उक्तं च तिलोयपण्णत्तौ— *(4/288)*—

परमाणुस्स णियट्ठिदगयणपदेसस्स दिक्कमणमेत्तो।
जो कालो अविभागी होदि पुढं समयणामा सो॥

तद्गमनं मन्दगत्या तीव्रगत्या वा सम्भवति। तीव्रगत्या तु एकपुद्गलपरमाणुः चतुर्दशरज्जु-प्रमाणप्रदेशपर्यन्तं गन्तुं प्रभवति। एवं मन्दगत्या वा तीव्रगत्या वा अतिक्रमणं भवेत्, तदीयकाल एकसमयमात्रमेवेति विज्ञेयम्। समय आवलिका चैतौ व्यवहारकालस्य भेदौ। समयः, निमेषः, काष्ठा, कला, घटिका, अहोरात्रम्, मासः, ऋतुः, अयनम्, वर्षः —इत्येतान्यपि व्यवहारकालस्य भेदाः —इति पञ्चास्तिकाये *(गाथा-25)* **प्रोक्तम्—**

है। प्रत्येक निमिष असंख्यात आवलिका प्रमाण होती है। एक आवलिका में असंख्यात 'समय' होते हैं। 'समय' एक ऐसा काल-भाग है जिसका विभाग नहीं हो सकता और वह सर्वाधिक सूक्ष्म होता है। एक आकाश-प्रदेश से अन्य आकाश-प्रदेश तक पुद्गल-परमाणु की जो मन्द गति होती है, उसमें जो काल लगता है, उसे 'समय' जानना चाहिए।

तिलोयपण्णत्ति (4/288) में कहा भी गया है— "पुद्गल-परमाणु का निकटस्थ आकाश-प्रदेश के अतिक्रमण करने में जो अविभागी काल व्यतीत होता है, वही 'समय' नाम से प्रसिद्ध है।"

पुद्गल-परमाणु की उक्त गति मन्दगति से भी सम्भव है और तीव्रगति से भी। एक पुद्गल-परमाणु तीव्र गति से तो चौदह राजू प्रमाण प्रदेश तक जा सकता है। इस प्रकार, मन्दगति से या तीव्र गति से, एक प्रदेश से अन्य आकाश-प्रदेश में अतिक्रमण करने पर जो काल होगा, वह एक 'समय' मात्र ही होगा —यह समझें। समय व आवलिका —ये दोनों व्यवहार काल के भेद हैं। समय, निमेष, काष्ठा, कला, घटिका (घड़ी), दिन-रात, महीना, ऋतु, अयन, वर्ष —ये भी व्यवहारकाल के ही भेद हैं —ऐसा पञ्चास्तिकाय (गाथा-25) में कहा गया है—

समओ णिमिसो कट्ठा कला य णाली तदो दिवारत्ती।
मासोदुअयणसंवच्छरोत्ति कालो परायत्तो॥

निमेषादिस्वरूपविवरणं तत्रैव तत्त्वप्रदीपिकाटीकायां स्पष्टीकृतं वर्तते, तत एव ज्ञेयं खलु जिज्ञासुभिः। एवं निजस्वात्मानुभूत्यभावेन, अयं संसारी जीवः *(बहुसो)* **बहुवारम्, असंख्यवारमनन्तवारं वेति,** *(जादो मुदो य)* **जातः, मृतश्च। अयं भावः— जन्म-मरणपरम्पराया अन्तो नाभवत्। स्वकर्मफलानुसारं विविधगतिषु बहुशो जन्म लब्धम्, तत्रापि नवीनकर्मबन्धेन च तस्य नवीनगतिआयुष्यादिकं बद्ध्यते, एवं जन्ममरणपरम्परा प्रवर्तते एव।** *(कालसंसारे परिभमिदो)* **कालपरिवर्तनरूपे संसारे परिभ्रान्तः। परिभ्रमणमेव कृतवान्, नाद्यावधि मोक्षप्राप्ति-अवसरो लब्धः इति भावः।**

अत्रेदं ज्ञेयम्— कालपरिवर्तनकालप्रमाणं कियद् भवति —इति विषये सर्वार्थसिद्धौ *(2/10)* **स्पष्टीकृतम् —उत्सर्पिणीकालस्य प्रथमसमये उत्पन्नः कश्चिज्जीवः स्वायुष्यावसाने मृतः। स एव जीवः पुनर्द्वितीयाया उत्सर्पिण्या द्वितीयसमये जातः, स्वायुष्यावसाने मरणं प्राप्तः।**

"समय, निमेष, काष्ठा, कला, नाड़ी, दिन-रात, मास, ऋतु, अयन और वर्ष —ये सब व्यवहार काल हैं। चूँकि यह व्यवहार काल सूर्योदय या सूर्यास्त आदि पर-पदार्थों के निमित्त से अनुभव में आता है, अतः पराधीन है।"

निमेष आदि के स्वरूप का विवरण वहीं (पंचास्तिकाय की) तत्त्वप्रदीपिका टीका में स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार, निज स्वात्मानुभूति के अभाव में, यह संसारी जीव **(बहुशः)** बहुत बार, असंख्य या अनन्त बार। **(जातो मृतश्च)** उत्पन्न हुआ और मरण को प्राप्त हुआ। तात्पर्य है— जन्म-मरण की परम्परा का अन्त नहीं हुआ। अपने कर्मों के फल के अनुसार विविध गतियों में जन्म मिला, वहाँ भी नवीन कर्म बाँधकर नवीन गति की आयु बाँधते गये, इस तरह जन्म-मरण की परम्परा प्रवर्तमान ही रही। **(कालसंसारे परिभ्रान्तः)** काल-परिवर्तन रूप संसार में घूमता रहा, भ्रमण ही करता रहा, आज तक भी मोक्ष-प्राप्ति का अवसर प्राप्त नहीं हो सका —यह तात्पर्य है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है— 'काल-परिवर्तन' के समय का परिमाण कितना होता है —इस विषय में सर्वार्थसिद्धि (2/10) में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है— उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ कोई जीव आयु पूर्ण कर मर गया। वही जीव पुनः दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण कर मर गया।

पुनः स एव जीवस्तृतीय-उत्सर्पिण्यास्तृतीयसमये उत्पद्य स्वायुष्यावसाने मृतः। एवमनेन क्रमेण उत्सर्पिणी परिसमाप्यते, तथैव अवसर्पिणी च। एवं जन्ममरणयोः नैरन्तर्यं समयवृद्धिक्रमेण ग्राह्यम्। एवं व्यतीतः समग्रकालः 'कालपरिवर्तन'-रूपेण बोध्यः।

गाथायास्तात्पर्यमिदं यत् निजात्मस्वरूप-ज्ञान-तत्प्रतीति-तदीयरतिअभावात् अनादि-कालादेव संसारे परिभ्रमणं जीवस्य निरन्तरं प्रवर्तते। तन्निरोधाय हे मनीषिन्! शुद्धात्मभावनां भावय, शुद्धात्मनि च रतिं विधेहि।

सम्प्रति शास्त्रकारा भवपरिवर्तनसंसारस्य स्वरूपं प्रतिपादयन्ति—

णिरयाउजहण्णादिसु, जावदु उपरित्तणा दु गेवेज्जा।
मिच्छत्तसंसिदेण दु, बहुसो वि भवट्ठिदी भमिदो ॥२८॥

छाया— निरयायुर्जघन्यादिषु यावत् तु उपरितनान् तु ग्रैवेयकान्।
मिथ्यात्वसंश्रितेन तु बहुशः अपि भवस्थितौ भ्रान्तम्॥

पुनः वही जीव तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ और आयु पूर्ण कर मृत्यु को प्राप्त हुआ। इसी रीति से उस जीव ने क्रम से उत्सर्पिणी समाप्त की और इसी प्रकार अवसर्पिणी भी। इस प्रकार जन्म-मरण की भी निरन्तरता लेनी चाहिए। इस प्रकार यह समग्र काल जो होता है, वह 'काल-परिवर्तन' रूप से जानना चाहिए।

गाथा का तात्पर्य यह है कि निजात्मस्वरूप के ज्ञान, उसकी प्रतीति और उसमें रति न होने से अनादि काल से ही संसार में निरन्तर परिभ्रमण जीव का होता रहता है। उसको रोकने हेतु हे मनीषी! शुद्धात्म-भावना का बार-बार चिन्तन करो और शुद्धात्मा में रति करो।

अब शास्त्रकार 'भवपरिवर्तन संसार' के स्वरूप का प्रतिपादन कर रहे हैं—

(28)

(गाथा-अर्थ—) जघन्य आयु वाले नरक से लेकर सबसे ऊपर के ग्रैवेयक (देवलोक) तक मिथ्यात्व-युक्त जीव ने वस्तुतः अनेकों बार भव-स्थिति (भिन्न-भिन्न आयु की गतियों) में भ्रमण (ही) किया है। (इसे भवपरिवर्तन संसार कहा जाता है।)

(सर्वोदया टीका—) *(णिरयाउ जहण्णादिसु)* **निरयः नरकः, तत्र यदायुः जघन्यं भवति, तदादि कृत्वा इत्यर्थः। नरके उपपद्यमानानां सामान्यतो जघन्यायुः दशसहस्रवर्षपरिमितं निरूपितम्।** *(उपरित्तणा दु गेवेज्जा जावदु)* **ग्रैवेयकेषु यदुपरितनलोकः, तत्पर्यन्तम्। ग्रैवेयकदेवाः कल्पातीताः वैमानिकदेवाः, यतस्तत्र इन्द्रादिविभागो नास्ति। ग्रैवेयकानां संख्या नव भवति। प्रथमग्रैवेयके उत्कृष्टायुः त्रयोविंशतिसागरप्रमाणम्, नवमग्रैवेयके उपरितने तु एकत्रिंशत्सागरप्रमाणमायुः उत्कृष्टं भवति। अयम्भावः— नरकेषु जघन्यमुत्कृष्टं चायुर्भवति। सामान्यतो जघन्यायुर्दशसहस्रवर्षप्रमितम्, उत्कृष्टं तु त्रयस्त्रिंशत्सागरप्रमितं भवति।**

उक्तं च स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे *(गाथा-165)*—

देवाण णारयाणं सायरसंखा हवंति तेत्तीसा।
उक्किट्ठं च जहण्णं वासाणं दस सहस्साणि।।

एवं जघन्योत्कृष्टायुष्यवत्सु नरकेषु अशुभकर्मवशाद् जीव उपपन्नः, तथैव प्रशस्तकर्मवशाद् वैमानिकदेवलोकेषु तदुपरि च ग्रैवेयकलोकेषु च जघन्योत्कृष्टायुष्ययुक्तं जीवनं लभते। इदं सर्वं शुभाशुभजीवनं संसारपरिभ्रमणमेव। संसारभ्रमणान्मुक्तेः सम्भावना तत्र कथं न?

(सर्वोदया टीका—) (निरयायुर्जघन्यादिषु) निरय का अर्थ है— नरक। उससे सम्बद्ध जो जघन्य आयु, उससे प्रारम्भ करके, यह अर्थ है। नरक में उत्पन्न होने वाले जीवों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष मानी गई है। **(उपरितनान् तु ग्रैवेयकान् यावत्)** ग्रैवेयकों में जो सर्वोपरि लोक है, वहाँ तक। ग्रैवेयक देव कल्पातीत वैमानिक देव हैं, वे कल्पातीत इसलिए हैं क्योंकि वहाँ इन्द्रादि (सामाजिक) विभाग नहीं है। ग्रैवेयक देवों की संख्या नौ है। प्रथम ग्रैवेयक में उत्कृष्ट आयु तेईस सागरोपम होती है। तात्पर्य यह है— नरकों में जघन्य व उत्कृष्ट आयु होती है। सामान्यतया जघन्य आयु है— दस हजार वर्ष, और उत्कृष्ट आयु है— तैंतीस सागरोपम।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-165) में कहा भी गया है— "देवों व नारकों की उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागरोपम काल मानी गई है और दस हजार वर्ष उनकी जघन्य आयु होती है।"

इस प्रकार, जघन्य व उत्कृष्ट आयु वाले नरकों में जीव अपने अशुभ कर्मों के कारण उत्पन्न होता है, उसी प्रकार शुभ कर्मों के कारण वैमानिक देवलोक में और उसमें ऊपर के ग्रैवेयक देवों के लोक में भी जघन्य या उत्कृष्ट आयु वाला जीवन जीता है। यह सारा शुभ या अशुभ जीवन संसार-भ्रमण ही है। **(शंका—)** इस संसार-भ्रमण से मुक्ति की संभावना क्यों नहीं है?

अत्रोच्यते— *(मिच्छत्तसंसिदेण दु)* **मिथ्यात्वयुक्तेन सता जीवेन नूनं तद्भ्रमणं कृतम्, सम्यक्त्वाभावे मोक्षप्राप्तेः सम्भावना कथमपि न भवति। 'तु' इतिपदं पादपूरकम्, यद्वा मुक्तिप्रतिकूलत्वे हेतुं दर्शयति। सम्यक्त्वेन सह भवान्तरगतिरभविष्यच्चेत्, तदा क्वचित् परिभ्रमणस्य अवसानमप्यभविष्यत्, किन्तु तद्भ्रमणं मिथ्यात्वयुक्तस्य जीवस्य, अतो नान्तो भ्रमणस्याद्यावधि यावदभूदिति तात्पर्यम्।** *(बहुसो वि)* **बहुवारमपि,** *(भवट्ठिदी)* **भवस्थितिरूपेण निरन्तरं प्रवर्तमानो जन्ममृत्युक्रमः, तत्र** *(भमिदो)* **भ्रमणं कृतम्, मिथ्यात्वयुक्तेन** *(जीवेन)* **इति पूर्वेण अन्वयः।**

अत्रेदं जिज्ञासितं सम्भवति यदाचार्येणात्र नरकादारभ्य ग्रैवेयकलोकपर्यन्तमेव भवभ्रमणं गृहीतमस्ति। कथं न तदुपरि सर्वार्थसिद्धिविमानं यावत् भ्रमणं गृहीतं यत्रोत्कृष्टमायुः त्रय-स्त्रिंशत्सागरोपमप्रमितं स्वीक्रियते। सर्वार्थसिद्धिविमानपर्यन्तमपि जीवाः संसारिण एवेति। अत्र समाधीयते— मिथ्यात्वसंश्रितस्य जीवस्यात्र संसारभ्रमणं निर्दिश्यते। मिथ्यादृष्टयो जीवा ग्रैवेयकपर्यन्तमेव गन्तुं प्रभवन्ति, न ततः परमनुत्तरदेवेषु सर्वार्थसिद्धिदेवलोके च। ग्रैवेयकादुपरि सम्यग्दृष्टीनामेव गतिरिति सिद्धान्ते स्वीकृतमस्ति।

समाधान यह है— **(मिथ्यात्वसंश्रितेन तु)** मिथ्यात्व से युक्त होते हुए जीव ने वह संसार-भ्रमण किया है, सम्यक्त्व के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति की संभावना नहीं हो सकती। गाथा में 'तु' शब्द पादपूर्ति के लिए है अथवा 'मिथ्यात्व' मुक्ति के प्रतिकूल हेतु को दिखाता है। यदि सम्यक्त्व के साथ अन्य भवों में भ्रमण हुआ होता तो शायद कभी इस परिभ्रमण का अन्त हुआ होता, किन्तु यह भ्रमण मिथ्यात्वयुक्त जीव का है, इसलिए भवभ्रमण का अन्त अभी तक नहीं हो पाया है— यह भाव है। **(बहुशोऽपि)** और बहुत बार, **(भवस्थितौ)** भवस्थिति रूप में (अर्थात् एक ही गति में बार-बार जन्म लेते हुए) निरन्तर क्रमिक जन्म-मृत्यु के साथ **(भ्रान्तम्)** भ्रमण किया गया, मिथ्यात्वयुक्त (जीव) द्वारा, इस प्रकार पूर्वोक्त पद के साथ अन्वय (सम्बन्ध) समझना चाहिए।

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि आचार्य ने यहाँ नरक से लेकर ग्रैवेयक लोक तक ही भवभ्रमण निरूपित किया है, उसके ऊपर सर्वार्थसिद्धि विमान तक के भ्रमण को क्यों नहीं लिया जहाँ उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागरोपम प्रमाण मानी जाती है? आखिर सर्वार्थसिद्धि विमान तक भी तो जीव संसारी ही है। उक्त जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार है— यहाँ जो संसार-भ्रमण बताया गया है, वह मिथ्यात्वयुक्त जीव का है। मिथ्यादृष्टि जीव ग्रैवेयक देवलोक तक ही जा पाते हैं, उससे ऊपर अनुत्तर देवों तथा सर्वार्थसिद्धि लोक में नहीं जा पाते। ग्रैवेयकों से ऊपर सम्यग्दृष्टि जीवों का ही गमन होता है— ऐसा सिद्धान्त ग्रन्थों में बताया गया है।

उक्तं च मूलाचारे *(गाथा-1177-1178)*—

जा उवरिमगेवेज्जं उववादो अभवियाण उक्कस्सो।
उक्कट्ठेण तवेण दु णियमा णिग्गंथलिंगेण॥

तत्तो परं तु णियमा तवदंसणणाणचरणजुत्ताणं।
णिग्गंथाणुववादो जावदु सव्वट्ठसिद्धित्ति॥

सम्यग्दर्शनस्य प्राप्त्यभावे कथंचित्कदाचिच्छुभपरिणामवशाद् ग्रैवेयकपर्यन्तं जन्म। न च तत्र सम्यक्त्वप्राप्तिः सर्वेषाम्। वस्तुतो हि मिथ्यादृष्टिरभव्य एव तत्र गच्छतीति नियमो न, सम्यग्दृष्टिरपि तत्र गच्छति, तथापि मिथ्यादृष्टेः प्रमुखतां मनसि निर्धार्य तद्ग्रहणं कृतम्। काललब्ध्यादिनिमित्त-वशादेव अनादिमिथ्यादृष्टिजीवस्य मिथ्यात्वकालुष्योपशमः संभवति। किं च अर्द्धपुद्गल-परावर्तनकाले अवशिष्टे सत्येव प्रथमसम्यक्त्वग्रहणयोग्यता सम्भवति, नाधिककालेऽवशिष्टे सति। तथैव बध्यमानकर्मणां स्थितिः अन्तःकोटाकोटिसागरप्रमाणा तिष्ठति, तथा विशुद्धपरिणामवशाद् सत्तास्थितकर्मस्थितिः संख्यातसहस्रवर्षोना अन्तःकोटाकोटिसागरप्रमाणा भवति, तदा काललब्धि-

---

मूलाचार (गाथा-1177-78) में कहा भी गया है—

"अभव्य जीवों का उत्कृष्ट जन्म निश्चित ही निर्ग्रन्थ लिङ्ग धारण कर किये गये उत्कृष्ट तप से उपरिम ग्रैवेयक तक होता है।"

"इसके आगे तो नियम से दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप से युक्त निर्ग्रन्थों का उपपाद (जन्म) सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त होता है।"

सम्यग्दर्शन न होने पर भी किसी तरह कभी शुभ परिणामों के कारण ग्रैवेयक तक जन्म हो सकता है। सम्यक्त्व की प्राप्ति वहाँ सभी को नहीं होती। वस्तुतः मिथ्यादृष्टि अभव्य जीव ही वहाँ जाते हैं— ऐसा कोई नियम नहीं है, (क्योंकि) सम्यग्दृष्टि भी वहाँ जाते हैं। फिर भी मिथ्यादृष्टि की प्रधानता को ध्यान में रखकर वैसा ग्रहण किया गया है। काल-लब्धि आदि निमित्त होने पर ही अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यात्व रूपी कालुष्य का उपशम हो पाता है। इसके अलावा, अर्धपुद्गलपरावर्तन काल के अवशिष्ट रहने पर ही प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण की योग्यता हो पाती है, उससे अधिक काल के अवशिष्ट रहने पर नहीं होती। इसी प्रकार, जब बँधे हुए कर्मों की स्थिति अन्तःकोटाकोटि सागर प्रमाण तक रह जाती है, तब विशुद्ध परिणामों के कारण, सत्ता में रहे कर्मों की स्थिति संख्यात हजार वर्ष कम अन्तःकोटाकोटिसागर प्रमाण रह

-मधिगतो जीवः प्रथमसम्यक्त्वप्राप्तियोग्यो भवति —इति सर्वार्थसिद्धिग्रन्थे *(2/3)* प्रतिपादितमस्ति। एतस्याः काललब्धेरेव निरूपणं क्षयोपशमलब्धिः, विशुद्धिलब्धिः, देशनालब्धिः, प्रायोग्यलब्धिः —इति चतुर्भिः प्रकारैः शास्त्रेषु कृतमस्ति। कालादिलब्धेरनन्तरं करणलब्धिरपि भवत्येव, तां विना कथमपि सम्यक्त्वप्राप्तिर्न सुकरा। निजशुद्धात्मपरिणामविशेषरूपा निर्मलभावनैव करणलब्धिः, यद्वा दर्शनमोहनीयस्य चारित्रमोहनीयस्य च क्षयोपशमो यः, तद्रूपा करणलब्धिः।

किं नाम मिथ्यात्वम्? उच्यते— अतत्त्वश्रद्धानं तत्त्व-अश्रद्धानं वा मिथ्यात्वं मिथ्यादर्शना-परपर्यायम्। यद्वा भगवदर्हत्परमेश्वरप्रतिपादितमार्गप्रतिकूलमार्गे मार्गाभासे वा यत् श्रद्धानं तन्मिथ्यादर्शनम्। अथवा, आभ्यन्तरे वीतरागनिजात्मतत्त्वानुभूतिरुचिविषये विपरीताभिनिवेश-जनकम्, बहिर्विषये तु परकीयशुद्धात्मतत्त्वप्रभृतिसमस्तद्रव्येषु विपरीताभिनेवेशोत्पादकभावरूपं मिथ्यात्वमिति ज्ञेयम्। योऽतत्त्वेऽपि तत्त्वश्रद्धां कुरुते, कुदेवेऽपि देवबुद्धिं, कुधर्मेऽपि धर्मबुद्धिं, तथा कुगुरावपि गुरुबुद्धिं विदधाति, सद्देवे सच्छास्त्रे, सन्मार्गे च विपरीतश्रद्धां, द्वेषभावं वा करोति, सोऽपि मिथ्यादृष्टिः।

जाती है, तभी काललब्धि को प्राप्त हुआ जीव प्रथम सम्यक्त्व की प्राप्ति के योग्य होता है— ऐसा सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ (2/3) में प्रतिपादित किया गया है। इसी काललब्धि को क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि व प्रायोग्यलब्धि —इन चार प्रकारों से शास्त्रों में निरूपित किया गया है। कालादि लब्धि के बाद, करणलब्धि भी अपेक्षित होती है, उसके बिना सम्यक्त्व प्राप्त होना किसी भी तरह सम्भव नहीं होता। निज शुद्धात्म-परिणाम विशेष रूप निर्मल भावना ही करणलब्धि है, या दर्शनमोहनीय व चारित्रमोहनीय का जो क्षयोपशम विशेष है, वही करणलब्धि है।

मिथ्यात्व क्या है? बता रहे हैं— अतत्त्व पर श्रद्धान या तत्त्व पर श्रद्धान न होना ही मिथ्यात्व है जिसका अन्य पर्याय 'मिथ्यादर्शन' है। अथवा भगवन्त अर्हंत-परमेश्वर द्वारा प्रतिपादित मार्ग से विपरीत मार्ग या मार्गाभास (नकली मार्ग) में जो श्रद्धान होना है, वह मिथ्यादर्शन है। अथवा अन्तःकरण में वीतराग निजात्म तत्त्व की अनुभूति व रुचि में विपरीत अभिनिवेशों (आग्रह) का जो जनक है, और बाह्य विषयों — परकीय शुद्धात्मतत्त्व आदि समस्त द्रव्यों में विपरीत अभिनिवेश का जो उत्पादक है, उसे मिथ्यात्व जानना। मिथ्यादृष्टि वह है जो अतत्त्व पर भी तत्त्व रूप में श्रद्धा करता है, कुदेव में भी देवबुद्धि, कुधर्म में भी धर्मबुद्धि तथा कुगुरु में भी सुगुरु-बुद्धि रखता है, अथवा जिसकी सद्गुरु, सद्देव, सत् शास्त्र व सन्मार्ग में विपरीत-श्रद्धा या द्वेष भाव है, वह मिथ्यादृष्टि है।

उक्तं च स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे *(गाथा-318)*—

दोससहियं पि देवं जीवहिंसाइसंजुदं धम्मं।
गंथासत्तं च गुरुं जो मण्णदि सो हु कुद्दिट्ठी॥

अमितगति-श्रावकाचारग्रन्थे *(2/3)* **च—**

अतत्त्वमपि पश्यन्ति तत्त्वं मिथ्यात्वमोहिताः।
मन्यन्ते तृषितास्तोयं मृगा हि मृगतृष्णिकाम्।।

एतेन मिथ्यात्वेन युक्तत्वात् जीवः चिरं भवपरिवर्तनमेव कुर्वन् परिभ्रमति —इति भावः। भवपरिवर्तनस्य स्वरूपं विव्रियते— नरकगतौ सर्वजघन्यमायुष्यं दशसहस्रवर्षप्रमितं भवति। तत्र जीवः तेनायुष्येण (सर्वजघन्येन) उत्पद्यते, स्वकीयायुष्यावसाने म्रियते। एवं दशसहस्रवर्षेषु यावन्तः समयाः भवन्ति, तावतो वारान् स नरकगतौ समुत्पद्यते, तथा म्रियते च। पुनः एकैक समयाधिक्य-

---

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-318) में कहा भी है—

"दोषयुक्त को भी देव, जीव-हिंसादि सहित को धर्म, तथा परिग्रह-आसक्त को गुरु रूप में जो मानता है, वह 'कुदृष्टि' है।"

अमितगति-कृत श्रावकाचार ग्रन्थ (2/3) में भी कहा गया है—

"मिथ्यात्व से मूढ़ दृष्टि वाले जीव अतत्त्व को भी तत्त्व रूप में देखते हैं। उनकी मान्यता उसी प्रकार है जैसे प्यासे मृग (अज्ञान या भ्रम के कारण) मृगतृष्णिका के रूप में जल देखते हैं।"

इस मिथ्यात्व से युक्त होने के कारण जीव चिरकाल तक भव-परिवर्तन करता हुआ संसार-भ्रमण करता ही रहता है —यह भाव है। भव-परिवर्तन के स्वरूप को स्पष्ट कर रहे हैं— नरकगति में सर्वाधिक जघन्य आयु दस हजार वर्ष की होती है। वहाँ कोई जीव उस जघन्यतम आयु को लेकर उत्पन्न होता है और अपनी आयु पूर्ण कर मरता है। इस प्रकार, दस हजार वर्ष में जितने 'समय' (सूक्ष्मतम काल) होते हैं, उतने बार वह नरक गति में उत्पन्न होता है और मरता भी है। फिर, उस (जघन्य आयु) में एक-एक समय की

वदायुष्यं बद्ध्वा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापयति सः। तदनन्तरं ततः प्रच्युत्य तिर्यग्गतौ अन्तर्मुहूर्तायुर्बद्ध्वा समुत्पद्यते। पूर्वोक्तेनैव क्रमेण त्रीणि पल्योपमानि तेन परिसमाप्यन्ते। एवं मनुष्यगतावपि। देवगतौ च नारकवदेव जघन्यमायुरादौ बद्ध्वा दशवर्षसहस्रवर्षेषु यावन्तः समयाः, तावतो वारान् तत्र स जायते, म्रियते च, पुनः एकैकसमयवृद्ध्या एकत्रिंशत्सागरोपमाणि परिसमापयति।

अत्रेदं ज्ञेयम्— नरकगतौ प्रारम्भे जघन्यायुष्यम्, ततश्च एकैकसमयाधिक्येन उत्कृष्टायुष्यं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमं यावत् जन्ममरणपरम्परा या पूर्वमुक्ता, तत्र नरकगतौ निरन्तरजन्मपरम्परायाः शास्त्रेषु नियमविशेषोऽस्ति, तमनुल्लंघ्यैव सा भवतीति बोध्यम्। यथा— नरके मृत्वा पुनर्नरके एव गमनं न सम्भवति, मनुष्येषु तिर्यक्षु वा जन्म गृह्णाति। अतः पुनर्नरकागमनं तिर्यक्षु मनुष्येषु वा जन्म गृहीत्वा, तत्र मरणं च प्राप्यैव सम्भवति। अनया रीत्याऽपि चेज्जन्म, तर्हि प्रथमनरके उत्कर्षेण चतुर्विंशतिमुहूर्तमन्तरं विधाय, अष्टवारमेव निरन्तरजन्म सम्भवति, नाधिकवारम्। एवं द्वितीयनरके

वृद्धि वाली आयु बाँधकर, (क्रम से अन्त में) तैंतीस सागर की (उत्कृष्ट) आयु (तक के जन्म-मरण के क्रम) को सम्पन्न करता है। इसके बाद, वह वहाँ से निकलकर तिर्यंच गति में अन्तर्मुहूर्त की (जघन्यतम) आयु बाँधकर उत्पन्न होता है। पूर्वोक्त क्रम के अनुरूप ही वह तीन पल्य की (उत्कृष्ट) आयु को पूर्ण करता है। इसी प्रकार, मनुष्य-गति में भी (जन्म-मरण करता है)। देवगति में भी नरकगति की तरह ही, प्रारम्भ में जघन्य आयु बाँधकर दस हजार वर्ष में जितने 'समय' होते हैं, उतने बार वहाँ वह उत्पत्ति व मरण करता है। फिर एक-एक समय की वृद्धि करते हुए इकतीस सागरोपम की (उत्कृष्ट) आयु सम्पन्न करता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है— नरक गति में प्रारम्भ में जघन्य आयु, उसके बाद एक-एक समय बढ़ाकर उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागरोपम तक जन्म-मृत्यु की परम्परा पहले बताई गई है। नरक गति में निरन्तर जन्म-मरण की परम्परा के सम्बन्ध में शास्त्रों में जो विशेष नियम निरूपित हैं, उन नियमों के अनुरूप ही वह परम्परा होती है— ऐसा जानें। उदाहरणार्थ— नरक में मरकर पुनः (तुरन्त) नरक में ही आना सम्भव नहीं है, क्योंकि वहाँ से निकलकर मनुष्यों में या तिर्यंचों में जन्म मिलता है। इसलिए पुनः नरक में आना तिर्यंच या मनुष्यों में जन्म लेकर और वहाँ से मरकर ही सम्भव है। इस रीति से भी (पुनः नरक में) जन्म ले, तो उत्कृष्टतया चौबीस मुहूर्त अन्तर से, निरन्तर आठ बार ही जन्म ले सकता है, अधिक बार नहीं। इस प्रकार, द्वितीय नरक में सात दिनों के अन्तर से सात बार ही निरन्तर जन्म सम्भव है, तृतीय नरक में एक पक्ष (पन्द्रह

सप्तदिनानामन्तरेण सप्तवारमेव, तृतीयनरके पक्षान्तरेण षड्वारमेव, चतुर्थनरके मासान्तरेण पञ्चवारमेव, पञ्चमनरके मासद्वयान्तरेण चतुर्वारमेव, षष्ठनरके चतुर्मासान्तरेण त्रिवारमेव, तथा सप्तमनरके षण्मासान्तरेण द्विवारमेव जन्म लभ्यते।

उक्तं च तिलोयपण्णत्तिग्रन्थे *(2/289-290)—*

णिक्कंता णिरयादो गब्भेसुं कम्मसंणिपज्जत्ते।
णरतिरिएसुं जम्मदि तिरियंचिय चरमपुढवीए॥

वालेसुं दाढीसुं पक्खीसुं जलचरेसु जाऊणं।
संखेज्जाउगजुत्ता तेई णिरएसु वच्चंति॥

किं च तत्रैव *(2/286-287)—*

दिन) के अन्तराल से छः बार ही, चतुर्थ नरक में एक महीने के अन्तराल से पाँच बार, पंचम नरक में दो महीनों के अन्तराल से चार बार, छठे नरक में चार मास के अन्तराल से तीन बार, तथा सातवें नरक में छः महीनों के अन्तराल से दो बार ही जन्म प्राप्त किया जा सकता है।

तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ (2/289-290) में कहा गया है—

''नरक से निकले जीव गर्भज, कर्मभूमिज, संज्ञी एवं पर्याप्त ऐसे मनुष्य व तिर्यंचों में ही जन्म लेते हैं। परन्तु अन्तिम पृथ्वी (सातवें नरक) से निकला हुआ जीव केवल तिर्यंच ही होता है (मनुष्य नहीं होता)।''

''नरकों से निकले हुए जीवों में कितने ही जीव व्यालों (सर्पादि) में, दाढ़ों अर्थात् तीक्ष्ण दाँतों वाले व्याघ्रादि पशुओं में, गृद्ध आदि पक्षियों में, तथा जलचर जीवों में और संख्यात वर्ष की आयु से युक्त होकर पुनः नरक में जाते हैं।''

और (2/286-287) भी—

अट्ठसगछक्कपणचउतियदुगवारो य सत्तपुढवीसु।
कमसो उप्पज्जंते असंणिपमुहाइ उक्कस्से॥

चउवीस मुहुत्ताणिं सत्त दिणा एक्क पक्ख मासं च।
दोचउछम्मासाइं पढमादो जम्ममरणअंतरयं॥

देवगतावपि जीवो मृत्वा निरन्तरं देवगतावेव नागच्छति, सोऽपि अन्यगतौ परिभ्रम्यैव पुनर्देवगतौ समागन्तुं प्रभवति। देवः च्यवनं कृत्वा तिर्यक्षु मनुष्येषु वा जन्म लभते। कल्पवासिनः कल्पातीताश्च केचित् अन्यजन्मनि मनुष्यगतिं प्राप्य मुक्ताश्च भवन्ति *(ति. प. 8/675-676, 680-684)*। **सहस्रारस्वर्गादुपरि ये देवास्ते मनुष्येष्वेव जन्म लभन्ते** *(मूलाचार, 1180)*। **एवं देवगतौ जघन्यायुरादौ बद्ध्वा क्रमेण एकैकसमयाधिक्येन यदुत्कृष्टायुः परिसमाप्यते, तदेकत्रिंशत्सागरोपम-प्रमितमात्रमेव ग्राह्यम्, नाधिकम्। सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तं यद्यपि उत्कृष्टायुः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपममपि भवति, किन्तु मिथ्यात्वयुक्तानां ग्रैवेयकोपरि नोत्पादः सम्भवति।**

"उपर्युक्त सात पृथिवियों में क्रम से वे असंज्ञी आदिक जीव उत्कृष्ट रूप से आठ, सात, छह, पाँच, चार, तीन और दो बार ही उत्पन्न होते हैं।"

"चौबीस मुहूर्त, सात दिन, एक पक्ष, एक मास, दो मास, चार मास और छः मास —इस क्रम से प्रथम आदि पृथ्वियों में जन्म-मरण के अन्तर का प्रमाण है।"

देवगति में भी जीव मर (च्यव) कर, निरन्तर, अनन्तर भव के रूप में देव गति में ही नहीं आ पाता है, वह भी अन्य गति में परिभ्रमण करके ही पुनः देवगति में आने में समर्थ होता है। (क्योंकि) देव च्यवन कर तिर्यंचों या मनुष्यों में जन्म लेता है। कल्पवासी व कल्पातीत देवों में कुछ देव अन्य जन्म में मनुष्य गति प्राप्त कर मुक्त होते हैं (ति. प. 8/675-676, 680-684)। सहस्रार (वैमानिक) स्वर्ग से ऊपर के देव ही ऐसे हैं जो मनुष्यों में जन्म लेते हैं (मूलाचार, 1180)। इस प्रकार देव गति में प्रारम्भ में जघन्य आयु बाँधकर, क्रमशः एक एक समय को बढ़ाकर जो उत्कृष्ट आयु पूरी की जाती है, वह इकतीस सागरोपम तक ही ग्राह्य है, अधिक नहीं। सर्वार्थसिद्धि (देवलोक) तक यद्यपि उत्कृष्ट आयु तैंतीस सागर की होती है, किन्तु मिथ्यात्व-युक्त जीवों की ग्रैवेयकों से ऊपर उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

एवं यावति काले चतसृषु गतिषु पूर्वोक्तक्रमेण जीवस्य जन्म-मरणपरम्परा परिसमाप्यते, तावान् (चतुर्गतिभ्रमणात्मकः समग्रः) कालो भवपरिवर्तनकालः इत्यवगन्तव्यम्।

गाथायास्तात्पर्यमिदं यत् संसारपरिभ्रमणे विशिष्टो हेतुर्मिथ्यात्वमेव। अतो मिथ्यात्वयुक्तानां संसर्गोऽपि त्याज्य एव। उक्तं च पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे *(1/34)—*

मिथ्यादृशां विसदृशां च पथच्युतानां मायाविनां व्यसनिनां च खलात्मनां च।
सङ्गं विमुञ्चत बुधाः कुरुतोत्तमानां गन्तुं मतिर्यदि समुन्नतमार्ग एव॥

अथवा, यथाशक्ति सम्यग्ज्ञानोपदेशेन तेषां मिथ्यात्वमपाकरणीयम्। शुद्धात्मस्वरूपाभिमुखता तेषु वर्द्धयेत, इत्युपदेशो विधेयः। तथा स्वकीयसंसारपरिभ्रमणस्य अवसानं भवेदित्येतदर्थं रत्नत्रयाराधना सम्यगनुष्ठेया। निश्चयरत्नत्रयसाधनायां प्रगतिः स्यादित्येतदर्थं संसारविरक्तिवर्धक-संसारअनुप्रेक्षा उपयोगिनी भवतीति विज्ञेयम्।

इस प्रकार जितने काल में (इन) चार गतियों में पूर्वोक्त क्रम के अनुरूप जीव की जन्म-मरण की परम्परा समाप्त की जाती है, उतना (चतुर्गति-भ्रमण रूप समग्र) काल 'भव-परिवर्तन काल' होता है—यह समझना चाहिए।

गाथा का तात्पर्य यह है कि संसार-भ्रमण में विशिष्ट कारण मिथ्यात्व ही है। इसलिए मिथ्यात्व-युक्त व्यक्तियों का संसर्ग भी त्याज्य ही है। पद्मनन्दिपंचविंशतिका ग्रन्थ (1/34) में कहा गया है—

"यदि उन्नत (श्रेष्ठ, मोक्ष-) मार्ग पर गमन करने की इच्छा हो तो हे ज्ञानियों! मिथ्यादृष्टि, समानता न रखने वाले (अधार्मिक), सन्मार्गभ्रष्ट, मायावी, व्यसनी तथा खल (दुष्ट-) स्वभावी लोगों की संगति छोड़ दें और उत्तम व्यक्तियों की सङ्गति करें।"

अथवा यथाशक्ति सम्यग्ज्ञान का उपदेश देकर उनके मिथ्यात्व को दूर करना चाहिए। शुद्धात्म-तत्त्व की ओर उनकी अभिमुखता बढ़े —ऐसा उपदेश उन्हें देना चाहिए। साथ ही, अपने संसार-भ्रमण का अन्त हो —इस उद्देश्य से रत्नत्रय की आराधना का सम्यक् अनुष्ठान करना चाहिए। निश्चय रत्नत्रय की साधना में प्रगति होती रहे —इसके लिए संसार-विरक्ति को बढ़ाने वाली संसार-अनुप्रेक्षा उपयोगी है —ऐसा जानना-समझना चाहिए।

सम्प्रति शास्त्रकारा भावपरिवर्तनस्य स्वरूपं प्रतिपादयन्ति—

सव्वे पयडिट्ठिदिओ, अणुभागपदेसबंधठाणाणि।
जीवो मिच्छत्तवसा, भमिदो पुण भाव-संसारे॥29॥

छाया— *सर्वाः प्रकृतिस्थितयः, अनुभागप्रदेशबन्धस्थानानि।*
जीवो मिथ्यात्ववशात् भ्रान्तः पुनः भावसंसारे॥

(सर्वोदया टीका—) *(मिच्छात्तवशा जीवो)* **मिथ्यात्ववशेन जीवः, संसारे भ्रमति —इति शेषः। मिथ्यात्वकारणादेव ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-आयुर्नाम-गोत्र-अन्तरायेति-भेदेन अष्टविध-प्रकृतिबन्धो जायते।**

उक्तं च सर्वार्थसिद्धौ *(8/2)— "मिथ्यादर्शनाद्यावेशाद् आर्द्रीकृतस्य आत्मनः सर्वतो योगविशेषात् तेषां सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनाम् अनन्तानन्तप्रदेशानां पुद्गलानां कर्मभावयोग्यानाम् अविभागेन उपश्लेषो बन्धः इति आख्यायते"।*

अब शास्त्रकार भाव परिवर्तन के स्वरूप का प्रतिपादन कर रहे हैं—

(29)

(गाथा-अर्थ—) इस भावपरिवर्तनरूप संसार में मिथ्यात्व के वशीभूत हुआ जीव समस्त कर्मों के प्रकृति-बन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश-बन्ध के सभी स्थानों (भेदों) में भ्रमण करता रहा है (या कर चुका है)।

(सर्वोदया टीका—) (मिथ्यात्ववशात् जीवः) मिथ्यात्व के वशीभूत होकर जीव, इस कथन का अवशिष्ट वाक्यांश है— संसार में परिभ्रमण करता रहता है। मिथ्यात्व के ही कारण ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय —इन आठ प्रकार के कर्मों का प्रकृतिबन्ध होता है।

सर्वार्थसिद्धि (8/2) में कहा भी है— "मिथ्यादर्शन आदि के अभिनिवेश के कारण आर्द्रीभूत (गीले, कर्मबन्धन की अनुकूल स्थिति को प्राप्त) जीव के 'योग' विशेष से उन सूक्ष्म, एकक्षेत्रस्थित अनन्तानन्त कर्म-भाव को प्राप्त होने योग्य पुद्गलों का अविभक्त रूप से उपश्लेष होना 'बन्ध' कहा जाता है।"

एतेषामष्टानामेव उत्तरप्रकृतयः अष्टचत्वारिंशदधिकशतसंख्यका जायन्ते। मोहनीयकर्मणः सामान्येन जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमिता, किन्तु उत्कृष्टा स्थितिस्तु सप्ततिकोटाकोटीसागरोपमप्रमिता स्वीकृता। अतः संसारबन्धस्य उत्कृष्टस्थितौ मिथ्यात्वं हेतुरूपेण स्वीक्रियते। संसारस्थितौ तथा सर्वविधबन्धे च मिथ्यात्वस्य हेतुतां शास्त्रकारा अग्रे प्रतिपादयन्ति— *(सव्वे पयडिट्ठिदिओ अणुभाग-पदेसबंधठाणाणि)* **मिथ्यात्वकारणादेव सर्वाः प्रकृतिस्थितयः, अर्थात् प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धश्च, अनुभाग-प्रदेशबन्धस्थानानि अर्थात् अनुभागबन्धः, प्रदेशबन्धश्च, तेषां स्थानानि च भवन्ति। अयं भावः— कर्मबन्धश्चतुर्विधः— प्रकृतिबन्धः, स्थितिबन्धः, प्रदेशबन्धः, अनुभागबन्धश्च। एते सर्वे बन्धप्रकाराः मिथ्यात्ववशीभूतस्य अर्थात् मिथ्यादृष्टेः जीवस्य भवन्ति। तत्र प्रकृति-प्रदेशबन्धयोः मनोवचनकाययोगः, स्थिति-अनुभागबन्धयोस्तु कषायो विशेषतया हेतुतां वहतीति विशेषः।**

अत्रायं विशेषः— स्थूलरूपेण जघन्योत्कृष्टादि-तीव्रमन्दादिभेदभिन्ना ये आत्मीयपरिणामाः कर्मबन्धनिमित्तभूताः, ते स्थानपदेन व्यवह्रियन्ते। शास्त्रीयभाषायान्तु प्रतिजीवं प्रतिसमयं कर्मानुभाग-आविर्भावो यः, स स्थानमिति। कर्मानुभागश्च कर्मफलदानसम्बन्धिनी शक्तिः।

इन्हीं आठ कर्मों की एक सौ अड़तालीस उत्तरप्रकृतियाँ हो जाती हैं। इनमें मोहनीय कर्म, जो मिथ्यात्व का निमित्त है, की सामान्यतया जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है, किन्तु उसकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम की मानी गई है। इसलिए संसार-बन्ध की उत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व को हेतु रूप में स्वीकृत किया गया है। संसार-भ्रमण की स्थिति में तथा सभी प्रकार के कर्मबन्ध में मिथ्यात्व की हेतुता को शास्त्रकार आगे भी प्रतिपादित कर रहे हैं— **(सर्वाः प्रकृतिस्थितयः अनुभाग-प्रदेशबन्धस्थानानि)** मिथ्यात्व के कारण से ही— सभी कर्मों का प्रकृतिबन्ध व स्थितिबन्ध, और अनुभागबन्ध, प्रदेशबन्ध एवं उनके स्थान होते हैं। तात्पर्य यह है— कर्मबन्ध के चार प्रकार हैं— प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, प्रदेशबन्ध और अनुभागबन्ध। ये सभी प्रकार के बन्ध मिथ्यात्व के वशीभूत हो चुके अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव के होते हैं। इनमें प्रकृतिबन्ध व प्रदेशबन्ध में विशेष कारण होते हैं— मानसिक, वाचिक व शारीरिक योग, और स्थितिबन्ध व अनुभागबन्ध में कषाय विशेष कारण होता है, यह अन्तर है।

यहाँ विशेष ज्ञातव्य यह है— कर्मबन्ध में निमित्त होने वाले तथा जघन्य-उत्कृष्ट या तीव्र-मन्द रूप से विविधता को प्राप्त होने वाले जो आत्मीय (विभाव) परिणाम होते हैं, उन्हें स्थूल रूप से 'स्थान' इस पद (संज्ञा) से व्यवहृत किया जाता है। शास्त्रीय भाषा में कहें तो प्रत्येक जीव में, प्रत्येक समय में कर्म-अनुभाग जो उद्भूत होता है, वह 'स्थान' कहा जाता है। कर्मानुभाग से तात्पर्य है— कर्मफल देने की शक्ति।

अत एव धवलाग्रन्थे *(पु. 12, खण्ड-4, भाग 7-16, सू. 200, पृ. 111)* **भणितम्—** *"एगजीवम्मि एक्कम्हि समये जो दीसदि कम्माणुभागो, तं ठाणं नाम"।*

भावपरिवर्तने प्रकृते योगस्थान-अनुभाग-स्थानादीनां स्वरूपविवेचनमपेक्ष्यते। योगस्थानम्, अनुभाग-बन्ध-अध्यवसायस्थानम्, कषायाध्यवसायस्थानम्, स्थितिस्थानम्— एतेषां परिवर्तनेन भावपरिवर्तनं सम्पद्यते। आत्मप्रदेशानां परिस्पन्दो योगः, स प्रकृतिबन्धे प्रदेशबन्धे च कारणभूतः। योगानां जघन्यादिभेदाः योगस्थानानि। कषाययुक्तपरिणामैः कर्मणामनुभागबन्धः। तेषां परिणामानां जघन्यादिस्थानान्येव अनुभागबन्ध-अध्यवसाय-स्थानानि। यैः कषायपरिणामैः स्थितिबन्धः, तेषां जघन्यादिस्थानानि कषायाध्यवसायस्थानानि भवन्ति, तान्येव स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यपि कथ्यन्ते। कर्म-स्थितीनां जघन्यादिस्थानानि स्थितिस्थानानि। प्रत्येकस्थितिबन्धस्य कारणभूतानि असंख्यातलोकप्रमाणानि कषायाध्यवसायस्थानानि भवन्ति। प्रत्येककषायाध्यवसायस्थानस्य असंख्यातलोकप्रमाणानि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति। प्रत्येकस्मिन् अनुभागबन्धाध्य-

---

इसी दृष्टि से 'धवला' ग्रन्थ (पु. 12, खण्ड-4, भाग 7-16, सू. 200, पृ. 111) में कहा गया है— "एक जीव में, एक समय में जो कर्मानुभाग दिखाई पड़ता है, वह 'स्थान' है।"

प्रकृत विषय है— भावपरिवर्तन, उसमें योगस्थान व अनुभाग-स्थान आदि के स्वरूपों का विवेचन अपेक्षित है। योगस्थान, अनुभागबन्ध-अध्यवसायस्थान, कषाय-अध्यवसायस्थान, स्थितिस्थान —इनके परिवर्तन से भावपरिवर्तन सम्पन्न होता है। आत्मा के प्रदेशों में होने वाले परिस्पन्द को 'योग' कहते हैं, वह प्रकृतिबन्ध व प्रदेशबन्ध में कारण होता है। इन योगों के जो जघन्य आदि भेद हैं, वे योगस्थान हैं। कषाययुक्त परिणामों से कर्मों का अनुभागबन्ध होता है। उन (कषाय) परिणामों के जघन्य आदि जो स्थान हैं, वे ही अनुभागबन्ध-अध्यवसायस्थान हैं। जिन कषाय-परिणामों से स्थितिबन्ध होता है, उनके जघन्य आदि स्थान ही कषाय-अध्यवसायस्थान हैं, उन्हें ही स्थितिबन्ध-अध्यवसायस्थान भी कहा जाता है। कर्मों की स्थिति के जघन्य आदि स्थानों को स्थितिस्थान कहते हैं। प्रत्येक स्थितिबन्ध में कारणभूत असंख्यात लोक प्रमाण कषाय-अध्यवसायस्थान होते हैं। प्रत्येक कषायाध्यवस्थान के असंख्यात लोक प्रमाण अनुभागबन्ध-अध्यवसायस्थान होते हैं। प्रत्येक अनुभागबन्ध-अध्यवसायस्थान के, जगत्श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण वाले, योगस्थान होते हैं। भावसंसार में परिभ्रमण करते हुए जीव ने सभी कर्म-प्रकृतियों के

वसायस्थाने जगच्छ्रेण्या:-असंख्यातभागप्रमितानि योगस्थानानि भवन्ति। भावसंसारे परिभ्रमन् जीवः सर्वप्रकृतीनां स्थितिबन्धे, अनुभागबन्धे, प्रदेशबन्धे च यावन्ति स्थानानि सम्भवन्ति, तावन्ति सर्वाणि अनुभूतवान् —इति तात्पर्यम्।

विस्तरेण पूर्वोक्तमेव सम्प्रति स्पष्टीक्रियते— कश्चित् पञ्चेन्द्रियः संज्ञी पर्याप्तको मिथ्यादृष्टि-जीवः स्वयोग्यां सर्वजघन्यां ज्ञानावरणकर्मणः अन्तकोटाकोटिसागर-प्रमितां स्थितिं बध्नाति। एककोटिसागरोपमादुपरि कोटाकोटिसागरं यावन्मध्ये अन्तःकोटाकोटिसागरोपमप्रमाणं भवति। तस्य जीवस्य जघन्यस्थितिबन्धयोग्यानि षट्स्थानपतितानि (षट्प्रकारकहानिवृद्धियुक्तानि) असंख्यातलोकप्रमितानि कषायाध्यवसायस्थानानि भवन्ति। किं च, सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थाने निमित्तभूतानि असंख्यातलोकप्रमितानि अनुभागाध्यवसायस्थानानि भवन्ति। एवं सर्वजघन्यस्थितिं, सर्वजघन्यकषायाध्यवसायस्थानं तथा सर्वजघन्यमनुभागबन्धाध्यवसायस्थानं च प्राप्तस्य जीवस्य तद्योग्यं सर्वजघन्यं योगस्थानं भवति। पुनश्च तस्याः स्थितेः, तस्यैव कषायाध्यवसायस्य तथा तेषामेव अनुभागस्थानानां चासंख्यातभाग-वृद्धिसहितं द्वितीयं योगस्थानं भवति। एवं क्रमेण

स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध में जितने भी 'स्थान' सम्भव हो सकते हैं, उन सभी का अनुभव किया है —यह तात्पर्य है।

पूर्वोक्त कथन को ही अब विस्तार से स्पष्ट कर रहे हैं— कोई पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीव अपने योग्य सबसे जघन्य ज्ञानावरणी कर्म की अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण स्थिति का बन्ध करता है। एक कोटि सागर से ऊपर और कोटाकोटी सागर तक का मध्य काल 'अन्तः कोटाकोटि सागरोपम' प्रमाण होता है। उस जीव के जघन्य स्थितिबन्ध के योग्य तथा छः प्रकार की हानि-वृद्धि को लिए हुए असंख्यातलोक प्रमाण कषायाध्यवसाय स्थान होते हैं। और, सर्वजघन्य कषायाध्यवसाय स्थान में निमित्त असंख्यात लोक प्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थान होते हैं। इस तरह, सर्वाधिक जघन्य स्थिति, सर्वाधिक जघन्य कषायाध्यवसाय स्थान और सर्वाधिक जघन्य अनुभागबन्धाध्यवसाय स्थान को प्राप्त हुए जीव के योग्य सर्वाधिक जघन्य योगस्थान होता है। पुनः, उन्हीं स्थिति, उन्हीं कषायाध्यवसाय और उन्हीं अनुभागस्थानों का असंख्यात भागवृद्धि को लिये हुए दूसरा योगस्थान होता है। इस क्रम से असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि व असंख्यात गुणवृद्धि —इन चतुःस्थान वृद्धि को लिये हुए श्रेणी के असंख्यातवें

असंख्यातभागवृद्धिः, संख्यातभागवृद्धिः, संख्यातगुणवृद्धिः, असंख्यातगुणवृद्धिः —इति चतुःस्थानवृद्धिपतितानि श्रेण्या असंख्येयभागप्रमितानि योगस्थानानि भवन्ति। एषां समस्तानां योगस्थानानां सम्पन्नतायाम्, तामेव स्थितिं, तदेव च कषायाध्यवसायस्थानं प्राप्तस्य जीवस्य द्वितीयमनुभागबन्धाध्यवसायस्थानं भवति। तस्यापि योगस्थानानि पूर्ववदेव बोध्यानि। एवं तृतीयादिष्वपि अनुभागाध्यवसायस्थानेषु असंख्यातलोकपरिसमाप्तिपर्यन्तेषु प्रत्येकं योगस्थानानि योजनीयानि। एवं तामेव स्थितिं बध्नतो द्वितीयं कषायाध्यवसायस्थानं भवति। तस्यापि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि योगस्थानानि पूर्ववद् बोध्यानि।

एवं तृतीयादिषु कषायाध्यवसायस्थानेषु असंख्यातलोकमात्रपरिमाप्तिपर्यन्तेषु अनुभाग-स्थानानां योगस्थानानां च आवृत्तिक्रमो विज्ञेयः। एवं सर्वजघन्यस्थित्या सह सर्वेषामावृत्त्या समयाधिकामन्तःकोटाकोटिस्थितिर्बद्ध्यते। तस्याः समयाधिकस्थितेरपि प्राग्वदेव कषायाध्यवसाय-स्थानानि, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि, योगस्थानानि च असंख्येयलोकप्रमितानि भवन्ति। एवं समयाधिकक्रमेण उत्कृष्टस्थितिपर्यन्तं त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटिप्रमितस्थितेरपि स्थितिबन्धाध्य-

भागप्रमाण योगस्थान होते हैं। इन सारे योगस्थानों के समाप्त होने पर वही स्थिति, वही कषायाध्यवसाय स्थान को प्राप्त होने वाले जीव के द्वितीय अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान होता है। उसके भी योगस्थानों के सद्भाव को पूर्ववत् जानें। इस प्रकार, तृतीय आदि असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागस्थानों के भी समाप्त होने तक, प्रत्येक अनुभागस्थान के साथ योगस्थानों की योजना कर लेनी चाहिए। उन (योगस्थानों) की भी समाप्ति होने पर, उसी स्थिति का बन्ध करने वाले जीव के दूसरा कषायाध्यवसाय स्थान होता है। उसके भी अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान और योगस्थान पूर्ववत् होते है— ऐसा जानें।

इस प्रकार, तृतीय आदि असंख्यात लोकप्रमाण कषायाध्यवसाय स्थानों की परिसमाप्ति तक, अनुभागस्थानों व योगस्थानों की आवृत्ति करनी चाहिए। इस प्रकार, सर्वाधिक जघन्य स्थिति के साथ सब की आवृत्ति होने पर, एक समय अधिक अन्त:कोटाकोटि की स्थिति का बन्ध सम्पन्न होता है। उस समयाधिक स्थिति के भी पूर्ववत् ही कषायाध्यवसाय स्थान, अनुभाग-बन्धाध्यवसायस्थान व योगस्थान होते हैं। इस प्रकार, एक-एक समय अधिक के क्रम से उत्कृष्ट स्थिति तक, तीस कोटाकोटी सागर प्रमाण स्थिति के भी स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान और योगस्थान समझें। इसी प्रकार,

वसायस्थानानि अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि योगस्थानानि च बोध्यानि। एवं मूलप्रकृतीनामुत्तर-प्रकृतीनां च परिवर्तनक्रमो बोद्धव्यः। एतस्मिन् समुदिते *(भावसंसारे)* **भावपरिवर्तनसंसारे जीवः अनादिकालात्** *(पुण भमिदो)* **पुनः भ्रान्तः, भ्रमणमेव कुर्वन्नस्ति।**

एतेषु पुद्गलपरिवर्तन-क्षेत्रपरिवर्तन-कालपरिवर्तन-भवपरिवर्तन-भावपरिवर्तनेतिसंज्ञकेषु पञ्चसु परावर्तनेषु पुद्गल-परावर्तनकालः सर्वस्तोकप्रमाणः, ततोऽनन्तगुणः क्षेत्रपरिवर्तनकालः। ततोऽपि अनन्तगुणः कालपरिवर्तनकालः। ततोऽपि अनन्तगुणो भवपरिवर्तनकालो भवति। तस्मादपि अनन्तगुणो भावपरिवर्तनकालो भवति।

एतेषां परिवर्तनानां स्वरूपं विज्ञाय, भो भेदविज्ञानिन्! निजात्मरुचिप्रतीत्यनुभूतिः समाश्रयणीया। अयं मनुष्यपर्यायो महता पुण्योदयेन प्राप्तः, तत्रापि सम्यग्दर्शनस्य प्राप्तिर्दुर्लभैव। अतः स्वजीवनं सार्थकं भवेदित्येतदर्थं विषयकषायदुर्ध्यानं त्यक्त्वा निरन्तरं धर्मध्यानं कर्तव्यम्—इति गाथातात्पर्यम्।

आठों मूल कर्मों की प्रकृतियों और उनकी उत्तर प्रकृतियों के भी परिवर्तन-क्रम को जानना चाहिए। इस समुदित (समस्त) **(भावसंसारे)** भावपरिवर्तन रूप संसार में जीव अनादिकाल से **(पुनः भ्रान्तः)** भ्रमण ही करता रहा है।

पुद्गलपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन व भावपरिवर्तन —इन पाँच संसार-परिवर्तनों में पुद्गलपरावर्तन काल सब से कम परिमाण वाला है। उससे अनन्तगुना काल वाला क्षेत्रपरिवर्तन है। उससे भी अनन्त गुना काल वाला कालपरिवर्तन है। उससे भी अनन्तगुना काल वाला भवपरिवर्तन है। उससे भी अनन्त गुना काल भावपरिवर्तन का होता है।

इन सभी परिवर्तनों के स्वरूप को समझकर हे भेदविज्ञानी! अपनी शुद्धात्मा के प्रति रुचि, प्रतीति व अनुभूति का आश्रय लो। यह मनुष्य-पर्याय बड़े पुण्योदय से प्राप्त हुई है, उसमें भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति दुर्लभ ही है। इसलिए अपना जीवन सार्थक हो —इस उद्देश्य से विषय-कषाय व दुर्ध्यान से सुरक्षित होने के लिए निरन्तर धर्मध्यान करना चाहिए —यह गाथा का तात्पर्य है।

सम्प्रति को जीवः संसारे परिभ्रमति —इति शास्त्रकाराः प्रतिपादयन्ति—

पुत्तकलत्तणिमित्तं, अत्थं अज्जयदि पावबुद्धीए।
परिहरदि दयादाणं, सो जीवो भमदि संसारे ॥30॥

छाया— पुत्रकलत्रनिमित्तम् अर्थम् अर्जयति पापबुद्ध्या।
परिहरति दयादानं स जीवो भ्रमति संसारे॥

(सर्वोदया टीका—) य एव संसारी अज्ञानी गृहस्थो जीवः, *(पुत्तकलत्तणिमित्तं)* पुत्राणि, कलत्रं धर्मपत्नी, तेषां निमित्तम्। पुत्रेतिपदं सन्ततिसामान्यबोधकम्। स्वपत्न्याः स्वसन्ततीनां च सुखभोगोपभोगसाधनार्थम् इति भावः। किं च *(पावबुद्धीए)* पापबुद्ध्या, पापयुक्तया भावनया —इत्यर्थः। किं पापम्? पातयति आत्मानं निजशुद्धात्मस्वरूपाद् इति पापम्। अथवा पाति रक्षति आत्मानं शुभात् इति पापम् *(सर्वार्थसिद्धि, 6/3)*। हिंसा-अनृत-स्तेय-अब्रह्मचर्य-परिग्रहक्रिया-साध्यमशुभं कर्म भवति, अतः हिंसादीनि कर्माणि अपि व्यवहारदृष्ट्या पापरूपेण निर्दिश्यन्ते। एवं पापास्रवकारणभूताः सर्वाः क्रिया पापरूपा एव, यथा प्रमादबहुला चर्या, कलुषता, पर-

---

अब कैसा जीव संसार में परिभ्रमण करता रहता है —इसे शास्त्रकार बता रहे हैं—

(30)

(गाथा-अर्थ—) जो जीव पुत्र और पत्नी के निमित्त से पाप-बुद्धि के द्वारा धन कमाता है और दया व दान को छोड़ देता है, वह संसार में भ्रमण करता है।

(सर्वोदया टीका—) जो भी संसारी अज्ञानी गृहस्थ जीव होता है, वह **(पुत्रकलत्रनिमित्तम्)** पुत्र और कलत्र, कलत्र का अर्थ है— धर्मपत्नी, इनके निमित्त से। यहाँ 'पुत्र' यह पद सन्ततिसामान्य का बोधक है। तात्पर्य यह है कि अपनी पत्नी और अपनी सन्तानों के सुख और उनके भोग-उपभोग के साधनों (को अर्जित करने) के लिए। और **(पापबुद्ध्या)** पापबुद्धि से अर्थात् पापपूर्ण भावों के साथ। पाप किसे कहते हैं? जो आत्मा को अपने शुद्धात्मस्वरूप से पतित करता है, वह 'पाप' होता है। अथवा (सर्वार्थसिद्धि 6/3 के अनुसार) जो आत्मा को शुभ से बचाता है (अर्थात् शुभ से रोकता है) वह 'पाप' है। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह —इन क्रियाओं से अशुभ कर्म (अनुष्ठित) होते हैं, इस दृष्टि से हिंसा आदि कर्मों को भी व्यवहार दृष्टि से 'पाप' रूप माना जाता है। इस प्रकार, पाप कर्मों के आस्रव (आने) में कारणभूत

परितापप्रवृत्तिः, विषयलोलुपता इत्यादिकाः। यद्यपि गृहस्थस्य सकलचारित्रं व्रतस्थानीयं नैवानिवार्यतया अपेक्षितम्, तथापि सम्यग्दृष्टेः श्रावकस्य शुद्धात्मस्वरूपप्राप्त्यै भावना तु भवत्येव। केनोपायेनाहं निजशुद्धात्मस्वरूपमधिगच्छेयम्, तत्प्राप्तौ च कानि कानि बाधककारणानि येभ्योऽहं विरत्यै प्रयतेयम् —इत्यादिकं चिन्तनं तु तस्य करणीयमेव भवति। किन्तु मिथ्यादृष्टिजीवस्य विषये गाथेयम्। स मोहबुद्ध्या सांसारिकमनित्यसंयोगमपि नित्यं मनुते, तथा स आत्मनो हितमहितं च न जानाति, अत आपातरमणीयेषु विषयेषु रतिं कुर्वाणो हिंसादिष्वेव प्रवर्तते —इति भावः।

(अत्थं अज्जयदि) **अर्थं धनं सम्पत्तिं वा अर्जयति, प्राप्नोति। तदर्जितं धनादिकं स्वसन्तति-पत्नीप्रभृतिस्वकीयपरिवारे एव वितरति। चिन्तयति च स यत् धनादिकं प्राप्य पारिवारिका जनाः वार्धक्ये सहायका भविष्यन्ति, शारीरिकशक्तिः क्षीणा मे भविष्यति, तदा न कोऽपि इतरो जनः साहाय्यं दातुं प्रभवति, ममेमे पारिवारिकजना एव वस्तुतो मदीयहितं चिन्तयन्ति, यदि एभ्योऽर्जितं धनं दीयेत, तर्हि तेऽपि मम संकटे विपत्तौ वा मदर्थं सर्वविधां सहायतां दातुं समुद्यताः भविष्यन्ति —**

सभी क्रियाएँ 'पाप' रूप ही हैं। उदाहरणार्थ— प्रमादपूर्ण चर्या, कलुषता, दूसरों को पीड़ा देने की प्रवृत्ति, विषयलोलुपता इत्यादि (क्रियाएँ 'पाप' हैं)। यद्यपि गृहस्थ के लिए व्रत के रूप में सकल चारित्र का पालन अनिवार्य रूप से अपेक्षित नहीं है, तथापि सम्यग्दृष्टि श्रावक तो शुद्धात्म-स्वरूप को पाने के लिए भावना तो रखता ही है। उसके लिए यह चिन्तन करना तो अपेक्षित है ही कि किस उपाय द्वारा मैं अपने शुद्धात्म-स्वरूप को प्राप्त करूँ, उसे पाने के लिए कौन-कौन से बाधक कारण हैं, जिनसे बचने का प्रयास करूँ, इत्यादि। किन्तु यह गाथा मिथ्यादृष्टि जीव के बारे में है। वह (मिथ्यादृष्टि तो) मोहयुक्त बुद्धि के कारण, सांसारिक अनित्य (पिता-पुत्र आदि) संयोग को नित्य मान बैठता है और आत्मा के लिए क्या हितकारी है या क्या अहितकारी है— यह नहीं जानता, इसलिए आपातरमणीय (बाहर से सुन्दर दिखने वाले) विषयों में रति करता हुआ हिंसा आदि कार्यों में ही प्रवृत्त होता रहता है —यह भाव है।

(अर्थमर्जयति) अर्थ यानी धन या सम्पत्ति का अर्जन करता रहता है, उसे प्राप्त करता है। उस अर्जित धन आदि को अपनी सन्तति, पत्नी आदि निजी परिवार में ही वितरित करता है। वह यह सोचता है कि मेरे परिवार के लोग धन आदि प्राप्त कर, वृद्धावस्था में मेरे सहायक होंगे, मेरी जब शारीरिक शक्ति क्षीण होगी, तब कोई दूसरा व्यक्ति मुझे सहायता नहीं दे सकेगा। मेरे ये पारिवारिक लोग ही वस्तुतः मेरे हित के लिए सोचते रहते हैं, यदि इन्हें अर्जित धन दूँगा तो वे भी मेरी संकट की घड़ी में या आपत्ति में मेरी सब प्रकार की सहायता देने के लिए तत्पर होंगे। और, मेरा परिवार और वर्तमान व भावी सन्तानें हमेशा भोग-उपभोग

इति। किञ्च, मदीयपरिवारः, वर्तमाना भाविनी च सन्ततिः सर्वदा भोगोपभोगसामग्रीं प्राप्य सुखमाप्नुयुः, इत्येतदर्थं प्रभूतदायादधनं दातव्यं मया, अन्यथा दुःखाक्रान्ताः सन्तः विरोधिजनानामुपहास्यतां प्राप्स्यन्तीति चिन्तयन् मिथ्यादृष्टिर्निरन्तरं धनार्जनायैव पापकर्मसु निरतो भवति।

किन्तु सोऽज्ञानी यथार्थतया अपरिचितो भवति। वस्तुस्थित्या विचार्येत चेत् सुखदुःखयोः न कश्चिदपि दाता, अपितु स्वकीयशुभाशुभकर्माणि सुखदुःखदायकानि भवन्ति। यदि पुण्यकर्मार्जनं क्रियते चेत्तर्हि भाविनि जीवने, वार्धक्ये वा स्वतः सुखं प्राप्स्यते, नोचेद् पापार्जनेन तु दुःखदपरिणाम एव निश्चितः। किञ्च, यदि स्वसन्ततिः, पुत्रः, पुत्री, पत्नी चैते शुभकर्मणि निरताः सन्ति, यद्वा पूर्वकाले पुण्यमर्जितवन्तः, तदा दायादरूपेण पैत्रिकी सम्पत्तिः प्राप्यते, न वा प्राप्यते तैः, प्रायः सुखमेव प्राप्स्यन्ति धनावाप्तिश्च स्वत एव तेषां भविष्यति। किन्तु यदि तैः पूर्वं पापमेवार्जितम्, तर्हि अर्जितधनमपि नंक्ष्यति, दुःखमेव तैः प्राप्स्यते। उक्तं च गणाचार्य विरागसागरेण कविना—

यदि पुत्रः कुपुत्रोऽस्ति, किमर्थं धनसंचयः।
यदि पुत्रः सुपुत्रोऽस्ति, किमर्थं धनसंचयः॥

की सामग्री प्राप्त कर सुखी रहें —इसके लिए मुझे चाहिए कि उन्हें प्रचुर धन दायाद (पौत्रिक जायदाद) के रूप में दूँ, नहीं तो ये दुःखी होंगे और विरोधी जन उन पर हँसेंगे —इत्यादि चिन्तन करता हुआ मिथ्यादृष्टि जीव निरन्तर धन कमाने के लिए पाप-कर्मों में निरत रहता है।

किन्तु वह अज्ञानी वास्तविकता (सत्य) से परिचित नहीं होता। यथार्थ में विचार करें तो सुख या दुःख कोई और नहीं देता, अपितु अपने शुभ या अशुभ कर्म ही सुख या दुःख देते हैं। यदि पुण्य अर्जित किया जाय तो भावी जीवन में या बुढ़ापे में स्वतः सुख प्राप्त होगा, अन्यथा पापार्जन से तो दुःखदायक परिणाम का ही मिलना निश्चित है। और, यदि अपनी सन्तति —पुत्र या पुत्री शुभ कर्म में निरत हों या उन्होंने पहले पुण्य अर्जित किया है तो भले ही उन्हें पैत्रिक सम्पति उत्तराधिकार के रूप में मिले या न मिले, वे तो सुख ही पाएँगे, और धन की प्राप्ति भी स्वतः हो जाएगी। किन्तु यदि उन्होंने पाप कमाया है तो अर्जित धन-सम्पत्ति भी नष्ट हो जाएगी और दुःख ही उन्हें मिलेगा। कवि गणाचार्य श्री विरागसागर जी म. ने कहा भी है—

''यदि पुत्र कुपुत्र है तो फिर धन संचित करने से क्या लाभ? और यदि पुत्र सुपुत्र है तो (उसके लिए) धन संचित करने से क्या लाभ?''

अतः सम्यग्ज्ञानोपदेश एव वास्तविकं धनं यत् पित्रा स्वसन्ततिभ्यो देयम्, येन सन्ततिः श्रेयोमार्गे प्रगतिं कुर्यात्, अशुभकर्मणां च त्यागं कुर्यात्। यतः पापनिरोधे स्वतः सुखसम्पद्वृद्धिः सम्भविष्यत्येव। उक्तं च *(रत्नकरंड, 27)* **श्रीमद्भिः समन्तभद्राचार्यैः—**

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।।

किन्तु मिथ्यादृष्टिः स्वयं सम्यग्ज्ञानेन शून्यः, कथं स तत् स्वसन्ततिभ्यो दद्यात्। स तु धनं भौतिकमेव स्थायि शाश्वतं च साधनं सुखस्य मनुते। वस्तुतस्तु धनं प्रायो दुःखबहुलां स्थितिमेव जनयति।

उक्तं च मनीषिभिश्चिन्तकैः—

अर्थस्योपार्जने दुःखम्, अर्जितस्य च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं किं प्रयोजनम्॥

इसलिए समीचीन ज्ञान का उपदेश ही वास्तविक धन है, जिसे पिता द्वारा अपनी सन्तानों को देना चाहिए, ताकि वह सन्तति आत्म-कल्याण के मार्ग में प्रगति करे और अशुभ कर्मों का त्याग करे। क्योंकि पापों का निरोध हो तो सुख या सम्पत्ति की बढ़ोतरी स्वतः हो जाएगी। पूज्य आचार्य श्री समन्तभद्र ने (रत्नकरंड, 27 में) कहा भी है—

"यदि पाप का निरोध है तो अन्य सम्पत्ति की फिर क्या सार्थकता है? यदि पाप-आस्रव है तो अन्य सम्पत्ति से कोई लाभ नहीं होने वाला।"

किन्तु मिथ्यादृष्टि तो स्वयं सम्यग्ज्ञान से रहित होता है, वह अपनी सन्तति को सम्यग्ज्ञान कैसे दे सकता है? वह तो भौतिक धन को ही स्थायी सुख का साधन मानता है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि धन प्रायः करके दुःखबहुल स्थिति का ही कारण बनता है।

मनीषी चिन्तकों ने कहा भी है—

"धन के उपार्जन में दुःख है, अर्जित होने पर उसकी रखवाली में भी दुःख है। धन के आने में तथा उसके व्यय होने पर भी दुःख है, अतः धन को धिक्कार है, उससे आखिर लाभ क्या है?"

किन्तु अज्ञानी जीवो धनमेव श्रेयस्करं मत्त्वा, केनापि उपायेन, पापप्रवृत्त्याऽपि तदर्जने समुद्यतस्तिष्ठति, अर्जितस्य च रक्षणं महता प्रयासेन करोति। तदर्थं व्याकुलचित्तस्तिष्ठति। आत्मकल्याणाय चिन्तनमपि तस्य जीवने नाविर्भवति। तथा च, *(परिहरदि दयादाणं)* **दयां दानं च न करोति, यतो हि दयाभावे कृते दाने च विहिते स्वार्जितधनस्य व्ययः कर्तव्यो भवति, अतः स तदीयप्रवृत्तिं दूरत एव परित्यजतीति भावः। धनार्जने यदि हिंसादिकार्याणि अपेक्षितानि भवन्ति, तर्हि मिथ्यादृष्टिर्जीवो निर्लज्जतया तानि करोति। असत्यभाषणे चौर्यकृत्येऽपि कृते धनमर्जितं स्यात्, तदा स निःसंकोचमेव तथाऽऽचरति। एवं पापाचरणेन धनार्जनेन सह स भाविदुःखपरम्परामेव जनयति, एवं संसारपरिभ्रमणे एव तस्य जीवनमृत्युक्रमः प्रचलतीति तात्पर्यम्।**

अशुभाद् निवृत्तिं विना दुःखपरम्परामुक्तिः संभवति एव नहि। मिथ्यादृष्टिर्जीवोऽपि मन्दकषायः सन्, कदाचित् प्राणिषु दयाभावं प्रकटयेत्, तथा सुपात्रेभ्यो चतुर्विधदानं च विदध्यात्, स पुण्यकर्मणामर्जनं कुर्यादेव। पुण्यार्जनेन सुगतिप्रभृतिनिमित्तानि समवाप्य सम्यक्त्वप्राप्तिसुयोगं

किन्तु अज्ञानी जीव धन को श्रेयस्कर मानकर, जिस किसी भी उपाय से, पाप कार्यों को करके भी उसके अर्जन में संलग्न रहता है और अर्जितकर उसकी रक्षा भी बड़े परिश्रम से करता है। उसके लिए सदा व्याकुल रहता है। उसके जीवन में आत्म-कल्याण का विचार भी नहीं आता। और, **(परिहरति दयादानम्)** —वह दया व दान भी नहीं करता, क्योंकि दया करने में और दान देने में अपने अर्जित धन का ही व्यय करना होता है, इसलिए वह उस (दया व दान की) प्रवृत्ति से सदा दूर ही रहता है— यह तात्पर्य है। धन के अर्जन में यदि हिंसा आदि कार्य करने पड़ें तो मिथ्यादृष्टि जीव उन्हें भी निर्लज्ज होकर करता है। असत्य बोलकर या चोरी कर भी यदि धन अर्जित होता हो, तो वह जीव निःसंकोच ही वैसा आचरण करता है। इस प्रकार, पाप के आचरण से धन अर्जित कर वह अपनी भावी दुःख-परम्परा को ही जन्म देता है, इस तरह संसार-भ्रमण में ही उसके जीवन-मरण का क्रम चलता रहता है —यह तात्पर्य है।

अशुभ कार्यों से निवृत्त हुए बिना दुःख की परम्परा से छुटकारा संभव नहीं होता। मिथ्यादृष्टि जीव भी मन्दकषायी होकर, कदाचित् प्राणियों के प्रति दयाभाव रखने लगे और सुपात्रों को चतुर्विध दान दे तो वह पुण्यकर्मों का अर्जन करेगा ही। पुण्य के अर्जन से सुगति आदि निमित्तों को प्राप्त कर, सम्यक्त्व-प्राप्ति का

यदि लभेत, तर्हि संसारनिवृत्तिपरम्परा कथंचित् प्रारब्धा स्यात्। किन्तु दयादानप्रवृत्तित्यागेन तस्य संसारपरम्परैव वर्द्धिता भवति —इति भावः।

(सो जीवो) **एतादृशो हिंसापरिग्रहाद्यासक्तोऽज्ञानी जीवः** *(संसारे भमदि)* **संसारे जन्ममृत्युपरम्परारूपं भ्रमणमेव करोति। अतो हे भव्य प्राणिन्! मोहं त्यज, कृपणतां लोभं वा मा कार्षीः। यथाशक्ति सत्पात्रेषु दानं देयम्।**

उक्तं च रत्नकरण्डश्रावकाचारे *(श्लोक-114)* **श्रीमद्भिः स्वामिसमन्तभद्राचार्यैः—**

गृहकर्मणाऽपि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम्।
अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि॥

तथा च परिग्रहासक्तिरपि त्याज्या। 'हिंसादिकर्मभिः धनादिकं समर्जनीयम्, किंचिद् धर्मकार्यार्थं धनादिकं प्रदाय हिंसादिपापशुद्धिर्भविष्यति' —इति चिन्तनमपि न श्रेयसे।

सुअवसर उसे मिल जाए तो संसार-निवृत्ति की परम्परा किसी तरह प्रारम्भ हो सकती है। किन्तु दया व दान की प्रवृत्ति छोड़ने से उस(अज्ञानी) की संसार-परम्परा ही बढ़ेगी —यह भाव है।

(स जीवः) ऐसा हिंसा-परिग्रह आदि में आसक्त वह अज्ञानी जीव **(संसारे भ्रमति)** संसार में जन्म-मरण की परम्परा वाला भ्रमण ही करता रहता है। इसलिए हे भव्य प्राणी! मोह का त्याग करो, कृपणता या लोभ से दूर रहो। यथाशक्ति सत्पात्रों को दान दो।

पूज्य आचार्य श्री स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार (श्लोक-114) में कहा है—

"वास्तव में जिस प्रकार जल रक्त को साफ कर देता है, उसी तरह निर्ग्रन्थ मुनि-जनों के लिए दानादि रूप भक्ति-पूजा गृहस्थ अवस्था के कार्यों से संचित होने वाले कर्म(-बन्ध) को नष्ट कर देती है।"

और, परिग्रह की आसक्ति भी छोड़नी चाहिए। 'हिंसा आदि कर्मों से धन आदि अर्जित कर जो हिंसा आदि पाप अर्जित हो भी जाएँगे, तो उसमें से कुछ धन धर्मकार्य के लिए दान में देकर उस पाप को धो लेंगे' —ऐसा चिन्तन भी श्रेयस्कर नहीं है।

उक्तं च पूज्यपादस्वामिभिः इष्टोपदेशे *(श्लोक-16)*—

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।
स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलंपति॥

अतोऽनवद्यमार्गेण संगृहीतस्य धनस्य यथाशक्यं सत्पात्रेषु वितरणं न्याय्यम्। समस्तदारिद्र्यादिदुःखमूलस्य पापकर्मणः तन्मूलस्य मिथ्यात्वस्य च नाशाय संयमिनां सङ्गतिः कर्तव्या, तेषां सेवनं पर्युपासनं च कर्तव्यम्।

सम्प्रति धर्मबुद्धिमन्तरेण जीवो दीर्घसंसारी भवतीति शास्त्रकाराः प्रतिपादयन्तिः—

मम पुत्तं मम भज्जा, मम धण-धण्णो त्ति तिव्वकंखाए।
चइदूण धम्मबुद्धिं, पच्छा परिपडदि दीहसंसारे॥३१॥

छाया— *मम पुत्रः मम भार्या मम धनधान्यम्—इति तीव्रकांक्षया।*
त्यक्त्वा धर्मबुद्धिं पश्चात् परिपतति दीर्घसंसारे॥

पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश (श्लोक-16) में कहा भी है—

''जो निर्धन व्यक्ति त्याग/दान के लिए धन के संचय को श्रेष्ठ मानता है, वह 'स्नान करूँगा' —इस विचार से अपने शरीर को कीचड़ से लीपता है।''

इसलिए, निर्दोष मार्ग से धन अर्जित कर, उस धन को यथाशक्ति सत्पात्रों में वितरित करना न्यायोचित होगा। समस्त दरिद्रता आदि दुःखों का मूल कारण पाप कर्म है और उसका मूल मिथ्यात्व होता है, अतः पाप व मिथ्यात्व को नष्ट करने हेतु संयमी जनों की संगति करनी चाहिए और उनकी सेवा व पर्युपासना करनी चाहिए।

अब धर्म-बुद्धि के बिना जीव दीर्घ संसार वाला होता है— इसे शास्त्रकार बता रहे हैं—

(31)

(गाथा-अर्थ—) (यह) मेरा पुत्र है, (यह) मेरी भार्या है, (यह) मेरा धन-धान्य है— इस प्रकार की तीव्र इच्छा के कारण जीव धर्मबुद्धि को छोड़कर पश्चात् दीर्घ संसार में पतन को प्राप्त होता है।

(सर्वोदया टीका—) *(मम पुत्तं)* **अयं मम पुत्रः, पुत्रशब्दोऽत्र सन्ततिसामान्यबोधकः, ततः पुत्र्या अपि बोधकः। इयं** *(मम भज्जा)* **मम भार्या, पत्नी अस्ति, इदं** *(मम धण-धण्णोत्ति)* **मम धनं धान्यं च वर्तते। अत्र धनं गवादिकं ग्राह्यम्। धान्यरूपेण गोधूमचणकतण्डुलादिकं ग्राह्यम्।** *(तिव्वकंखाए)* **तीव्रकांक्षया। कांक्षा, अभिलाषा, आशंसा, आसक्तिः, लोलुपता —इति पर्यायाः। इहलोकपरलोकभोगाकांक्षणरूपा कांक्षा भवति।**

उक्तं च पंचाध्याय्यां *(2/547)— 'कांक्षा भोगाभिलाषः स्यात्'* **इति।**

अनात्मपदार्थेषु धनधान्यपुत्रादिषु आत्मीयभावः, तत्राधिकानुरागश्च 'सुखसाधनरूपेण एषां प्राप्तिः भवेद्' इति भोगाकांक्षां जनयतः। एषा कांक्षा मिथ्यादृष्टेः स्वभावभूता। सम्यग्दृष्टेरपि क्वचिद् भवति, तदा दर्शनस्य मलं स्वीक्रियते। निःकांक्षितत्वं तु सम्यक्त्वगुणम्। जीवस्य धनधान्यादिप्राप्तिसम्बन्धिनी या तीव्रा आसक्तिर्भवति, सा मोहजनिता भवति। एवं *(धम्मबुद्धिं चइदूण)* **धर्मबुद्धिं त्यक्त्वा। भोगाकांक्षाकारणात् धर्मे रुचिरपि तस्य न सम्भवतीति भावः।**

(सर्वोदया टीका—) (मम पुत्रः) यह मेरा पुत्र है, यहाँ पुत्र शब्द सामान्य सन्तति का बोध कराता है, अतः पुत्री का भी बोधक है। यह (मम भार्या) मेरी भार्या, पत्नी है। यह **(मम धनधान्यमिति)** मेरा धन व धान्य है। धन से गौ आदि (पशु-सम्पत्ति) का ग्रहण करना चाहिए। धान्य पद से गेहूँ, चना, चावल आदि (अनाजों) का ग्रहण करना चाहिए। (तीव्रकांक्षया) तीव्र, अत्यधिक कांक्षा के द्वारा। कांक्षा, अभिलाषा, आशंसा, आसक्ति, लोलुपता —ये पर्याय हैं। इस लोक और परलोक के भोगों की इच्छा करना 'कांक्षा' कहलाती है।

पंचाध्यायी (2/547) में (पं. राजमल्ल ने) कहा भी है— कांक्षा यानी भोगों की अभिलाषा।

आत्मेतर पदार्थों— धन, धान्य, पुत्र आदि में आत्मीयता, उनमें अधिक अनुराग —ये 'मेरे सुख के साधन रूप में इनकी प्राप्ति होती रहे' इस प्रकार की भोगेच्छा को जन्म देते हैं। यह कांक्षा मिथ्यादृष्टि को तो स्वभावतः हुआ करती है। कभी-कभी सम्यग्दृष्टि को भी हो जाती है, तो इसे दर्शन का मल (दोष) कहा जाता है। निःकांक्षित होना (कांक्षारहित होना) तो सम्यक्त्व-गुण है ही। जीव की धन, धान्य आदि की पाप्ति हेतु जो तीव्र आसक्ति होती है, वह मोहजनित होती है। इस तरह **(धर्मबुद्धिं त्यक्त्वा)** धर्म-बुद्धि को छोड़कर। भोग-आकांक्षा होने से धर्म में रुचि भी उस जीव की नहीं हो पाती —यह भाव है।

धर्मबुद्धि-अभावात् किं भवति जीवस्य? उच्यते— *(पच्छा)* **पश्चात्, तदनन्तरं, तत्परिणामरूपेण,** *(दीहसंसारे परिपडदि)* **-दीर्घसंसारे परितः पतति, सर्वतो भावेन सन्मार्गभ्रष्टो भूत्वा अधमां स्थितिं प्राप्नोति। पञ्चपरावर्तनरूपे संसारे एव पतति, दुर्गतिषु भ्रमति इत्यर्थः। वस्तुतो धर्म एव प्राणिनः पतनाद् रक्षति, नान्यः। मिथ्यात्वरागादिसंसरणरूपेण भावसंसारे पतन्तं प्राणिनमुद्धृत्य निर्विकारशुद्धचैतन्ये धरतीति धर्मः इति प्रवचनसारस्य** *(1/7)* **तात्पर्यवृत्तौ निर्दिष्टम्। धर्मबुद्ध्यभावात् अधर्माचरणेन जीवस्य अनेकधा पतनं नियतमेव।**

उक्तं चामितगति-श्रावकाचारे *(2/29)*—

द्विषद्विषतमोरोगैः दुःखमेकत्र जायते।
मिथ्यात्वेन दुरन्तेन, जन्तोर्जन्मनि जन्मनि॥

अत्रेदं ज्ञेयम्— आत्मा त्रिविधः— बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा चेति। तत्र परमात्मा परमोत्कृष्टः, पूज्यः। बहिरात्मा तु अधमः, निकृष्टश्च। अस्यां गाथायां बहिरात्मभूतस्य जीवस्य तद्भाविजीवनस्य च निर्देशः कृतोऽस्ति। बहिरात्मनः स्वभावतः परकीयपदार्थेषु आत्मबुद्धिर्भवति।

धर्मबुद्धि न होने के कारण जीव का क्या होता है? बता रहे हैं— **(पश्चात्)** उसके बाद, उसके परिणाम स्वरूप **(दीर्घसंसारे परिपतति)** दीर्घ संसार में सभी प्रकार से पतित हो जाता है, अर्थात् सभी तरह से सन्मार्ग-भ्रष्ट होकर अधम स्थिति को प्राप्त करता है। पंच परावर्तन रूप संसार में ही पतित होता है और दुर्गतियों में भ्रमण करता है— यह अर्थ हुआ। वस्तुतः धर्म ही प्राणियों को पतन से बचाता है, कोई और नहीं। मिथ्यात्व व राग आदि के विस्तार स्वरूप भावसंसार में पड़े हुए प्राणी का उद्धार कर निर्विकार शुद्ध चैतन्य में स्थापित करता है, वह धर्म होता है— ऐसा प्रवचनसार (1/7) की तात्पर्यवृत्ति टीका में बताया गया है। धर्मबुद्धि के न होने से जीव, अधर्माचरण करता है और उससे उसका अनेक रूपों में पतन होना निश्चित ही है।

अमितगति-कृत श्रावकाचार (2/29) में कहा भी है— ''शत्रु, विष, अन्धकार व रोग —ये जीव को एक बार दुःख देते हैं, किन्तु मिथ्यात्व तो दुरन्त (कठिनता से नष्ट होने वाला) होता है, वह तो प्राणी को जन्म-जन्मांतरों तक दुःख प्रदान करता है।''

यहाँ यह ज्ञातव्य है— आत्मा के तीन प्रकार होते हैं— बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इनमें परमात्मा सर्वश्रेष्ठ व पूज्य होता है। किन्तु बहिरात्मा अधम व निकृष्ट होता है। इस गाथा में बहिरात्मा जीव और उसके भावी जीवन का निर्देश किया गया है। बहिरात्मा स्वभावतः पर-पदार्थों में आत्मबुद्धि (मेरा, मेरी —यह भावना) रखता है।

उक्तं च रयणसारे *(गाथा-128)*—

देहकलत्तं पुत्तं मित्तादी विहावचेदणारूवं।
अप्पसरूवं भावदि सो चेव हवेदि बहिरप्पा॥

अस्य च बहिरात्मजीवस्य चतुर्थगुणस्थानादधः प्रथम-द्वितीयतृतीयगुणस्थानेषु उत्कृष्ट-मध्यम-जघन्यभेदाः विज्ञेयाः।

बहिरात्मनो धर्मबुद्धिर्न भवति। स पूर्णतया नास्तिकतां बिभर्ति। चार्वाकदर्शनानुसारिणोऽपि बहिरात्मन एव। ते प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणं मन्वते। स्वर्गनरकपरलोकादिकस्य सत्तां काल्पनिकामेव स्वीकुर्वन्ति ते। आत्मा नामकः सूक्ष्मोऽदृश्यः शाश्वतः पदार्थो न तैरभ्युपेयते। ते विचारयन्ति यत् सामान्यनेत्रैः यत्प्रत्यक्षं भवति, तस्यैव सत्ता स्वीकरणीया। आगम-प्रामाण्यं च न ते स्वीकुर्वन्ति। अतः सर्वज्ञतीर्थकरादीनां यद् वर्णनं शास्त्रेषु प्राप्यते, तदपि तेषां दृष्टौ कल्पनाप्रसूतमिव। तपस्त्यागसंयमादिभिः स्वर्गमोक्षादिप्राप्तिरपि न तेषां विश्वसनीयतामञ्चति।

रयणसार (गाथा-128) में कहा भी है—

"जो शरीर, कलत्र (पत्नी), पुत्र, मित्र आदि को तथा विभाव चेतना (राग-द्वेष आदि) को आत्म-स्वरूप मानता है, वही बहिरात्मा है।"

इस बहिरात्मा जीव के चतुर्थगुणस्थान से नीचे —प्रथम, द्वितीय व तृतीय गुणस्थानों में उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य भेद जानने चाहिए (अर्थात् सबसे अधिक उत्कृष्ट बहिरात्मा प्रथम गुणस्थान में हैं, क्योंकि सर्वाधिक तीव्र बहिरात्म-भाव वहीं है, और तीसरे गुणस्थान में जघन्य मानना चाहिए।)

बहिरात्मा जीव को धर्मबुद्धि नहीं हुआ करती, अर्थात् वह पूर्ण रूप से 'नास्तिक' होता है। चार्वाक दर्शन के अनुयायी भी बहिरात्मा ही हैं। वे 'प्रत्यक्ष' को ही एकमात्र प्रमाण मानते हैं। स्वर्ग, नरक, परलोक आदि की सत्ता को वे काल्पनिक ही मानते हैं। आत्मा नामक सूक्ष्म, अदृश्य व शाश्वत पदार्थ को वे स्वीकार नहीं करते। उनका चिन्तन या विचार यही होता है कि जो पदार्थ सामान्य नेत्रों से दिखाई पड़े, उन्हीं की सत्ता माननी चाहिए। वे आगम (शब्द) को भी प्रमाण नहीं मानते। इसलिए, सर्वज्ञ तीर्थंकर आदि का जो वर्णन शास्त्रों में मिलता है, वह भी उनकी दृष्टि में काल्पनिक ही है। तप, त्याग, संयम आदि द्वारा स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति होती है —इस कथन को वे विश्वसनीय नहीं मानते।

ते तर्कणामुद्भावयन्ति यद् यदि धर्माचरणेन सुखप्राप्तिर्निश्चिता, तर्हि कथं तपस्विनः, संयमिनः, त्यागिनः रुग्णा जायन्ते, दुःखाक्रान्ताश्च कथं ते दृश्यन्ते? अतो धर्मान्धजनैः प्रकल्पितं सर्वं निरूपणं शास्त्रेषु। न हि मरणानन्तरं पुनर्जन्म, यतो हि पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-इतिभूतचतुष्टयस्यैव परस्परसंयोजने चेतनमाविर्भवति, मृत्युसमये देहे दग्धे न किञ्चिच्चैतन्यरूपं तत्त्वमवशिष्यते। अतस्तैः *(चार्वाकैः)* **कथ्यते—**

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

एवमात्मतत्त्वस्य स्वतन्त्रपदार्थस्यैवाभावं प्रतिपाद्य ते कर्मबन्धन-मुक्ति-मुक्तिमार्गादीनामपि सद्भावं नैव मन्यन्ते। अतस्तत्सम्बन्धिनी चर्चाऽपि नाद्रियते तैः। किन्तु युक्तिप्रमाणाधारेण वस्तुस्थितिर्विचार्यते चेत् तर्हि मिथ्यादृष्टीनां पूर्वोक्ता विचाराः स्वतो निराकृता भवन्ति। सर्वेषाम-दृश्यपदार्थानामसद्भाव एवेति स्वीक्रियमाणे समस्तव्यवहारो विरुद्ध्येत।

वे (बहिरात्मा जीव) तर्क किया करते हैं कि यदि धर्माचरण से सुख की प्राप्ति होनी निश्चित है तो फिर तपस्वी, संयमी व त्यागी जनों को रोग क्यों हो जाते हैं, और वे क्यों दुःखी होते देखे जाते हैं? इसलिए (वे यह मानते हैं कि) शास्त्रों में जो भी निरूपण है, वह धर्मान्ध जनों द्वारा कल्पना से लिखा गया है। मृत्यु के बाद पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि पृथ्वी, जल, अग्नि, व वायु —इन चारों भूतों का जब परस्पर योग होता है, तब चेतना आविर्भूत होती है, किन्तु मृत्यु होने पर देह के जल जाने पर कुछ भी चैतन्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। इसलिए उन (चार्वाकों) का कहना है—

''जब तक जीएँ, ऋण करके भी घृत पीएँ (अर्थात् भोग करते रहें), क्योंकि देह के भस्म हो जाने पर उस (जीवन) का पुनः आगमन किस प्रकार होगा?''

इस प्रकार, वे आत्मा का स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में अभाव प्रतिपादित करते हुए कर्मबन्ध, मुक्ति, मोक्षमार्ग —इत्यादि का भी सद्भाव नहीं मानते, अतः उनके सम्बन्ध में वे कोई चर्चा करना भी नहीं चाहते। किन्तु युक्ति व प्रमाण के आधार पर वस्तुस्थिति पर विचार किया जाय तो मिथ्यादृष्टियों के उक्त विचार स्वतः खण्डित हो जाते हैं। जो भी पदार्थ दिखाई नहीं देते, उन सभी के अस्तित्व को स्वीकार न करने पर तो सारा (लौकिक) व्यवहार असंगत, विरुद्ध हो जाएगा।

मम मस्तके पीडा भवति, अहं दुःखी, अहं सुखी —इत्यादि व्यवहाराः अदृश्यपीडादिनिमित्तका एव। किञ्च, अस्माकं पिता, पितामहः, प्रपितामहः इत्यादिकाः नास्माभिर्दृष्टाः, तथापि पूर्वजपुरुषवचनप्रामाण्येन तेषां सत्ता स्वीक्रियते। अतः आगमप्रामाण्यं स्वतः समर्थितं भवति।

यदि भूतचतुष्टयात् चैतन्यमुत्पन्नं स्यात्तर्हि पृथ्व्याः धारणगुणेन, वायोः प्रेरणागुणेन, जलस्य द्रवगुणेन, अग्नेरुष्णतागुणेन जीवे भाव्यम्, यतो हि कारणगुणाः कार्ये भवन्ति, किन्तु न तेषां गुणानां प्राप्तिर्जीवे, अतः भूतचतुष्टयात् जीवस्योत्पत्तिर्न युक्तियुक्ता। किञ्च, जीवितपुरुषस्य मृत्यौ, स्वतः प्रमाणितं भवति यद् भूतचतुष्टये तत्र सुरक्षितेऽपि या जड़ता प्रकटिता, चञ्चलता नष्टा, तस्य किं कारणमिति विचार्येत, तर्हि स्वतन्त्रचैतन्यपदार्थस्य सत्ता युक्तिसिद्धा भवत्येव।

किञ्च, सद्योजातबालकस्य स्तनपानशिक्षणं कथं केन क्रियते? नूनमेव तत्र (आत्मा) कश्चित्सूक्ष्मोऽदृश्यपदार्थः, यस्मिन् पूर्वजन्मानुभवसंस्काराः सुरक्षितास्तिष्ठन्ति, अन्यथा तस्य स्तनपानप्रवृत्तिः कथमपि युक्तियुक्ततां न वहेत्।

मेरे माथे में पीड़ा है, मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ— इत्यादि व्यवहार के आधार ये पीड़ा आदि अदृश्य पदार्थ ही तो हैं। और हमारे पिता, दादा, पड़दादा आदि को हमने तो देखा नहीं होता, फिर भी उनकी सत्ता हम इसलिए मानते हैं क्योंकि हमारे पूर्वजों का वचन हम प्रमाण रूप में मानते हैं, इसलिए आगम की प्रमाणता भी स्वतः समर्थित हो जाती है।

और, यदि चारों भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति होना मानते हो तो पृथ्वी का धारण गुण, वायु का प्रेरणा गुण, जल की द्रवता और अग्नि की उष्णता —ये जीव में होने चाहिए, क्योंकि कारण के गुण कार्य में आते हैं, किन्तु उक्त गुणों की सत्ता जीव में नहीं पाई जाती, इसलिए चार भूतों से जीव की उत्पत्ति मानना युक्तिसंगत नहीं है। और, जीवित पुरुष के मरने पर स्वतः सिद्ध हो जाता है कि चार भूतों के सुरक्षित रहने पर भी जो जड़ता आ गई, चंचलता नष्ट हो गई, उसका क्या कारण है— इस पर विचार करने पर स्वतन्त्र चैतन्य पदार्थ की सत्ता युक्तिसिद्ध हो ही जाती है।

और, तुरन्त पैदा हुए बालक को स्तनपान की शिक्षा कैसे व किससे प्राप्त हुई? निश्चित ही वहाँ कोई सूक्ष्म व अदृश्य (आत्मा) पदार्थ है, जिसमें पूर्वजन्म के अनुभव व संस्कार सुरक्षित रहते हैं, अन्यथा उस (बालक) की स्तन-पान में प्रवृत्ति किसी भी प्रकार युक्ति-संगत नहीं होती।

उक्तं च प्रमेयरत्नमालाग्रन्थे *(4/8)* **श्रीमद्भिः लघुअनन्तवीर्यैः —**

तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः।
भूतानन्वयनात् सिद्धः, प्रकृतिज्ञः सनातनः॥

अद्य वैज्ञानिकैरपि आत्मनोऽस्तित्वं पुनर्जन्मादिकं च समाश्रित्य बहवः प्रयोगाः विधीयन्ते, यैः प्राचीनागमवाण्याः समर्थनमेव भविष्यतीति। अत्र विषये बहु वक्तव्यमपि विस्तारभयान्न लिख्यते।

गाथायास्तात्पर्यमिदं यत् भो मनीषिन्! त्वया आस्तिक्यभावेन वीतरागसर्वज्ञवाणी श्रद्धेया। निजज्ञायकैकशुद्धात्मभाव उपादेयः, तदीयरुचिप्रतीतिअनुभूतिरूपमभेदरत्नत्रयं ध्यातव्यम्, येन विना मुक्तिर्न सम्भवति। अतो बुद्धिपूर्वकं पापव्यसनादित्यागो विधेयः, गृहस्थोचितषडावश्यकानि अनुष्ठेयानि।

प्रमेयरत्नमाला ग्रन्थ (4/8) में आचार्य लघु अनन्तवीर्य जी ने कहा भी है—

''ज्ञाता-द्रष्टा और सनातन (नित्य द्रव्य) के रूप में आत्मा की सत्ता स्वतःसिद्ध हो जाती है, क्योंकि (1) तत्काल उत्पन्न बालक में स्तनपान की इच्छा देखी जाती है, (2) कुछ लोगों में व्यन्तर देव (भूत-प्रेतादि) का आना देखा जाता है, (3) कुछ लोगों को अपने पूर्वजन्म की स्मृति भी होती देखी जाती है, और (4) जीव या आत्मा में (चार) भूतों के गुणों का अन्वय (कार्य में आना) नहीं देखा जाता।''

और, आज तो वैज्ञानिक भी आत्मा के अस्तित्व व पुनर्जन्म आदि के विषय में अनेक प्रयोग कर रहे हैं जिनसे प्राचीन आगम-वाणी का समर्थन होगा —ऐसी सम्भावना की जा रही है। इस विषय में बहुत कुछ कहा जा सकता है, किन्तु विस्तार-भय से नहीं लिख रहे हैं।

प्रस्तुत गाथा का तात्पर्य यह है कि हे मनीषी! तुम्हें वीतराग सर्वज्ञ की वाणी पर आस्तिकता के साथ श्रद्धा करनी चाहिए। निज ज्ञायक एक शुद्धात्मस्वरूप ही उपादेय है, उसी की रुचि, प्रतीति व अनुभूति रूप अभेद रत्नत्रय का ध्यान करो जिसके बिना मुक्ति सम्भव नहीं है। इसलिए बुद्धिपूर्वक पाप-व्यसन आदि का त्याग करना चाहिए और गृहस्थ के लायक छः आवश्यकों का अनुष्ठान भी करना चाहिए।

उक्तं च पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकायां *(6/7)*—

देवपूजा गुरूपास्तिः, स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥

किन्तु अनास्तिक्येन अधर्मबुद्ध्या विषयसुखासक्त्या वा यदि आचरणं विधीयते, तर्हि दीर्घसंसारे परिभ्रमणमधःपतनं च दुर्वारमेवेति गाथाया हार्दम्।

मिथ्यादर्शनं संसार-परिभ्रमणस्य कारणमिति शास्त्रकाराः सम्प्रति प्रतिपादयन्ति—

मिच्छोदएण जीवो, णिंदंतो जेण्हभासिदं धम्मं।
कुड्डियधम्मकुलिंगं, मण्णंतो भमदि संसारे॥३२॥

छाया— *मिथ्यात्वोदयेन जीवः निन्दयन् जैनभाषितं धर्मम्।*
कुत्सितधर्मं कुलिङ्गं मन्यमानः भ्रमति संसारे॥

पद्मनन्दिपंचविंशतिका (6/7) में कहा भी है—

"देवपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप व दान —ये गृहस्थों द्वारा प्रतिदिन करने योग्य छः कर्म हैं।"

किन्तु अनास्तिक्य (नास्तिकता), अधर्मबुद्धि तथा विषयसुख की आसक्ति के साथ आचरण करोगे तो दीर्घ संसार में परिभ्रमण या अधःपतन को रोकना कठिन ही होगा —यह गाथा का आन्तरिक भाव है।

संसार-परिभ्रमण का कारण मिथ्यादर्शन है— इसे शास्त्रकार अब प्रतिपादित कर रहे हैं—

(32)

(गाथा-अर्थ—) (यह संसारी जीव) मिथ्यात्व के उदय से, जिनेन्द्र-कथित धर्म की निन्दा करता हुआ तथा कुत्सित धर्म एवं कुत्सित लिङ्ग को (सद्धर्म आदि के रूप में) मानता हुआ संसार में भ्रमण (ही) करता रहता है।

(सर्वोदया टीका—) दर्शनमोहस्य त्रिषु भेदेषु मिथ्यात्वमेको भेदः। यस्योदयात् सर्वज्ञप्रणीतमार्गपराङ्मुखः, तत्त्वार्थश्रद्धाननिरुत्सुकः, हिताहितविचार-असमर्थो मिथ्यादृष्टिर्भवति, तत् मिथ्यात्वमभिधीयते— इति सर्वार्थसिद्धौ *(8/9)* **प्रतिपादितम्। एतेन सम्यक्त्वगुणं पूर्णत आव्रियते।**

उक्तं च पञ्चाध्याय्याम् *(2/1002)*—

एवं च सति सम्यक्त्वे गुणे जीवस्य सर्वतः।
तं मोहयति यत्कर्म दृङ्मोहाख्यं तदुच्यते॥

अस्य दर्शनमोहस्य कर्मण आस्रवे हेतुभूतोऽस्ति— केवलि-श्रुत-संघ-धर्म-देवावर्णवादः —इति ग्रन्थवरे तत्त्वार्थसूत्रे *(6/13)* **निर्दिष्टम्। केवलिप्रभृतिषु स्वबुद्धिकालुष्येण असद्भूतदोषोद्भावनमवर्णवादः। यथा— केवली भगवान् कवलाहारं करोति, तथा केवलिनः क्रमेण केवलज्ञानदर्शनं भवतः, तस्य अलाबूपात्रं परिग्रहो भवतीति प्रख्यापनं केवलि-अवर्णवादो ज्ञेयः।**

(सर्वोदया टीका—) दर्शनमोहनीय के तीन भेदों में एक भेद है— मिथ्यात्व। जिसके उदय से सर्वज्ञ-प्रणीत मार्ग से पराङ्मुख होकर, तत्त्वार्थ (यथार्थ पदार्थ) की श्रद्धा से रहित तथा हित-अहित की विचारणा में असमर्थ जीव मिथ्यादृष्टि होता है, वह मिथ्यात्व कहा जाता है— ऐसा सर्वार्थसिद्धि (8/9) में (आ. पूज्यपाद द्वारा) प्रतिपादित किया गया है। इस मिथ्यात्व द्वारा जीव का सम्यक्त्व गुण पूर्णतया आवृत हो जाता है।

पञ्चाध्यायी (2/1002) में (पं. राजमल जी ने) कहा भी है—

''इसी प्रकार जीव का एक सम्यक्त्व गुण है, उसे जो कर्म सब प्रकार से मूर्च्छित (दुष्प्रभावित, निष्प्रभावी, प्रभावहीन) कर देता है, उसे दर्शन-मोहनीय कहते हैं।''

इस दर्शनमोह के आस्रव (आगमन) में हेतु है— केवली, श्रुत, संघ, धर्म व देव —इनका अवर्णवाद (निन्दा आदि) करना —ऐसा तत्त्वार्थसूत्र (6/13) में बताया गया है। 'केवली' (सर्वज्ञ, परमात्मा) आदि में निज बुद्धि की कलुषता के कारण जो दोष नहीं हैं, उन दोषों का उद्भावन (प्रकट) करना —इसे अवर्णवाद कहते हैं। उदाहरणार्थ— केवलीभगवान् कवलाहार करते हैं, उनके ज्ञान व दर्शन क्रम से होते हैं, उनके अलाबू-पात्र (तुम्बी) परिग्रह होता है— ऐसा निरूपण करना 'केवली-अवर्णवाद' जानना चाहिए।

एवं मांसादिभक्षणं मद्यादिपानं रात्रिभोजनमित्यादिके न कश्चिद् दोषः— इति श्रुताभिप्रायख्यापनं श्रुतावर्णवादो भवति। एवं श्रमणाः अस्नानेन मलिनदेहाः अशुचिरूपाः, दिगम्बरत्वेन निस्त्रपाः विचरन्ति इति कथनं संघ-अवर्णवादः। जिनोक्तो धर्मो निस्सारः, तत्सेविनश्चासुरा इति प्रख्यापनं धर्म-अवर्णवादः। देवा मांसं सेवन्ते —इत्यादि निन्दितं प्रख्यापनं देव-अवर्णवादः।

एतैर्दर्शनमोहनीयकर्मास्रवो भवति। कषायादितारतम्येन स्थिति-अनुभागबन्धावपि तत्कर्मणो भवतः। मोहनीयकर्मण उत्कृष्टस्थितिकालः सप्ततिकोटाकोटिसागरोपमप्रमितो भवति। तस्य जघन्यस्थितिरन्तर्मुहूर्तम्। उत्कृष्टस्थितेराबाधाकालः सप्तसहस्रवर्षप्रमितः। तदनन्तरं तस्योदयो भवति। तेन कारणेन *(मिच्छोदएण जीवो)* **मिथ्यात्व-उदयेन जीवः,** *(जेण्हभासिदं धम्मं)* **जिनेन भाषितमुपदिष्टं धर्मम्,** *(णिंदंतो)* **निन्दयन्, सदोषं भाषमाणः, अन्यजनानां श्रद्धानं विखण्डयति। तेन विधीयमानां जिनधर्मनिन्दां श्रुत्वा स्थिरश्रद्धानवन्तो जनास्तु प्रभाविता न भवन्ति, तस्य कथनमुपेक्षन्ते। किन्तु**

इसी प्रकार, मांस आदि का भक्षण, मद्यादि का पान तथा रात्रि भोजन —इत्यादि में कोई दोष नहीं है —ऐसा श्रुत का तात्पर्य बताना 'श्रुत का अवर्णवाद' है। इसी तरह, श्रमण लोग स्नान नहीं करते हैं, इसलिए वे मलिन शरीर वाले तथा अशुद्ध अवस्था में रहते हैं, दिगम्बर रूप में वे निर्लज्ज होकर विहार करते हैं— ऐसा कहना 'संघ-अवर्णवाद' है। जिन-उपदिष्ट धर्म तो सारहीन है, उसके सेवन करने वाले तो असुर हैं —ऐसा निरूपण करना 'धर्म-अवर्णवाद' है। देव मांस सेवन करते हैं— इत्यादि कहना 'देव-अवर्णवाद' है।

इन सब (अवर्णवादों) से दर्शनमोहनीय कर्म का आस्रव होता है। कषायों की तरतमता (हीनता-अधिकता) के अनुरूप स्थितिबन्ध व अनुभागबन्ध भी इस कर्म के होते हैं। मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का काल 'सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर' होता है। इसकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकाल की है। उत्कृष्टस्थिति का आबाधाकाल (उदय में न आने का स्थितिकाल) सात हजार वर्ष का होता है। इस आबाधाकाल के समाप्त होने पर उसका उदय होता है। इसके फलस्वरूप **(मिथ्यात्व-उदयेन जीवः)** अर्थात् मिथ्यात्व के उदय से जीव **(जैनभाषितं धर्मम्)** जिनेन्द्र द्वारा भाषित या उपदिष्ट धर्म की **(निन्दयन्)** निन्दा करता हुआ, उसमें दोषारोपण करता हुआ मूढ़ व्यक्ति दूसरे लोगों की श्रद्धा को नष्ट करता है। उस (मिथ्यादृष्टि) के द्वारा की जाने वाली जिनधर्म की निन्दा को सुनकर स्थिर श्रद्धा वाले जन तो प्रभावित नहीं होते, और उसके कथन की

धर्मनिन्दको मिथ्यात्वी तु निरन्तरं दर्शनमोहनीयकर्म बद्ध्वा दुःखपरम्परामेव जनयति। यदि कदाचित् मिथ्यात्वमन्दोदयः स्यात्, तर्हि योग्यनिमित्त-सामग्रीसन्निधाने सम्यक्त्वमपि प्राप्तुं प्रभवन्ति चतुर्गतिकाः प्राणिनः।

मिथ्यात्वस्य पञ्च प्रकाराः प्रमुखतो निर्दिष्टाः— एकान्तमिथ्यात्वम्, विनयमिथ्यात्वम्, विपरीतमिथ्यात्वम्, संशयमिथ्यात्वम्, अज्ञानमिथ्यात्वम् इति। एतस्मिन् पञ्चविधे मिथ्यात्वे उदिते सति जीवस्य कीदृश आचारो भवतीति विषये प्राकृतपञ्चसंग्रहग्रन्थे *(1/6, 1/8)* **शास्त्रकारैः निर्दिष्टम्—**

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होइ।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं पि रसं जहा जरिदो॥

मिच्छादिट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं व अणुवइट्ठं च॥

उपेक्षा (अनसुनी) कर देते हैं। किन्तु धर्म-निन्दा करने वाला मिथ्यादृष्टि तो निरन्तर दर्शनमोहनीय कर्म का बन्ध कर दुःख-परम्परा को ही उत्पन्न करता रहता है। यदि कभी (संयोगवश) मिथ्यात्व का मन्द उदय हो और योग्य निमित्त सामग्री का सुयोग मिल जाए तो चारों गतियों के प्राणी सम्यक्त्व भी प्राप्त कर सकते हैं।

मिथ्यात्व के पाँच भेद प्रमुख रूप में बताये गये हैं। वे हैं— एकान्त मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व और अज्ञान मिथ्यात्व। इस पाँच प्रकार के मिथ्यात्व के उदित होने पर जीव का आचार कैसा होता है— इस विषय में प्राकृत पंचसंग्रह ग्रन्थ (1/6, 1/8) में शास्त्रकार ने इस प्रकार बताया है—

''मिथ्यात्व को वेदन करता हुआ जीव विपरीत दृष्टि वाला हो जाता है। उसे धर्म उसी प्रकार अच्छा (रुचिकर) नहीं लगता जिस प्रकार ज्वरग्रस्त व्यक्ति को मधुर रस भी अच्छा नहीं लगता।''

''मिथ्यादृष्टि जीव (जिनेन्द्र द्वारा) उपदिष्ट वचन पर श्रद्धा नहीं करता। (इतना ही नहीं,) वह अन्य से उपदिष्ट या अनुपदिष्ट पदार्थों के अयथार्थ स्वरूप का श्रद्धान करता है।''

(कुड्डियधम्मकुलिंगं मण्णंतो) **कुत्सितं धर्मं कुलिङ्गं च मन्यमानः, अर्थात् प्रशस्तं जानानः। 'कुड्डिय' इति पदं कुरूप-अर्थकं परम्परयाऽत्र कुत्सितार्थबोधकम्। सद्धर्मस्थाने कुधर्मस्य, प्रशस्तद्रव्यभावलिङ्गयोः स्थाने कुद्रव्यलिङ्गस्य कुभावलिङ्गस्य च सम्मानं करोति, तदाद्रियते वेत्यर्थः। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेतिरत्नत्रयात्मकः, उत्तमक्षमादिलक्षणः अहिंसादिलक्षणो वा सद्धर्मो भवति, किन्तु तद्विपरीतं प्राणिहिंसा-समर्थकं कुधर्ममपि स सद्धर्मरूपेण सम्मानयति, अनुमोदते, समर्थयति च। एवं वीतरागतापोषकं यथाजातनिर्विकाररूपं नग्नदिगम्बरात्मकं शृंगार-वस्त्रादिपरिग्रह-विषयासक्ति-कषायादिरहितं च लिङ्गमेव सुलिङ्गम्, किन्तु तद्विपरीतं स मिथ्यादृष्टिः साधु मन्यते, आद्रियते, अनुमोदते च।**

एवमुत्कृष्टश्रावकस्यापि कृते शास्त्रेषु यल्लिङ्गं निर्दिष्टं तदपि ग्राह्यम्। उत्कृष्टश्रावकस्य द्वौ भेदौ। तत्र क्षुल्लकस्य कौपीनसहितं वस्त्रधारणम्, ऐलकस्य कौपीनमात्र-वस्त्रधारणं समनुमतम्। तद्विपरीतं लिङ्गमपि मिथ्यादृष्टिः समर्थयति। यथा— हिंसा-परिग्रहप्रभृति-दुर्भाववर्द्धकं यदपि लिङ्गं

(कुत्सितधर्मं कुलिङ्गं मन्यमानः) कुत्सित धर्म एवं कुत्सित लिङ्ग को मानता हुआ, अर्थात् उसे प्रशस्त जानता-समझता हुआ। 'कुड्डिय' इस प्राकृत पद का कुरूप अर्थ है, किन्तु यहाँ वह परम्परा से 'कुत्सित' अर्थ का बोधक है। सद्धर्म की जगह कुधर्म का, प्रशस्त द्रव्य व भावलिङ्ग की जगह कुद्रव्यलिङ्ग व कुभावलिङ्ग का वह सम्मान करता है अर्थात् उसे आदर-सम्मान देता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र —इन तीन रत्नों का समुदित रूप, उत्तम क्षमा आदि या अहिंसा आदि सद्धर्म है, किन्तु इससे विपरीत प्राणि-हिंसा के समर्थक कुधर्म को भी वह (मिथ्यादृष्टि) सद्धर्म के रूप में सम्मान देता है, अनुमोदन करता है व समर्थन करता है। इसी प्रकार, वीतरागता का पोषक, यथाजात बालक की तरह निर्विकार रूप नग्न दिगम्बरत्व तथा शृंगार-वस्त्रादिपरिग्रह-विषयासक्ति-कषायादि से रहित जो लिङ्ग (वेश) है, वही सुलिङ्ग है, किन्तु इससे विपरीत लिङ्ग को वह मिथ्यादृष्टि समीचीन मानता है, उसका आदर करता है और अनुमोदन करता है।

इसी तरह उत्कृष्ट श्रावक के लिए भी शास्त्रों में जो लिङ्ग बताया गया है, उसका भी यहाँ ग्रहण करना चाहिए। उत्कृष्ट श्रावक के दो भेद हैं, उनमें क्षुल्लक के लिए लँगोटी के साथ एक वस्त्र (दुपट्टा) और ऐलक के लिए मात्र एक कौपीन धारण की अनुमति दी गई है, किन्तु मिथ्यादृष्टि इससे विपरीत लिङ्ग का ही समर्थन करता है। उदाहरणार्थ हिंसा, परिग्रह आदि दूषित भावनाओं का वर्द्धक जो भी— लिङ्ग है, वह

तत् कुलिङ्गमेव। किन्तु तस्य समर्थनमादरं च स करोति। एवमेव सुतीर्थविपरीतं यत् कुतीर्थम्, तस्यापि विषये मिथ्यादृष्टेरादरो भवति।

वस्तुतः संसारतारणसमर्थं तीर्थं भवति। शुद्धबुद्धैकस्वभावलक्षणं निजशुद्धात्मस्वरूपमेव संसारसागरतारणसमर्थत्वात् तीर्थसंज्ञां बिभर्ति। निर्मलक्षमादिधर्माः, सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयात्मको मोक्षमार्गः, श्रुतम्, जिनेन्द्र-गणधरादयश्च तीर्थसंज्ञां दधति। व्यवहारेण च तीर्थकराणां पञ्चकल्याणकस्थानानि ऊर्जयन्तादीनि जगत्प्रसिद्धानि निश्चयतीर्थप्राप्तिहेतुत्वात् तीर्थानि अभिधीयन्ते।

किन्तु एतद्विपरीतानि मिथ्यात्वसंवर्द्धकानि स्थानानि मिथ्यादृष्टिभिस्तीर्थरूपेण ख्यापितानि, तत्र गिरिपतन-अग्निप्रवेश-जलप्रवेशादिना मरणम्, तथा वटवृक्षपूजन-नदीस्नानादिकं च भुक्तिमुक्तिप्रदायकं भवतीति विज्ञाप्यते। वस्तुतः एतानि सर्वाणि कुतीर्थान्येव।

कुलिङ्ग ही है। किन्तु वह मिथ्यादृष्टि उस (कुलिङ्ग) का समर्थन व आदर करता है। इसी तरह, सुतीर्थ से विपरीत जो होता है, वह कुतीर्थ होता है, उसमें भी मिथ्यादृष्टि का आदर भाव रहता है।

वस्तुतः तीर्थ वह होता है जो संसार से पार करा दे। शुद्ध बुद्ध स्वभावी निज शुद्धात्मस्वरूप की ही 'तीर्थ' संज्ञा है क्योंकि वही संसार-सागर से पार कराने में समर्थ होता है। निर्मल क्षमा आदि (दस) धर्म, सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग, श्रुत (जिनवाणी), जिनेन्द्र, गणधर आदि —इनकी भी तीर्थ संज्ञा है। व्यवहार-दृष्टि से तो तीर्थंकरों के पंच कल्याणक जिन स्थानों में हुए हैं, ऐसे जगत्प्रसिद्ध ऊर्जयन्त आदि क्षेत्रों को तीर्थ कहा जाता है क्योंकि ये निश्चयतीर्थ की प्राप्ति में साधन होते हैं।

किन्तु इनसे विपरीत, मिथ्यात्व को बढ़ाने वाले स्थानों को, मिथ्यादृष्टि लोग 'तीर्थ' रूप में विख्यात करते हैं और यह भी प्रचार करते हैं कि वहाँ पर्वत से गिरकर मरना, अग्नि में जलकर मरना, जल में डूबकर मरना तथा वटवृक्ष की पूजा व नदीस्नान आदि कार्य भोग व मोक्ष दोनों के साधक होते हैं। वस्तुतः ये भी स्थान कुतीर्थ ही हैं।

नदीविशेषस्नानेन नात्मशुद्धिः सम्भवति, केवलं संयमतपोध्यानप्रभृतिभिरेव भवत्यात्मशुद्धिरिति नदीविशेषसंगमस्य तीर्थसंज्ञा न युक्तियुक्ता। उक्तं च (एतया दृष्ट्यैव) नारायणेन श्रीकृष्णेन युधिष्ठिरं प्रति—

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा, सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र, न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा॥

(बृ. द्रव्यसंग्रहस्य 35 गाथायां ब्रह्मदेवकृतवृत्तौ उद्धृतं पद्यम्)

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे *(25/5)* **च समर्थितमेतत्—**

नो दृष्टः शुचितत्त्वनिश्चयनदो न ज्ञानरत्नाकरः,
पापैः क्वापि न दृश्यते च समतानामातिशुद्धा नदी।
तेनैतानि विहाय पापहरणे सत्यानि तीर्थानि ते,
तीर्थाभाससुरापगादिषु जडा मज्जन्ति तुष्यन्ति च॥

नदी-विशेष में स्नान करने से आत्मा की शुद्धि सम्भव नहीं होती, यदि होती है तो वह आत्मशुद्धि मात्र संयम, तप, ध्यान आदि के द्वारा ही होती है, इसलिए नदी-विशेष के संगम की 'तीर्थ' संज्ञा युक्तियुक्त नहीं है। (इसी दृष्टि से) नारायण श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर (पाण्डवपुत्र) को कहा था—

"संयम रूपी जल से परिपूर्ण, सत्य रूपी प्रवाह वाली, शील रूपी किनारों वाली और दया रूपी तरंगों वाली जो 'आत्मा' नदी है, उसी में हे पाण्डुपुत्र! स्नान करो, क्योंकि अन्तरात्मा जल से शुद्ध नहीं होता।" *(बृ. द्रव्यसंग्रह की 35वीं गाथा पर ब्रह्मदेवकृत वृत्ति में उद्धृत)*

पद्मनन्दिपंचविंशतिका ग्रन्थ (25/5) में भी इसी का समर्थन करते हुए कहा गया है—

"निश्चय तत्त्व रूपी पवित्र नदी का, ज्ञानरूपी सागर का पापी लोगों ने कभी दर्शन नहीं किया। इसी तरह समता नाम की अतिपवित्र नदी का भी कहीं साक्षात्कार या ज्ञान उन्हें नहीं हो पाया। यही कारण है कि पापहारी (समता आदि) उक्त तीर्थों को छोड़कर जड़बुद्धि लोग गंगा आदि तीर्थाभासों में स्नान करते हैं और आत्मसन्तोष अनुभव करते हैं।"

एवं कुधर्मकुलिङ्गकुतीर्थसेवनपरो जीवः *(संसारे भमदि)* **पञ्चपरावर्तनदुरन्ते संसारे जन्ममरणपरम्पराप्रवाहे परिभ्रमणमेव करोति, न ततो मुच्यते। गाथायास्तात्पर्यमिदं यत् शास्त्राधारेण च सद्धर्मसत्तीर्थसल्लिङ्गस्वरूपं सम्यक् विज्ञेयम्, तत्रैव श्रद्धानमपि करणीयम्। विपरीतस्वरूपेषु कुधर्मादिषु आदरो न कर्तव्यः, यतो हि तैर्मोक्षपुरुषार्थसिद्धिरात्मकल्याणं वा न सिद्ध्यति। शुद्धबुद्धज्ञायकस्वभावरूपां संसारतरणनौकां समाश्रय। तथैव व्यवहारतीर्थेष्वपि आदरः कर्तव्यः। सद्धर्मादिसेवनेन च स्वमनुष्यजन्म सार्थकं विधातव्यम्।**

मद्यमांसादिसेवनेन संसार-भ्रमणमेव भवतीति शास्त्रकाराः सम्प्रति प्रतिपादयन्ति—

हंतूण जीवरासिं, महुमंसं सेविदूण सुरपाणं।
परदव्व परकलत्तं, गहिदूण य भमदि संसारे॥३३॥

छाया— *हत्वा जीवराशिं मधुमांसं सेवित्वा सुरापानम्।*
परद्रव्यं परकलत्रं गृहीत्वा च भ्रमति संसारे॥

इसी प्रकार, कुधर्म, कुलिङ्ग व कुतीर्थ का सेवन करने वाला जीव **(संसारे भ्रमति)** पञ्च परावर्तन के रूप में जिसका अन्त पाना कठिन होता है, ऐसे संसार में, जहाँ जन्म-मृत्यु क्रम का प्रवाह बना रहता है, परिभ्रमण ही करता रहता है, उससे मुक्त नहीं हो पाता। गाथा का तात्पर्य यह है कि शास्त्रों के आधार पर सद्धर्म, सत्तीर्थ व सल्लिङ्ग के स्वरूप को अच्छी तरह जानना चाहिए, उसी के प्रति श्रद्धान रखना चाहिए। इनसे विपरीत स्वरूप वाले कुधर्म आदि के प्रति आदर भाव नहीं रखना चाहिए, क्योंकि उनसे मोक्ष प्राप्ति रूप पुरुषार्थ या आत्मकल्याण की सिद्धि नहीं होती। शुद्ध बुद्ध ज्ञायक स्वभाव ही वह नौका है जो संसार-सागर से पार करा सकती है, अतः उसी का आश्रय लेना चाहिए। इसी प्रकार, व्यवहार-तीर्थों के प्रति भी आदर रखना उचित है। सद्धर्म आदि का सेवन करते हुए मनुष्य-जन्म को सार्थक करना चाहिए।

मद्य, मांस आदि का सेवन करने से संसार-भ्रमण ही होता है— इस तथ्य को शास्त्रकार अब प्रतिपादित कर रहे हैं—

(33)

(गाथा-अर्थ—) (यह संसारी जीव) जीव-राशि का वध करके, मधु, मांस और सुरापान का सेवन करके तथा पर-द्रव्य व पराई स्त्री का हरण करके संसार में भ्रमण करता रहता है।

(सर्वोदया टीका—) संसारी जीवः सम्यग्ज्ञानाभावात् हिंसादिपापकर्मसु प्रवर्तते। स *(हंतूण जीवरासिं)* **हत्वा जीवानां राशिं समूहम्। हिंसाकर्मणि प्रवृत्तो बहूनां, संख्यातानामसंख्यातानामनन्तानां वा जीवानां वधं करोति, ततश्च संसारभ्रमणं तस्येति 'संसारे भ्रमति' इत्यनेन अन्वयः कर्तव्यः।** *(महु-मंसं सेविदूण)* **मधु-मांसयोः सेवनं विधाय।**

मधुसेवने मांससेवने च जीवहिंसा भवत्येव, अतस्तत्सेवनं संसारभ्रमणस्य हेतुभूतम्। एतदेव विशदीक्रियते— मधुमक्षिकानां निवासस्थानं 'छत्र' रूपं भवति। मधुमक्षिकाः पुष्पेभ्यो रसं गृहीत्वा तत्र 'छत्रे' संगृह्णन्ति। तत्रासंख्याः सूक्ष्मजीवा उत्पद्यन्ते म्रियन्ते च। मधुमक्षिका अपि तत्र म्रियन्ते, कलेवरं च तत्रैव तिष्ठति। तत्र संगृहीतो रस एव 'मधु'-नाम्ना अभिधीयते। मधुसंग्राहकाः ग्रामीणा वनचरा वा जनाः छत्रस्य अधस्तात् अग्निं प्रज्वालयन्ति, तेन मधुमक्षिकास्ततः प्राणरक्षणाय पलायन्ते, प्रचण्डाग्निज्वालाभिः छत्रस्थितासंख्यजीवानां नाशे सति रससंग्रहो विधातुं शक्यते। एवं मधुसेवने साक्षात् परम्परया वा जीवहिंसा नियता। अत एव मांसवत् मधुद्रव्यमपि महाविकृतिरूपेण निर्दिष्टम्।

(सर्वोदया टीका—) संसारी प्राणी सम्यग्ज्ञान न होने के कारण, हिंसा आदि पाप कर्मों में प्रवृत्त होता रहता है। वह **(हत्वा जीवराशिम्)** जीवों के समूह की हत्या करके। हिंसा-कर्म में प्रवृत्त होता हुआ वह बहुत से या संख्यात, असंख्यात या अनन्त जीवों का वध करता है, फलस्वरूप उसका संसार में ही भ्रमण होता रहता है, इस प्रकार 'संसार में परिभ्रमण करता है' इस वाक्य के साथ जीव का अन्वय (सम्बन्ध) करना चाहिए। **(मधु-मांसं सेवित्वा)** मधु (शहद) व मांस का सेवन (भक्षण) करके।

मधु व मांस —इन दोनों के सेवन में जीव-हिंसा होती ही है, इसलिए उनका सेवन संसार-भ्रमण का कारण माना गया है। इसी तथ्य को स्पष्ट किया जा रहा है— मधुमक्खियों का निवास-स्थान उनका 'छत्ता' होता है। मधुमक्खियाँ फूलों से रस ग्रहण कर, उसे छत्ते में लाकर संग्रह करती जाती हैं। वहाँ असंख्य सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति होती रहती है और वे वहीं मरते भी रहते हैं। वहीं मधुमक्खियाँ भी मरती रहती हैं, और उनका (मृत) शरीर वहीं रस के साथ पड़ा रहता है। वहाँ जो रस संगृहीत होता जाता है, उसे ही 'मधु' कहते हैं। शहद को इकट्ठा करने वाले ग्रामवासी या वनवासी लोग छत्ते के नीचे आग जलाते हैं, जिससे वहाँ से मधुमक्खियाँ प्राण-रक्षार्थ उड़ जाती हैं, प्रचण्ड अग्नि की लपटों से छत्ते में स्थित असंख्य जीवों का नाश हो जाता है, तब मधु का संग्रह किया जाता है। इस प्रकार, मधु के सेवन में साक्षात् या परम्परा से जीव-हिंसा नियत रूप से होती ही है। इसी दृष्टि से मांस की तरह ही मधु को भी 'महाविकृति' रूप में माना गया है।

उक्तं च लाटीसंहितायाम् *(1/72-74)*—

माक्षिकं माक्षिकानां हि मांसासृक्पीडनोद्भवम्।
प्रसिद्धं सर्वलोके स्यादागमेष्वपि सूचितम् ॥

न्यायात् तद्भक्षणे नूनं पिशिताशनदूषणम् ।
त्रसास्ता मक्षिका यस्मादामिषं तत्कलेवरम्॥

किञ्च तत्र निगोतादिजीवाः संसर्गजाः क्षणात्।
संमूर्च्छिमा न मुञ्चन्ति तत्सङ्गं जातु क्रव्यवत्॥

आचार्यवैरमृतचन्द्रैरपि पुरुषार्थसिद्ध्युपाये *(श्लोक-69-70)* **प्रोक्तम्—**

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके।
भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम्॥

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात्॥

लाटी संहिता (1/72-74) में कहा भी गया है—

"मधु की उत्पत्ति मक्खियों के मांस, रक्त आदि के निचोड़ने से होती है, यह बात समस्त संसार में प्रसिद्ध है, तथा शास्त्रों में भी यही बात बताई गई है। इस प्रकार न्याय से भी यह बात सिद्ध हो जाती है कि मधु के खाने में मांस-भक्षण का दोष आता है, क्योंकि मक्खियाँ त्रस जीव हैं और उनका कलेवर मांस कहलाता है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि जिस प्रकार मांस में सूक्ष्म निगोद राशि उत्पन्न होती रहती है, उसी प्रकार जिस किसी भी अवस्था में रहते हुए भी मधु में सदा जीव उत्पन्न होते रहते हैं। उन जीवों से रहित कभी मधु नहीं होता।"

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक-69-70) में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—

"मधु की बूँद भी मधुमक्खी की हिंसा (रूप) होती है, अतः जो मन्दमति मधु का सेवन करता है, वह अतिहिंसा का भागी होता है। स्वयमेव चुए हुए अथवा छलपूर्वक मधु के छत्ते से लिये गये मधु का भी ग्रहण करें तो भी हिंसा होती है, क्योंकि इस प्रकार उसके आश्रित रहने वाले अनेक क्षुद्र जीवों का तो वहाँ घात होता ही है।"

सागारधर्मामृतेऽपि *(2/11)*—

मधुकृद्व्रातघातोत्थं मध्वशुच्यपि बिन्दुशः।
खादन् बध्नात्यघं सप्तग्रामदाहांहसोऽधिकम्॥

अमितगतिश्रावकाचारे *(5/32)* **च—**

योऽत्ति नाम मधु भेषजेच्छया, सोऽपि याति लघु दुःखमुल्बणम्।
किं न नाशयति जीवितेच्छया, भक्षितं झटिति जीवितं विषम्॥

न केवलं मधु एव, तत्स्पृष्ट-अन्नमपि न भक्षणीयम्। किञ्च, मधुशब्देन तथाविधहिंसाजन्यस्य पुष्परसस्य अथवा पुष्पाद्यासवस्य तथा 'गुलकन्द' इति संज्ञकस्य च भक्ष्यस्य च ग्रहणं कार्यम्, मधुवत् तेषामपि त्यागो व्रतिभिः कार्यः।

उक्तं च लाटीसंहितायाम् *(1/77)*—

प्राग्वदत्राप्यतीचाराः सन्ति केचिज्जिनागमात्।
यथा पुष्परसः पीतः पुष्पाणामासवो यथा॥

सागारधर्मामृत (2/11) में भी कहा गया है— "मधु को उपार्जित करने वाले प्राणियों के समूह के नाश से उत्पन्न होने वाली तथा अपवित्र, ऐसी मधु की एक बूँद को भी खाने वाला व्यक्ति इतना पाप बाँध लेता है जो सात गाँवों को जलाने से होता है।"

अमितगति-कृत श्रावकाचार (5/32) में भी कहा गया है— "जो औषधि के रूप में भी मधु का सेवन करता है, वह भी तीव्र दुःख को प्राप्त करता है, क्योंकि जीने की इच्छा से खाया हुआ जहर भी क्या जीवन को नष्ट नहीं करता?"

न केवल मधु ही, उससे स्पृष्ट (छुए हुए) अन्न को भी नहीं खाना चाहिए। और, उस जैसी हिंसा से प्राप्त होने वाले फूलों के रस का या पुष्पासव एवं गुलकन्द नामक पदार्थ का भी ग्रहण 'मधु' शब्द से कर लेना चाहिए, और व्रतियों को मधु की तरह ही उनका भी त्याग करना चाहिए।

लाटीसंहिता (1/77) में कहा भी है— "मद्य व मांस की तरह मधु के अतीचारों का भी शास्त्रों में कथन किया गया है। जैसे— फूलों का रस या उससे बना हुआ आसव आदि का पीना।"

एवं मांसस्यापि सेवने तु हिंसा स्पष्टतः समर्थिता भवति। प्राणिवधं विना मांसस्य प्राप्तिः न सम्भवति। हिंसा च महापापरूपा, अतस्त्याज्यैव।

उक्तं च पुरुषार्थसिद्ध्युपाये *(श्लोक-65-68)*—

न विना प्राणिविघातात्, मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांसं भजतस्तस्मात्, प्रसरत्यनिवारिता हिंसा॥

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रित-निगोतनिर्मथनात्॥

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादः तज्जातीनां निगोतानाम्॥

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सतत-निचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम्॥

इसी प्रकार, मांस के भी सेवन में तो हिंसा स्पष्ट सिद्ध है ही। प्राणि-वध के बिना मांस की प्राप्ति सम्भव नहीं है। हिंसा तो महापाप रूप होती है, इसलिए वह तो त्याज्य है ही।

पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय (श्लोक-65-68) में कहा भी है—

"प्राणियों को मारे बिना मांस की उत्पत्ति नहीं हो पाती, इसलिए मांसभक्षी व्यक्ति अनिवार्यतः हिंसा को प्रसारित करता है।"

"यद्यपि अपने आप मरे हुए बैल व भैंस आदि का भी मांस होता है, किन्तु वैसे मांस के भक्षण में भी, उस मांस के आश्रित रहने वाले उसी जाति के निगोत (सम्पूर्ण) जीवों के घात होने से हिंसा होती ही है।"

"बिना पकी, पकी एवं पक रही मांस-पेशियों में उसी जाति के निगोत (संमूर्च्छन) जीवों की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है।"

"जो जीव कच्ची या अग्नि में पकी हुई मांस-पेशी को खाता है, या छूता है, वह निरन्तर एकत्रित किये हुए अनेक जाति के जीव-समूह के पिण्ड की हिंसा करता है।"

(सुरपाणं सेविदूण) **सुरापानं च सेवित्वा, मद्यं पीत्वेत्यर्थः। 'सुरा'-पदेन समस्तमादकपदार्थानां संग्रहोऽत्र कार्यः। तेन मतिमूर्च्छोत्पादकानां रसविशेषाणां द्रवेतरपदार्थानां च सेवने हिंसादिदोषा अनुष्ठिताः समर्थिताश्च भवन्ति, अतस्तेषामपि त्यागो विधेय इति संकेत्यतेऽत्र।**

सुरापानस्य हेयतां प्रतिपादयद्भिराचार्यवैरमृतचन्द्रैः पुरुषार्थसिद्ध्युपाये *(62-64)* **प्रोक्तमत्र मननीयं सर्वैः—**

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति॥

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम्॥

अभिमानभयजुगुप्सा-हास्यरतिशोककामकोपाद्याः।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि सरक-संनिहिताः॥

(सुरापानं सेवित्वा) सुरा यानी मद्य को पीकर। यहाँ 'सुरा' पद से समस्त मादक पदार्थों का ग्रहण करना चाहिए। इससे यहाँ इस बात का संकेत हो जाता है कि चूँकि मति को मूर्छित (बेहोश) करने वाले अन्य विशेष रसों या ठोस पदार्थों के सेवन में भी हिंसा आदि के दोष लगते हैं या अनुमोदित होते हैं, इसलिए उनका भी त्याग करना चाहिए।

सुरापान को हेय बताते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (62-64) में जो कहा है, वह सभी के लिए मननीय है—

"मदिरा मन को मोहग्रस्त कर देती है और मोहितचित्त वाला व्यक्ति तो धर्म को भूल ही जाता है और धर्म को भूलने वाला व्यक्ति निडर होकर हिंसा करता है।"

"मदिरा में अनेक रसजन्य जीव उत्पन्न होते रहते हैं, इसलिए जो मदिरा का सेवन करते हैं, उन जीवों द्वारा हिंसा होती ही है।"

"अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोध आदि हिंसा के पर्याय हैं, और वे सभी मदिरा (शराब) के निकटवर्ती हैं (अर्थात् मदिरा पीने से उक्त हिंसक भाव मन में आते ही आते हैं)।"

अन्यच्च, सागारधर्मामृतेऽपि *(2/4-5)* **पण्डितैराशाधरैरपि सुरापानस्य हेयता निरूपिता, साऽपि मननीया अहिंसाधर्मोपासकैः—**

यदेकबिन्दोः प्रचरन्ति जीवाः, चेत्तत् त्रिलोकीमपि पूरयन्ति।
यद्विक्लवाश्चेममुं च लोकं यस्यन्ति तत्कश्यमवश्यमस्येत्॥

पीते यत्र रसाङ्गजीवनिवहाः क्षिप्रं म्रियन्तेऽखिलाः,
कामक्रोधभयभ्रमप्रभृतयः सावद्यमुद्यन्ति च।
तन्मद्यं व्रतयन्न धूर्तिलपरास्कन्दीव यात्यापदम्,
तत्पायी पुनरेकपादिव दुराचारं चरन्मज्जति॥

एवं मद्यादि-दोषान् विज्ञाय, तत्सदृशदोषवतामन्येषामपि पदार्थानां त्यागो विधेयः संसारभ्रमणभीरुभिः। नियतसमयमर्यादामतिक्रम्य केचित्पदार्था अभक्ष्या भवन्ति, अतस्तद्विवेकोऽपि कर्तव्य एव। यथा अहोरात्रद्वयानन्तरं (षोडशप्रहरानन्तरं) दधि-तक्रादिकं तथा पुष्पितं स्वादचलितं

इसके अतिरिक्त, पण्डित श्री आशाधरजी ने भी सागारधर्मामृत (2/4-5) में सुरापान को हेय बताते हुए जो कहा है, उस पर भी अहिंसा धर्म के उपासकों को मनन करना चाहिए—

"मद्य की एक बूँद में पैदा होने वाले जीव बाहर फैलें तो उनसे तीनों लोक भर जाय। मद्य को पीकर उन्मत्त हुए प्राणी इस जन्म और दूसरे जन्म को भी दुःखमय बना देते हैं। ऐसे मद्य (कश्य) को अवश्य छोड़ना चाहिए।"

"जिस मद्य के पीते ही रस से पैदा होने वाले तथा मद्य में रस पैदा करने वाले जीव-समूह तत्काल मर जाते हैं, पाप व निन्दा के साथ काम, क्रोध, भय, भ्रम —ये प्रमुख दोष उत्पन्न होते हैं, उस मद्य (के त्याग) का व्रत लेने वाला व्यक्ति धूर्तिल नामक चोर की तरह विपत्तिग्रस्त नहीं होता, जबकि मद्य को पीने वाला व्यक्ति एकपाद नामक संन्यासी की तरह दुराचारी होकर दुर्गति के दुःख में डूबता है।"

इस प्रकार मद्य, मधु आदि के दोषों को जानकर, उनके समान दोष वाले अन्य पदार्थों का भी त्याग उन लोगों को करना चाहिए जो संसार-भ्रमण से भयभीत हैं। नियत समय-मर्यादा के बाद कई पदार्थ अभक्ष्य हो जाते हैं, इसलिए उसका भी विवेक रखना चाहिए। उदाहरणार्थ— दो दिन (सोलह प्रहर) बीतने के बाद दधि व छाछ आदि तथा फूई लगा हुआ एवं (बासी होकर) बेस्वाद हो गया भोजन भी अभक्ष्य हो

चान्नं भोजनं वा न भक्षणार्हं भवति। मदोत्पादकपदार्थाः ये केचिदपि धतूरा-चरस-गांजा-धूमपान-प्रभृतिनामभिः प्रथिताः, ते सर्वे त्याज्या एव। विस्तरस्तु क्रिया कोष-श्रावकाचारग्रन्थेभ्यो विज्ञेयः।

न केवलं भक्ष्याभक्ष्यविवेकाभावे संसारभ्रमणम्, अपितु सामाजिकी नैतिकीं च मर्यादामुल्लंघ्यापि संसारमुक्तेरभाव इति वक्ष्यते— *(परदव्व गहिदूण)* **परकीयं परस्वत्वभूतं च यद् द्रव्यं तद्गृहीत्वाऽपि दीर्घसंसारस्थितिबन्धः। अत्रेदं ज्ञेयं यत् स्वामिना अदत्तं, कुत्रचित्पतितं निहितं सुविस्मृतं परकीयं द्रव्यं यो हरति, स हिंसकादपि पापाधिक्यं भजति तथा दुर्गतिमेवानुभवति।**

उक्तं च भगवती-आराधनेति ग्रन्थे *(गाथा-859)*—

परदव्वहरणमेदं आसवदारं खु वेंति पावस्स।
सोगरिय-वाह-परदारिएहि चोरो हु पापदरो।।

तथा च तत्रैव *(भगवती-आराधना, गाथा-865-866)*—

जाता है। जो कोई अन्य भी मद पैदा करने वाले पदार्थ हैं, जैसे— धतूरा, चरस, गाँजा, धूमपान आदि नामों से प्रसिद्ध पदार्थ हैं, वे सभी त्याज्य ही हैं। इस विषय में विस्तार पूर्वक क्रियाकोष व श्रावकाचार सम्बन्धी ग्रन्थों से जान सकते हैं।

केवल भक्ष्य-अभक्ष्य विवेक न होने से ही संसार-भ्रमण नहीं होता, अपितु सामाजिक व नैतिक मर्यादा के उल्लंघन से भी संसार-मुक्ति नहीं होती —इसे बता रहे हैं— **(परद्रव्यं गृहीत्वा)** परकीय, दूसरे का जिस पर स्वत्व (अधिपत्य) है ऐसा द्रव्य, उसे ग्रहण करके भी दीर्घ संसार-स्थिति बँधती है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि स्वामी ने जिस वस्तु को नहीं दिया हो, कहीं पड़ी हुई हो, रखी हुई हो या जिसे कोई रखकर भूल गया हो, ऐसे परकीय द्रव्य का हरण जो करता है, वह हिंसक से भी अधिक पाप करता है ओर दुर्गति को ही भोगता है।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-859) में कहा भी है—

"पर-द्रव्य के हरण (चोरी, डकैती आदि) को पापों के आने का द्वार कहा जाता है। मृग-पशु पक्षियों का वध करने वाले और परस्त्रीगामी व्यक्ति की तुलना में भी चोर अधिक पापी होता है।"

और वहीं (भगवती-आराधना, गाथा-865-866) यह भी कहा गया है—

परलोगम्मि य चोरो करेदि णिरयम्मि अप्पणो वसदिं।
तिव्वाओ वेदणाओ अणुभवहिदि तत्थ सुचिरं पि॥

तिरियगदीए वि तहा चोरो पाउणदि तिव्वदुक्खाणि।
पाएण णीयजोणीसु चेव संसरइ सुचिरं पि॥

निश्चयनयेन तु निजात्मेतरः सर्वः पदार्थः परद्रव्यमेव। उक्तं च मोक्षप्राभृते *(गाथा-17)*—

आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवदि।
तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरसीहिं॥

एवं निजशुद्धात्मद्रव्यभिन्नानि रागद्वेषादिभावकर्म-ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्म-शरीरादि-नोकर्मप्रभृतीनि परद्रव्यरूपाण्येव विज्ञेयानि। तेष्वपि स्वत्वभावना त्याज्येति भावः।

(परकलत्तं गहिदूण य) **तथा परकीयकलत्रं, परकीयस्त्रियं गृहीत्वा च, पाणिग्रहणसंस्कारेण या पत्नीरूपेण स्वीकृता, तां विहाय अन्यस्य पाणिगृहीता भार्या परकलत्रमेव, तां चौर्येण बलाद्**

"चोर मरकर नरक में वास करता है और वहाँ चिरकाल तक तीव्र कष्ट भोगता है।"

"तथा वह तिर्यंच गति में भी तीव्र दुःख भोगता है। वह प्रायः चिरकाल तक नीच योनियों में ही जन्म-मरण करता रहता है।"

निश्चयनय से तो निज आत्मा से पृथक् समस्त पदार्थ पर-द्रव्य ही हैं। मोक्षप्राभृत (गा.17) में कहा गया है—

"आत्म-स्वभाव से अतिरिक्त जो सचित्त-अचित्त या मिश्र द्रव्य है, वह सब पर-द्रव्य है— ऐसा सर्वदर्शी भगवान् ने यथार्थरूप से बताया है।"

इस प्रकार निज शुद्धात्मद्रव्य से भिन्न पदार्थ, जैसे राग-द्वेष आदि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म आदि, इन सभी को पर-द्रव्य रूप में ही जानें। उनमें भी स्वत्व भावना छोड़नी चाहिए —यह तात्पर्य है।

(परकलत्रं गृहीत्वा च) दूसरे की पत्नी या स्त्री को ग्रहण कर अर्थात् पाणिग्रहण संस्कार के द्वारा जो पत्नी रूप से स्वीकृत है, उसे छोड़ अन्य द्वारा पाणिग्रहण की हुई पत्नी 'परकलत्र' है, उसे चोरी या

वा योऽपहरति, तत्र स्वस्वामित्वं व्यवहरति, स जीवः *(संसारे भमदि)* **संसारे एव, भ्रमणमेव करोति, न कदाचिन्मुक्तो भवति।**

गाथायास्तात्पर्यमिदं यत्संसारभ्रमणाद् मुक्तिमिच्छसि चेत् भो मनीषिन्! मद्य-मांस-सुरापान-परद्रव्य-हरण-परस्त्रीहरणादिकानि सावद्यकर्माणि त्यक्त्वा निजशुद्धज्ञायकस्वरूपे रतिं कुरु, तत एव संसारमुक्तिः प्राप्तुं शक्यते।

सम्प्रति, मोहवशादासक्त्या इन्द्रियविषयसेवनं निरन्तरं कुर्वतः पापमर्जयतश्च संसारे पतनमवश्यम्भावीति शास्त्रकारा आवेदयन्ति—

जत्तेण कुणदि पावं, विसयणिमित्तं अहण्णिसं जीवो।
मोहंधयारसहिदो, तेण दु परिपडदि संसारे ॥३४॥

छाया— यत्नेन करोति पापं विषयनिमित्तम् अहर्निशं जीवः।
मोहान्धकारसहितः, तेन तु परिपतति संसारे॥

बलपूर्वक जो अपहरण करता है, तथा उस पर अपना स्वामित्व बताता है, वह जीव **(संसारे भ्रमति)** संसार में ही भ्रमण करता है अर्थात् कभी भी मुक्त नहीं होता।

गाथा का तात्पर्य यह है कि संसार-भ्रमण से मुक्ति पाना चाहते हो तो हे मनीषी! मद्य, मांस, शराब —इनका सेवन एवं पर-द्रव्य व पर-स्त्री का हरण आदि दोषपूर्ण कार्यों को छोड़कर निज शुद्धात्म-स्वरूप में रति करो, उसी से संसार-मुक्ति मिल सकती है।

अब, मोह के वशीभूत होने के कारण इन्द्रिय-विषयों के सेवन में निरन्तर प्रवृत्त जीव पाप अर्जित करता रहता है, इसलिए उसका संसार में पतन अवश्यम्भावी है— इस तथ्य का प्रतिपादन शास्त्रकार कर रहे हैं—

(34)

(गाथा-अर्थ—) मोह रूपी अन्धकार से ग्रस्त होकर जीव विषयों (के भोग) के निमित्त से दिन-रात यत्नपूर्वक पाप करता है, परिणामस्वरूप उसका संसार में पतन होता है।

(सर्वोदया टीका—) *(मोहंधयारसहिदो जीवो)* **मोह एवान्धकारः, अन्धकारसदृशत्वादन्धकारः, यथा अन्धकारे पदार्थानां यथार्थदर्शनं नैव भवति, मार्गे गमनं च न सुकरं भवति, गर्तादिपातश्च सम्भाव्यते, तथैव मोहस्थितौ जीवस्य स्थितिः —इति तात्पर्यम्। तेन सहितो जीवः। मोहग्रस्तस्य जीवस्य हेयोपादेययोः, कर्त्तव्याकर्त्तव्ययोः, श्रद्धेय-तिरस्करणीययोश्च विवेको न भवति। उक्तं च पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकायाम्** *(1/125)*—

यः कल्पयेत् किमपि सर्वविदोऽपि वाचि,
संदिह्य तत्त्वमसमञ्जसमात्मबुद्ध्या।
खे पत्रिणां विचरतां सुदृशेक्षितानाम् ,
संख्यां प्रति प्रविदधाति स वादमन्धः॥

आचार्यकुन्दकुन्दैः प्रवचनसारग्रन्थराजे *(1/83, 85)* **मोहस्वरूपं निर्दिष्टम्—**

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहोत्ति।

(सर्वोदया टीका—) (मोहान्धकारसहितो जीवः) मोह ही अन्धकार है, क्योंकि वह अन्धकार जैसा होता है। जिस प्रकार अँधेरे में पदार्थों का यथार्थ दर्शन नहीं हो पाता, मार्ग पर चलना भी सुगम नहीं होता, (चलने का यत्न करें तो) गड्ढे में गिरने की सम्भावना रहती है, इसी तरह मोह के सद्भाव में जीव की स्थिति होती है— यह तात्पर्य है। ऐसे मोह से युक्त जीव। मोह से ग्रस्त जीव को हेय व उपादेय का, कर्त्तव्य व अकर्त्तव्य का तथा श्रद्धानयोग्य व तिरस्कारयोग्य का विवेक नहीं होता। पद्मनन्दिपंचविंशतिका (1/125) में कहा भी है—

"जो व्यक्ति सर्वज्ञ की भी वाणी में सन्देह करके अपनी बुद्धि से तत्त्व को कुछ का कुछ असत् रूप में कल्पित करे, वह उस अन्धे की तरह है जो आकाश में विचरण करते हुए पक्षियों को समीचीन दृष्टिवालों द्वारा देखे जाने पर भी, उन पक्षियों की संख्या के विषय में वाद-विवाद करता है।"

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार ग्रन्थराज (1/83, 85) में मोह का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

"जीव का द्रव्य (गुण, पर्याय) आदि में जो मूढ़ (विपरीत, अज्ञान) भाव होता है, वह 'मोह' कहलाता है।"

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य मणुवतिरिएसु।
विसएसु य प्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि॥

द्रव्यस्वभावप्रकाशकनयचक्रे *(गाथा-299, 310)* **च भणितमास्ते—**

असुहसुहं विय कम्मं दुविहं तं दव्वभावभेयगयं।
तं पिय पडुच्च मोहं संसारो तेण जीवस्स॥

कज्जं पडि जह पुरिसो इक्को वि अणेक्करूवमावण्णो।
तह मोहो बहुभेओ णिद्दिट्ठो पच्चयादीहिं॥

एवंविधेन मोहेन सहितः, तेन ग्रस्तः इति भावः। *(अहण्णिसं)* **अहर्निशम्, प्रतिसमयमेव,** *(विसयणिमित्तं)* **विषयाः पञ्चेन्द्रियविषयाः स्पर्शरसगन्धरूपशब्दाः, तेषु अनुकूलेषु तत्प्राप्त्यर्थम्, प्रतिकूलेषु तु तन्निवारणार्थं मूढो जनः प्रतिक्षणं प्रवृत्तो भवति, तस्य सर्वाः प्रवृत्तयः अनुकूल-विषयानुभवनिमित्तका भवन्ति, न कदाचित् निजात्मकल्याणाय धर्ममार्गेऽग्रेसरितुमिति तात्पर्यम्।**

"पदार्थों को अन्यथा (अयथार्थ रूप से) ग्रहण करना, और तिर्यंच व मनुष्यों में करुणा भाव (ममत्वपूर्वक दया) एवं विषयों (इष्ट-अनिष्ट) में आसक्ति रखना —ये मोह के चिह्न हैं।"

'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' (गाथा-299, 310) में भी कहा गया है—

"शुभ व अशुभ के भेद से या द्रव्य व भाव के भेद से कर्म दो प्रकार का है। उसकी प्रतीति से मोह उत्पन्न होता है और मोह से जीव के संसार होता है।"

"जिस प्रकार, एक ही पुरुष (विविध) कार्यों के प्रति विविध रूप धारण करता है, उसी प्रकार (मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि) प्रत्ययों (कारणों) की भिन्नता से मोह के भी अनेक भेद हो जाते हैं।"

इस प्रकार के स्वरूप वाले मोह सहित, अर्थात् मोहग्रस्त जीव। **(अहर्निशम्)** रात-दिन, (अर्थात्) प्रतिसमय (प्रतिक्षण), **(विषयनिमित्तम्)** विषय यानी पाँचों इन्द्रियों के (भोग्य) विषय— स्पर्श, रस, गन्ध, रूप व शब्द, ये अनुकूल हों तो इनकी प्राप्ति हेतु, और प्रतिकूल हों तो इन्हें दूर करने हेतु मूढ़ व्यक्ति प्रतिक्षण प्रवृत्त रहता है, उसकी सारी प्रवृत्तियाँ अनुकूल विषयों की अनुभूति हेतु होती हैं। तात्पर्य यह है कि आत्म-कल्याण हेतु धर्म-मार्ग में अग्रसर होने की कभी प्रवृत्ति उसकी नहीं होती। उन इन्द्रिय-विषयों की

ते च इन्द्रियविषयाः समग्रतया अष्टाविंशतिसंख्यका भवन्ति, यथा गोम्मटसारे *(जीवकाण्डे, गाथा-479)* **विशदीकृतम्—**

पंच रस पंच वण्णा दो गंधा अट्ठफास-सत्तसरा।
मणसहिदट्ठावीसा इंदियविसया मुणेदव्वा॥

(जत्तेण) **यत्नेन, बुद्धिपूर्वकैः मनोवचनकाययोगैः इति भावः।** *(पावं कुणदि)* **पापं करोति, पापानुष्ठानमेव कृत्वा पापबन्धमेव विदधाति। पापं शुभादात्मानं रक्षति, शुभेन सर्वदा वियुक्तं जीवं करोति, तत्सर्वथा अनिष्टप्रापकमेव भवति।**

पापास्रवे च कारणानि अशुभसावद्यकार्याणि भवन्ति। यथा योगसारे अमितगतिकृते *(4/38)—*

निन्दकत्वं प्रतीक्ष्येषु नैर्वृण्यं सर्वजन्तुषु।
निन्दिते चरणे रागः पापबन्धविधायकः॥

संख्या समग्रतः अट्ठाईस होती है। उदाहरणार्थ, गोम्मटसार (जीवकाण्ड, गाथा-479) में स्पष्ट किया गया है—

"पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध, अष्ट स्पर्श, सात स्वर (शब्द), और मन का एक विषय —इस प्रकार कुल इन्द्रिय-विषयों की संख्या अट्ठाईस जाननी चाहिए।"

(यत्नेन) यत्न से, बुद्धिपूर्वक मन-वचन-काय, इन तीनों के 'योग' (प्रवृत्ति) से —यह भाव है। **(पापं करोति)** पाप करता है, पाप-आचरण करके पाप कर्मों का बन्ध ही करता है। पाप वह होता है जो शुभ से आत्मा को बचाता है, अर्थात् शुभ से सर्वथा जीव को अलग या रहित रखता है, इस प्रकार वह सर्वथा अनिष्ट करने वाला होता है।

पाप कर्मों के आस्रव (आगमन) में अशुभ व सावद्य कर्म कारण होते हैं। जैसे, अमितगति-कृत 'योगसार' (4/38) में कहा गया है—

"अर्हन्त आदि पूज्य पुरुषों की निन्दा करना, सभी जीवों में निर्दय भाव रखना तथा निन्दित कार्यों में रुचि (राग) रखना —ये पापबन्ध के कारण हैं।"

तथा च पंचास्तिकाये *(गाथा-139)*—

चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसयेसु।
परपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि॥

हिंसा, असत्यभाषणम्, चौर्यम्, अब्रह्मचर्यम्, परिग्रहः— इति पञ्च प्रकाराः पापस्यैव। पापबन्धे कारणत्वात् पापरूपाण्येव हिंसादीनि कार्याणि। एतेषां विशदतया परिचयोऽत्र प्रासङ्गिकः।

तत्र हिंसा का? सा *'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' (त. सू. 7/13)* **इति स्वीक्रियते। प्रमादः कषाययुक्तता, तद्युक्त आत्मपरिणामः प्रमत्तः, तद्योगात् इन्द्रियादिदशप्राणानां यद् व्यपरोपणं वियोगकरणं, तदेव हिंसा। अत्र रागद्वेषोत्पत्तिर्भावहिंसा, तन्निमित्तेन जीवस्य कस्यचित् प्राणानां वियोजनं द्रव्यहिंसा। भावहिंसैव हिंसा, सा पूर्वं प्रमत्तात्मानमेव घातयति, तन्निमित्तो यो परप्राणिहिंसनरूपः प्रयासो भवति, स न सर्वदा सफलो भवति।**

पंचास्तिकाय (गाथा-139) में भी कहा गया है—

''बहु प्रमादवाली चर्या, कलुषता, विषयों के प्रति लोलुपता, दूसरे को पीड़ा देना तथा दूसरे का अपवाद (निन्दापरक वचन बोलना) —ये पाप के आस्रव करने वाले कार्य हैं।''

हिंसा, असत्यभाषण, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह —ये पाप के ही पाँच भेद हैं। पाप के बन्ध में कारण होने से ये हिंसा आदि कार्य 'पाप' रूप ही हैं। इनमें से प्रत्येक का स्पष्ट रूप से परिचय देना यहाँ प्रसङ्गोचित होगा।

इनमें हिंसा क्या है? —''प्रमत्त-योग के कारण प्राणों को वियुक्त करना 'हिंसा' होती है'' —ऐसा माना गया है। प्रमाद यानी कषाययुक्त होना, उससे युक्त जो आत्मीय परिणाम है, वह 'प्रमत्त' कहलाता है, उस योग (सद्भाव) से इन्द्रिय आदि दस प्राणों का जो वध करना, उन्हें (शरीर से) अलग करना, वही 'हिंसा' होती है। यहाँ राग-द्वेष की जो उत्पत्ति है, वह 'भावहिंसा' है, और उसके कारण किसी जीव के प्राणों का जो वध सम्पन्न होता है, वह 'द्रव्यहिंसा' है। (वास्तविक) हिंसा भावहिंसा ही है, वह पहले तो प्रमत्त आत्मा का ही घात करती है, उसके निमित्त से अन्य प्राणी की (द्रव्य) हिंसा का प्रयास जो होता है, वह हमेशा सफल नहीं होता।

उक्तं च भगवती-आराधनेतिग्रन्थे *(गाथा-1356-1357)*—

जह कोइ तत्त लोहं गहाय रुट्ठो परं हणामित्ति।
पुव्वदरं सो डज्झदि डहिज्ज व ण वा परो पुरिसो॥

तध रोसेण सयं पुव्वमेव डज्झदि हु कलकलेणेव।
अण्णस्स पुणो दुक्खं करिज्ज रुट्ठो ण य करिज्ज॥

इयं हिंसा सर्वतोभावेन दुर्गतिकारणभूता, तपःफलविध्वंसिका च शास्त्रकारैर्निरूपिता। यथा ज्ञानार्णवे *(8/19-20)*—

हिंसैव दुर्गतेर्द्वारं हिंसैव दुरितार्णवः।
हिंसैव नरकं घोरं हिंसैव गहनं तमः॥

निःस्पृहत्वं महत्त्वं च नैराश्यं दुष्करं तपः।
कायक्लेशश्च दानं च हिंसकानामपार्थकम्॥

परमार्थदृष्ट्या प्रमत्त आत्मा हिंसा, अप्रमत्त आत्मा अहिंसा इति। उक्तं च भगवती-आराधनेतिग्रन्थस्य *(गाथा-800)* **विजयोदयाटीकायां (उद्धृता गाथा)**—

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1356-1357) में कहा गया है— ''जैसे कोई व्यक्ति रोष में आकर दूसरे का वध करने के लिए गर्म लोहा उठाता है, ऐसा करने से पहले वह स्वयं जलता है, दूसरा उससे जले या न भी जले। उसी प्रकार पिघले हुए लोहे की तरह व्यक्ति क्रोध से पहले स्वयं जलता है, दूसरे को वह दुःखी करे या न भी कर पाए।''

यह हिंसा सभी प्रकार से दुर्गति की कारण होती है और तप को निष्फल करने वाली होती है— ऐसा शास्त्रकारों का कथन है। जैसे ज्ञानार्णव (8/19-20) में कहा गया है—

''हिंसा ही दुर्गति का द्वार है, हिंसा ही पाप का समुद्र है। हिंसा ही घोर नरक है, हिंसा ही गहन अन्धकार है। जो हिंसा करते हैं, उनकी निःस्पृहता, महनीयता, आशाहीनता, दुष्कर तपश्चर्या, कायक्लेश क्रिया, दान-क्रिया —ये सब निरर्थक होती हैं।''

परमार्थ दृष्टि से तो प्रमत्त आत्मा ही हिंसा है और अप्रमत्त आत्मा ही अहिंसा है। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-800) की विजयोदया टीका में (उद्धृत गाथा के माध्यम से) कहा गया है—

अत्ता चेव अहिंसा अत्ता हिंसत्ति णिच्छओ समये।
जो होदि अप्पमत्तो अहिंसगो हिंसगो इदरो॥

'आरम्भिहिंसा', 'विरोधिहिंसा', 'उद्योगिहिंसा', 'संकल्पिहिंसा' —इति चतस्रो हिंसाः शास्त्रेषु निर्दिष्टाः। तासु गृहस्थानां कृते संकल्पिहिंसा तु सर्वतस्त्याज्या भवति, अन्या हिंसा तु यथाशक्ति त्याज्याः। अनगाराणां कृते तु सर्वा हिंसाः पूर्णतया त्याज्याः इति विशेषः।

द्वितीयं पापमसत्यभाषणम्। तद् 'असदभिधानम् अनृतम्' इति च विज्ञायते। 'असत्' इत्यस्य अप्रशस्तम्, अर्थात् प्राणिपीड़ाकारकमिति अर्थः।

उक्तं श्लोकवार्तिके *(7/14)* **आचार्यप्रवरै-र्विद्यानन्दिभिः—**

तेन स्वपरसन्तापकरणं यद्वचोऽङ्गिनाम्।
यथादृशार्थमप्यत्र तदसत्यं विभाव्यते॥

"आत्मा ही अहिंसा है, आत्मा ही हिंसा है। जो अप्रमत्त आत्मा है, वह अहिंसक है, उससे भिन्न प्रमत्त आत्मा हिंसक है।"

शास्त्रों में हिंसा के चार प्रकार बताए गए हैं— आरम्भी हिंसा, विरोधी हिंसा, उद्योगी हिंसा और संकल्पी हिंसा। इनमें गृहस्थ लोगों के लिए संकल्पी हिंसा तो सर्वथा त्याज्य होती है, अन्य हिंसाओं का त्याग यथाशक्ति कर्त्तव्य होता है। अनगार (मुनियों) के लिए तो सभी हिंसाएँ पूर्णतया त्याज्य हैं— यह अन्तर है।

दूसरा पाप है— असत्यभाषण। असत् कथन असत्य होता है —ऐसा बताया गया है। असत् का अर्थ है— अप्रशस्त, अर्थात् प्राणियों के लिए पीड़ाकारक (कथन)।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (सू. 7/14) में आचार्यप्रवर विद्यानन्दि ने भी कहा है—

"जो वचन स्वयं को तथा दूसरे को कष्ट पहुँचाने वाला हो, वह, भले ही जैसा देखा, वैसा बताने वाला (यथार्थकथन) हो, तो भी असत्य माना जाता है।"

एवं मिथ्यात्वादिपरिणामजन्यं वचनमपि असत्यं कथ्यते। यथा धवलाग्रन्थराजे *(पु. 12, खण्ड-4, भाग 7-16, सू. 3, पृ. 279)— "किमसंतवयणं? मिच्छत्तासंजमकसाय-पमादुट्ठाविओ वयणकलापो।"*

असदभिधानस्य 'असतोऽर्थस्य अभिधानम्' इत्यपि अर्थः। अत्र असदित्यस्य अविद्यमान-मित्यर्थः। असत्यवचनस्य सद्भूतार्थनिषेधकम्, असद्भूतार्थ-उद्भावकम्, अनालोच्यकथनम्, सावद्यगर्हितादिकम् —इति चत्वारः प्रकाराः भगवती-आराधनेतिग्रन्थे *(गाथा-818-827)* **वर्णिताः—**

पढमं असंतवयणं संभूदत्थस्स होदि पडिसेहो।
णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति जधेवमादीयं॥

अहवा सयबुद्धीए पडिसेधे खेत्तकालभावेहिं।
अविचारिय णत्थि इह घडो त्ति तह एवमादीयं॥

इसी तरह, मिथ्यात्व आदि परिणामों से उत्पन्न वचन को भी असत्य कहा जाता है। जैसे धवला (पु. 12, खण्ड-4, भाग 7-16, सू. 3, पृ. 279) ग्रन्थ में कहा गया है— "असत्य वचन क्या है? मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, प्रमाद —इनसे उद्भूत वचन-समूह (असत्य वचन) है।"

'असत् कथन' का 'असत् पदार्थ का कथन' यह भी अर्थ है। यहाँ असत् से तात्पर्य है— अविद्यमान। असत्य वचन के चार प्रकार हैं— (1) सद्भूत अर्थ का निषेध करने वाला, (2) असद्भूत पदार्थ का उद्भावक, (3) अनालोच्य कथन (बिना विचारे बोलना, किसी जाति के पदार्थ को अन्य जाति का बता देना), (4) निन्दनीय— पापपूर्ण आदि। इनका निरूपण भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-818-827) में इस प्रकार किया गया है—

"सद्भूत अर्थ का निषेध करना पहला असत्य वचन है। जैसे कि मनुष्य की अकाल में मृत्यु नहीं होती इत्यादि वचन।"

"अथवा क्षेत्र, काल, भाव से अभाव का विचार न करते हुए (यहाँ घट नहीं है, इस समय नहीं है, या सफेद या कृष्ण रूप नहीं है, ऐसा न विचार कर) अपनी बुद्धि से घट का सर्वथा अभाव कहना (प्रथम) असत्य वचन है।"

जं असभूदुब्भावणमेदं विदियं असंतवयणं तु।
अत्थि सुराणमकाले मच्चुत्ति जहेवमादीयं॥

अहवा जं उब्भावेदि असंतं खेत्तकालभावेहिं।
अविचारिय अत्थि इह घडो त्ति जह एवमादीयं॥

तदियं असंतवयणं संतं जो कुणदि अण्णजादीगं।
अविचारित्ता गोणं अस्सो त्ति जहेवमादीयं॥

जं वा गरहिदवयणं जं वा सावज्जसंजुदं वयणं।
जं वा अप्पियवयणं असत्तवयणं चउत्थं च॥

कक्कस्सवयणं णिट्ठुरवयणं पेसुण्णहासवयणं च।
जं किंचि विप्पलावं गरहिदवयणं समासेण॥

जत्तो पाणवधादी दोसा जायंति सावज्जवयणं च।
अविचारित्ता थेणं थेणत्ति जहेवमादीयं॥

"जो नहीं है, उसको 'है' कहना —यह असत्यवचन का दूसरा भेद है। जैसे देवों को अकाल मृत्यु नहीं होती, फिर भी यह कहना कि देवों में अकाल मृत्यु होती है।"

"अथवा क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा असत् घट का विचार न करके 'घट है' ऐसा कहना भी असत्यवचन है।"

"एक जाति की वस्तु को अन्य जाति की बताना —यह तीसरा असत्य वचन है। जैसे बिना विचारे, बैल को घोड़ा कह देना।"

"जो गर्हित वचन है, सावद्य वचन है, अप्रिय वचन है, वह चतुर्थ असत्य वचन है।"

"कर्कश वचन, निष्ठुर वचन, दूसरों के दोषों को बताने वाला वचन— परिहास वचन और अनर्गल कुछ भी बोल देना —ये सभी संक्षेप में गर्हित वचन हैं।"

"जिस वचन से प्राणों के घात आदि के दोष पैदा होते हैं, वह सावद्य वचन है। अथवा 'ऐसा कहने में दोष है या नहीं' इसका विचार न करके 'चोर को चोर कहना' आदि सावद्य वचन हैं।"

परुसं कडुयं वयणं वेरं कलहं च जं भयं कुणइ।
उत्तासणं च हीलणमप्पियवयणं समासेण॥

हासभयलोहकोहप्पदोसादीहिं तु मे पयत्तेण।
एवं असंतवयणं परिहरिदव्वं विसेसेण॥

अत्रेदं ज्ञेयं यद् गुरुजना आचार्यादयो जनकादयो वा शिष्यादिहितदृष्ट्या यदि कटुकभाषणं कुर्युः, तदसत्यवचने न परिगण्यते। उक्तं च भगवती-आराधनेतिग्रन्थे *(गाथा-359)*—

पत्थं हिदयाणिट्ठं पि भण्णमाणस्स सगणवासिस्स।
कडुगं व ओसहं तं महुरविवायं हवइ तस्स॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपाये *(श्लोक-100)* **च प्रोक्तम्**—

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम्।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम्॥

"कठोर वचन, कड़वे वचन, वैर, कलह व भय पैदा करने वाले वचन, अति त्रास देने वाले वचन, तिरस्कार-सूचक वचन —ये संक्षेप में अप्रिय वचन हैं।"

"हास्य, भय, लोभ, क्रोध व द्वेष आदि कारणों से बोले जाने वाले असत्य वचनों को तुम्हें प्रयत्नपूर्वक विशेष रूप से नहीं बोलना चाहिए।"

यहाँ यह जानें कि गुरुजन, आचार्य व पिता आदि अपने शिष्य आदि के हित की दृष्टि से यदि कटु शब्द बोलें भी तो वह असत्य वचन में परिगणित नहीं होता। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गा.359) में कहा भी है— "अपने गण के साधु को हितकारी वचन बोलने चाहिए, वे भले ही हृदय को अभीष्ट नहीं लगते हों, क्योंकि वे कटु वचन भी कटु औषधि की तरह उस (शिष्य आदि) के लिए मधुर फलदायक सिद्ध होते हैं।"

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक-100) में भी कहा है— "प्रमादसहित योग ही सभी असत्य वचनों का कारण है— ऐसा जब निर्देश किया गया है, तो (गुरुजनों द्वारा) हेय व उपादेय का उपदेश देना 'असत्य वचन' नहीं होता।"

असत्यस्वरूपविषये अन्यानि उपयोगीनि वचनानि अत्र प्रसङ्गतः प्रदीयन्ते— यथा भगवती-आराधनेतिग्रन्थे *(गाथा-841, 844)*—

अलियं स किं पि भणियं घादं कुणदि बहुगाण सच्चाणं।
अदिसंकिदो य सयमवि होदि अलियभासणो पुरिसो॥

परलोगम्मि वि दोसा ते चेव हवंति अलियवादिस्स।
मोसादीए दोसे जत्तेण वि परिहरंतस्स॥

कुरलकाव्ये *(13/8-10)* **(तिरुवल्लुवर-विरचिते तमिलभाषानीतिग्रन्थे) च सत्यविषये नैतिकवाक्यानि (संस्कृतेऽनूदितानि) प्राप्यन्ते—**

एकमेव पदं वाण्यामस्ति चेन्मर्मघातकम्।
विनष्टास्तर्हि विज्ञेया उपकाराः पुरा कृताः॥

दग्धमङ्गं पुनः साधु जायते कालपाकतः।
कालपाकमपि प्राप्य न प्ररोहति वाक्क्षतम्॥

असत्य के स्वरूप के विषय में अन्य भी उपयोगी वचन मिलते हैं, जिन्हें यहाँ प्रसङ्गवश प्रस्तुत किया जा रहा है— उदाहरणार्थ, भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-841 व 844) में कहा गया है—

"एक बार भी बोला गया असत्य वचन बहुत बार बोले गये सत्य वचनों का घात कर देता है। असत्यवक्ता व्यक्ति स्वयं भी अत्यन्त शंकित, भयभीत रहता है।"

"असत्यवादी यदि असत्य (चोरी, कुशील व परिग्रह) आदि रूप दोषों का त्याग भी कर दे तो भी इस लोक और परलोक —इन दोनों में उन दोषों का भागी होता है।"

(तिरुवल्लुवर संत द्वारा विरचित तमिल भाषा के एक नीतिपरक काव्य) 'कुरल' काव्य (13/8-10) में भी सत्य के विषय में नैतिक वाक्य (संस्कृत में अनूदित) पाये जाते हैं—

"यदि तुम्हारे एक शब्द से भी किसी को कष्ट पहुँचता है तो तुम अपनी सब भलाई (उपकार-क्रिया) नष्ट हुई समझो।"

"आग का जला हुआ तो समय पाकर अच्छा हो जाता है, किन्तु वाणी का किया घाव सदा हरा रहता है।"

विद्याविनयसंपन्नः शालीनो गुणवान् नरः।
प्रमादादपि दुर्वाक्यं न ब्रूते हि कदाचन॥

इदानीं तृतीयं पापं निरूप्यते। स्तेयमपि महापापमस्ति। अदत्तादानं स्तेयं कथ्यते। स्वामिनोऽनुज्ञां विना, अथवा तेन (स्वामिना) अदत्तस्य वस्तुनः छलेन बलेन वा आदानं स्तेयं पापं भवति। लाटीसंहितायां *(I/168-170)* **हेयताऽस्य प्रतिपादिताः—**

ततोऽवश्यं हि पापः स्यात् परस्वहरणे नृणाम्।
यादृशं मरणे दुःखं तादृशं द्रविणक्षितौ॥

एवमेतत् परिज्ञाय दर्शनश्रावकोत्तमैः।
कर्तव्या न मतिः क्वापि परदारधनादिषु॥

आस्तां परस्वस्वीकाराद् यद् दुःखं नारकादिषु।
यदत्रैव भवेद् दुःखं तद् वक्तुं कः क्षमो नरः॥

''विद्या व विनय से सम्पन्न, सभ्य एवं गुणी व्यक्ति वह है जो प्रमाद में भी कभी दुर्वचन नहीं बोलता।''

अब तीसरे पाप का निरूपण किया जा रहा है। चोरी करना भी एक महापाप है। अदत्त का ग्रहण करना 'चोरी' कहा जाता है। स्वामी की आज्ञा के बिना या स्वामी द्वारा नहीं सौंपी गई वस्तु को छल से या बलपूर्वक ले लेना चोरी है। लाटीसंहिता (ड्ड/ 168-170) में इसकी हेयता इस प्रकार बताई गई है—

''चोरी करने वाले व्यक्ति को अवश्य महापाप लगता है, क्योंकि जिसका धन हरण किया जाता है, उसको जैसा मरने में दुःख होता है वैसा ही दुःख धन के नाश होने पर होता है।''

''इस प्रकार चोरी के महादोषों को जानकर दर्शन प्रतिमा धारण करने वाले उत्तम श्रावक को दूसरे के धन या स्त्री को हरण करने की बुद्धि नहीं करनी चाहिए।''

''दूसरे का धन हरण करने से या चोरी करने से नरक आदि दुर्गति के दुःखों की प्राप्ति तो होती ही है, किन्तु ऐसे लोगों को इस जन्म में भी जो दुःख होते हैं, उन्हें भी कहने में भला कौन मनुष्य समर्थ है?''

अन्यच्च, भगवती-आराधनेतिग्रन्थे *(गाथा-859)* **प्रोक्तम्—**

परदव्वहरणमेदं आसवदारं खु वेंति पावस्स।
सोगरियवाहपरदारिएहि चोरो हु पापदरो॥

कुरलकाव्ये *(12/3, 6 संस्कृतानुवादे)* **च नैतिकोपदेशरूपेण प्रोक्तम्—**

अन्यायप्रभवं वित्तं मा गृहाण कदाचन।
वरमस्तु तदादाने लाभ एवास्तु दूषणम्॥

नीतिं मनः परित्यज्य कुमार्गं यदि धावते।
सर्वनाशं विजानीहि तदा निकटसंस्थितम्॥

अस्तेयव्रतस्य अतिचाराणां निरूपणे त्याज्यकार्याणां निर्देशः तत्त्वार्थसूत्रे *(7/27)* **कृतः—** *''स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहाराः।''*

इसके अतिरिक्त, भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-859) में कहा गया है—

''परद्रव्य हरण करना पाप आने का द्वार है। सूअर का घातक, मृगादिक को पकड़ने वाला और परस्त्रीगमन करने वाला, इनसे भी अधिक पापी चोर को माना जाता है।''

कुरल काव्य (12/3, 6) में भी नैतिक उपदेश के रूप में कहा गया है—

''अन्याय से अर्जित धन को कभी ग्रहण मत करो। भले ही उससे लाभ के अतिरिक्त अन्य वस्तु की सम्भावना न हो, अर्थात् मात्र लाभ होना निश्चित हो।''

''जब तुम्हारा मन नीति को छोड़कर कुमार्ग में जाने लगे तो समझना कि तुम्हारा सर्वनाश निकट ही है।''

अस्तेय (चोरी न करने के) व्रत के अतीचारों के निरूपण के प्रसङ्ग में तत्त्वार्थसूत्र (7/27) में त्याज्य कार्यों का निर्देश इस प्रकार किया गया है— ''स्तेनप्रयोग (चोरी हेतु प्रेरणा, उपाय बताना), स्तेनाहृतादान (चोरी का माल खरीदना), विरुद्धराज्यातिक्रम (राजकीय नियमों का उल्लंघन, आयकर आदि की चोरी), हीनाधिक मानोन्मान (नापतौल में हेराफेरी), तथा प्रतिरूपक व्यवहार (नकली माल बेचना आदि) —ये अचौर्य अणुव्रत के पाँच अतीचार माने गये हैं।''

अचौर्य- व्रतदृढतायै पञ्च भावना अपि तत्र *(7/6)* **निर्दिष्टाः—** *"शून्यागार-विमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्ष्यशुद्धि-सधर्माविसंवादाः पञ्च।"*

शून्यागाराः विमोचितावासाः प्रायेण अस्वामिका भवन्ति तथा सर्वजनप्रयोगाय अनुमताः भवन्ति, तत्रैव वासः कार्यः। तथा यत्र वासः क्रियते, तत्र परेषां कृतेऽपि प्रवेशनिवासादिसौविध्यं भवेत् —इति रीत्या स्थेयम्। भिक्षासम्बन्धिवस्तुनो ग्रहणे सेवने (शास्त्रानुरूपा) शुद्धिः, अर्थात् तत्र स्तेयविषयिणी प्रवृत्तिर्न स्यात्। तथा साधर्मिजनैः वस्तूनां स्वत्वविषयकविवादो न कर्तव्यः। इत्येताः पञ्च भावनाः अस्तेयव्रतं दृढं कुर्वन्ति। स्तेनः परद्रव्यहरणासक्तः सर्वेषामुद्वेजनीयो भवति। इहैव अपराधदण्डैर्विविधैर्दण्डितो भवति, परलोके चाशुभां गतिमेव प्राप्नोति। अत एवैतस्मात्पापाद् विरतिरेव वरम्। एवं खलु स्तेयकार्ये दोषदर्शनमपि भावनीयम्।

आचारशास्त्र-प्रतिक्रमणशास्त्रानुसारमपि अस्तेयव्रतस्य भावनाः वर्णिताः सन्ति। तत्सम्बद्धाः अनगारधर्मामृते *(4/57)* **उद्धृता गाथाःअत्र प्रस्तूयन्ते—**

इसी प्रकार, अचौर्यव्रत की दृढ़ता हेतु पाँच भावनाओं का भी वहीं (7/6) निर्देश किया गया है—"शून्य आगारों में निवास, विमोचित-आवास (सार्वजनिक, दूसरों के द्वारा त्यक्त उजाड़ स्थानों में निवास), परोपरोध-अकरण (दूसरों के प्रवेश में रुकावट न करना), भैक्ष्यशुद्धि एवं सधर्म-अविसंवाद —ये अचौर्यव्रत की पाँच भावनाएँ हैं।"

शून्यागार व विमोचितावास प्रायः मालिकरहित होते हैं या सार्वजनिक प्रयोग हेतु छोड़ दिये गये हैं। वहीं निवास करना चाहिए। जहाँ वास किया जाय, वहाँ दूसरों के लिए भी प्रवेश या रहने की सुविधा बनी रहे —इस रीति से रहा जाय। भिक्षा सम्बन्धी वस्तु के ग्रहण में (शास्त्रानुरूप) शुद्धि रहे, अर्थात् वहाँ चोरी जैसी प्रवृत्ति न हो। साथ ही साधर्मी जनों के साथ वस्तुओं के स्वामित्व को लेकर वाद-विवाद नहीं करना चाहिए। ये (पूर्वोक्त) पाँच भावनाएँ अचौर्य व्रत को दृढ़ करती हैं। पर-द्रव्य का हरण करने वाले चोर का सभी तिरस्कार करते हैं। इसी लोक में विविध आपराधिक दण्डों द्वारा वह दण्डित किया जाता है, परलोक में भी अशुभ गति प्राप्त करता है। इसलिए इस पाप से दूर ही रहना अच्छा है। इस प्रकार चोरी के पाप में दोष देखने की भावना करनी चाहिए।

आचारशास्त्र व प्रतिक्रमण शास्त्र के अनुसार भी अचौर्य व्रत की भावनाएँ वर्णित हुई हैं। इस सम्बन्ध में अनगारधर्मामृत (4/57) में उद्धृत गाथाएँ यहाँ प्रस्तुत हैं (आचारशास्त्रानुसार)—

उपादानं मतस्यैव, मते चासक्तबुद्धिता।
ग्राह्यस्यार्थकृतो लीनमितरस्य तु वर्जनम्।।

अप्रवेशोऽमतेऽगारे गृहिभिर्गोचरादिषु।
तृतीये भावना योग्ययाञ्चा सूत्रानुसारतः।।

अदेहणं भावणं चापि उग्गहं य परिग्गहे।
संतुट्ठो भत्तपाणेसु तिदियं वदमिस्सदो॥

एता अचौर्यव्रतसम्बन्धिन्यः पञ्च भावनाः व्रतिना भावनीयाः।

आदिपुराणेऽपि *(20/163)* **भावना एवं निर्दिष्टाः—**

मितोचिताभ्यनुज्ञातग्रहणान्यग्रहोऽन्यथा ।
संतोषो भक्तपाने च तृतीयव्रतभावनाः॥

---

(1) स्वामी के द्वारा अनुज्ञात व उचित वस्तु का ही ग्रहण, (2) अनुमति प्राप्त वस्तु में भी आसक्ति न रखना, (3) जितने से अपना प्रयोजन सिद्ध हो, उतना ही ग्रहण करना, शेष को छोड़ देना, (4) गोचरी आदि करते समय, जिस गृह में स्वामी द्वारा प्रवेश की अनुमति हो, वहीं प्रविष्ट होना, और (5) शास्त्रानुरूप उचित वस्तु की ही याचना। (प्रतिक्रमण के अनुसार-) (1) शरीर की अशुचिता व अनित्यता की भावना करना, (2) आत्मा व शरीर को भिन्न मानना, (3) परिग्रह-निग्रह सम्बन्धी विचार करना, (4) भक्त सन्तोष (विधिपूर्वक जो भी प्राप्त हो, उसी में सन्तुष्ट रहना), तथा (5) पान-सन्तोष (पेय वस्तु के लाभालाभ में सन्तुष्ट रहना) —ये अचौर्य व्रत से सम्बन्धित पाँच भावनाएँ हैं। जिनकी भावना (बार-बार चिन्तना) व्रती द्वारा की जानी चाहिए।

आदिपुराण (20/163) में भी भावनाओं का निर्देश इस प्रकार हुआ है—

"तृतीय अचौर्यव्रत की पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं— (1) परिमित आहार लेना, (2) तपश्चरण के लायक आहार लेना, (3) श्रावक की प्रार्थना पर आहार लेना, (4) योग्य विधि के विरुद्ध आहार नहीं लेना, (5) प्राप्त भोजन में सन्तोष रखना।"

भगवती-आराधनेतिग्रन्थे *(गाथा-1202-1203)* **च भावना एताः संकेतिताः—**

अणणुण्णादग्गहणं असंगबुद्धी अणुण्णवित्ता वि।
एदावंतियउग्गहजायणमध उग्गहाणुस्स॥

वज्जणमणण्णुणादगिहप्पवेसस्स गोयरादीसु।
उग्गहजायणमणुवीचिए तहा भावणा तइए॥

अन्यच्च तद्विषये तत्रैव *(गाथा-869)*—

एदे सव्वे दोसा ण होंति परदव्वहरणविरदस्स।
तव्विवरीदा य गुणा होंति सदा दत्तभोइस्स॥

इदानीं क्रमप्राप्तम्'अब्रह्मसेवनं' (अब्रह्मचर्यं) नामकं पापम्। चारित्रमोहोदये सति स्त्रीपुंसयोः परस्परस्पर्शनेच्छा तत्क्रिया वा मिथुनम्, तस्य भावो मैथुनम्। तदेव अब्रह्मचर्यम्। एतत्कार्यं पापरूपमेव, यतो ह्यस्मिन् जीवहिंसा भूयसी जायते।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1202-1203) में इन भावनाओं का इस प्रकार निरूपण किया गया है— ''अचौर्यव्रत की भावनाएँ ये हैं— (1) उपकरणों को स्वामी की आज्ञा के बिना न लेना, (2) अनुज्ञा से गृहीत वस्तु में भी आसक्ति न रखना, (3) निज प्रयोजन बताकर कोई वस्तु नहीं लेना, (4) यदि दाता इच्छा से देगा तो मैं सब ले लूँगा —ऐसी भावना न करना, (5) ज्ञान व चारित्र में उपयोगी वस्तुओं का ही ग्रहण करना तथा अनुपयोगी वस्तु की याचना नहीं करना, (6) गृह-स्वामी द्वारा प्रवेश की आज्ञा नहीं हो तो घर में प्रवेश न करना, (7) आगम से अविरुद्ध ही संयमोपकरण की याचना करना।''

इसके अतिरिक्त, इसी सम्बन्ध में वहाँ (गाथा-869) कहा गया है— ''जो पर-द्रव्य हरण का त्यागी होता है, उसे ये सब दोष नहीं लगते। तथा जो दत्त वस्तु का ही उपभोग करता है, उसमें उक्त दोषों के विपरीत गुण होते हैं।''

अब क्रम के अनुसार (चतुर्थ) अब्रह्मसेवन (अब्रह्मचर्य) नामक पाप है। चारित्र-मोह के उदय होने से स्त्री-पुरुष में परस्पर स्पर्श की इच्छा या उसकी क्रिया 'मिथुन' है, उसका भाव 'मैथुन' है। इसे ही अब्रह्मचर्य कहते हैं। यह कार्य पाप रूप ही है, क्योंकि इसमें प्रचुर जीव-हिंसा होती है।

आचार्यमल्लिषेणाः स्याद्वादमञ्जरीग्रन्थे *(कारिका-23)* **अब्रह्मसम्बन्धिनीं जीवहिंसां स्पष्टयितुं गाथा एताः (कुतश्चिद् उद्धृताः) प्रोक्तवन्तः—**

मेहुणसण्णारूढो णवलक्ख हणेइ सुहुमजीवाणं।
केवलिणा पण्णत्ता सद्दहिअव्वा सया कालं॥

इत्थीजोणीए संभवन्ति बेइंदिया उ जे जीवा।
इक्को व दो व तिण्णि व लक्खपुहुत्तं उ उक्कोसं॥

पुरिसेण सह गयाए तेसिं जीवाण होइ उद्दवणं।
वेणुगदिट्ठंतेणं तत्तायसलागणाएणं ॥

पंचिदिया मणुस्सा एगणरभुत्तणारिगब्भम्मि।
उक्कोसं णवलक्खा जायन्ति एगवेलाए॥

णवलक्खाणं मज्झे जायइ इक्कस्स दोण्ह य समत्ती।
सेसा पुण एमेव य विलयं वच्चंति तत्थेव॥

आचार्य मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी ग्रन्थ (कारिका-23 की टीका) में (इन गाथाओं को उद्धृत करते हुए) अब्रह्मसेवन में होने वाली जीव-हिंसा को स्पष्ट करते हुए कहा है—

"केवली भगवान् ने मैथुन सेवन से नौ लाख जीवों का घात होना बताया है, इसमें विश्वास करना चाहिए।"

"स्त्रियों की योनि में द्वीन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। इन जीवों की संख्या, एक, दो, तीन से लेकर लाखों तक पहुँच जाती है।"

"पुरुष के साथ सहवास करने पर जिस प्रकार गर्म तपाई हुई लोहे की सलाई को बांस की नली में डालने से नली में रखे तिल भस्म हो जाते हैं, उसी तरह उन जीवों का नाश हो जाता है।"

"पुरुष व स्त्री के एक बार सहवास करने पर स्त्री के गर्भ में अधिक से अधिक नौ लाख पंचेन्द्रिय जीव (सम्मूर्च्छन मनुष्य) उत्पन्न होते हैं।"

"उन नौ लाख जीवों में से एक या दो ही जीवित रह पाते हैं, बाकी सब वहीं नष्ट हो जाते हैं।"

भगवती-आराधनेतिग्रन्थे *(गाथा-916)* **च तथ्यमेतत् समर्थितम्—**

अवि य वहो जीवाणं मेहुणसेवाए होइ बहुगाणं।
तिलणालीए तत्ता सलायवेसो व जोणीए॥

देवसेनकृते भावसंग्रहे *(गाथा-390)* **च समर्थितमेतत्। तच्चाब्रह्म दशविधं भवति। यथा मूलाचारे** *(गाथा-998-1000)* **अब्रह्मकारणानां दशसंख्या प्रोक्ता—**

पढमं विउलाहारं विदियं कायसोहणं।
तदियं गंधमल्लाइं चउत्थं गीयवाइयं॥

तह सयणसोधणं पि य इत्थिसंसग्गं पि अत्थसंगहणं।
पुव्वरदिसरणमिंदियविसयरदी पणिदरससेवा॥

दसविहमब्बंभमिणं संसारमहादुहाणमावाहं।
परिहरइ जो महप्पा सो दढबंभव्वदो होदि॥

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-916) में भी इस तथ्य का समर्थन किया गया है—

"जैसे तिलों से भरी नाली में तपाये हुए लोहे की सलाई डालने से तिलों का घात होता है, वैसे ही मैथुन सेवन से योनि में स्थित बहुत से जीवों का घात होता है।"

आ. देवसेनकृत भावसंग्रह (गाथा-390) में भी इसी भाव को प्रस्तुत किया गया है। यह अब्रह्मसेवन दस प्रकार का होता है, जैसा कि मूलाचार (गाथा-998-1000) में अब्रह्म के दस कारण बताये गए हैं—

"पहले (असंयत) विपुल आहार करना, दूसरा शरीर का शोधन (शृंगारादि) करना, तीसरा गन्धमाला आदि धारण, चौथा गीत व वाद्य सुनना, पाँचवाँ शयनस्थान का शोधन (शयनस्थल की सजावट) करना, छठा स्त्रीसंसर्ग, सातवाँ धन-संग्रह, आठवाँ पूर्वभुक्त भोगों का स्मरण, नौवाँ इन्द्रियजन्य विषयों में अनुराग, तथा दसवाँ पौष्टिक रसों (टॉनिक आदि) का सेवन —ये दस अब्रह्म के कारण हैं। (अत: इनकी भी अब्रह्म संज्ञा है)। जो महापुरुष सांसारिक महादु:खों के कारण इन दस प्रकार के अब्रह्म का परिहार करता है, वही दृढ़ ब्रह्मचर्यव्रती होता है।"

ज्ञानार्णवे *(11/7-9)* **च अब्रह्मदशप्रकाराणां निरूपणं प्रकारान्तरेण विहितमस्ति—**

आद्यं शरीरसंस्कारो द्वितीयं वृष्यसेवनम्।
तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात् संसर्गस्तुर्यमिष्यते॥

योषिद्विषयसंकल्पः पञ्चमं परिकीर्तितम्।
तदङ्गवीक्षणं षष्ठं संस्कारः सप्तमं मतम्॥

पूर्वानुभोगसंभोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम्।
नवमं भाविनी चिन्ता दशमं वस्तिमोक्षणम्॥

ब्रह्मचर्यस्य विराधकाः क्रिया अपि दशप्रकारा भवन्ति, तासां निर्देशो दर्शनप्राभृतस्य (गा.9) श्रुतसागररचितायां टीकायां कृतः— *"कास्ताः शीलविराधनाः? (1) स्त्रीसंसर्गः, (2) सरसाहारः, (3) सुगन्धसंस्कारः, (4) कोमलशयनासनम्, (5) शरीरमण्डनम्, (6) गीतवादित्रश्रवणम्, (7) अर्थग्रहणम्, (8) कुशीलसंसर्गः, (9) राजसेवा, (10) रात्रिसंचरणम्— इति दशशीलविराधनाः।"*

ज्ञानार्णव ग्रन्थ (11/7-9) में भी दस प्रकार के अब्रह्म का अन्य शब्दों से निरूपण किया गया है—

"(दस प्रकार के मैथुनों में) पहला (मैथुन) है— शरीर का शृंगार करना। दूसरा है— गरिष्ठ भोजन। तीसरा है— गीत-नृत्य-वाद्य का सुनना। चौथा है— स्त्री से सम्बन्ध बनाना। पाँचवाँ है— स्त्री-सम्बन्धी विचार। छठा है— स्त्री के अंगों को निहारना। सातवाँ है— उसे देखने का संस्कार (हृदय में अंकित रहना)। आठवाँ है— पूर्वानुभोग-संभोग का स्मरण। नौवाँ है— आगे की चिन्ता (योजना बनाना)। दसवाँ है— वीर्य-क्षरण।"

ब्रह्मचर्य की विराधना (विनाश) करने वाली क्रियाएँ भी दस प्रकार की हैं, उनका निर्देश दर्शनप्राभृत (गा. 9) की श्रुतसागर-रचित टीका में इस प्रकार किया है— "वे शीलविराधक क्रियाएँ कौन-सी हैं? (उत्तर-) (1) स्त्री-संसर्ग, (2) सरस आहार, (3) सुगन्ध-संस्कार (इत्र-फुलेल आदि शृंगार), (4) कोमल शयन-आसन, (5) शरीर की सजावट, (6) गीत-वाद्य आदि का श्रवण, (7) धन-संग्रह, (8) कुशील (व्यभिचारी) लोगों से संसर्ग, (9) राजसेवा (सहयोग हेतु सरकारी अधिकारियों को प्रसन्न रखना), (10) रात्रि-संचरण —ये दस प्रकार की शील-विराधक क्रियाएँ हैं।"

भगवती-आराधनेतिग्रन्थे *(गाथा-1204)* **च ब्रह्मचर्यव्रतस्य पञ्च भावनाः निर्दिष्टाः, ता अपि अनुष्ठेयाः—**

महिलालोयण-पुव्वरदिसरण संसत्तवसहिविकहाहिं।
पणिदरसेहिं य विरदी भावणा पंच बंभस्स॥

अब्रह्मप्रसङ्गे सामाजिकविकृतिरूपस्य वेश्यासमाजस्य च चर्चा शास्त्रकारैर्विहिता, तथा वेश्यासम्पर्कस्य हेयताऽपि तैः सयुक्तिकं प्रतिपादिता। यथा लाटीसंहितायाम् *(1/129-132)*—

पण्यस्त्री तु प्रसिद्धा या वित्तार्थं सेवते नरम्।
तन्नाम दारिका दासी वेश्या पत्तननायिका॥

तत्-त्यागः सर्वतः श्रेयान् श्रेयोऽर्थं यततां नृणाम्।
मद्यमांसादिदोषान् वै निःशेषान् त्यक्तुमिच्छताम्॥

आस्तां तत्सङ्गमे दोषो दुर्गतौ पतनं नृणाम्।
इहैव नरकं नूनं वेश्याव्यासक्तचेतसाम्॥

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1204) में ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ बताई गई हैं, उनका भी पालन करना चाहिए— ''स्त्रियों को निहारना-देखना, पूर्व में भोगे हुए भोगों का स्मरण, स्त्रियों से युक्त स्थान का सेवन, शृंगार-कथा, इन्द्रियों में मद व बल पैदा करने वाले रसों का सेवन —इन सब (पाँच) से विरत होना ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ हैं।''

'अब्रह्म' के निरूपण में प्रसङ्गवश शास्त्रकारों ने सामाजिक विकृति रूप वेश्या-समाज की भी चर्चा की है और उन्होंने वेश्या-सम्पर्क से दूर रहने का सयुक्तिक प्रतिपादन किया है। उदाहरणार्थ, लाटी संहिता (1/129-132) में कहा गया है—

''जो स्त्री केवल धन के लिए पुरुष का सेवन करती है, उसको वेश्या कहते हैं। ऐसी वेश्याएँ सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। उन वेश्याओं को दारिका, दासी, वेश्या या नगरनायिका (नगरवधू) आदि नामों से पुकारते हैं। जो व्यक्ति मद्य, मांस आदि के दोषों को जानकर निज आत्मा का कल्याण करना चाहते हैं, उन्हें वेश्या-सेवन का त्याग ही करना चाहिए। वेश्या-सेवन से नरक आदि दुर्गतियों में जाना पड़ता है और इस लोक में भी नरक जैसी यातनाएँ व पीड़ा भोगनी पड़ सकती हैं।

उक्तंच—

याः खादन्ति पलं पिबन्ति च सुरां जल्पन्ति मिथ्यावचः,
स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठाक्षतिम्।
नीचानामपि दूरवक्रमनसः पापात्मिकाः कुर्वते,
लालापानमहर्निशं न नरकं वेश्यां विहायापरम्॥

रजकशिला-सदृशीभिः, कुक्कुरकर्परसमानचरिताभिः।
वेश्याभिर्यदि संगः कृतमिव परलोकवार्ताभिः।।

प्रसिद्धैः बहुभिस्तस्यां प्राप्ता दुःखपरम्पराः।
श्रेष्ठिना चारुदत्तेन विख्यातेन यथा पराः।।

वसुनन्दि-श्रावकाचारे *(गाथा-88-93)* **च पूर्वोक्तमेव विशदीकृतम्—**

(शास्त्रकारों ने) कहा भी है—

"ये पापिनी वेश्याएँ मांस खाती हैं, शराब पीती हैं, झूठ बोलती हैं, धन के लिए प्रेम करती हैं, धन व प्रतिष्ठा का नाश करती हैं, कुटिल मन से या बेमन से नीच लोगों के (मुख की) लार को रात-दिन चाटती हैं, इसलिए वेश्या को छोड़कर संसार में कोई नरक नहीं है।"

"वेश्या तो धोबी की शिला (कपड़ा धोने का पाट) के समान होती है, जिस पर आकर ऊँच-नीच अनेक पुरुषों के घृणित व अतिनिन्दनीय वीर्य व लार आदि मल बहते हैं, अथवा वह वेश्या कुत्ते के मुँह में लगे हुए हड्डी के खप्पर के समान आचरण करती है, ऐसी वेश्या के साथ जो पुरुष सहवास करते हैं, वे साथ ही परलोक की बात भी कर लेते हैं (अर्थात् परलोक में दुर्गति निश्चित कर लेते हैं)।"

"इस वेश्या-सेवन में आसक्त जीवों ने जन्म-जन्मान्तर तक दुःख पाये हैं। जैसे, अत्यन्त प्रसिद्ध सेठ चारुदत्त ने इस वेश्या-सेवन से ही अनेक दुःख पाये थे।"

वसुनन्दि-श्रावकाचार (गाथा-88-93) में भी पूर्वोक्त तथ्य को ही स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

कारुय-किराय-चंडाल-डोंब-पारसियाणमुच्छिट्ठं।
सो भक्खेइ जो सह वसइ एयरत्तिं पि वेस्साए॥

रत्तं णाऊण णरं सव्वस्सं हरइ वंचणसएहिं।
काऊण मुयइ पच्छा पुरिसं चम्मट्ठिपरिसेसं॥

पभणइ पुरओ एयस्स सामी मोत्तूणं णत्थि मे अण्णो।
उच्चइ अण्णस्स पुणो करेइ चाडूणि बहुयाणि॥

माणी कुलजो सूरो वि कुणइ दासत्तणं पि णीचाणं।
वेस्साकएण बहुगं अवमाणं सहइ कामंधो॥

जे मज्जमंसदोसा वेस्सागमणम्मि होंति ते सव्वे।
पावं पि तत्थ हिट्ठं पावइ णियमेण सविसेसं॥

पावेण तेण दुक्खं पावइ संसारसायरे घोरे।
तम्हा परिहरियव्वा वेस्सा मणवयणकाएहिं॥

"जो कोई भी मनुष्य एक रात भी वेश्या के साथ बिता लेता है, वह कारु (लुहार), चमार, किरात (भील), चण्डाल, डोंब (भंगी) व पारसी आदि नीच लोगों का जूठा खाता है, क्योंकि वेश्या इन सभी लोगों के साथ समागम करती है। वेश्या, मनुष्य को अपने ऊपर आसक्त जानकर सैकड़ों वंचनाओं (धोखा व हेराफेरी) से उसका सर्वस्व हर लेती है और पुरुष को 'हड्डी चर्म' मात्र बना कर छोड़ देती है। वह एक पुरुष के सामने कहती है कि तुम्हें छोड़कर तुम्हारे सिवाय मेरा स्वामी कोई नहीं है। इस प्रकार वह अन्य से भी कहती है और अनेक चापलूसी भरी बातें करती है। मानी, कुलीन और शूरवीर मनुष्य भी वेश्या में आसक्त होने से नीच पुरुषों की दासता को स्वीकार करता है और इस प्रकार कामान्ध होकर वेश्या द्वारा किये गये अपमानों को भी सहता है। जो दोष मद्य-मांस में हैं, वे सभी दोष वेश्यागमन में भी होते हैं। अत: वह (वेश्यागामी) मद्य-मांस के सेवन से होने वाले पाप को तो प्राप्त करता ही है, वेश्या-सेवन के विशेष अधर्म को भी नियमतया प्राप्त होता है। वेश्या-सेवन से होने वाले पाप से यह जीव घोर संसार-सागर में भयानक दु:खों को प्राप्त करता है, अत: मन-वचन-शरीर से वेश्या का सर्वथा त्याग करना चाहिए।"

किञ्च, सागारधर्मामृतेऽपि *(3/20)* **प्रोक्तम्—**

त्यजेत् तौर्यत्रिकासक्तिं वृथाट्यां षिङ्गसङ्गतिम्।
नित्यं पण्याङ्गनात्यागी तद्गेहगमनादि च॥

वसुनन्दिश्रावकाचारे च *(गाथा-124)* **परदारासेवनस्य दुष्परिणामा वर्णिताः—**

परलोयम्मि अणंतं दुक्खं पाउणइ इहभवसमुद्दम्मि।
परयारा परमहिला तम्हा तिविहेण वज्जिंज्जा॥

लाटीसंहितायां *(I/186, 207)* **च निर्दिष्टम्—**

भोगपत्नी निषिद्धा स्यात् सर्वतो धर्मवेदिनाम्।
ग्रहणस्याविशेषेऽपि दोषो भेदस्य सम्भवात्॥

और सागारधर्मामृत (3/20) में भी कहा है— "वेश्या-गमन के त्यागी श्रावक को चाहिए कि वह गीत-नृत्य-वाद्य में आसक्ति को, बिना प्रयोजन घूमने को तथा व्यभिचारी (षिङ्ग) लोगों की संगति को और वेश्या के घर आने-जाने आदि को भी छोड़ दे।"

वसुनन्दि-कृत श्रावकाचार (गाथा-124) में भी परकीय स्त्री के सेवन से होने वाले दुष्परिणामों का निरूपण किया गया है—

"पर-स्त्रीगामी परलोक में इस संसार-समुद्र में अनन्त दुःख पाता है। इसलिए (परिगृहीता या अपरिगृहीता) पर-स्त्रियों को मन-वचन-काय से त्याग देना चाहिए।"

लाटीसंहिता (I/186, 207) में भी कहा गया है—

"धर्मज्ञ पुरुषों को भोगपत्नी का पूर्ण रूप से त्याग करना चाहिए। यद्यपि ग्रहण (विवाह विधि से परिणीत) करने की दृष्टि से दोनों (भोगपत्नी व धर्मपत्नी) में विशेषता (अन्तर) नहीं है, फिर भी (सेवन में सदोषता की दृष्टि से) धर्मपत्नी से भोगपत्नी भिन्न है और उस (भोगपत्नी) का सेवन दोषयुक्त माना जाता है।" [अन्य जाति की कन्या से जब विवाह किया जाता है, तो वह भोगपत्नी होती है, भोगोपभोग के लिए ही वह होती है, उसे अन्य अधिकार प्राप्त नहीं होते। अपनी ही जाति की कन्या विवाहित होकर जो धर्मपत्नी के रूप में अधिकृत होती है, उसे ही कानूनी अधिकार प्राप्त होते हैं।]

एतत्सर्वं परिज्ञाय स्वानुभूतिसमक्षत:।
पराङ्गनासु नादेया बुद्धिर्धीधनशालिभि:॥

कुरलकाव्ये *(15/10)*—

वरमन्यकृतं पापम्, अपराधोऽपि वा वरम्।
परं न साध्वी त्वत्पक्षे कांक्षिता प्रतिवेशिनी॥

अब्रह्मसेवने स्त्रीपुरुषयो: समानपापदोष:। यथा व्यभिचारिणी स्त्री सर्वै: त्याज्या भवति, तथैव व्यभिचारपरायण: पुरुषोऽपि निन्दनीय:, ब्रह्मचर्यव्रतिना तत्सङ्गति: सदैव वर्जनीया।

उक्तं च भगवती-आराधनेतिग्रन्थे *(गाथा-988, 1109)*—

जह सीलरक्खयाणं पुरिसाणं णिंदिदाओ महिलाओ।
तह सीलरक्खियाणं महिलाणं णिंदिदा पुरिसा॥

"अपने अनुभव व प्रत्यक्ष से इन सब बातों को जानकर बुद्धिमान् पुरुषों को पर-स्त्री में मन कभी नहीं लगाना चाहिए।"

कुरल काव्य (15/10) में भी कहा गया है—

"तुम कोई भी अपराध या दूसरा कोई भी पाप क्यों न करो, किन्तु तुम्हारे लिए यही श्रेयस्कर है कि तुम पड़ोसी की स्त्री से सदा दूर रहो।"

अब्रह्मसेवन में स्त्री हो या पुरुष हो, दोनों समान पाप के भागी हैं। जिस प्रकार कोई व्यभिचारिणी स्त्री सब के लिए त्याज्य होती है, उसी तरह व्यभिचाररत पुरुष भी निन्दा का पात्र है। ब्रह्मचर्यव्रत के धारक व्यक्ति के लिए उस (व्यभिचारी पुरुष) की संगति हमेशा अकरणीय ही है।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-988, 1109) में कहा भी गया है—

"शील (ब्रह्मचर्य) की रक्षा में तत्पर व्यक्ति के लिए स्त्रियों का संसर्ग जिस तरह निन्दनीय माना गया है, उसी तरह शीलरक्षा में तत्पर स्त्रियों के लिए पर पुरुष का संसर्ग निन्दनीय (अर्थात् त्याज्य) है।"

तेल्लोक्काडविडहणो कामग्गी विसयरुक्खपज्जलिओ।
जोव्वणतणिल्लचारी जं ण डहइ सो हवइ धण्णो॥

एतत्सर्वं मनसि निधाय, ब्रह्मचर्यव्रतसम्बन्धिनो येऽतिचाराः, तेऽपि विज्ञेयाः। ते चातिचाराः— *"परविवाहकरणेत्वरिका-परिगृहीताऽपरिगृहीता-गमनाऽनंगक्रीडा-काम-तीव्राभिनिवेशाः" (त.सू.7/28)*।

इदानीं क्रमप्राप्तं पञ्चमं पापं परिग्रहं निरूपयामः। लोभकषायोदयाद् विषयेषु रागादयः, मूर्च्छाभावः, ममेदम्, अस्याहमिति संकल्पश्च 'परिग्रह'-रूपेण स्वीकृताः। अत्रायं विशेषः— न केवलं ममेदमिति संकल्पः परिग्रहः, अपितु प्रमादमोहजनितः सन्नेव स परिग्रहः। अतः अप्रमत्तस्य मोहरहितस्य ज्ञानदर्शनचारित्रेति-स्वगुणेषु ममेदमिति संकल्पे सत्यपि परिग्रहसम्बन्धिदोषो नापतति। किञ्च, ज्ञानदर्शनादीनामात्मस्वभावत्वात् अहेयत्वम्, अतः परिग्रहरूपता न तेषां शङ्कनीया।

"कामाग्नि विषय रूपी वृक्षों का आश्रय लेकर प्रज्वलित होती है, त्रैलोक्य रूपी वन को वह जलाने की सामर्थ्य रखती है। परन्तु वे महात्मा धन्य हैं जो यद्यपि तारुण्य रूपी तृण पर संचार करने वाले होते हैं किन्तु जिन्हें जलाने में वह अग्नि समर्थ नहीं होती।"

इन सब तथ्यों को मन में रखकर, ब्रह्मचर्य व्रत से सम्बन्धित जो अतीचार हैं, उन्हें भी जानना चाहिए। वे अतीचार इस प्रकार हैं— "परविवाहकरण, परिगृहीताइत्वरिकागमन, अपरिगृहीताइत्वरिका-गमन, अनंगक्रीड़ा, कामतीव्राभिनिवेश (ये ब्रह्मचर्य-अणुव्रत के पाँच अतिचार होते) हैं" (तत्त्वार्थसूत्र-7/28)। [अर्थात् दूसरे के पुत्र-पुत्रियों का विवाह कराना, पतिरहित या पति वाली व्यभिचारिणी स्त्रियों के पास जाना, अवैध अंगों से कामसेवन, तथा कामसेवन की तीव्र आसक्ति —ये ब्रह्मचर्य-अणुव्रत में दोष उत्पन्न करते हैं।]

अब क्रम प्राप्त पाँचवें पाप 'परिग्रह' का निरूपण किया जा रहा है। लोभ कषाय के उदय से विषयों के प्रति उत्पन्न रागादि, मूर्च्छाभाव और यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ —इस प्रकार का जो संकल्प होता है, उसे 'परिग्रह' माना गया है। यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है— 'यह मेरा है' इत्यादि संकल्प मात्र होना 'परिग्रह' नहीं होता, अपितु प्रमाद व मोह से उत्पन्न होने पर ही वह (संकल्प) परिग्रह कहलाता है। इसलिए अप्रमत्त व मोहरहित साधक का अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुणों के प्रति 'मेरे हैं' यह संकल्प होने पर भी, उसे परिग्रह का दोष नहीं लगता। और, ज्ञान-दर्शन आदि तो आत्मा के स्वभावभूत गुण हैं, इसलिए वे हेय नहीं हैं, अतः उनके परिग्रहपने की आशंका नहीं करनी चाहिए।

एष परिग्रहो द्विविधः— बाह्यरूपः, आभ्यन्तररूपश्च। तत्र क्षेत्र-वास्तु-हिरण्य-स्वर्ण-धन-धान्य-दास-दासी-कुप्य-भाण्डभेदेन दशविधो बाह्यपरिग्रहः। आभ्यन्तरपरिग्रहस्तु चतुर्दशविधः, तस्य मिथ्यात्व-क्रोध-मान-माया-लोभ-हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुन्नपुंसकेतिभेदाः ज्ञेयाः। एवं समग्रतया चतुर्विंशतिभेदाः परिग्रहस्य जायन्ते। बाह्य-आभ्यन्तरपरिग्रहयोः परस्परं कार्यकारणसम्बन्धो वर्तते। यथा— आभ्यन्तरपरिग्रहे रागाद्यात्मके सति तज्जनितं बाह्यपरिग्रहरूपकार्यं यद्वा परिग्रहजनितकर्मबन्धो भवत्येव, आन्तरिकपरिग्रहाभावे बाह्यपरिग्रहप्रवृत्तिः, यद्वा परिग्रहजनितबन्धो न प्रभवतीति कार्यकारणभावं विमृश्य शास्त्रेषु प्रोक्तं यदाभ्यन्तरपरिग्रहत्यागं विना बाह्यपरिग्रहत्यागो निरर्थक एवेति।

उक्तं च भावप्राभृते *(गाथा-3)*— *'बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुत्तस्स'*।

भगवती-आराधनाग्रन्थे *(गाथा-1909)* **च स्पष्टमुदीरितम्**— *'अब्भंतरमइलो चेव बाहिरे गेण्हदि हु गंथे'* **इति।**

यह परिग्रह दो प्रकार का होता है— बाह्य रूप और आभ्यन्तर रूप। इनमें बाह्य परिग्रह के दस भेद हैं— क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, स्वर्ण, धन, धान्य, दास, दासी, कुप्य और भाण्ड। आभ्यन्तर परिग्रह के चौदह भेद इस प्रकार हैं— मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, और नपुंसक वेद। इस प्रकार परिग्रह की कुल संख्या चौबीस हो जाती है। बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह में कार्यकारणसम्बन्ध है। जैसे— रागादि रूप आन्तरिक परिग्रह के होने पर उससे बाह्य परिग्रह रूप कार्य या परिग्रह से होने वाला कर्म-बन्ध होता ही है। आन्तरिक परिग्रह के अभाव में बाह्य परिग्रह से सम्बन्धित प्रवृत्ति या परिग्रहजनित कर्मबन्ध नहीं होते —इस तरह कार्यकारणभाव का विचार कर शास्त्रों में कहा गया है कि आन्तरिक परिग्रह का त्याग किये बिना बाह्य परिग्रह का त्याग निरर्थक ही है।

भावप्राभृत (गाथा-3) में कहा भी है— ''यदि आन्तरिक परिग्रह से युक्त (व्यक्ति) हो तो उसका बाह्य परिग्रह का त्याग विफल-निरर्थक है।''

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1909) में भी स्पष्ट कहा गया है— ''आन्तरिक मलिनता होने पर ही जीव बाह्य परिग्रहों का संग्रहण करता है।''

परिग्रहसंज्ञाया: कुप्रभावोऽपि ज्ञानार्णवे *(16/12)* **इत्थं वर्ण्यते—**

संगात् कामस्तत: क्रोध:, तस्माद् हिंसा तयाऽशुभम्।
तेन श्वाभ्री गतिस्तस्यां दु:खं वाचामगोचरम्॥

क्वचित्तु रागोपशमने सत्यपि बाह्यद्रव्यसन्निधानं मनसि आभ्यन्तरपरिग्रहात्मकरागं जनयति —इति दृष्ट्या बाह्यपदार्थानामान्तरिकपरिग्रहोत्पत्तौ कारणत्वं वर्तते। अतएव गोम्मटसारे *(जीवकाण्डे, गाथा-138)* **प्रोक्तम्—**

उवयरणदंसणेण य तस्सुवजोगेण मुच्छिदाए य।
लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायदे सण्णा॥

भगवती-आराधनाग्रन्थेऽपि *(गाथा-1908)* **बाह्यपरिग्रहस्य आन्तरिकपरिग्रहप्रादुर्भावे कारणत्वमित्थं संकेतितम्—**

जह पत्थरो पडंतो खोभेइ दहे पसण्णमवि पंकं।
खोभेइ पसण्णमवि कसायं जीवस्स तह बंधो॥

'परिग्रह संज्ञा' के कुप्रभाव को ज्ञानार्णव (16/12) में इस प्रकार निरूपित किया गया है— "विषयवाञ्छा से (उसकी पूर्ति न होने पर) क्रोध, क्रोध से हिंसा, उससे अशुभ कर्म का उपार्जन, उससे नरक गति की प्राप्ति और वहाँ अनिर्वचनीय दु:ख मिलता है।"

कभी-कभी, रागादि के उपशमन होने पर भी बाह्य द्रव्यों का संग्रह व्यक्ति के मन में आन्तरिक परिग्रह रूप राग को पैदा कर देता है— इस दृष्टि से बाह्य पदार्थ भी आन्तरिक परिग्रह की उत्पत्ति में कारण होता है। इसीलिए गोम्मटसार (जीवकाण्ड, गाथा-138) में कहा गया है—" (धन-धान्य आदि) उपकरणों के देखने से, उसके उपयोग (कथा-श्रवण आदि) से, उसके उपार्जन करने की आसक्ति के सम्बन्ध से — इन बाह्य कारणों से और लोभकषाय की उदीरणा रूप अन्तरङ्ग कारण से 'परिग्रह संज्ञा' (परिग्रह की इच्छा-लालसा) होती है।"

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1908) में भी बाह्य परिग्रह को आन्तरिक परिग्रह की उत्पत्ति में इस प्रकार कारण बताया गया है— "जैसे जल में पत्थर फेंकने से नीचे बैठा हुआ कीचड़ ऊपर आ जाता है, वैसे ही परिग्रह से जीव का दबा हुआ कषाय क्षुब्ध हो जाता है— उदय में आ जाता है।"

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे च *(1/53)*—

दुर्ध्यानार्थमवद्यकारणमहो निर्ग्रन्थताहानये,
शय्याहेतुतृणाद्यपि प्रशमिनां लज्जाकरं स्वीकृतम्।
यत्तत् किं न गृहस्थयोग्यमपरं स्वर्णादिकं साम्प्रतं,
निर्ग्रन्थेष्वपि चेत्तदस्ति नितरां प्राय: प्रविष्ट: कलि:॥

परिग्रहासक्तस्तु श्रमणत्वमेव नार्हति। उक्तं च लिङ्गप्राभृते *(गाथा-5)*—

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो॥

पूर्णवीतरागताप्राप्त्युपायभूते मोक्षमार्गे प्रस्थितस्य श्रमणस्य यदि बाह्यद्रव्यसंग्रहो दृश्यते, तर्हि तत्र भाविन आन्तरिकपरिग्रहस्य तज्जनितबन्धस्य च सम्भावना वर्तते —इति दृष्ट्या प्रवचनसारे *(3/19)* **प्रोक्तम्**—*बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं।*

पद्मनन्दि-पञ्चविंशतिका ग्रन्थ (1/53) में कहा गया है—

"जबकि शय्या के निमित्त स्वीकार किये गये लज्जाजनक तृण (पयाल, घास-फूस) आदि भी मुनियों के आर्त-रौद्र स्वरूप दुर्ध्यान व पाप के कारण होते हुए उनकी निर्ग्रन्थता को नष्ट करते हैं, तब फिर वे गृहस्थ के योग्य अन्य सुवर्ण आदि क्या उस निर्ग्रन्थता को नष्ट नहीं करेंगे? अवश्य ही करेंगे। फिर यदि वर्तमान में निर्ग्रन्थ मुनि सुवर्ण आदि रखने लगें तो समझना चाहिए कि कलिकाल का प्रवेश हो चुका है।"

परिग्रह में आसक्त व्यक्ति तो श्रमण होने के ही लायक नहीं है। लिङ्गप्राभृत (गाथा-5) में कहा गया है— "जो निर्ग्रन्थ परिग्रह का संग्रह करता है, उसकी रक्षा (सार-सम्हाल) करता है, और बहुत प्रयत्न से उसका ध्यान करता है, वह पाप से मोहित बुद्धि वाला पशु है, मुनि नहीं है।"

पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति के उपाय 'मोक्षमार्ग' में चल रहे श्रमण के (आस-पास) बाह्य द्रव्यों का संग्रह दृष्टिगोचर होता है तो वहाँ भविष्य में आन्तरिक परिग्रह की तथा उससे होने वाले कर्मबन्ध की सम्भावना है— इस दृष्टि से प्रवचनसार (3/19) में कहा गया है— "(बाह्य परिग्रह) उपधि से तो बन्ध होगा ही, इसलिए श्रमणों को समस्त (बाह्य) परिग्रह छोड़ने चाहिएँ।"

एतस्या प्रवचनसारीयगाथायास्तात्पर्यं विवृण्वताऽऽचार्येण अमृतचन्द्रेण तत्त्वदीपिका-टीकायां *(3/19)* **विशदीकृतं यद् बाह्योपधिसद्भावस्य आन्तरिकपरिग्रहस्य च परस्पराविनाभावित्वम्, आन्तरिकपरिग्रहे सति एकान्तेन बन्ध एवेत्यत आन्तरिकपरिग्रहस्य त्यागवदेव बाह्यपरिग्रहत्यागोऽपि करणीय एवेति।**

अत्रायं विशेषः— यदि बाह्यद्रव्यसन्निधिस्तु श्रमणस्य दृश्यते, किन्तु तत्र श्रमणस्य ईहापूर्वकसंग्रहेच्छा न वर्तते, तर्हि न श्रमणस्य कर्मबन्धः, यतो हि तत्र तस्य चेलोपसृष्टमुनेरिव स्थितिरवगन्तव्या। यथा कस्यचित् मुनेरुपरि जनोऽन्यः कश्चिद् वस्त्रावरणं पातयति, तदावरणं च मुनिरुपसर्गरूपं मनुते, तर्हि स सवस्त्रोऽपि दृष्टो निरावरणो मुनिरिव दिगम्बरत्वमेव वहति।

एवं मुख्यतः आन्तरिकपरिग्रहस्यैव सदोषत्वं त्याज्यत्वं वा प्रतिफलति। अतएव धवलाग्रन्थे *(पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, सू. 67, पृ. 323)* **प्रतिपादितं दृश्यते—** *"ववहारणयं पडुच्च खेत्तादो गंथो, अब्भंतरगंथकारणत्तादो। एदस्स परिहरणं णिग्गंथत्तं। णिच्छयणयं पडुच्च मिच्छत्तादी गंथो, कम्मबंधकारणत्तादो। तेसिं परिच्चागो णिग्गंथत्तं।"*

प्रवचनसार की इसी गाथा का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी तत्त्वदीपिका टीका (3/19) में बताया कि बाह्य परिग्रह और आन्तरिक परिग्रह —इन दोनों का परस्पर अविनाभाव है, आन्तरिक परिग्रह होने पर एकान्ततः बन्ध होगा ही, इसलिए आन्तरिक परिग्रह के त्याग की तरह ही बाह्य परिग्रह का त्याग भी करणीय ही है।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है— यदि बाह्य द्रव्यों का सान्निध्य किसी श्रमण के दिखाई पड़ता है, किन्तु श्रमण की उसमें ईहा-पूर्वक (बुद्धिपूर्वक) संग्रह-इच्छा नहीं है तो श्रमण को कर्मबन्ध नहीं होता, क्योंकि वहाँ उस मुनि की स्थिति वैसी ही है जैसी कि वस्त्र-उपसर्ग से युक्त मुनि की होती है। जैसे— किसी मुनि के ऊपर कोई व्यक्ति वस्त्र का आवरण डाल दे तो उस आवरण को वह मुनि उपसर्ग रूप में मान रहा होता है, ऐसी स्थिति में वह सवस्त्र दिखता हुआ भी निरावरण मुनि की तरह दिगम्बर रूप को ही धारण कर रहा होता है।

इस प्रकार, मुख्य रूप से आन्तरिक परिग्रह की ही सदोषता या त्याज्यता प्रतिफलित होती है। इसलिए धवला ग्रन्थ (पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, सू. 67, पृ. 323) में यह प्रतिपादित किया गया है— "व्यवहारनय के आश्रय से क्षेत्रादिक परिग्रह हैं, क्योंकि वे आभ्यन्तर परिग्रह में कारण होते हैं, अतः उन (बाह्य परिग्रह) का त्याग निर्ग्रन्थता है। निश्चयनय की दृष्टि से मिथ्यात्व (आदि ही) ग्रन्थ हैं क्योंकि वे कर्मबन्ध में कारण हैं। और इन (मिथ्यात्वादि) का त्याग करना निर्ग्रन्थता है।"

समयसारे *(गाथा-265)* **च समुद्घोषितम्—** *ण य वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोत्थि।*

अत्रैका आरेका जागर्ति— यदि अध्यवसानमेव बन्धहेतुः, न बाह्यवस्तु, तर्हि किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेधः ? अत्र समाहितं यदध्यवसानप्रतिषेधार्थ एव बाह्यवस्तुपरिग्रहप्रतिषेधः। अध्यवसानस्य बाह्यवस्तु आश्रयभूतम्, तदाश्रित्यैव अध्यवसानस्य सम्भवः, नान्यथा —इति सर्वं समयसार-टीकायामात्मख्यातौ *(गाथा-265)* **प्रतिपादितम्। किन्तु सर्वमेतद् व्यवहारनयेन। अतएव कषायप्राभृते** *[भाग-1 (पेज्जदोसविहत्ती), गाथा-1, जयधवला- गाथा 51, पृ. 95]* **प्रोक्तम्—**

वत्थुं पडुच्च तं पुण अज्झवसाणं त्ति भणइ ववहारो।
ण य वत्थुदो हु बंधो, बंधो अज्झप्पजोएण॥

एवं निष्कर्षतो भावतो द्रव्यतश्च परिग्रहरहितो जीव एव ध्यानक्रियायां समर्थः, अतः स एव मुक्तिसोपानमध्यारुह्य मोक्षे अनन्तसुखं प्राप्तुं समर्थो भवति।

समयसार (गाथा-265) में भी उद्घोषणा की गई है— "वस्तु से बन्ध नहीं होता, अपितु 'अध्यवसान' से बन्ध होता है।"

यहाँ एक शंका उठती है कि यदि अध्यवसान ही (आन्तरिक परिणाम) बन्ध का हेतु है, बाह्य वस्तु नहीं, तो फिर बाह्य वस्तु (के ग्रहणादि) का प्रतिषेध क्यों किया गया है ? यहाँ समाधान दिया गया है कि अध्यवसान के प्रतिषेध हेतु ही बाह्य वस्तु के परिग्रह का निषेध किया गया है। अध्यवसान की आश्रय बाह्य वस्तु (ही) होती है, उसका आश्रयण करके ही अध्यवसान का उद्भव सम्भव है, अन्यथा नहीं —यह सब तथ्य समयसार (गाथा-265) की आत्मख्याति टीका में प्रतिपादित किया गया है। किन्तु यह सब कथन व्यवहारनय से है।

इसीलिए कषायप्राभृत [भाग-1 (पेज्जदोसविहत्ती), गाथा-1 पर जयधवला- गाथा-51, पृ. 95] में कहा गया है—

"वस्तु का आश्रय लेकर अध्यवसान होता है— यह व्यवहारनय का कथन है। किन्तु वस्तु से बन्ध नहीं होता, अध्यात्म-(निश्चय नयानुसार) योग (परिणाम) से ही बन्ध होता है।"

इस प्रकार निष्कर्षरूप से द्रव्यतः व भावतः परिग्रहरहित जीव ही ध्यान क्रिया में (धर्म ध्यान में) समर्थ होता है, इसलिए वही मुक्ति-सोपान पर चढ़कर मोक्ष में अनन्त सुख प्राप्त करने में समर्थ हो पाता है।

उक्तं च भगवती-आराधनेतिग्रन्थे *(गाथा-1177)*—

रागविवागसतण्णादिगिद्धि अवितित्ति चक्कवट्टिसुहं।
णिस्संगणिव्वुइसुहस्स कहं अग्घइ अणंतभागं पि॥

किञ्च ज्ञानार्णवेऽपि *(16/33)*—

सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः संवृताक्षः स्थिराशयः।
धत्ते ध्यानधुरां धीरः संयमी वीरवर्णिताम्॥

किन्तु, परिग्रहासक्तः शकुनिरिव गृहीतमांसखण्डोऽन्येषां मांसार्थिनां पक्षिणामिहैव तस्करादिभिः पराभवनीयो भवति, तथा च परिग्रहार्जनरक्षणक्षयकृतांश्च दोषाननेकान् प्राप्नोति। यथेन्धनैः कदाचिदपि अग्निर्न तृप्यति, तथैव लोभाभिभूतत्वात् सर्वदा अतृप्त एव तिष्ठति। लोके च गर्हितो भवति, मृत्वा च दुर्गतिमवाप्नोति— इत्यतः परिग्रहत्याग एव श्रेयस्करः, इत्येवं प्रकारेण

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1177) में कहा है—

"चक्रवर्ती के सुख का फल राग है, क्योंकि विषय-सुख का सेवन व्यक्ति को विषय में अनुरक्त करता है। वह तृष्णा को बढ़ाता है, अत्यन्त लालसा को पैदा करता है, उसमें तृप्ति नहीं मिलती। अतः चक्रवर्ती का सुख परिग्रहत्यागी को मिलने वाले सुख का अनन्तवाँ भाग भी नहीं होता।"

ज्ञानार्णव (16/33) में भी कहा है—

"जो धीर-वीर साधु सम्पूर्ण परिग्रह से ममत्व को छोड़ चुका है, वही इन्द्रियों का निग्रह करता हुआ स्थिर अभिप्राय के साथ वीर जिनेन्द्र-प्ररूपित ध्यान की धुरा को धारण करता है।"

किन्तु जिस प्रकार कोई पक्षी मांस-खण्ड लेकर उड़ता है तो अन्य मांसार्थी पक्षी उसे दबोच लेते हैं— काबू में कर लेते हैं, उसी प्रकार परिग्रह में आसक्त जीव अन्य तस्करों के हाथों पराभूत होता है और परिग्रह के संचय, रक्षण और नाश से सम्बन्धित अनेक दोषों (कष्ट, मानसिक तनाव आदि) को प्राप्त करता है। जिस प्रकार ईन्धनों से आग कभी शान्त (तृप्त) नहीं होती, उसी प्रकार लोभ-ग्रस्त होने के कारण वह सर्वदा अतृप्त ही रहता है। साथ ही वह लोक में निन्दा का पात्र होता है और मरकर दुर्गति को प्राप्त करता है, इसलिए परिग्रह का त्याग ही श्रेयस्कर है— इस प्रकार से परिग्रह में दोष व हानि का विचार करना

परिग्रहे अपायावद्यदर्शनं भावनीयम्। अथवा अपरिग्रहसम्बन्धिभावना: पञ्च भावनीया:। ताश्च मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनरूपा: *(त.सू. 7/8)* **विज्ञेया:।**

तथैव ये परिग्रहपरिमाणाणुव्रतस्यातीचारा: सन्ति, तेऽपि मनसि धार्या:, येन व्रतपालनं सम्यक्तया स्यात्। ते चातीचारा:— *क्षेत्रवास्तुहिरण्य-सुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमा: (त.सू. 7/29)* **पञ्च बोध्या:।**

रत्नकरण्डश्रावकाचारे *(श्लोक-62)* **तु पञ्चातीचारा: सन्ति—**

अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि ।
परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपा: पञ्च लक्ष्यन्ते॥

मुनीनां कृते तु परिग्रहत्यागव्रतस्य रूपं पूर्णनि:सङ्गतारूपं मूलाचारे *(गाथा-9, 293)* **इत्थं निर्दिष्टं वर्तते—**

चाहिए। अथवा अपरिग्रह से सम्बन्धित पाँच भावनाओं का चिन्तन करना चाहिए। वे पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं— ''मनोज्ञ व अमनोज्ञ पाँच इन्द्रिय-विषयों में क्रम से राग व द्वेष का त्याग करना'' (त.सू.7/8)।

इसी प्रकार, जो परिग्रहपरिमाण-अणुव्रत के अतीचार हैं, वे भी मन में रखने चाहिए, ताकि व्रत का पालन सम्यक् रूप से हो सके। वे अतीचार हैं— ''क्षेत्र और वस्तु के प्रमाण का अतिक्रम, हिरण्य व सुवर्ण के प्रमाण का अतिक्रम, धन व धान्य के प्रमाण का अतिक्रम, दासी व दास के प्रमाण का अतिक्रम, तथा कुप्य (वस्त्रादि) के प्रमाण का अतिक्रम —ये परिग्रहपरिमाण व्रत के पाँच अतीचार होते हैं (त. सू. 7/29)।''

रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-62) में पाँच अतीचार इस प्रकार बताये गये हैं—

''अतिलोभ के कारण पशुओं को अधिक चलाना, धान्य आदि का अधिक समय तक संग्रह रखना, (दूसरे के वैभव से) विषाद करना, अतिलोभ करना, अधिक भार लादना —ये परिग्रह परिमाण अणुव्रत के पाँच अतीचार हैं।''

मुनियों के लिए तो परिग्रह-त्याग व्रत पूर्णतया अपरिग्रह रूप होता है और इसका मूलाचार (गाथा-9, 293) में इस प्रकार निर्देश प्राप्त होता है—

जीवनिबद्धाऽबद्धा परिग्गहा जीवसंभवा चेव।
तेसिं सक्कच्चागो इयरम्हि य णिम्ममोऽसंगो॥

गामं णगरं रण्णं थूलं सच्चित्त बहु सपडिवक्खं।
अज्झत्थबाहिरत्थं तिविहेण परिग्गहं वज्जे॥

अथवा मुनिजनानां कृते उपधेरुपकरणस्य वा मात्राविषये यद् विधानं शास्त्रेषु, तदपि अत्र प्रस्तूयते। अत्र विषये प्रवचनसारे *(3/22-25)*—

छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता॥

अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं॥

"जीव से सम्बन्धित, जीव से असम्बन्धित और जीव से उत्पन्न हुए, ऐसे ये तीन प्रकार के परिग्रह होते हैं। इनका यथाशक्ति त्याग करना और अन्य परिग्रह (शरीर, उपकरण आदि) में ममत्वरहित होना — यह असंग अर्थात् अपरिग्रह नाम का पाँचवाँ व्रत है।"

"ग्राम, नगर, अरण्य, स्थूल, सचित्त व बहुत, तथा स्थूल आदि से विपरीत अर्थात् सूक्ष्म, अचित्त व थोड़ा —ऐसे अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग परिग्रह को मन-वचन-काय से छोड़ना चाहिए।"

अथवा मुनियों के लिए उपधि या उपकरण की मात्रा कितनी हो —इस विषय में शास्त्रों में जो नियम निहित हैं, उन्हें भी प्रस्तुत किया जा रहा है। इस विषय में प्रवचनसार (3/22-25) में कहा गया है—

"जिस परिग्रह के ग्रहण या विसर्जन करते हुए मुनि के संयम का घात नहीं होता, मुनि क्षेत्र व काल का विचार कर उस परिग्रह से लोक में प्रवृत्ति कर सकता है।"

"अपवादमार्गी उस परिग्रह को ग्रहण करे जो कर्मबन्ध का साधक न होने से अनिन्दित हो, असंयमी मनुष्य जिसे पाने की इच्छा न करते हों, ममत्व की उत्पत्ति से रहित हो और थोड़ा हो।"

किं किंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध देहे वि।
संग त्ति जिणवरिंदा णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा॥

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं॥

किन्तु गृहस्थः पूर्ण-अपरिग्रहव्रतधारणे न समर्थः, अतस्तस्य कृते इच्छापरिग्रहपरिमाण-नामकमणुव्रतं निर्दिष्टम्। यथा रत्नकरण्डश्रावकाचारे *(श्लोक-3/61)—*

धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्याद् इच्छापरिमाणनामाऽपि॥

(तेण दु) **एवं सर्वविधपापानामाचरणेन अज्ञानी जीवस्तु** *(संसारे परिपडदि)* **संसारे परितः सर्वतः पतनं प्राप्नोति। पतनं दुर्गतिगमनं तत्रापि बहुविधकर्मबन्धनमित्यर्थः।**

"जब मोक्षाभिलाषी मुनि के लिए, शरीर भी परिग्रह है— ऐसा जानकर श्री जिनेन्द्र देव ने अप्रतिकर्मत्व (ममत्व सहित शरीर-क्रिया के त्याग) का उपदेश दिया है, तब उस मुनि के लिए 'अन्य कुछ और परिग्रह हो' इसका विचार कैसे आ सकता है?"

"जिन-मार्ग में यथाजात-रूप लिङ्ग (निर्ग्रन्थ मुद्रा), गुरु-वचन, उनका विनय और शास्त्रों का अध्ययन —ये (चार) उपकरण कहे गये हैं।"

किन्तु गृहस्थ तो पूर्ण-अपरिग्रह व्रत के धारण में समर्थ नहीं होता, इसलिए उसके लिए इच्छा (परिग्रह) परिमाण व्रत का निर्देश किया गया है। जैसे, रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-3/61) में कहा गया है—

"विषयभूत धन-धान्यादि दस प्रकार के परिग्रहों का परिमाण करना, सीमा निर्धारित करके उससे अधिक में इच्छा न रखना परिग्रहपरिमाण या इच्छापरिमाण अणुव्रत कहा जाता है।"

(तेन तु) इस प्रकार सब प्रकार के पापों का आचरण कर, अज्ञानी जीव तो **(संसारे परिपतति)** संसार में परि यानी सर्व प्रकार से पतन को प्राप्त होता है। पतन यानी —दुर्गति-गमन, और दुर्गति में जाकर भी (पुनः) बहुत प्रकार के कर्मों का बन्धन होगा —यह तात्पर्य है।

गाथायास्तात्पर्यमिदं यत् भो भव्य मनीषिन्! निजशुद्धात्मभावनां विस्मृत्य पञ्चपरावर्तरूप-संसारमहाकान्तारे परिभ्रमसि। यदि परद्रव्यरतिं त्यक्त्वा निजशुद्धात्मद्रव्यविश्रान्तिरूपां भक्तिं बिभ्राणः स्वसमयरतोऽभविष्यः, तर्हि संसारभ्रमणान्मुक्तोऽभविष्यः। अतो निजात्मश्रेयसे नित्यमेकं निजब्रह्मस्वरूपं भावय।

सम्प्रति संसारभ्रमण-आधारभूतानां चतुरशीतिलक्षयोनीनां विवरणं निरूपयन्ति शास्त्रकाराः—

णिच्चिदरधादु सत्त य, तरु दस वियलिंदिएसु छच्चेव।
सुरणिरय-तिरिय चउरो, चोद्दस मणुवे सदसहस्सा॥ ३५॥

छाया— *नित्येतरधातुषु सप्त तरौ च दश विकलेन्द्रियेषु षट् चैव।*
सुर-निरय-तिर्यक्षु चतस्रः, चतुर्दश मनुजे शतसहस्राणि॥

गाथा का तात्पर्य यह है कि हे भव्य मनीषी! निज शुद्धात्मा की भावना को विस्मृत कर पञ्चपरावर्त रूपी संसार महावन में परिभ्रमण करते आ रहे हो। यदि पर द्रव्य की रति छोड़कर निज शुद्धात्म द्रव्य में विश्रान्ति रूपी भक्ति को धारण करते हुए यदि स्वसमयरत हुए होते तो संसार-भ्रमण से मुक्त भी हो गए होते। इसलिए निज आत्मा के कल्याण के लिए एक, नित्य व निज ब्रह्म स्वरूप की भावना करो।

अब शास्त्रकार संसार-भ्रमण की आधारभूत चौरासी लाख योनियों का विवरण बता रहे हैं—

(35)

(गाथा-अर्थ—) नित्य निगोद, इतर निगोद और धातु (पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय व वायुकाय, इनमें प्रत्येक) की सात-सात लाख (अर्थात् कुल बयालीस लाख) और वनस्पतिकाय की दस लाख, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय व चतुरिन्द्रिय, इनमें प्रत्येक) की दो-दो लाख अर्थात् कुल छः लाख, देव, नारकी व (पञ्चेन्द्रिय) तिर्यञ्च (इनमें से प्रत्येक) की चार-चार लाख (अर्थात् कुल बारह लाख) तथा मनुष्यों की चौदह लाख (कुल मिलाकर चौरासी लाख) योनियाँ हैं।

(सर्वोदया टीका—) गाथेयं गोम्मटसारे *(जीवकाण्डे, 89 गाथारूपेण)* **च प्राप्यते। अस्यां संसारिजीवोत्पत्तिस्थानभूतानां चतुरशीतिलक्षयोनीनां पृथक् पृथक् संख्या विशदतया निरूपिता।** *(णिच्चिदर)* **नित्य इतरश्च। एतौ निगोदस्य भेदौ— नित्य-निगोदः, इतरनिगोदश्च। निगोदस्य 'निगोत' इत्यपरं नाम राजवार्तिके** *(2/32/27)* **निर्दिष्टम्। इतरनिगोदस्य चापरं नाम 'चतुर्गतिनिगोद' इति धवलाग्रन्थे** *(पु. 14, खण्ड-5, भाग-6, सू. 128)* **निर्दिष्टं वरीवर्ति। तथा च** *(धादुसु)* **धातुपदं पृथ्वी-जल-अग्नि-वायुकायिकेति चतुर्णां बोधकम्। एतेषु षट्प्रकारकेषु जीवेषु** *(सत्त य सदसहस्सा)* **सप्त च, शतसहस्रपदं 'लक्ष' संख्याबोधकम्। अतो बोध्यते यत् प्रत्येकस्मिन् सप्त लक्षयोनयः सन्ति। एवं षट्प्रकारकाणां जीवानां समग्रतया द्विचत्वारिंशल्लक्षयोनयो भवन्तीति बोध्यम्।** *(तरु दस)* **तरुशब्दोऽत्र वनस्पतिकायिकजीवानां बोधकः। शतसहस्राणि इतिचात्र सम्बद्ध्यते। अर्थात् वनस्पतिकायजीवानां दशलक्षपरिमिता योनयो भवन्तीति बोद्धयम्।** *(वियलिंदिएसु छच्चेव)* **विकलेन्द्रियेषु षडेव शतसहस्राणि, अर्थात् तत्र षड्लक्षसंख्यका योनयः। द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियाणां जीवानां विकलेन्द्रियसंज्ञा वर्तते। एतेषां त्रयाणां समग्रतो योनिसंख्या प्रोक्ता। प्रत्येकस्मिन् त्रिषु तु द्विलक्षयोनयो ज्ञेयाः।**

(सर्वोदया टीका—) यही गाथा गोम्मटसार (जीवकाण्ड, गाथा-89) में भी उपलब्ध होती है। इसमें संसारी जीवों की उत्पत्ति के स्थान चौरासी लाख योनियों की पृथक् पृथक् संख्या स्पष्ट रूप से बताई गई है। **(नित्येतर)** 'नित्य' और उससे भिन्न यानी 'इतर'। ये दोनों निगोद के भेद हैं, जैसे नित्यनिगोद व इतरनिगोद। 'निगोद' का दूसरा नाम 'निगोत' राजवार्तिक (2/32/27) में कहा गया है। इतरनिगोद का भी दूसरा नाम 'चतुर्गतिनिगोद' धवला ग्रन्थ (पु. 14, खण्ड-5, भाग-6, सू. 128) में कहा गया है। तथा **(धातुषु)** 'धातु' पद पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक व वायुकायिक —इन चारों का यहाँ बोधक है। इन छः प्रकार के (पूर्वोक्त) जीवों में **(सप्त च शतसहस्राणि)** अर्थात् सात शतसहस्र हैं। यहाँ शतसहस्र पद लाख संख्या का बोधक है। अतः अर्थ होता है कि इन प्रत्येक में सात-सात लाख योनियाँ हैं। इस प्रकार छः प्रकार के जीवों की समग्र योनियों की संख्या बयालीस लाख हो जाती है— ऐसा समझना चाहिए। **(तरौ दश)** तरु शब्द यहाँ वनस्पतिकायिकजीवों का बोधक है। 'शतसहस्र' (लाख) का सम्बन्ध यहाँ भी करणीय है। अर्थात् वनस्पतिकायिकजीवों की दस लाख योनियाँ होती हैं— ऐसा जानना चाहिए। **(विकलेन्द्रियेषु षट् चैव)** विकलेन्द्रियों में छः ही, अर्थात् उनमें छः लाख ही योनियाँ हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय व चतुरिन्द्रिय जीवों की विकलेन्द्रिय संज्ञा है। इन तीनों की समग्र योनियों की संख्या यह कही गई है, (अतः) इन तीनों में प्रत्येक में 2-2 लाख योनियाँ जाननी चाहिए।

(सुर-णिरय-तिरिय चउरो) **सुराः, नारकाः, तिर्यञ्चः —एतेषु त्रिषु चत्वारि शतसहस्राणि, अर्थात् प्रत्येकस्मिन् चतुर्लक्षयोनयः, समग्रतया तु त्रिषु द्वादशलक्षयोनयो जाताः।** *(मणुवे चोद्दस सदसहस्सा)* **मनुष्येषु चतुर्दश शतसहस्राणि, अर्थात् तेषु चतुर्दशलक्षयोनयो भवन्ति। एवं सर्वेषां जीवानां सर्वासां योनीनां संख्या चतुरशीतिलक्षपरिमिता भवतीति गाथार्थः।**

अत्र किञ्चिद् विस्तरेण निरूप्यते। जीवा द्विविधाः— संसारिणो मुक्ताश्च। संसारिणां द्वौ भेदौ— त्रसः स्थावरश्च। तत्र स्थावराः पञ्चविधाः— पृथ्वीकायिकाः, जलकायिकाः, अग्निकायिकाः, वायुकायिकाः, तथा वनस्पतिकायिकाः। वनस्पतिकायिकाश्च द्विविधाः— प्रत्येकशरीराः, सामान्यशरीराश्च। तत्र प्रत्येकशरीरनामकर्मोदये सति प्रत्येकशरीरो जीवः, स एकशरीरस्य (एकाक्येव) स्वामी, इतिप्रत्येकशरीरसंज्ञां दधाति, यथा खदिरादयः। यावन्ति प्रत्येकशरीराणि, तावन्त एव प्रत्येकवनस्पतिजीवाः, तत्र प्रतिशरीरं पृथक् पृथक् एकैको जीवो भवति।

अत्रेदं ज्ञेयम्— धवलाग्रन्थे *(पु. 14, खण्ड-5, भाग-6, सू. 91, पृ. 81)* **निर्दिष्टं यत् पृथ्वीकायिकादिकाः चत्वारः स्थावरा अपि प्रत्येकशरीराः, एवमेव देवाः, नारकाः, आहारक-**

(सुर-निरय-तिर्यक्षु चतस्रः) देव, नारक व तिर्यंच जीवों में, इन तीनों में चार लाख, अर्थात् प्रत्येक में चार-चार लाख योनियाँ हैं, इन तीनों की कुल योनियाँ बारह लाख हो जाती हैं। **(मनुजे चतुर्दश शतसहस्राणि)** मनुष्यों में चौदह 'शतसहस्र' अर्थात् चौदह लाख योनियाँ हैं। इस प्रकार, समस्त जीवों की समग्र योनियों की संख्या चौरासी लाख होती है— यह गाथा का अर्थ हुआ।

इस प्रसंग में कुछ विस्तार से निरूपण किया जा रहा है। जीव दो प्रकार के हैं— संसारी व मुक्त। संसारी जीव के दो भेद हैं— त्रस व स्थावर। इनमें स्थावर पाँच प्रकार के हैं— पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। वनस्पतिकायिकों के भी दो भेद हैं— प्रत्येकशरीरी और साधारणशरीरी। प्रत्येकशरीरनाम कर्म के उदय से 'प्रत्येकशरीरी' जीव होता है, वह एक शरीर का स्वामी (अकेला ही) होता है, इसलिए उसकी प्रत्येकशरीर संज्ञा है, जैसे खैर आदि वनस्पति। जितने प्रत्येकशरीर हैं, उतने ही प्रत्येकवनस्पति जीव होते हैं, क्योंकि प्रत्येकशरीर में पृथक् पृथक् एक-एक जीव होता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है— धवला ग्रन्थ (पु. 14, खण्ड-5, भाग-6, सू. 91, पृ. 81) में बताया गया है कि पृथ्वीकायिक आदि चारों स्थावर भी प्रत्येकशरीरी होते हैं, इसी प्रकार देव, नारकी, आहारकशरीरी,

शरीरिणः, प्रमत्तसंयताः, सयोगकेवलिनः अयोगकेवलिनश्च प्रत्येकशरीरा एव। किन्तु तेषां सामान्यशरीरा न भवन्ति, सर्वे प्रत्येकशरीरा एव। वनस्पतिकायिकेषु तु सामान्यशरीराश्च भवन्ति, अतस्तेभ्यो व्यावृत्तये प्रत्येकशरीरेतिसंज्ञा वनस्पतिकायिकानां संगच्छते। साधारणनामकर्मोदये सति एकशरीरस्य अनन्ता जीवाः स्वामिनः तेषां साधारणशरीरसंज्ञा वर्तते। एषां साधारणशरीरजीवानां निरूपणं षट्खण्डागमे *(पु. 14, खण्ड-5, भाग-6, गाथा 122-125, पृ. 226-230)* **कृतमस्ति—**

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणिदं॥

एयस्स अणुग्गहणं बहूण साहारणाणमेयस्स।
एयस्स जं बहूणं समासदो तं पि होदि एयस्स॥

समगं वक्कंताणं समगं तेसिं सरीरणिप्पत्ती।
समगं च अणुग्गहणं समगं उस्सासणिस्सासो॥

प्रमत्तसंयत, सयोगकेवली, अयोगकेवली —ये सभी प्रत्येकशरीरी ही होते हैं, अर्थात् उनमें साधारणशरीरी होते ही नहीं हैं, सभी प्रत्येकशरीरी ही होते हैं, किन्तु वनस्पतिकायिकों में तो साधारणशरीरी भी होते हैं, इसलिए उनसे व्यावृत्ति (भेद प्रदर्शन) हेतु वनस्पतिकायिकों की 'प्रत्येकशरीरी' संज्ञा युक्तिसंगत है। साधारणनाम कर्म के उदय से एक शरीर में अनन्त जीव जब स्वामी होते हैं, उन जीवों की 'साधारण' संज्ञा होती है। इन साधारणशरीरी जीवों का निरूपण षट्खण्डागम (पु. 14, खण्ड-5, भाग-6, गाथा 122-125, पृ. 226-230) में इस प्रकार किया गया है—

"साधारण (सम्मिलित रूप से) आहार, साधारण उच्छ्वास-निःश्वास लेना —यह साधारणशरीरी जीवों का साधारण (सामान्य) लक्षण कहा गया है।"

"एक जीव का जो अनुग्रहण यानी उपकार है, वह बहुत से साधारण जीवों का है और इस (एक जीव) का भी है, तथा बहुत-से जीवों का जो अनुग्रहण है, वह मिलकर इस विवक्षित जीव का भी है।"

"एक साथ उत्पन्न होने वालों के शरीर की निष्पत्ति एक साथ होती है, एक साथ अनुग्रहण होता है। और एक साथ ही उच्छ्वास-निःश्वास होता है।"

जत्थेइ मरइ जीवो तत्थ दु मरणं भवे अणंताणं।
वक्कमइ जत्थ एक्को वक्कमणं तत्थणंताणं॥

गोम्मटसारे *(जीवकाण्डे, गा. 191-193)* **च निरूपणमेतदुपलभ्यते। साधारणनामककर्मोदये सति ये साधारणजीवा भवन्ति, ते सर्वे वनस्पतिकायिका एव।**

उक्तं च षट्खण्डागमे *(पु. 14, खण्ड-5, भाग-6, सू. 120, पृ. 225)— "तत्थ जे ते साहारणसरीरा ते णियमा वणप्फदिकाइया।"*

प्रत्येकवनस्पतिजीवो निगोदसहितो निगोदरहितश्च भवति। एषा बादरा भवति, न सूक्ष्मा। प्रत्येकशरीरो वनस्पतिकायिको जीवो यदा बादरनिगोदजीवैराश्रियते, तदा स 'प्रतिष्ठित' —इति संज्ञां बिभर्ति, तज्जीवैरनाश्रितास्तु 'अप्रतिष्ठिताः' कथ्यन्ते। एवं प्रत्येकशरीराः प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठितभेदाभ्यां द्विविधाः। साधारणनामकर्मोदयेन उत्पन्ना जीवा निगोदशरीरा भवन्ति। तत्रैकनिगोदशरीरेऽपि अनन्तानन्तजीवराशिर्भवति।

"जिस शरीर में एक जीव मरता है, वहाँ अनन्त जीवों का मरण होता है, और जिस शरीर में एक जीव उत्पन्न होता है, वहाँ अनन्त जीवों की उत्पत्ति होती है।"

गोम्मटसार (जीवकाण्ड, गाथा-191-193) में भी ऐसा ही निरूपण मिलता है। साधारण नाम कर्म के उदय से जो साधारणशरीरी जीव होते हैं, वे सभी वनस्पतिकायिक ही होते हैं।

षट्खण्डागम (पु. 14, खण्ड-5, भाग-6, सू.120, पृ. 225) में कहा भी है— "वहाँ जो साधारणशरीरी होते हैं, वे नियमतः वनस्पतिकायिक होते हैं।"

प्रत्येक शरीरी वनस्पति निगोद सहित भी होती है और निगोद रहित भी। यह बादर ही होती है, सूक्ष्म नहीं। प्रत्येकशरीरी वनस्पतिकायिक जीव जब बादरनिगोद जीवों से आश्रित होता है तो उसकी 'प्रतिष्ठित' संज्ञा होती है, और उन जीवों से आश्रित न होने पर उसे 'अप्रतिष्ठित' कहा जाता है। इस प्रकार प्रत्येकशरीरी जीव के प्रतिष्ठित व अप्रतिष्ठित —ये दो भेद हैं। साधारण नाम कर्म के उदय से उत्पत्ति को प्राप्त जीव निगोदशरीरी होते हैं। वहाँ एक निगोदशरीर में भी अनन्तानन्त जीवराशि स्थित होती है।

उक्तं च गोम्मटसारे *(जीवकाण्डे, गाथा-196)*—

एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणतो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण विदीदकालेण॥

निगोदशब्दस्य व्युत्पत्तिरपि तत्स्वरूपं समर्थयति। यथा— नि=नियतां, गां=भूमिं, क्षेत्रं वा, द(दाति)= अनन्तानन्तजीवेभ्यः प्रददाति, इति निगोदम्, तादृशं शरीरं येषां ते निगोदशरीराः। *(द्र. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा-191, टीकायाम्)*।

अत्रेदं ज्ञेयं यत् निगोदजीवाः बादराः सूक्ष्मा वा भवन्ति। वस्तुतस्तु (पृथक् पृथक् भवन्तोऽपि) बादराः सूक्ष्माश्च निगोदजीवाः परस्परं बद्धस्पृष्टाः तिष्ठन्ति।

उक्तं च षट्खण्डागमे *(पु. 14, खण्ड-5, भाग-6, गाथा-126, पृ. 231)*—

बादरसुहुमणिगोदा बद्धा पुट्ठा य एयमेएण।
ते हु अणंता जीवा मूलयथूहल्लयादीहिं॥

गोम्मटसार (जीवकाण्ड, गाथा-196) में कहा भी है— "एक निगोद शरीर में वर्तमान जीव द्रव्यप्रमाण से, अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा संख्या से अनन्तानन्त होते हैं और अनादि काल से हो चुके समस्त सिद्धों से वे अनन्तगुने होते हैं।"

'निगोद' शब्द की व्युत्पत्ति (निर्युक्ति) भी उसके स्वरूप का समर्थन करती है। जैसे— नि=नियत, गो=भूमि या क्षेत्र को द=जो अनन्तानन्त जीवों को प्रदान करता है, वह 'निगोद' है। 'निगोद' शरीर है जिनका, वे निगोदशरीरी होते हैं। (द्र. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा-191 पर जीवतत्त्वप्रबोधिनी टीका)

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि निगोद जीव बादर या सूक्ष्म (दोनों प्रकार के) होते हैं। बादर नामकर्म के उदय से 'बादर' तथा सूक्ष्मनामकर्म के उदय से सूक्ष्म होते हैं— यह दोनों में अन्तर है। वस्तुतः (ये पृथक्-पृथक् होते हुए भी) बादर व सूक्ष्म निगोद जीव परस्पर बद्ध-स्पृष्ट रहते हैं।

षट्खण्डागम (पु. 14, खण्ड-5, भाग-6, गाथा-126, पृ. 231) में कहा भी है— "बादर निगोद जीव और सूक्ष्म निगोद जीव —ये परस्पर में (सब अवयवों से) बद्ध व स्पृष्ट होकर रहते हैं। तथा वे अनन्त जीव हैं जो मूली, थूवर और अदरख आदि के निमित्त से होते हैं।"

अत्र गाथायां निगोदजीवानां द्वयोर्भेदयोः— नित्यनिगोदइतरनिगोदेतिसंज्ञयोः संकेतो विहितः। ये जीवा देवमनुष्यनरकतिर्यक्प्रभृतित्रसपर्यायं प्राप्य पुनर्निगोदे गच्छन्ति, ते इतरनिगोदसंज्ञकाः (अथवा चतुर्गतिनिगोदसंज्ञकाः)। नित्यनिगोदानां स्वरूपं गोम्मटसारे *(जीवकाण्डे, गाथा-197)* **प्रतिपादितमस्ति—**

अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।
भावकलंकसुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति॥

नित्य-नित्येतरनिगोदा अपि जीवाः सूक्ष्मबादरभेदेन द्विविधाः भवन्ति। निगोदजीवानां तद्भवस्थ आकारोऽपि शास्त्रेषु निरूपितः। यथा— प्रथम-द्वितीय समययोः तद्भवस्थ-सूक्ष्मनिगोदानां शरीर-अवगाहना प्रथमसमये आयतचतुरस्रा, द्वितीयसमये समचतुरस्रा *(गोम्मट, जीव. 94)* **भवति। तृतीयसमये तु वृत्ताकारा भवति, एषैव जघन्यावगाहना स्वीक्रियते। साधारणशरीरैराश्रितस्य प्रत्येकवनस्पतिजीवशरीरस्य सर्वोत्कृष्टावगाहनाऽपि घनाङ्गुल-असंख्येय-**

इस गाथा में निगोदजीवों के दो भेदों— नित्यनिगोद व इतरनिगोद का संकेत किया गया है। जो जीव देव, मनुष्य, नरक व तिर्यञ्च आदि त्रस-पर्याय को प्राप्त कर पुनः निगोद में चले जाते हैं, वे इतरनिगोद (या चतुर्गतिनिगोद) संज्ञा वाले होते हैं। नित्यनिगोद जीवों का स्वरूप गोम्मटसार (जीवकाण्ड, गाथा-197) में इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

"ऐसे अनन्त जीव हैं जिन्होंने कभी त्रस पर्याय को प्राप्त नहीं किया और उन्होंने भावकलंक (निगोद-पर्याय के योग्य कषाय व लेश्या रूपी संक्लेश) से प्रचुरतया सम्बद्ध होते हुए निगोद-पर्याय को नहीं छोड़ा है।"

ये नित्य निगोद एवं इतरनिगोद जीव भी सूक्ष्म व बादर भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। निगोद जीवों का तद्भवस्थ (एक भव में प्राप्त) आकार भी शास्त्रों में निरूपित हुआ है। जैसे, एक भव को प्राप्त सूक्ष्म निगोद जीवों की अवगाहना प्रथम समय में आयतचतुरस्र, द्वितीय समय में समचतुरस्र होती है। तृतीय समय में वह वृत्ताकार (गोल, वर्तुल) होती है, इसे (तृतीय समय वाली को) ही जघन्य अवगाहना माना गया है। साधारण शरीरी जीवों से आश्रित प्रत्येकशरीरी वनस्पति जीव की सर्वोत्कृष्ट अवगाहना भी घनाङ्गुल के असंख्यात भाग प्रमाण मानी गई है (गोम्मटसार, जीव. 173 गा.)। निगोद जीवों की (लब्ध्यपर्याप्तक) की

भागप्रमितेति स्वीक्रियते *(गोम्मट, जीव.173)*। **(लब्ध्यपर्याप्तकानां) निगोदजीवानामायुः जघन्यतया उच्छ्वासस्याष्टादशभागप्रमितमेव भवति। एषामुत्कृष्टमायुरन्तर्मुहूर्तमात्रमेव भवति** *(स्वामिकार्तिकेया. गाथा-161, 164)*।

बादरनामकर्मोदये निगोदजीवाः बादरा भवन्ति, तेऽपि पर्याप्त-अपर्याप्तभेदेन द्विविधाः। किन्त्वत्र नियमोऽयं ज्ञातव्यो यत् एकस्मिन् बादरनिगोदशरीरे यद्वा सूक्ष्मनिगोदशरीरे अनन्तानन्ताः साधारणजीवा उत्पद्यन्ते, ते पर्याप्ता एवोत्पद्यन्ते यद्वा अपर्याप्ता एव, अर्थात् एकशरीरे पर्याप्त-अपर्याप्तयोर्द्वयोर्युगपदुत्पत्तिर्नैव सम्भवति, यतो हि तेषां समानकर्मोदयनियमः। सूक्ष्मनिगोदराशिः सर्वत्र लोके निचितो भवति।

प्रत्येकशरीरवनस्पतिकायिकजीवाः द्विविधाः— बादरनिगोदजीवयोनिभूताः, तथा तद्विपरीता तज्जीव-अयोनिभूताः प्रत्येकशरीराः। तत्र बादरनिगोदजीवयोनिभूतवनस्पतिकायिकाः के? अत्र समाधीयते— स्नुगा, आर्द्रकम्, मूलकम्, तथा भद्रकं, सूरणं, गलोइ (गुडूची) इत्यादिकाः वनस्पतयः बादरनिगोदजीवयोनिभूताः।

जघन्य आयु उच्छ्वास के अठारहवें भाग प्रमाण होती है। इनकी उत्कृष्ट आयु भी अन्तर्मुहूर्त मात्र होती है (स्वामिकार्तिकेया. गाथा-161,164)।

बादरनामकर्म के उदय से निगोदजीव बादर होते हैं। उनके भी पर्याप्त व अपर्याप्त —ये दो भेद होते हैं। किन्तु यहाँ यह नियम जानना चाहिए कि एक बादरनिगोद शरीर में या सूक्ष्मनिगोद शरीर में अनन्तानन्त साधारण जीव उत्पन्न होते हैं, वे या तो पर्याप्त ही उत्पन्न होते हैं या अपर्याप्त ही, अर्थात् एक शरीर में पर्याप्त व अपर्याप्त —इन दोनों की एक साथ उत्पत्ति संभव नहीं है, क्योंकि उनके एक समान कर्म के ही उदय होने का नियम (काम करता) है। सूक्ष्म निगोद राशि सर्वत्र लोक में संस्थित है।

प्रत्येकशरीरी वनस्पतिकायिक जीव के दो भेद हैं— बादरनिगोद जीवों की योनिभूत तथा इससे विपरीत उन जीवों की अयोनिभूत। इनमें बादरनिगोद जीवों की योनि बने हुए वनस्पतिकायिक जीव कौन-कौन से हैं? इस जिज्ञासा का समाधान है— स्नुगा (थूहर), अदरख व मूली तथा भद्रक (भल्लक), सूरण, गलोइ (गुडूची या गुरवेल) इत्यादि वनस्पतियाँ बादरनिगोद जीवों की योनि होती हैं।

इदानीं प्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिस्कन्धे अनन्तजीवानां शारीरिकरचना विशदीक्रियते। प्रतिष्ठितप्रत्येकजीवशरीराणि स्कन्धस्थानीयानि स्वयोग्य-असंख्यातगुणितलोकप्रदेशमात्राणि भवन्ति। तत्र प्रत्येकस्कन्धे, लोकाकाशप्रदेशेषु जगच्छ्रेणिघनप्रमितेषु अनन्तानन्तपुद्गलानाम-वगाहपरिणामवत्, एकनिगोदजीवकार्मणशरीरे अनन्तानन्तनिगोदजीवकार्मणशरीराणामवगाहनवद् वा असंख्यातलोकमात्रा अण्डराः प्रत्येकजीवशरीरविशेषा भवन्ति। तथैव प्रत्येकस्मिन् अण्डरे असंख्यातलोकमात्रा आवासा भवन्ति, तेऽपि प्रत्येकजीवशरीरविशेषाः सन्ति। प्रत्येक-आवासे असंख्यातलोकमात्राः पुलवयः, तेऽपि प्रत्येकजीवस्य शरीरविशेषा एव। प्रत्येकपुलवौ असंख्यात-लोकमात्राणि बादरनिगोदजीवशरीराणि भवन्ति। एवमण्डरादीनि उत्तरोत्तराणि अधस्तन-स्कन्धादियोनिकानि तत्र जातानि भवन्ति।

एतत् सर्वं दृष्टान्तरूपेणापि स्पष्टं क्रियते— यथा लोके जम्बूप्रभृतिद्वीपानि, तथैव लोके स्कन्धाः। यथा च जम्बूद्वीपे भरतादिक्षेत्राणि तथा स्कन्धेषु अण्डराणि। भरतक्षेत्रे कोशलादिदेशाः,

---

अब प्रतिष्ठित प्रत्येकशरीरी वनस्पति रूपी स्कन्ध में अनन्त जीवों की शारीरिक रचना-विशेष को स्पष्ट किया जा रहा है। प्रतिष्ठित प्रत्येकशरीरी जीव 'स्कन्ध' रूप है जो (असंख्यात लोक प्रमाण है, अर्थात्) अपने योग्य असंख्यात के साथ लोक के प्रदेशों को गुणा करने पर जो परिमाण आए, उतने प्रमाण वाला है। तथा जिस प्रकार, जगत् श्रेणी के घनप्रमाण लोकाकाश-प्रदेशों में अनन्तानन्त पुद्गलों का अवगाह होता है, या फिर एक निगोद जीव के कार्मण शरीर में अनन्तानन्त निगोद जीवों के कार्मण शरीर अवगाहित होते हैं, उसी प्रकार एक-एक स्कन्ध में असंख्यात लोक प्रमाण 'अण्डर' होते हैं, ये प्रत्येक जीव-शरीर के विशेष अवयव रूप होते हैं। उसी तरह एक-एक अण्डर में असंख्यात लोकमात्र 'आवास' होते हैं, वे भी प्रत्येक जीव-शरीर के भेद हैं। एक-एक आवास में असंख्यात लोकमात्र 'पुलवियाँ' होती हैं जो प्रत्येक जीव शरीर के भेद रूप होती हैं। एक-एक पुलवि में असंख्यात लोकमात्र 'बादरनिगोद जीवों के शरीर' होते हैं। इस प्रकार, ये अण्डर आदि उत्तरोत्तर नीचे के स्कन्ध आदि की योनि हैं—अर्थात् नीचे कहे गये भेदों की संख्या की उत्पत्ति के कारण ऊपर के भेद होते हैं।

इसे दृष्टान्त रूप से भी स्पष्ट किया जाता है— जिस प्रकार लोक में जम्बूद्वीप आदि द्वीप होते हैं, वैसे ही लोक में स्कन्ध (प्रतिष्ठित प्रत्येक जीव के शरीर) हैं। जिस प्रकार, जम्बूद्वीप में भरत आदि क्षेत्र हैं, वैसे ही उन स्कन्धों में 'अण्डर' होते हैं। भरत क्षेत्र में जैसे कौशल आदि देश हैं, वैसे ही अण्डरों में 'आवास'

तथा अण्डरेषु आवासाः। तत्र देशविशेषे साकेतादिनगराणि, तथा आवासेषु पुलवयः। यथा साकेतादिनगरविशेषे गृहाणि, तथैव पुलवीषु बादरनिगोदशरीराणि। प्रत्येकनिगोदशरीरे च अनन्तानन्तजीवाः तिष्ठन्ति। सर्वजीवराशि-अनन्तैकभागप्रमाणा अनादिकाल-सिद्धजीवाः, तेभ्योऽनन्तगुणाः ते निगोदजीवाः (एकस्मिन्नेव निगोदशरीरे) भवन्ति।

वनस्पतिजातिः द्विप्रकारा— बीजादि-उद्भवा, सम्मूर्च्छिमा च। बीजोद्भवासु च मूलबीजाः अग्रबीजाः इत्यादिकाः अनेका भवन्ति। तद् यथा— यस्या मूलं प्रादुर्भवति, सा मूलबीजा, यथा हरिद्रा। यस्या अग्रं प्रारोहति, सा अग्रबीजा, यथा कोरंटक-मल्लिकादयः। यस्याः पर्वप्रदेशः प्रारोहति, सा पर्वबीजा, यथा इक्षुवेत्रादयः। यस्याः कन्ददेशः प्रादुर्भवति, सा कन्दबीजा, यथा कदली। यस्याः स्कन्धदेशः प्रारोहति, सा स्कन्धबीजा, यथा सल्लकी-पालिभद्रकादयः। या बीजादुद्भवति, सा बीजबीजा, यथा यवगोधूमादयः। यस्याः मूल-बीजादि-अभावेऽपि जन्म, सा सम्मूर्च्छिमवनस्पतिजातिः। उक्तं च मूलाचारे *(गाथा-213-214)*—

होते हैं। उस देशविशेष में भी जैसे साकेत आदि नगर होते हैं, वैसे ही आवासों में 'पुलवियाँ' होती हैं। जैसे साकेत आदि नगर-विशेष में घर होते हैं, वैसे ही पुलवियों में बादरनिगोद जीव के शरीर होते हैं। प्रत्येक निगोद जीव के शरीर में अनन्तानन्त जीव रहते हैं। अनादिकाल से सिद्ध जीवों की संख्या समस्त जीव-राशि के अनन्तवें भाग प्रमाण होती है, उन सिद्ध जीवों की संख्या से भी अनन्त गुनी संख्या उन निगोद जीवों की होती है जो एक निगोदशरीर में रहते हैं।

वनस्पति की दो जातियाँ हैं। एक है बीज आदि से उद्भव वाली और दूसरी है— सम्मूर्च्छन। बीज आदि से उत्पन्न होने वाली वनस्पतियों के अनेक प्रकार इस रूप में हैं— (1) मूल से उत्पन्न होने वाली 'मूलबीज', जैसे हल्दी आदि। (2) अग्र से उत्पन्न होने वाली 'अग्रबीज', जैसे कोरंटक, मल्लिका (चमेली) आदि। (3) जिसकी 'पर्व' पोरभाग से उत्पत्ति होती है, वह 'पर्वबीज', जैसे ईख, बेंत आदि। (4) जिसकी कन्दभाग से उत्पत्ति होती है, वह 'कन्दबीज', जैसे कदली। (5) जिसकी स्कन्ध से उत्पत्ति होती है, वह 'स्कन्धबीज', जैसे सल्लकी, पालिभद्र आदि। (6) जो बीज से उत्पन्न होती है, वह 'बीजबीज', जैसे जौ, गेहूँ आदि। सम्मूर्च्छिम वनस्पति वे होती हैं जिनका जन्म मूल, अग्र, बीज आदि के अभाव में भी हो जाता है। मूलाचार (गा.-213-215) में कहा भी गया है—

मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंधबीजबीजरुहा।
संमुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य॥

कंदा मूला छल्ली खंधं पत्तं पवाल पुप्फफलं।
गुच्छा गुम्मा वल्ली तणाणि तह पव्व काया य॥

अत्रेदं ज्ञेयम्— प्रथमगाथायां प्रोक्ता वनस्पतिजातिः बीजादि-उत्पादन-कारणेभ्य उत्पद्यते। द्वितीयस्यां गाथायां या सम्मूर्च्छिमवनस्पतिजातिरुक्ता, तस्या उत्पादनकारणानि पृथिवी-जल-वायुप्रभृतीनि, न तु बीजादीनि —इत्यनयोर्भेदः। सम्मूर्च्छनजन्मोद्भूताः सम्मूर्च्छिमाः (सम्मूर्च्छिणो वा) जीवाः कथ्यन्ते। सम्मूर्च्छिमा वनस्पतिजातिः मूलाग्रबीजाद्यभावेनापि उत्पद्यते, यथा गोमयात् शालूकमुत्पद्यते। तथा फलकायसंज्ञिकायां संमूर्च्छिमवनस्पतिजातौ फलान्येव भवन्ति, न पुष्पादीनि, पुष्पाद्यभावेऽपि तदुत्पत्तिः। एवमेव पत्रकायसंज्ञिकायां पत्राण्येव भवन्ति, न तु पुष्पफलादीनि।

"पर्व, बीज, कन्द, स्कन्ध तथा बीजबीज, इनसे उत्पन्न होने वाली और (दूसरी) सम्मूर्च्छिम वनस्पति कही गई है। इनके प्रत्येकशरीरी और अनन्तकाय —ये दो भेद हैं।"

"कन्दकाय, मूलकाय, छालकाय, स्कन्धकाय, पत्रकाय, प्रवालकाय, पुष्पकाय, फलकाय, गुच्छकाय, गुल्मकाय, वल्लीकाय, तृणकाय और पर्वकाय —ये सम्मूर्च्छिम वनस्पतियाँ हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है— प्रथम गाथा में जिस वनस्पति का निरूपण है, वह बीज आदि उत्पादक कारणों से उत्पन्न होने वाली है। दूसरी गाथा में जो सम्मूर्च्छिम वनस्पति जाति वर्णित है, उसके उत्पादक कारण पृथिवी, जल, वायु आदि होते हैं, बीज आदि नहीं होते —यह दोनों का अन्तर है। सम्मूर्च्छन जन्म जिनका होता है, वे सम्मूर्च्छिम (या सम्मूर्च्छिन्) जीव होते हैं। सम्मूर्च्छिम वनस्पति मूल, अग्र, बीज आदि के बिना भी उत्पन्न हो जाती है, जैसे गोबर से शालूक (वनस्पति) उत्पन्न हो जाती है। इसके अतिरिक्त (यह भी विशेषता है कि) फलकाय नामक सम्मूर्च्छिम वनस्पति में फल ही होते हैं, पुष्प आदि नहीं होते, पुष्पों के बिना भी उन (फल) की उत्पत्ति हो जाती है। इसी तरह, पत्रकाय नामक वनस्पति में पत्ते ही होते हैं, पुष्प, फल आदि नहीं होते।

बादरकाय-सूक्ष्मकायवनस्पतिप्रकारा मूलाचारे *(गाथा-215)* **इत्थं वर्णिता—**

सेवाल पणग केण्णग कवगो कुहणो य बादरा काया।
सव्वेवि सुहुमकाया सव्वत्थ जलत्थलागासे॥

प्रत्येकशरीर-साधारणशरीरवनस्पत्योः किमन्तरम्, तदपि मूलाचारे *(गा. 216)* **विशदीकृतम्—**

गूढसिरसंधिपव्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं।
साहारणं सरीरं तव्विवरीयं च पत्तेयं॥

लाटीसंहितायां *(1/109)* **चैतदेव समर्थितम्—**

तल्लक्षणं यथा भङ्गे समभागः प्रजायते।
तावत्साधारणं ज्ञेयं शेषं प्रत्येकमेव तत्॥

बादरकाय व सूक्ष्मकाय के भेदों का निरूपण मूलाचार (गाथा-215) में इस प्रकार किया गया है— ''(जल की) काई, पणक (जमीन पर लगने वाली काई), कचरे में (वर्षाकाल में) होने वाली छत्राकार, सींग में उत्पन्न होने वाली जटाकार वनस्पति, भोजन व कांजी आदि पर लगने वाली फफूँदी, ये सब बादरकाय वनस्पति हैं। सूक्ष्मकाय वनस्पति (अँगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण शरीर की अवगाहना वाली हैं और वे) जल, स्थल, नभ में सर्वत्र व्याप्त हैं।''

प्रत्येकशरीरी व साधारणशरीरी वनस्पतियों में क्या अन्तर है, इसे भी मूलाचार (गा. 216) में स्पष्ट किया गया है—

''जिनकी स्नायु (शिरा), सन्धि (रेखाबन्ध) और गाँठ अप्रकट हो, जिनका अंग समान हो, दोनों अंगों में परस्पर तन्तु नहीं लग रहे हों, तथा छिन्न करने पर भी जो उग जाए, उसे साधारण वनस्पति कहते हैं, इससे विपरीत को प्रत्येकशरीरी वनस्पति कहते हैं।''

लाटी संहिता (1/109) में भी इसी लक्षण का समर्थन होता है—

''साधारण व प्रत्येक का लक्षण इस प्रकार है— जिसके तोड़ने में दोनों भाग एक से हो जाएँ (जिस प्रकार चाकू से दो टुकड़े करने पर दोनों भाग चिकने एवं एक जैसे हो जाएँ) उन्हें साधारण वनस्पति समझें, बाकी वनस्पतियों को प्रत्येकशरीरी।''

साधारणवनस्पतीनां परिचयो लाटीसंहितायाम् *(1/91-98)* **अमुना प्रकारेण प्रदत्तः—**

साधारणं च केषांचित्, मूलं स्कन्धस्तथागमात्।
शाखाः पत्राणि पुष्पाणि पर्वदुग्धफलानि च॥

तत्र व्यस्तानि केषांचित् समस्तान्यथ देहिनाम्।
पापमूलानि सर्वाणि ज्ञात्वा सम्यक् परित्यजेत्॥

मूलसाधारणास्तत्र मूलकाश्चार्द्रकादयः।
महापापप्रदाः सर्वे मूलोन्मूल्या गृहिव्रतैः॥

स्कन्धपत्रपयः पर्वतुर्यसाधारणा यथा।
गण्डीरकस्तथा चार्कदुग्धं साधारणं मतम्॥

पुष्पसाधारणाः केचित् करीरसर्षपादयः।
पर्वसाधारणाश्चेक्षुदण्डाः साधारणाग्रकाः॥

साधारण वनस्पतियों का स्वरूप परिचय लाटी संहिता (1/91-98) में इस प्रकार से दिया गया है—

''किसी वृक्ष की जड़ 'साधारण' होती है, किसी का स्कन्ध, क्षीरफल, किसी की शाखाएँ, किसी के पत्ते, किसी के फूल 'साधारण' होते हैं, किसी की गाँठ का दूध या किसी के फल 'साधारण' होते हैं।''

''इनमें से किसी-किसी के तो मूल, पत्ते, स्कन्ध, फल, फूल आदि पृथक् 'साधारण' होते हैं और किसी के मिले हुए पूर्ण रूप से 'साधारण' होते हैं। इन सभी का सेवन पापजनक है, अतः इन्हें सम्यक्तया जानकर इनका त्याग करें।''

''मूली, अदरक, (आलू, अरबी, रतालू, जमीकन्द आदि) सब मूल (जड़ें) 'साधारण' हैं। ये सभी महापापवर्द्धक हैं, अतः व्रती गृहस्थों द्वारा त्याज्य हैं।''

''गण्डीरक (कड़ुए जमीकन्द) के स्कन्ध, पत्ते, दूध और पर्व (गाँठ) —ये चारों ही अवयव 'साधारण' होते हैं। दूधों में आक का दूध भी 'साधारण' है।''

''फूलों में करीर के व सरसों के फूल और भी इसी तरह के फूल 'साधारण' होते हैं। 'पर्व' में ईख की गाँठ और उसके आगे का भाग 'साधारण' होता है।''

फलसाधारणं ख्यातं प्रोक्तोदुम्बरपञ्चकम्।
शाखा साधारणा ख्याता कुमारीपिण्डकादयः॥

कुम्पलानि च सर्वेषां मृदूनि च यथागमम्।
सन्ति साधारणान्येव प्रोक्तकालावधेरधः॥

शाकाः साधारणाः केचित्, केचित्प्रत्येकमूर्तयः।
वल्ल्यः साधारणाः काश्चित्, काश्चित्प्रत्येककाः स्फुटम्॥

एवं प्रत्येकवनस्पतयः पञ्चप्रकाराः, यथा तृणं, वल्ली, गुल्मः, वृक्षः, मूलं चेति। पञ्चापि प्रत्येकवनस्पतयो निगोदशरीरैः प्रतिष्ठिता अप्रतिष्ठिता वा भवन्ति। प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठितयोरन्तरं प्रत्येकशरीर-साधारणशरीरवद् ज्ञेयम्। उक्तं च गोम्मटसारे *(जीवकाण्डे, गाथा-188-189)*—

मूले कंदे छल्ली पवालसालदलकुसुमफलबीजे।
समभंगे सदि णंता असमे सदि होंति पत्तेया॥

"पाँचों उदुम्बर फल तथा शाखाओं में कुमारीपिण्ड (ग्वारपाठा, जो शाखा रूप ही होता है) की शाखाएँ 'साधारण' होती हैं।"

"वृक्षों पर लगी कोंपलें सब 'साधारण' होती हैं, बाद में पकने पर 'प्रत्येक' हो जाती हैं।"

"शाकों में (चना, मेथी, बथुआ, पालक आदि) कुछ 'साधारण' होते हैं तो कुछ 'प्रत्येक'। इसी प्रकार, बेलों में कोई लताएँ 'साधारण' तो कोई 'प्रत्येक' होती हैं।"

इसी प्रकार, प्रत्येकशरीरी वनस्पति के पाँच प्रकार हैं— जैसे तृण (घास), वल्ली, (बेल), गुल्म (छोटे वृक्ष), वृक्ष और मूल। ये पाँचों प्रत्येकशरीरी वनस्पति दो तरह की होती हैं— निगोदशरीरी जीवों से प्रतिष्ठित (आश्रित) और अप्रतिष्ठित (अनाश्रित)। प्रतिष्ठित व अप्रतिष्ठित का अन्तर प्रत्येकशरीरी व साधारणशरीरी की तरह समझना चाहिए। गोम्मटसार (जीवकाण्ड, गाथा-188-189) में कहा गया है—

"जिन प्रत्येक वनस्पतियों के कन्द, मूल, छाल, कोंपल, अंकुर, छोटी टहनी, बड़ी छाल, पत्ते, फूल, फल और बीज यदि तोड़ने पर इनका समभंग होता है तो ये अनन्तकाय (अर्थात्-प्रतिष्ठित (प्रत्येकशरीरी) हैं और यदि समभंग नहीं हो तो अप्रतिष्ठित प्रत्येकशरीरी हैं।"

कंदस्स व मूलस्स व सालाखंधस्स वावि बहुलतरी।
छल्ली साणंतजिया पत्तेयजिया दु तणुकदरी॥

योऽपि प्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिजीवः, सोऽपि स्वोत्पत्तेः प्रथमसमये यद्वा अन्तर्मुहूर्तकालं यावद् साधारणजीवैरप्रतिष्ठित एव तिष्ठति। पश्चात् बादरनिगोदाश्रयणेन सप्रतिष्ठो भवति।

उक्तं च गोम्मटसारे *(जीवकाण्डे, गाथा-190)— ''जे वि य मूलादीया ते पत्तेया पढमदाए।''* **इत्यलं विस्तरेण।**

एवं स्थावरेषु वनस्पतिकायिकजीवानां स्वरूपं निवेदितम्। शेषेषु पृथ्वीनामकर्मोदयात् पृथ्वीकायिकजीवाः, तथैव अप्तेजोवायुनामकर्मोदयात् क्रमशो जलकायिकाः, तेजस्कायिकाः, वायुकायिकाश्च भवन्ति। एतेषामेव 'धातु'-संज्ञा। द्वित्रिचतुरिन्द्रिया जीवा विकलेन्द्रिया भवन्ति। तेष्वपि तत्तन्नामकर्मोदयो योजनीयः।

''जिस प्रत्येक वनस्पति के कन्द, मूल, क्षुद्र शाखा या स्कन्ध की छाल मोटी हो तो वे वनस्पति अनन्तकाय होती हैं अर्थात् निगोद जीवों से प्रतिष्ठित 'प्रत्येक' होती हैं। किन्तु जिसकी छाल पतली होती है, वे वनस्पतियाँ अप्रतिष्ठित 'प्रत्येक' होती हैं।''

जो प्रतिष्ठित प्रत्येकशरीरी वनस्पति है, वह भी अपनी उत्पत्ति के पहले पहले अन्तर्मुहूर्त मात्र काल तक साधारण जीवों से अप्रतिष्ठित ही रहती है। बाद में बादर निगोद के आश्रय से सप्रतिष्ठ हो जाती है।

गोम्मटसार (जीवकाण्ड, गाथा-190) में कहा है— ''जो भी मूल आदि प्रतिष्ठित मानी गई हैं, वे भी प्रथम समय में अन्तर्मुहूर्त काल तक साधारण जीवों से अप्रतिष्ठित ही रहती हैं।''

इस प्रकार, स्थावर जीवों में वनस्पतिकायिक जीवों का स्वरूप बता दिया गया। बाकी में पृथ्वीनामकर्म के उदय से पृथ्वीकायिक जीव, उसी प्रकार जल-तेजस-वायु —इन पृथक्-पृथक् नामकर्मों के उदय से क्रमशः जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक जीव उत्पन्न होते हैं। इन्हीं चारों की 'धातु' संज्ञा है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय व चतुरिन्द्रिय जीवों को विकलेन्द्रिय कहते हैं, इनमें भी उन-उन (द्वीन्द्रिय आदि) नामकर्मों का उदय संयोजित कर लेना चाहिए।

गाथायास्तात्पर्यमिदं यत् भो जीव! चतुरशीतिलक्षयोनिषु परिभ्रमणान्मुक्तिमिच्छसि चेत् सर्वज्ञप्रणीतधर्मस्वरूपे तथैव अखण्डानन्तशाश्वतस्वरूपे निजशुद्धात्मद्रव्ये श्रद्धानं यथाशक्ति आचरणं च कुरु। तत्र सहायिका अनुप्रेक्षा अपि सततं भावनीयाः।

सम्प्रति अमुष्मिन् पञ्चपरावर्तसंसारे जीवानां सुख-दुःखात्मकं दुःखबहुलं वा जीवनं भवतीति शास्त्रकाराः प्रतिपादयन्ति—

संजोग-विप्पजोगं, लाहालाहं सुहं च दुक्खं च।
संसारे भूदाणं, होदि हु माणं तहावमाणं च॥३६॥

छाया— संयोगविप्रयोगौ लाभालाभौ सुखं च दुःखं च।
संसारे भूतानां भवति हि मानं तथापमानं च॥

(सर्वोदया टीका—) *(संसारे)* **संसरणं संसारः, तस्मिन्। जीवानां कर्मपाकवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसरणरूपत्वात्संसाररूपेण कथ्यते। तस्य संसारस्य पञ्चपरिवर्तनरूपता प्रागुक्ता।**

गाथा का तात्पर्य यह है कि हे जीव! चौरासी लाख जीव योनियों में परिभ्रमण से मुक्ति चाहते हो तो सर्वज्ञ-प्रणीत धर्म के स्वरूप में तथा अखण्ड-अनन्त-शाश्वत स्वरूपी निज शुद्धात्म द्रव्य में श्रद्धान तथा यथाशक्ति आचरण करो। इसमें सहायक होने वाली अनुप्रेक्षाओं की भी भावना निरन्तर करनी चाहिए।

अब, इस पञ्चपरावर्तन रूप संसार में जीवों का जीवन सुख-दुःखात्मक या दुःखबहुल हुआ करता है—इसे शास्त्रकार प्रतिपादित कर रहे हैं—

(36)

(गाथा-अर्थः—) संसार में जीवों को (जीवन में) संयोग-वियोग, लाभ-हानि, सुख-दुःख एवं मान-अपमान निश्चय से होते (ही) हैं।

(सर्वोदया टीका—) (संसारे) संसरण ही संसार है। जीवों द्वारा किये गये कर्मों का विपाक होता है, उसके कारण आत्मा का अन्य जन्म प्राप्त करना 'संसरण' है, इसे ही 'संसार' कहा जाता है। उस संसार के पाँच परिवर्तन रूपी भेदों को पहले बता दिया गया है। ऐसे संसार में —यह भाव है। **(भूतानाम्)**

एतादृशे संसारे इति भावः। *(भूदाणं)* भूतशब्दो व्यन्तरदेवभेदस्यापि वाचकः, किन्तु स नात्र ग्राह्यः। भूतशब्दोऽत्र प्राणिमात्रवाचकः। भूतशब्दस्य व्युत्पत्तिरपि —तासु तासु गतिषु कर्मोदयवशाद् भवन्ति इति भूतानि, प्राणिन इत्यर्थः। तेषां प्राणिनामित्यर्थः। *(संजोग-विप्पजोगं)* संयोगः विप्रयोगश्च भवतः। संसारे इष्ट-अनिष्टपदार्थानां कदाचित्संयोगो जायते, कदाचिद् वियोगोऽपि। अप्राप्तिपूर्वका हि प्राप्तिः संयोगः। प्राप्तिपूर्वक-अप्राप्तिस्तु वियोगः।

संयोग-वियोगौ परस्परसम्बद्धौ। येषामपि पदार्थानां संयोगो जायते, तेषां वियोगो भवत्येव शीघ्रं चिरं वा। उक्तं च पूज्यैर्जिनसेनाचार्यैरादिपुराणे *(8/77)*—

सुखं दुःखानुबन्धीदं सदा सनिधनं धनम्।
संयोगा विप्रयोगान्ताः, विपदन्ताश्च सम्पदः॥

अज्ञानी जीवः तत्संयोगं शाश्वतं मनुते। यदा जीवस्य तदिष्टवस्तुवियोगो भवति, तदा स दुर्ध्यानग्रस्तो भवति, दुःखं चानुभवति। अमनोज्ञस्य अनिष्टस्य वा पदार्थस्य संयोगे, तद्वियोगाय

'भूत' —यह व्यन्तरजाति के देव-विशेष का भी वाचक है, किन्तु यहाँ उसका वह अर्थ ग्राह्य नहीं है। यहाँ 'भूत' शब्द प्राणी-मात्र का वाचक है। 'भूत' शब्द की व्युत्पत्ति भी ऐसी है— 'उन उन गतियों में कर्मोदय-वश उत्पन्न होते हैं' वे 'भूत' अर्थात प्राणी होते हैं। उन प्राणियों के **(संयोग-विप्रयोगौ)** संयोग-वियोग होते (ही) हैं। संसार में इष्ट या अनिष्ट पदार्थों का कभी संयोग होता है तो कभी वियोग भी।

संयोग का अर्थ है— जो अप्राप्त हैं, उन वस्तुओं का प्राप्त होना। वियोग का अर्थ है— जो प्राप्त हैं, उन पदार्थों की अप्राप्ति (अनुपलब्धि) होना। संयोग व वियोग—ये दोनों परस्पर-संबद्ध हैं। जिन पदार्थों का संयोग होता है, उनका वियोग (कभी) शीघ्र या देरी से होता ही है। पूज्य जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण (8/77) में कहा भी है—

"वह सांसारिक सुख दुःख को ही उत्पन्न करता है, और (सुख-प्राप्ति में) धन का नाश भी होता है। संयोग के बाद वियोग अवश्य होता है, और संपत्तियों के बाद विपत्तियाँ भी आती ही हैं।"

अज्ञानी जीव उस 'संयोग' को शाश्वत (पूर्ण स्थायी) मानता है। जब जीव को उस इष्ट वस्तु का वियोग हो जाता है, तो वह दुर्ध्यान से ग्रस्त हो जाता है और दुःख भी अनुभव करता है। अमनोज्ञ या अनिष्ट पदार्थ का संयोग होने पर, उसका कैसे वियोग हो— इसके लिए उसका सतत चिंतन रूप आर्तध्यान होता है,

चिन्तनसातत्यमार्तध्यानं भवति, तथैव मनोज्ञस्य अभीष्टस्य पदार्थस्य वियोगे तत्प्राप्त्यै च सततचिन्तनमपि आर्तध्यानम्। अनेन आर्तध्यानेन अज्ञानी जीवः खिद्यते, तथा पापार्जनं करोति।

उक्तं च ज्ञानार्णवे *(25/29)*—

राज्यैश्वर्यकलत्रबान्धवसुहृत्सौभाग्यभोगात्यये,
चित्तप्रीतिकरप्रसन्नविषयप्रध्वंसभावेऽथवा।
संत्रासभ्रमशोकमोहविवशैर्यत् खिद्यतेऽहर्निशम्,
तत्स्यादिष्टवियोगजं तनुमतां ध्यानं कलङ्कास्पदम्॥

इष्टपदार्थवियोगे अनिष्टपदार्थसंयोगे चाज्ञानी दुःखशोकआक्रन्दनैरसातावेदनीयं कर्मैव बध्नाति।

उक्तं च तत्त्वार्थसूत्रे *(6/11)—"दुःखशोकतापाक्रन्दनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य।"* **इति।**

उसी प्रकार मनोज्ञ या अभीष्ट पदार्थ के वियोग होने पर, वह कैसे पुनः प्राप्त हो, इसके लिए भी सतत चिन्तन रूप आर्तध्यान होता है। इस आर्तध्यान से अज्ञानी जीव खिन्न होता है और पाप कर्मों का बन्ध भी करता है।

ज्ञानार्णव (25/29) में कहा भी है—

"राज्य, ऐश्वर्य, रमणी, बन्धुजन, मित्र एवं सुभगता (लोकप्रियता) के नष्ट हो जाने पर अथवा मन में अनुराग पैदा करने वाले श्रेष्ठ पदार्थों का वियोग-विनाश हो जाने पर, जो पीड़ा, भ्रान्ति, शोक व मोह के वशीभूत होकर दिन-रात खेद (दुःख) प्राप्त होते हैं, वह इष्ट-वियोगजन्य आर्तध्यान कहलाता है, और वह प्राणियों के लिए पाप-बन्ध का कारण (भी) होता है।"

इष्ट पदार्थ के वियोग होने पर और अनिष्ट पदार्थ के संयोग होने पर अज्ञानी जीव दुःख, शोक व रोना-पीटना —इन कार्यों से असातावेदनीय (दुःखजनक) कर्म ही बाँधता है।

तत्त्वार्थसूत्र (6/11) में कहा गया है— "अपने लिए या किसी दूसरे के लिए किये गये दुःख, शोक, ताप (पश्चात्ताप), आक्रन्दन (रोना-पीटना), वध (किसी की हत्या कर देना), परिदेवन (रोना-पीटना), —ये कर्म असातावेदनीय कर्म के आस्रव के कारण होते हैं।"

ज्ञानी जनस्तु संयोग-वियोगौ स्वाभाविकौ मनुते। स चिन्तयति यत्पुण्यात्मनामपि महापुरुषाणाम् इष्टवियोगो भवति, अनिष्टसंयोगश्च जायते। उक्तं च स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे *(गाथा-49)*—

पुण्णजुदस्स वि दीसदि इट्ठविओयं अणिट्ठसंजोयं।
भरहो वि साहिमाणो परिज्जिओ लहुय-भाएण॥

किञ्च, सर्वे इष्टसंयोगाः प्रारम्भे सरसा अपि परिणामे नीरसाः दुःखदाश्च भवन्ति —इति वस्तुस्थितिं ज्ञानी सम्यक्तया जानाति, अतः स आर्तध्यानग्रस्तो न भवति। ज्ञानार्णवे *(2/9)* **ज्ञानिनस्तच्चिन्तनं संकेतितमपि—**

भवाब्धिप्रभवाः सर्वे सम्बन्धा विपदास्पदम्।
संभवन्ति मनुष्याणां तथान्ते सुष्ठु नीरसाः॥

एवं ज्ञानी वस्तुस्वरूपं विचारयन्मध्यस्थतामेव दधाति। स जानाति यत् इष्टानिष्टकल्पना न वस्तुआधृता, अपितु मोहजनितरागद्वेषजनिता वर्तते।

किन्तु ज्ञानी व्यक्ति संयोग व वियोग को एक स्वाभाविक क्रिया मानता है। वह सोचता है कि पुण्यात्मा महापुरुषों के लिए भी इष्ट वियोग व अनिष्ट-संयोग की स्थिति पैदा होती है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-49) में कहा भी है— ''पुण्यात्मा जीव के भी इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग देखा जाता है। स्वाभिमानी भरत चक्रवर्ती तक को भी अपने लघु भ्राता (बाहुबली) के हाथों पराजित होना पड़ा था।''

और, समस्त इष्ट-संयोग भी प्रारम्भ में सरस होते हुए भी परिणाम में (अन्ततः) नीरस व दुःखदायक हो जाते हैं— इस वस्तुस्थिति से ज्ञानी जीव अच्छी तरह परिचित होता है, इसलिए वह आर्तध्यान से ग्रस्त नहीं होता। ज्ञानार्णव (2/9) में उसके चिन्तन का संकेत इस प्रकार किया गया है— ''संसार-समुद्र में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के सभी सम्बन्ध विपत्ति के स्रोत होते हैं और अन्त में अत्यधिक नीरस (सुखरहित) भी सिद्ध होते हैं।''

इस प्रकार, ज्ञानी व्यक्ति वस्तुस्वरूप पर विचार करता हुआ मध्यस्थ भाव को बनाए रखता है। वह जानता-समझता है कि इष्ट व अनिष्ट की कल्पना वस्तु पर आधारित नहीं होती, अपितु वह मोह-जनित राग व द्वेष से पैदा होती है।

उक्तं च ज्ञानार्णवे *(23/29)*—

अयं मोहवशाज्जन्तुः क्रुध्यति द्वेष्टि रज्यते।
अर्थेष्वन्यस्वभावेषु तस्मान्मोहो जगज्जयी॥

ज्ञानी जानाति च यत् न मम परपदार्थेन स्वत्वसम्बन्धः, अतो नाहं स्वामी परस्य वस्तुनः, न च परं वस्तु मदीयम्। उक्तं च समयसारे *(गाथा-209)*—

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ॥

अतः स चिन्तयति यत् रागद्वेषहेतुकैव इष्टानिष्टकल्पना। सैव सुखदुःखं जनयति। अस्मात्कारणात् समत्वभाव एवाश्रयणीयः। समत्वभावेन इष्टवियोगे अनिष्टसंयोगेऽपि नार्तध्यानम्, न च दुरितार्जनम्, ततश्च भाविदुःखपरम्परा न प्रवर्तते।

ज्ञानार्णव (23/29) में कहा भी है—

''यह प्राणी अन्य स्वभाव वाले पदार्थों में जो राग करता है, द्वेष करता है या क्रोध करता है, वह मोह (अज्ञान) के कारण ही करता है, वह मोह ही जगत्-विजेता है।''

ज्ञानी यह भी जानता है कि मेरा पर-पदार्थों से स्वत्व-सम्बन्ध नहीं है, इसलिए न तो मैं पर-वस्तु का स्वामी हूँ और न ही पर-वस्तु को मैं अपना समझता हूँ। समयसार (गाथा-209) में कहा भी है—

''पर द्रव्य को कोई छिन्न-भिन्न करे, कोई उसे ले जाए, या वह नष्ट हो जाए, या चाहे जिस प्रकार से उसका वियोग हो, फिर भी वास्तव में वह मेरा परिग्रह नहीं है।''

इसलिए वह ज्ञानी सोचता है कि किसी वस्तु को इष्ट या अनिष्ट मानने के पीछे अपने राग या द्वेष ही कारण हैं। यह राग-द्वेषजनित कल्पना ही सुख या दुःख की जनक होती है। इस कारण से समत्व स्वभाव का ही आश्रय लेना चाहिए। समत्व भाव होने पर, इष्ट पदार्थ का चाहे वियोग हो चाहे अनिष्ट पदार्थ का संयोग, आर्तध्यान की स्थिति नहीं आएगी और न ही पाप अर्जित होगा, परिणामस्वरूप भावी जीवन में दुःख की परम्परा चालू नहीं रहती।

अत एवोक्तं समयसारे *(गाथा-150)*—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपन्नो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥

एवं वीतरागतामवलम्ब्य यो विरज्यते, स निजसमाधिबलेन कर्मेन्धनक्षयं विधाय मोक्षे शाश्वतसुखं लभते। किन्तु मूढोऽज्ञानी रागद्वेषौ करोति, इष्टानिष्टकल्पनां च विधाय तत्संयोगवियोगयोः प्रायः खिद्यते एवेति तात्पर्यम्।

(लाहालाहं) लाभोऽलाभश्च भवतः। लाभो नाम इच्छितपदार्थप्राप्तिः, तदप्राप्तिस्तु अलाभः। लाभान्तरायकर्मणः क्षयोपशमे क्षये च सति इच्छितानिच्छितवस्तुलाभो भवति। लाभान्तरायकर्म जीवस्य लाभगुणं व्याघातयति (विघ्नं समुपस्थापयति)। लाभान्तरायकर्मोदये सति इच्छितवस्तुलाभो न भवति। एवं पूर्वार्जितकर्मवशादेव लाभोऽलाभो वा भवति। लाभालाभयोः स्थितौ ज्ञानिनो मूढस्य च चिन्तनं व्यवहारश्च पृथक् पृथक् रूपेण परस्परविपरीततां धत्तः। विचारवान् पुरुषः

इसीलिए समयसार (गाथा-150) में कहा गया है—

''रागयुक्त जीव ही कर्मों से बँधता है किन्तु वैराग्य या रागहीनता वाला जीव नहीं बँधता। बस यही जिनेन्द्र का उपदेश है, इसलिए कर्मों में राग मत करो।''

इस प्रकार, वीतरागता को अपनाकर जो विरक्त हो जाता है, वह निज समाधि के बल से कर्म रूपी ईंधनों का नाश कर मोक्ष में शाश्वत सुख प्राप्त करता है। किन्तु मूढ़ व अज्ञानी व्यक्ति राग-द्वेष करता रहता है, इष्ट व अनिष्ट की कल्पना करके उनके संयोग व वियोग में खिन्न ही होता है —यह तात्पर्य है।

(लाभ-अलाभौ) लाभ और अलाभ —ये दोनों (संसारी जीव को) होते हैं। इच्छित पदार्थ की प्राप्ति होना लाभ है, और उसकी प्राप्ति न होना अलाभ है। लाभान्तराय कर्म से जीव के लाभ गुण का व्याघात (विघ्न) होता है। लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम या क्षय होने पर इच्छित-अनिच्छित वस्तु का लाभ होता है। लाभान्तराय कर्म के उदय में इच्छित वस्तु का लाभ नहीं हो पाता। इस प्रकार, पूर्व में अर्जित कर्मों के अधीन ही लाभ या अलाभ होता है। किन्तु लाभ या अलाभ की स्थिति में ज्ञानी व मूढ़ व्यक्ति के चिन्तन व व्यवहार में भिन्नता एवं परस्पर विपरीतता होती है। विचारशील पुरुष लाभ व अलाभ को कर्म-

कर्मकृतमेव लाभमलाभं मत्वा मध्यस्थो भवति, यद्वा अशुभकर्म त्यक्त्वा शुभकर्मानुष्ठाने निरतो भवति, येन पुण्यार्जनं स्यात्ततश्च इष्टवस्तुलाभः स्यात्।

उक्तं च आदिपुराणे *(16/272)*—

पुण्यात् सुरासुरनरोरगभोगसाराः, श्रीरायुरप्रमितरूपसमृद्धयो धीः।
साम्राज्यमैन्द्रमपुनर्भवभावनिष्ठम्, आर्हन्त्यमन्त्यरहिताखिलसौख्यमग्र्यम्॥

सम्यग्ज्ञानी तु लौकिकपदार्थलाभालाभयोर्वितृष्ण एव। स लाभे अलाभे वा पूर्वकृतकर्मोदयं कारणं मत्वा समताभावमेव श्रेयस्करं मनुते। एवं स कर्मणां संवरपूर्वकां निर्जरां करोति, न च भोगाकांक्षां मनसि दधाति। स जानाति यद् भोगाकांक्षया कर्मभारवर्द्धनमेव, ततश्च संसारसागरे पतनं नियतमेवेति।

जनित जानते हुए मध्यस्थ रहता है, या अशुभ कर्म छोड़कर शुभ कर्मों के आचरण में लग जाता है, ताकि पुण्य अर्जित कर सके और फलस्वरूप इष्ट वस्तुओं का लाभ उसे मिल सके।

आदिपुराण (16/272) में कहा भी है—

"सुर, असुर, मनुष्य और नागेन्द्र आदि के उत्तम-उत्तम भोग, लक्ष्मी, दीर्घ आयु, अनुपम रूप, समृद्धि, उत्तम वाणी, चक्रवर्ती का साम्राज्य, इन्द्र पद, अर्हन्त पद जिसे प्राप्त कर फिर जन्म नहीं लेना पड़ता, और निर्वाण पद जो अनन्त है और समस्त सुखों का आधार है, इन सभी की प्राप्ति पुण्य से होती है।"

सम्यक्ज्ञानी व्यक्ति तो लौकिक पदार्थों के लाभ व अलाभ में वितृष्ण (अनासक्त) ही रहता है। वह लाभ हो या अलाभ हो, उसमें पूर्वकृत कर्मों को कारण मानकर समता भाव को ही श्रेयस्कर मानता है और उक्त रीति से वह कर्मों की संवरपूर्वक निर्जरा करता है। वह भोगाकांक्षा को मन में भी नहीं लाता। वह जानता है कि भोग-आकांक्षा से तो कर्म-भार बढ़ेगा ही, और उसके परिणामस्वरूप संसार-सागर में पतन निश्चित ही है।

मिथ्यादृष्टिस्तु कर्मसिद्धान्तं न श्रद्दधाति। अभीष्टलाभाय अनिष्टपरिहाराय यथाशक्ति स्वयं प्रयतते, बन्धुबान्धवमित्र-सम्बन्धिजनानां च सहयोगं गृह्णाति। ततोऽपि कार्यसिद्धिर्न भवेत्तर्हि विविधदेवदेव्युपासनां च करोति। लाभेच्छया सरागदेवानां मिथ्यादृष्टिदेवानां मिथ्यादृष्टिदेवीनां वा पूजोपासनादिकं विदधाति। तस्येयं प्रवृत्तिर्देवमूढताऽभिधीयते।

उक्तं च रत्नकरण्डश्रावकाचारे *(श्लोक-23)*—

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते॥

तथा मूलाचारे *(गाथा-260)*—

ईसर बंभा विण्हू अज्जा खंदादिया य जे देवा।
ते देव भावहीणा देवत्तणभावणे मूढो॥

किन्तु मिथ्यादृष्टि व्यक्ति की कर्मसिद्धांत पर सच्ची श्रद्धा नहीं होती। अभीष्ट की प्राप्ति के लिए तथा अनिष्ट के परिहार के लिए वह स्वयं प्रयत्नशील रहता है और (अपेक्षित हुआ तो) बन्धु-बान्धव, मित्र व सम्बन्धी लोगों की सहायता भी लेता है। इससे भी यदि काम नहीं बनता है तो वह विविध देवी-देवताओं की उपासना करता है। लाभ के उद्देश्य से वह सराग एवं मिथ्यादृष्टि देव व देवियों की पूजा-उपासना आदि करता है। उसकी यह प्रवृत्ति 'देवमूढ़ता' कही जाती है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार (श्लोक-23) में कहा भी गया है—

"वरदान अर्थात् वाञ्छित फल पाने की इच्छा के वशीभूत होकर, राग व द्वेष से मलिन (स्वरूप वाले) देवताओं की (धर्मबुद्धि से) उपासना (आदि में धर्म मानना) —यह देवमूढ़ता कही जाती है।"

इसी तरह, मूलाचार (गाथा-260) में कहा गया है—

"महेश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, पार्वती, कार्तिक आदि जो देव हैं, इनमें वास्तविक देवपन नहीं होता, इनमें देवभावना करने पर व्यक्ति देवमूढ़ होता है।"

एतैरुपायैर्विविधैरपि सोऽभीष्टसिद्धिं कर्तुं समर्थो न भवति। किन्तु सम्यग्दृष्टिः जानाति यत् न कस्मिंश्चिद् देवे शुभाशुभफलदानसामर्थ्यं, तत्तु निजकर्मानुसारमेव भवति।

उक्तं च स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे *(गाथा-319)*—

ण य को वि देदि लच्छी, ण कोवि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि॥

अत्र जिज्ञास्यते— सम्यग्दृष्टिरपि कश्चित् धनधान्यप्राप्तिनिमित्तं जिनेन्द्रोपासनां कुर्वन् दृश्यते, तर्हि मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया तस्य किमन्तरं वैशिष्ट्यं वा? समाधीयते— वस्तुतः सम्यग्दृष्टेः लौकिक-फलप्राप्ति-आकांक्षा सम्यक्त्वस्यातीचाररूपैव भवति।

उक्तं च तत्त्वार्थसूत्रे *(7/23)— "शङ्काकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतिचाराः"* **इति।**

इन विविध उपायों से भी वह (मिथ्यादृष्टि) अपनी अभीष्ट-सिद्धि नहीं कर पाता। किन्तु सम्यग्दृष्टि जानता है कि किसी भी देव में शुभ-अशुभ फल देने की सामर्थ्य नहीं होती, वह (फल देने की स्थिति) तो अपने अपने कर्मों के अनुसार ही होती है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-319) में कहा भी है—

"न तो कोई (देव) जीव को लक्ष्मी देता है और न ही कोई उसका उपकार करता है। शुभाशुभ कर्म ही जीव का उपकार या अपकार करते हैं।"

यहाँ यह जिज्ञासा होती है— कोई सम्यग्दृष्टि भी तो धन-धान्य की प्राप्ति के लिए जिनेन्द्र की उपासना करते हुए दृष्टिगोचर होता है, तो मिथ्यादृष्टि की तुलना में उसका क्या अन्तर या वैशिष्ट्य रहा? जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार है— वस्तुतः सम्यग्दृष्टि को यदि लौकिक फल-प्राप्ति की आकांक्षा होती है तो वह सम्यक्त्व का अतीचार (दोष) रूप ही होती है।

तत्त्वार्थसूत्र (7/23) में कहा भी है— "शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा, अन्यदृष्टिसंस्तव —ये सम्यग्दृष्टि के (पाँच) अतिचार हैं।"

एवं लौकिकफलप्राप्तिसम्बन्धिनी आकांक्षा सम्यक्त्वस्य अतिचाररूपैव भवति। अतिचारावस्था अपवादावस्था स्वीकृता सर्वार्थसिद्धौ *(7/23)* **। अतो लौकिकफलाकांक्षारूपावस्था सम्यग्दृष्टेः क्वचिदपवादरूपेणैव जायते —इति ज्ञेयम्। एषा अतिचारावस्था न प्रादुर्भवेत् —इत्यतो निःकांक्षितगुणसम्पन्नता श्रेयस्करी।**

किं च निःकांक्षितत्वामिति रत्नकरण्डश्रावकाचारे *(श्लोक-12)* **विशदीकृतम्—**

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता॥

किञ्च तत्रैव *(श्लोक-30)*—

भयाशास्नेहलोभाच्च, कुदेवागमलिङ्गिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः॥

इस प्रकार लौकिक फल की प्राप्ति रूप आकांक्षा सम्यक्त्व की अतिचार रूप ही होती है। अतिचार की अवस्था को सर्वार्थसिद्धि (7/23) में अपवादस्वरूप अवस्था कहा गया है। इसलिए लौकिक-फल की आकांक्षा रूप अवस्था सम्यग्दृष्टि के कभी अपवाद रूप से होती है —ऐसा समझना चाहिए। यह अतिचार रूप स्थिति न उत्पन्न हो —इसलिए निःकांक्षित गुण से सम्पन्न होना कल्याणकारी होता है।

निःकांक्षित गुण क्या होता है— इस विषय में रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-12) में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

''इन्द्रियादि के विषय-सुख कर्मों के अधीन हैं, नश्वर हैं, दुःख से मिश्रित हैं और पाप के कारण (निमित्त) भी होते हैं, ऐसे विषय-सुखों की इच्छा न करना ही निःकांक्षित अंग माना गया है।''

और भी, वहीं (श्लोक-30) कहा गया है—

''शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव भय से, आशा से, स्नेह से, और लोभ से भी मिथ्या देव, मिथ्या शास्त्र व मिथ्या गुरु को नमस्कार और विनय-प्रदर्शन नहीं करे।''

किन्तु मिथ्यादृष्टिर्यत् लौकिकफलाकांक्षया व्रतोपवासादिकं करोति, तेन क्वचित् कदाचित् पुण्यबन्धोऽपि स्यात्, किन्तु तत्पुण्यं पापानुबन्धि भवति, यतो धनधान्यादिप्रचुरसम्पदां सद्भावे तस्य विषयासक्तिर्दृढा भवति, ततश्च नरकादिदुर्गतिपरम्परा प्रवर्तते। एवं तस्य मिथ्यात्वोपासना मिथ्यात्वं पुष्णाति एव। किञ्च, मिथ्यादृष्टिर्यदि निःकांक्षितरूपेणापि यदि कुदेवादिउपासनां करोति, साऽपि मिथ्यात्वपोषिकैव, अतो न श्रेयस्करी, दुःखदैव। सम्यग्दृष्टिषु अपि केषांचित् पाक्षिक-श्रावकत्वभूमिकायां संभवति आकांक्षारूप-अतीचारः, ते आपत्सु व्याकुलाः शासनदेवतादीनामपि उपासनादिकं कुर्वन्ति *(सागारधर्मा.-3/7-8, ज्ञानदीपिका टीका),* **किन्तु फलाकांक्षया जिनेन्द्रोपासनया सम्यग्दृष्टिर्यत्पुण्यार्जनं करोति, तत्पुण्यं तीव्रविषयासक्ति-अभावेन न संसारकारणं भवति।**

उक्तं च भावसंग्रहे *(गाथा-404)*—

सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जह वि णियाणं ण सो कुणई॥

किन्तु मिथ्यादृष्टि जो लौकिक फल की आकांक्षा रखकर व्रत व उपवास आदि करता है, उससे कभी, कहीं पुण्य बन्ध भी हो सकता है, किन्तु वह पुण्य पापानुबन्धी होता है, क्योंकि धन-धान्य आदि प्रचुर सम्पत्ति होने पर उसकी विषय-आसक्ति और भी दृढ़ हो जाती है, फलस्वरूप नरक आदि दुर्गति की परम्परा ही प्रवर्तित होती रहती है। इस प्रकार उसकी मिथ्यात्वसहित उपासना मिथ्यात्व को ही पुष्ट करती है। दूसरी बात, मिथ्यादृष्टि यदि निःकांक्षित भाव के साथ भी कुदेव आदि की उपासना करता है तो भी उसकी वह क्रिया मिथ्यात्व की पोषक होती है और दुःखदायक भी। सम्यग्दृष्टियों में कुछ के, जैसे पाक्षिक श्रावक की भूमिका में स्थित के (कदाचित्) आकांक्षा रूप अतीचार होता है, वे आपत्ति में व्याकुल होकर शासन देवता आदि की भी उपासना आदि करते हैं (सागारधर्मा.-3/7-8 पर ज्ञानदीपिका टीका), किन्तु इस प्रकार फल की आकांक्षा से सम्यग्दृष्टि यदि जिनेन्द्र की उपासना करता है तो वह जो पुण्य बाँधता है, वह पुण्य तीव्र विषय-आसक्ति के न होने से संसार का कारण नहीं होता।

भावसंग्रह (गाथा-404) में कहा गया है—

"सम्यग्दृष्टि, यदि वह निदान न करे तो उसका पुण्य संसार का कारण नहीं होता, अपितु मोक्ष का ही कारण होता है।"

(सुहं च दुक्खं च) **सुखं च दुःखं च जीवस्य संसारे भवत एव। सुखं च इष्टार्थसमागमः, दुःखं च अनिष्टार्थ-संयोगः —इति धवलाग्रन्थे** *(पु.13, खण्ड-5, भाग-5, सू. 63)* **प्रोक्तम्। सद्वेद्योदयेऽन्तरङ्गहेतौ सति बाह्यद्रव्यादिपरिपाक-निमित्तवशादुत्पद्यमानः प्रीतिरूपः आत्मीय-परिणामः सुखम्, असद्वेद्योदये बाह्यद्रव्यादिपरिणामनिमित्तवशादुत्पद्यमानः परितापरूपः परिणामो दुःखमिति सर्वार्थसिद्धौ** *(5/20)* **ग्रन्थे प्रतिपादितम्।**

तत्त्वार्थसारे *(8/49)* **तु** *'पुण्यकर्मविपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम्'* **इति भणितम्। संसारिणः कर्मजनिते सुखदुःखे —इति प्राक् भणितम्। प्रशस्तकर्मभिः परिणामे सुखावाप्तिः, अप्रशस्तकर्मभिः दुःखावाप्तिः। एवं सर्वस्य कर्मबद्धस्य सतः प्राणिसमूहस्य जीवने सुख-दुःखयोः सद्भावो भवति।**

वस्तुतस्तु लौकिकसुखं यदपि, तत् सुखाभासमेव। यदपि विषयसुखं प्राप्यते, तदस्थायि विनश्वरमेव, अतो जीवस्तन्नाशे दुःखमेवानुभवति। विषयसुखे तृप्ति-अभावात् तृष्णा वर्धते, तर्हि

(सुखं च दुःखं च) सुख व दुःख— ये संसार में जीव को होते ही हैं। अभीष्ट पदार्थ का समागम सुख होता है और अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति दुःख है— ऐसा धवला ग्रन्थ (पु.13, खण्ड-5, भाग-5, सू. 63) में कहा गया है। सातावेदनीय के उदय रूप अन्तरंग कारण होने पर बाह्य द्रव्य आदि के परिणामों का निमित्त पाकर जो प्रीति रूप आत्मीय परिणाम उत्पन्न होता है, वह सुख है। इसी प्रकार असातावेदनीय के उदय होने पर बाह्य द्रव्य आदि के परिणामों का निमित्त पाकर उत्पन्न होने वाला परिताप रूप जो आत्मीय परिणाम उत्पन्न होता है, वह दुःख है— ऐसा सर्वार्थसिद्धि (5/20) ग्रन्थ में प्रतिपादित किया गया है।

तत्त्वार्थसार (8/49) में तो कहा गया है कि पुण्य कर्म के फलस्वरूप अभीष्ट पदार्थ (की प्राप्ति) से होने वाला (मानसिक भाव) सुख है। संसारी प्राणी के सुख या दुःख कर्म-जनित ही होते हैं— ऐसा पहले बता चुके हैं। प्रशस्त (शुभ) कर्मों के परिणामस्वरूप सुख-प्राप्ति होती है। अप्रशस्त कर्मों के परिणामस्वरूप दुःख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार, सभी प्राणि-समूह के जीवन में यदि वह कर्मबद्ध है तो सुख या दुःख का सद्भाव होगा ही।

वस्तुतः तो लौकिक सुख जो भी है, वह सुखाभास, (नकली, बनावटी सुख) ही है। जो भी विषयों (के सेवन) से सुख मिलता है, वह स्थायी नहीं होता, विनाशशील होता है, इसलिए जीव उस (सुख) के नाश होने पर दुःख ही अनुभव करता है। विषय-सुख में तृप्ति नहीं होती, जिससे तृष्णा और बढ़ती है, तब

पापार्जने सति पुनरपि दुःखपरम्परा नियता। एवं विषयसुखं परिणामे दुःखावहम्। यदपि विषयसेवने क्षणिकं सुखमनुभूयते, तदपि वेदनाप्रतीकारत्वात् कच्छूकण्डूयनवत् सुखाभासमेव। यथा रोगाः चित्तमुद्वेजयन्ति, तथैव भोगाः अपि।

उक्तं च भगवती-आराधनेतिग्रन्थे *(गाथा-1242-1243, 1246, 1256)*—

भोगोवभोगसोक्खं जं जं दुक्खं च भोगणासम्मि।
एदेसु भोगणासे जातं दुक्खं पडिविसिट्ठं॥

देहे छुहादिमहिदे चले य सत्तस्स होज्ज कह सोक्खं।
दुक्खस्स य पडियारो रहस्सणं चेव सोक्खं खु॥

कच्छुं कंडूयमाणो सुहाभिमाणं करेदि जह दुक्खे।
दुक्खे सुहाभिमाणं मेहुण आदीहिं कुणदि तहा॥

पापास्रव होता है और फिर दुःख की परम्परा नियत हो जाती है। इस दृष्टि से विषय-सुख परिणाम में दुःखप्रद ही है। विषय-सेवन में जो भी क्षणिक सुख की प्राप्ति का अनुभव होता है, वह भी वेदना का प्रतीकार रूप होने के कारण, खुजली खुजलाने की तरह सुखाभास ही है। जैसे, रोग चित्त को उद्विग्न करते हैं, वैसे ही भोग भी।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1242-43, 1246, 1256) में भी कहा गया है—

"भोग व उपभोग से होने वाला सुख एवं दुःख एक तरफ हो, तथा उसकी तुलना में उस भोग (के साधन में निमित्त वस्तु) का नाश होने पर होने वाला दुःख अधिक होगा।"

"भूख, प्यास आदि से पीड़ित एवं विनाशशील देह में आसक्त रहने वाले को आखिर कौन-सा सुख प्राप्त होगा? वास्तव में दुःख का प्रतीकार करना या उसे कम करना ही सुख मान लिया गया है।"

"जिस प्रकार खाज को खुजाने वाला दुःख को ही सुख मानता है, उसी प्रकार कामी व्यक्ति मैथुन के समय दुःखात्मक क्रियाओं को ही सुख मान बैठता है।"

जह जह भुंजइ भोगे तह तह भोगेसु वड्ढदे तण्हा।
अग्गीव इंधणाइं तण्हं दीविंति से भोगा॥

तथा प्रवचनसारे *(1/64, 76)* **च भणितमास्ते:—**

जेसिं विसएसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जइ तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं॥

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥

इष्टोपदेशे *(श्लोक-6)* च—

वासनामात्रमेवैतत्सुखं दु:खं च देहिनाम्।
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते भोगा रोगा इवापदि॥

"जैसे-जैसे भोगों को भोगते हैं, वैसे-वैसे भोगों की तृष्णा बढ़ती है। जैसे ईंधन डालने से आग प्रज्वलित होती है, वैसे ही भोगों में तृष्णा बढ़ती है।"

प्रवचनसार (1/64, 76) में भी कहा गया है—

"जिन जीवों की विषयों में रति है, उनके स्वभावत: दु:ख का सद्भाव जानें। क्योंकि इन्द्रियजन्य दु:ख यदि सहज उत्पन्न हुआ होता तो विषयों के सेवन में इन्द्रियों की प्रवृत्ति भी नहीं होती।"

"जो (पाँच) इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला सुख है, वह दु:ख रूप ही है, क्योंकि वह सुख पराधीन है, बाधासहित है, विनाशशील है और कर्मबंध का कारण है।"

इष्टोपदेश (श्लोक-6) में भी कहा गया है—

"प्राणियों को प्राप्त होने वाला सुख वासनामात्र है और दु:ख रूप ही है। जैसे रोग संकट में मन को उद्विग्न करते हैं, वैसे ही भोग भी उद्विग्न करते हैं।"

पञ्चाध्याय्यां *(2/238)* **च भणिमास्ते—**

ऐहिकं यत् सुखं नाम सर्वं वैषयिकं स्मृतम्।
न तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम्॥

एवं सिद्ध्यति यत् शाश्वतं निर्बाधं वास्तविकं पूर्णं सुखं यदि वर्तते, तत्तु मोक्षे एव, स च संसारभ्रमणविरामे एव प्राप्तुं शक्यते। इत्थं विचार्यते चेत् संसारे दुःखमेव। किन्तु मूढोऽज्ञानी विषयसुखमेव वास्तविकं सुखं मन्यते।

उक्तं च आदिपुराणे *(17/17)*—

निस्सारे खलु संसारे सुखलेशोऽपि दुर्लभः।
दुःखमेव महत् तस्मिन् सुखं काम्यति मन्दधीः॥

प्रोक्तं मूढत्वमेव तस्य संसारपतने कारणं भवति। उक्तं च पद्मनन्दिपंचविंशतिकाग्रन्थे *(श्लोक-1/119)*—

पंचाध्यायी (पं. राजमलकृत 2/238) में भी कहा गया है—

"जो भी इस लोक में विषयजन्य सुख माना जाता है, वह सुख नहीं, सुखाभास है और निस्संदेह दुःख रूप ही है।"

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि शाश्वत, निर्बाध वास्तविक व पूर्ण सुख यदि है तो वह मोक्ष में ही है, और वह मोक्ष संसार-भ्रमण के अवरुद्ध होने पर ही प्राप्त हो सकता है। इस रीति से विचार किया जाय तो (यही ज्ञात होगा कि) संसार दुःख रूप ही है। किन्तु अज्ञानी मूढ़ विषय-सुख को ही वास्तविक सुख मान बैठता है।

आदिपुराण (17/17) में कहा भी है—

"यह संसार निस्सार है, यहाँ लेशमात्र भी सुख दुर्लभ है। यहाँ महान् दुःख ही दुःख है।"

किन्तु उसकी उपर्युक्त मूढ़ता ही उसके संसार-पतन में कारण होती है। पद्मनन्दि पंचविंशतिका ग्रन्थ (श्लोक-1/119) में भी कहा गया है—

एतन्मोहढकप्रयोगविहितभ्रान्तिभ्रमच्चक्षुषा ,
पश्यत्येष जनोऽसमञ्जसमसद्बुद्धिर्ध्रुवं व्यापदे।
अप्येतान् विषयाननन्तनरकक्लेशप्रदानस्थिरान्,
यत् शश्वत्सुखसागरानिव सतश्चेत: प्रियान् मन्यते॥

(माणं तहावमाणं च) **मानं, सम्मानं सत्कारपूजादिकम्। अपमानं तद्विपरीतम्। सम्मान-तिरस्कारेतिद्वयमपि सुखदु:खवत् कर्मजनितमेव।** *(हु होदि)* **हि, नूनमेव एतद्द्वयं भवति। अर्थात् सुखदु:खे, लाभालाभौ, संयोगवियोगौ तथा मानापमाने प्रत्येकजीवस्य कर्मबद्धतया भवत एव। केवलं सम्यग्ज्ञानी सुखदु:खयोर्मानापमानयो: समत्वमवलम्ब्य न सुखी भवति, न च दु:खी।**

उक्तं च प्रवचनसारे *(3/41)—*

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥

"ये मोह रूपी ठग (अपनी कारीगरी के) प्रयोग से भ्रम की स्थिति पैदा करता है, जिसके कारण दुर्बुद्धि (अज्ञानी) व्यक्ति की आँखें भ्रमित हो जाती हैं और वह कुछ का कुछ देखता है (सद् को असद्, असद् को सत् देखता है), जैसे कि वह अनन्तकाल तक नरक के कष्ट देने वाले एवं अस्थिर इन विषयसुखों को भी मन को प्रिय लगने वाले तथा नित्यसुख-सागर के रूप में मानता है, यह चिन्तन उसके लिए आपदाएँ (ही) लाता है।"

(मानं तथाऽपमानं च) मान यानी सम्मान, सत्कार-पूजा आदि, इससे विपरीत अपमान होता है। सम्मान व तिरस्कार —ये दोनों ही सुख-दु:ख की तरह कर्मजनित (पूर्वकृत कर्मों के फल) ही होते हैं। **(हि भवति)** निश्चय ही होते हैं, अर्थात् सुख-दु:ख, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग तथा मान-अपमान में प्रत्येक जीव कर्मबद्ध होते ही हैं। केवल सम्यग्ज्ञानी ही ऐसा होता है जो सुख-दु:ख व मान-अपमान में समता का आलम्बन लेकर न सुखी होता है और न ही दु:खी।

प्रवचनसार (3/41) में कहा गया है—

"श्रमण वह होता है जो शत्रु व बन्धुवर्ग में समभाव रखता है, सुख व दु:ख में समान रहता है, प्रशंसा व निन्दा में समान भाव रखता है, स्वर्ण व मिट्टी के ढेले में समान भाव रखता है और जीने व मरण में भी समान भाव रखता है।"

गाथायास्तात्पर्यमिदं यद् हे मनीषिन्! संसारे प्रतिपदं कष्टमेव, न च सुखलेशस्तत्र परमार्थतया, तथापि मूढा मृगमरीचिकावत् सुखमेव पश्यन्ति। अतः मूढतां विहाय तथा लौकिकसुखे आसक्तिं त्यक्त्वा शाश्वतसुखे मोक्षे रतिर्विधेया। संसारोच्छेदस्य कारणं रत्नत्रयाराधनमेव। अथवा ज्ञान-दर्शनादि चतुर्विधाराधना आत्मकल्याणकारिणी, सैव अप्रमत्तभावेन भावनीया तथाऽनुष्ठेया च।

सम्प्रति निश्चयनयेन संसारविषयक-विचारणां शास्त्रकाराः विदधतिः—

कम्मणिमित्तं जीवो, हिंडदि संसार-घोरकंतारे।
जीवस्स ण संसारो, णिच्चयणयेण कम्मणिम्मुक्को॥३७॥

छाया— कर्मनिमित्तं जीवः हिण्डति संसारघोरकान्तारे।
जीवस्य न संसारः, निश्चयनयेन कर्मनिर्मुक्तः॥

(सर्वोदया टीका—) *(जीवो)* **जीवः, विविधैः प्राणैः जीवतीति जीवः, प्राणी इति भावः। आदिपुराणे** *(24/103)* **प्रोक्तं च—**

जीवः प्राणी च जन्तुश्च क्षेत्रज्ञः पुरुषस्तथा ।
पुमानात्मान्तरात्मा च ज्ञो ज्ञानीत्यस्य पर्ययाः॥

प्रस्तुत गाथा का तात्पर्य यह है कि हे मनीषी! संसार में पग-पग पर कष्ट ही हैं, परमार्थ दृष्टि से यहाँ सुख का लेश भी नहीं है, फिर भी मूढ़ लोग मृगमरीचिका की तरह इसे सुख रूप ही मानते हैं। इसलिए मूढ़ता छोड़ो और लौकिक सुख में आसक्ति का (भी) त्याग कर शाश्वत सुख वाले मोक्ष में रति (रुचि) बढ़ाओ। संसार के उच्छेद का कारण रत्नत्रय की आराधना ही है। अथवा ज्ञान, दर्शन (चारित्र व तप) आदि की चतुर्विध आराधना ही आत्म-कल्याण करने वाली है, उसी की अप्रमत्त भाव से भावना करो और उसी का आचरण करो।

अब, शास्त्रकार निश्चयनय से संसार के विषय में विचार कर रहे हैं—

(37)

(गाथा-अर्थः) कर्म के निमित्त से जीव संसार रूपी भयानक वन में भ्रमण करता रहता है। (किन्तु) निश्चयनय से (तो) जीव के संसार (ही) नहीं है, (क्योंकि) वह कर्म-मुक्त (ही) है।

(सर्वोदया टीका—) (जीवः) जीव का अर्थ है— विविध प्राणों से जीने वाला, अर्थात् प्राणी। आदिपुराण (24/103) में कहा भी है— ''जीव, प्राणी, जन्तु, क्षेत्रज्ञ, पुरुष, पुमान्, आत्मा, अन्तरात्मा —ये परस्पर पर्याय हैं।''

जीवा द्विविधाः— संसारिणो मुक्ताश्च। अत्र संसारिजीवोऽभिप्रेतः, संसारिष्वपि रागद्वेषयुक्तस्य ग्रहणं न्याय्यम्। मुक्तस्य संसारे परिभ्रमणासम्भवात् न तस्य ग्रहणम्। संसारभ्रमणस्य बीजं तु कर्माण्येव, मुक्तस्य तु समस्तकर्मक्षयात् पुनः संसार-प्रसक्तिर्न सम्भवति।

उक्तं च राजवार्तिके *(10/2/3 उद्धृते)*—

दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः॥

यदि कश्चिज्जीवः संसारे जन्म गृह्णाति, स कर्मबद्ध एव। किमधिकम्, यदि तीर्थंकरोऽपि मनुष्यपर्यायमास्कन्दति, सोऽपि कर्मबद्ध एव।

ये च तीर्थान्तरीया मन्वते यत् धर्मरक्षणाय परमेश्वरस्य धरण्यामवतारो भवति, धर्मसंस्थापनादि कार्यं कृत्वा पुनः स्वलोके वैकुण्ठे प्रयाति, तन्मतं न जैनपरम्परायां समाद्रियते।

जीव के दो भेद हैं— संसारी और मुक्त। यहाँ संसारी जीव का ग्रहण करणीय है। संसारी जीवों में विशेष रूप से जो रागी-द्वेषी हैं, उनका ग्रहण करना यहाँ न्यायोचित होगा। मुक्त जीव का यहाँ ग्रहण नहीं है, क्योंकि उसके संसार-भ्रमण सम्भव नहीं है। संसार-भ्रमण का बीज कर्म ही है, किन्तु मुक्त जीव के समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है, इसलिए पुनः उनका संसार में आना सम्भव नहीं है।

राजवार्तिक में (10/2/3 उद्धृत पद्य में) कहा गया है—

"जिस प्रकार बीज के जल जाने पर उससे अंकुर नहीं निकलता, उसी तरह कर्म-बीज के जल जाने पर भव-अंकुर (जन्म-अंकुर) उत्पन्न नहीं होता।"

यदि कोई जीव संसार में जन्म लेता है, तो वह कर्मबद्ध ही है। अधिक क्या कहें, यदि तीर्थंकर भी मनुष्य-पर्याय में रहते हैं, तो वे भी कर्मबद्ध ही होते हैं।

जो अन्य तीर्थ (सम्प्रदाय, धर्म) वाले मानते हैं कि धर्म की रक्षा हेतु परमेश्वर का पृथ्वी पर अवतार होता है, और वह धर्म को संस्थापित करके पुनः अपने वैकुण्ठ लोक में चला जाता है, इस मत को जैन परम्परा में मान्यता या आदर नहीं दिया जाता।

अत एव श्रीजिनसेनाचार्यकृते *(आदिपुराणे, 25/78)* **जिनसहस्रनाम-स्तोत्रे** *(श्लोक-13)* **'स्वर्गावतारी' इति विशिष्टं नाम तीर्थंकरस्य निर्दिष्टम्। तात्पर्यमिदं यत्स तीर्थंकरः स्वपूर्वजन्मनि सामान्यजीववत् पुण्यार्जनं विधाय स्वर्गलोके गतवानासीत्, तत्र स्वनियतमायुष्यं संपूर्य मनुष्यपर्यायं प्राप्तवान्, न कदाचित्स पूर्वं मुक्तिं प्राप्तवानासीत्। अस्मिन् मनुष्य-पर्याये एव स तपः-प्रभृतिभिः कर्मक्षयं विधाय मुक्तिं प्राप्तवान्, तथा संसारस्य जन्ममृत्यु-परम्परातः सर्वदैव मुक्तः संजातः।**

(कम्मणिमित्तं) **कर्मैव निमित्तं तस्य संसारभ्रमणे इति भावः। कर्मनिमित्तमिति क्रियाविशेषणं 'हिण्डति' इत्यस्य। कर्म निमित्तं यथा स्यात्, तथा भ्रमतीत्यर्थः।**

कर्मशब्दस्यानेकार्थाः सन्ति। कर्तुरीप्सिततमं कर्म व्याकरणशास्त्रे स्वीक्रियते, यथा— घटं देवदत्तः करोति, अत्र देवदत्तस्य अभीप्सिततमो घटः। क्वचित् व्यवहारे पुण्य-पापरूपम्, यथा *'कुशलाकुशलं कर्म'* **इति आप्तमीमांसायां** *(श्लोक-8)* **प्रोक्तम्। क्वचिच्च क्रियापर्यायरूपः, यथा भक्षणादिकर्म** *(राजवार्तिक, 6/1/3)*। **एतेषु अत्र पुण्यपापरूपं कर्म गृह्यते, यद्वा क्रियावाचिनोऽपि ग्रहणम्, अर्थात्** *'कायवाङ्मनःकर्म योगः'* *(त. सू. 6/1)* **इति तत्त्वार्थसूत्रे प्रतिपादितं मनोवचन-**

इसीलिए श्री जिनसेनाचार्य-कृत जिन सहस्रनामस्तोत्र (श्लोक-13) में (आदिपुराण, 25/78) 'स्वर्गावतारी' यह विशिष्ट नाम तीर्थंकर का निर्दिष्ट है। तात्पर्य यह है कि उन तीर्थंकर ने अपने पूर्व जन्म में सामान्य जीव की तरह ही पुण्य अर्जित कर स्वर्ग लोक में जन्म लिया था, और वहाँ अपनी नियत आयु पूर्ण कर मनुष्य-पर्याय प्राप्त की, उन्होंने पहले मुक्ति प्राप्त नहीं की थी। इस मनुष्य पर्याय में ही उन्होंने तप आदि द्वारा कर्म-क्षय कर मुक्ति प्राप्त की थी और संसार की जन्म-मरण परम्परा से सदा के लिए मुक्त हो गये।

(कर्मनिमित्तम्) उस संसार-भ्रमण में कर्म ही निमित्त है— यह भाव है। भ्रमण करता है—इस क्रिया का क्रिया-विशेषण है— अर्थात् कर्मनिमित्त हो, उस रूप में भ्रमण करता है।

कर्मशब्द अनेक अर्थों वाला है। व्याकरण शास्त्र में 'कर्म' उसे कहते हैं जो कर्ता का ईप्सिततम (अधिकतम अभीष्ट) होता है, जैसे देवदत्त घट को करता है, यहाँ देवदत्त (कर्ता) का 'घट' कर्म अभीष्टतम है। कहीं कर्म पुण्य-पाप रूप में भी व्यवहृत होता है, जैसे आप्त-मीमांसा (के श्लोक सं. 8) में 'कुशल-अकुशल कर्म' पद का प्रयोग हुआ है। कहीं क्रिया के पर्याय रूप में 'कर्म' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जैसे 'भक्षण' आदि कर्म के इस कथन में (राजवार्तिक 6/1/3)। इन सभी अर्थों में पुण्य-पाप रूप कर्म अर्थ यहाँ लिया गया है, अथवा क्रियावाचक कर्म का भी यहाँ ग्रहण किया जाता है। अर्थात् 'कायवाङ्मनःकर्म

शरीरक्रियारूपं 'योग'-अपरपर्यायं कर्म, तदत्र ग्राह्यम्। तन्निमित्तमपि कर्मास्रवो भवति, यदि जीवः रागादिग्रस्तः स्यात्, तर्हि पुण्यापुण्यबन्धो भवत्येव। वीतरागस्य तु योगात्मकं कर्म न बन्धनकारकं भवति, अतोऽस्यां गाथायां जीवपदेन मोहरागादिग्रस्तानां प्राणिनां ग्रहणमिति प्रागुक्तम्। सर्वशरीरप्ररोहणबीजभूतं कार्मणशरीरमपि 'कर्म' अभिधीयते *(सर्वार्थसिद्धि-2/25)*। **संसारिजीवस्य कार्मणशरीरमवश्यम्भावि।**

तत्र किं कर्म? ये जीवं परतन्त्रीकुर्वन्ति, यद्वा यैर्जीवः परतन्त्रीक्रियते, तत्कर्म। यद्वा मिथ्यादर्शनादिपरिणामैः यत् क्रियते, तत् कर्म। द्रव्यतः तदेकविधमपि तत् प्रकृतिभेदेन ज्ञानावरणीयादिभेदेनाष्टविधम्। द्रव्यभावभेदेन द्विविधमपि तत्। आत्मना प्रथमं रागद्वेषादिविभाव-परिणामात्मकं भावकर्म क्रियते, ततश्च तन्निमित्तं द्रव्यकर्म बध्यते। तत्कर्म जीवगुणप्रच्छादने समर्थम्। तत्र यानि कर्माणि सर्वप्रकारेण आत्मगुणप्रच्छादकानि, तानि सर्वघातीनि, यानि च विवक्षितैकदेशेन आत्मगुणप्रच्छादकानि, तानि देशघातीनि कथ्यन्ते *(बृ. द्रव्यसंग्रह, गाथा-34, ब्रह्मदेवकृत वृत्ति)*।

योगः' —इस (त.सू. 6/1) तत्त्वार्थ सूत्र में मन-वचन-शरीर की क्रिया को 'योग' इस दूसरे नाम से प्रतिपादित किया गया है, वह यहाँ ग्राह्य है, उसके निमित्त से भी कर्म का आस्रव होता है, और यदि जीव रागादि ग्रस्त हो तो पुण्य या पाप का बन्ध भी होता है। वीतराग व्यक्ति का तो योगात्मक कर्म बन्धनकारक नहीं होता। इसीलिए इस गाथा में 'जीव' पद से मोह-राग आदि से ग्रस्त प्राणियों का ग्रहण है— यह पहले कहा था। (उक्त अर्थों के अतिरिक्त) 'कर्म' शब्द का समस्त शरीरों के बीज रूप कार्मण शरीर अर्थ भी होता है (सर्वार्थसिद्धि, 2/25)। संसारी जीव के कार्मण शरीर अनिवार्य रूप से होता ही है।

'कर्म' किसे कहते हैं? कर्म वे हैं जो जीव को परतन्त्र करते हैं, या कर्म वे हैं जिनसे जीव परतन्त्र कर दिये जाते हैं। अथवा मिथ्यादर्शन (अविरति, प्रमाद, कषाय) आदि आत्मीय परिणामों से जो निष्पन्न किया जाता है, वह 'कर्म' होता है। द्रव्य रूप में वह एक होता हुआ भी प्रकृति-भेद से ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार का होता है। द्रव्य कर्म एवं भावकर्म —इस तरह दो भेद भी उसके हैं। आत्मा द्वारा पहले राग-द्वेष आदि वैभाविक परिणाम रूप 'भावकर्म' किया जाता है, उसका निमित्त प्राप्त कर द्रव्य कर्म का बन्ध होता है। वह कर्म जीव के गुणों (ज्ञान, वीर्य आदि) को ढकने में समर्थ होता है। इनमें जो कर्म सब प्रकार से आत्मीय गुणों को आच्छादित करते हैं, वे सर्वघाती कर्म होते हैं और जो विवक्षित एकदेश (आंशिक) से आत्म-गुणों को आच्छादित करते हैं, वे देशघाती कर्म कहलाते हैं (बृ. द्रव्यसंग्रह, गाथा-34 पर ब्रह्मदेव-कृत वृत्ति)।

उक्तं च योगसारे *(3/13)*—

जीवस्याच्छादकं कर्म, निर्मलस्य मलीमसम्।
जायते भास्करस्येव शुद्धस्य घनमण्डलम्।।

(संसारघोरकंतारे) **संसारः घोरः कान्तार इव, तत्रेत्यर्थः। कान्तारः महावनम्, तद् सामान्यजन-सञ्चारशून्यं प्रायो भवति, हिंस्रैर्गजैः सिंहैश्च सेवितत्वात् घोरो भयानकोऽपि भवति। कुत्रचिद् भिल्लादिहिंस्रजातिरपि भवति, यया दिग्-भ्रमितानां धनादिहरणं प्राणहरणं च सम्भाव्यते। घनवृक्षाच्छादितत्वात् घनान्धकारोऽपि तत्र भवति, येन सुगमतया यथार्थदिग्ज्ञानाभावात् ततो निस्सरणमपि न सम्भवति। एवं संसारस्य भयानकवनेन सादृश्यं युक्तियुक्तमेव।**

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे *(23/10, 3/49)* **च संसारवनस्वरूपं मनसि निधाय आत्म-कल्याणप्रेरणा कृता दृश्यते—**

योगसार (3/13) में कहा भी गया है—

"कर्म जीव का आच्छादक है और वह निर्मल जीव को मलिन करता है। जीव की यह स्थिति उसी प्रकार की होती है जैसी कि शुद्ध सूर्य की मेघ-मण्डल द्वारा आच्छादित होने के बाद होती है।"

(संसारघोरकान्तारे) जो संसार एक घोर कान्तार की तरह है, वहाँ- यह अर्थ है। कान्तार विशाल जंगल होता है, जहाँ आम लोगों का प्रायः आना-जाना नहीं होता। हिंसक हाथी व सिंह वहाँ रहते हैं, इसलिए वह भयानक व घोर भी होता है। कहीं कहीं भील आदि हिंसाप्रिय जाति भी रहती है, जिनके द्वारा भूले-भटके लोगों के धन-हरण व प्राण-हरण की भी संभावना रहती है। घने वृक्षों से ढके होने से वहाँ घना अँधेरा भी रहता है, जिसके कारण सही दिशा का ज्ञान न हो पाने से सुगमता से बाहर निकलना भी सम्भव नहीं होता। इस प्रकार, संसार की तुलना भयानक वन के साथ की गई है, वह युक्तियुक्त ही है।

पद्मनन्दिपंचविंशतिका ग्रन्थ (23/10, 3/49) में भी संसार रूपी वन के स्वरूप को मन में रखकर आत्मकल्याण की इस प्रकार प्रेरणा दी गई है—

दुःखव्यालसमाकुले भववने हिंसादिदोषद्रुमे,
नित्यं दुर्गतिपल्लिपातिकुपथे भ्राम्यन्ति सर्वेऽङ्गिनः।
तन्मध्ये सुगुरुप्रकाशितपथे प्रारब्धयानो जनः,
यात्यानन्दकरं परं स्थिरतरं निर्वाणमेकं परम्॥

स्वकर्मव्याघ्रेण स्फुरितनिजकालादिमहसा,
समाघ्रातः साक्षाच्छरणरहिते संसृतिवने।
प्रिया मे पुत्रा मे द्रविणमपि मे मे गृहमिदं,
वदन्नेवं मे मे पशुरिव जनो याति मरणम्॥

(हिंडदि) **परिभ्रमणं करोति, न संसारमहावनात् सुरक्षितो निस्सरितुं समर्थो भवतीत्यर्थः।**

अत्र कर्मनिमित्तेण संसारवृद्धिरुच्यते, तद्विषये विशदतया संक्षेपेण विव्रियते। जीवस्य कर्मणश्च परस्परमनादिसम्बन्धः। कर्मनिमित्तकः संसारः। कर्मणां निमित्तं भवति आत्मनो

"यह संसार रूपी वन दुःख रूपी हाथियों या व्याघ्रों या सर्पों से भरा हुआ है, हिंसा आदि दोष रूपी वृक्षों से युक्त है (जहाँ सर्वत्र हिंसा आदि पाप होते रहते हैं), जहाँ के कुमार्गों पर दुर्गति रूपी भीलों द्वारा डेरा जमाया हुआ है, वहाँ सभी प्राणी भटकते रहते हैं। ऐसी स्थिति में कोई सुगुरु मिल जाए और वह सही रास्ता दिखा दे और व्यक्ति उस पर चलना प्रारम्भ कर दे तो (समझ लो कि) वह अधिक स्थिर व आनन्ददायी परम पद निर्वाण को प्राप्त करेगा।"

"यह संसार रूपी वन ऐसा है जहाँ कोई शरण (स्थान) नहीं है, और ऐसी स्थिति में अपने-अपने उदय-काल में प्रबल पराक्रम प्रकट करने वाले कर्म रूपी व्याघ्र (हाथी या सर्प) की चपेट में कोई व्यक्ति आ जाए (अर्थात् उससे आक्रान्त हो जाए) तो वह व्यक्ति 'मेरी प्रिया, मेरे पुत्र, मेरा पैसा, मेरा घर' —इस तरह चिल्लाता रहता है, किन्तु पशु की तरह में-में करते हुए उसकी मौत हो जाती है।"

(हिण्डति) भ्रमण करता रहता है, अर्थात् जीव संसार रूपी महावन (बीहड़ जंगल) से सुरक्षित निकल पाने में सफल नहीं हो पाता।

यहाँ कर्म के निमित्त से संसार की वृद्धि होना बताया गया है। इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से संक्षेप में व्याख्यान किया जा रहा है— जीव व कर्म का परस्पर अनादिकालीन सम्बन्ध है और संसार में ये ही कर्म निमित्तभूत होते हैं। उन कर्मों में भी निमित्त होता है— आत्मा का रागादि परिणाम। निमित्त होने वाले रागादि

रागादिपरिणामः। रागादिपरिणामैः निमित्तभूतैः कर्मवर्गणायाः पौद्गलिकद्रव्याणि ज्ञानावरणादि-द्रव्यकर्मरूपेण परिणमन्ति। तान्यपि द्रव्यकर्माणि निमित्ततया प्राप्य आत्मा रागादिविभावैः परिणमति। एवं रागादिभावकर्माणि द्रव्यकर्मपरिणमने निमित्तानि, द्रव्यकर्माणि च पुनरात्मनो भावकर्मपरिणमने निमित्तानि, इत्येवं परस्परं निमित्तनैमित्तिकभावः।

उक्तं च पुरुषार्थसिद्ध्युपाये *(श्लोक-12-13)*—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्ते पुद्गलाः कर्मभावेन॥

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि॥

एवं जीवपुद्गलयोः परस्परनिमित्तनैमित्तिकभावेन कर्मबन्धः, ततश्च गतिबन्धः, तेन च देहप्राप्तिः, देहे च इन्द्रियाणि भवन्ति, तैश्च विषयग्रहणम्, ततश्च जायन्ते आत्मनो विभावात्मक-स्निग्धपरिणामाः रागादयः, ततश्च पुनः कर्मबन्धः इत्येवं संसारपरम्परा सततं प्रवर्तते।

परिणाम ही कर्मवर्गणा के पौद्गलिक द्रव्यों को ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्म के रूप में परिणत कर देते हैं। उन द्रव्य कर्मों को भी निमित्त के रूप में प्राप्त कर आत्मा रागादिविभाव रूपों से परिणत होती है। इस प्रकार रागादि भावकर्म द्रव्यकर्मों के परिणमन में निमित्त होते हैं और फिर द्रव्यकर्म भी भावकर्म के परिणमन में निमित्त होते हैं—इस रीति से उनमें परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव होता है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक-12-13) में कहा गया है— "जीव के द्वारा किये गए (रागादि) परिणामों को निमित्त (कारण) मात्र पाकर, फिर अन्य पुद्गल (कार्मणवर्गणा के) स्कन्ध आत्मा में स्वतः ही कर्म रूप में परिणत हो जाते हैं। निश्चय ही अपने चेतनमय (रागादि) भावों (परिणामों) से स्वतः ही आत्मा जो परिणत होता है, उसमें पौद्गलिक (द्रव्य कर्म) निमित्त मात्र (कारण) होते हैं।"

इस तरह जीव व पुद्गल में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव के रूप में कर्म-बन्ध होता है, उससे गति का बन्ध, उससे देह की प्राप्ति, देह में इन्द्रियों का निर्माण, उनसे विषयों का ग्रहण, उससे आत्मा के स्निग्ध विभाव परिणाम राग आदि उदित होते हैं, परिणामस्वरूप फिर कर्मबन्ध होता है, इस प्रकार से संसार-परम्परा निरन्तर प्रवर्तमान रहती है।

उक्तं च पञ्चास्तिकाये *(गाथा-128-130)* **ग्रन्थराजे—**

जो खलु संसारत्थो जीवो, तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मा कम्मादो होदि गदिसु गदी॥

गदिमधिगदस्स देहो, देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा॥

जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा॥

एवं जीवस्य संसारमहावने निरन्तरं परिभ्रमणं यदुक्तं गाथायामस्याम्, तत्समधिगम्यमेव भवति।

अत्रायं विशेषः— रागादिकषायाणां कर्मणामेव च परस्परं निमित्तनैमित्तिकभावः, न तु जीवद्रव्य-कर्मणोः। उक्तं च पञ्चाध्याय्यां *(2/1069)*—

पञ्चास्तिकाय ग्रन्थराज (गाथा-128-130) में कहा भी गया है—

''जो भी संसारी जीव हैं, उनके (रागादि) परिणमन होता है, उस परिणमन से कर्म (बन्धन) होता है और 'कर्म' से गतियों में गमन होता है।''

''गति-प्राप्त को देह मिलता है, देह से इन्द्रियाँ होती हैं, इन्द्रियों से विषय-ग्रहण और उससे राग या द्वेष होता है।''

''ऐसे भाव जीव को संसार चक्र में अनादि-अनन्त अथवा अनादि-सान्त होते हैं— ऐसा जिनवरों ने कहा है।''

इस प्रकार, संसार रूपी महावन में निरन्तर भ्रमण होना इस गाथा में बताया गया है, वह हृदयगम्य हो जाता है।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है— रागादि कषाय तथा कर्म— इन दोनों में ही परस्पर निमित्त -नैमित्तिक भाव है न कि जीव और द्रव्य कर्म में। पञ्चाध्यायी (2/1069) में कहा गया है—

अन्तर्दृष्ट्या कषायाणां कर्मणां च परस्परम्।
निमित्तनैमित्तिको भावः स्यान्न स्याज्जीवकर्मणोः॥

अत्र निमित्त-उपादानयोरन्तरमपि ज्ञेयम्। निमित्तं निमित्तमेव भवति, न तु स्वतः परिणमति। उपादानमेव परिणमति। कार्योत्पत्तौ उपादाननिमित्तेत्युभयं कारणं भवति।

उक्तं च बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रे *(श्लोक-60)*— *"बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।"*

द्रव्यकर्मनिमित्तं प्राप्य उपादानरूपात्मा विभावरूपेण परिणमति, आत्मविभावपरिणाम-निमित्तं प्राप्य उपादानरूपपुद्गलानामेव कर्मरूपेण परिणमनम्। एवं निमित्तं बाह्यसहकारि कारणमेव, अन्तरङ्गकारणता तु उपादानगतैवेतिविवेकः कार्यः। अत्र निमित्तं कारणं यद् भवति, तत्स्वयम-परिणमदपि सन्निधिमात्रेण नियामकत्वेन हेतुभूतं भवति —इति व्यवहारनयेन कथनम्। व्यवहारनये निमित्तनैमित्तिकसम्बन्धो वास्तविकः, न तु कल्पनामात्रम्।

"अन्तर्दृष्टि से देखने पर कषाय और कर्म का ही परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव है, जीव और कर्म का नहीं।"

यहाँ (प्रसङ्गवश) निमित्त उपादान का अन्तर भी समझना चाहिए। निमित्त निमित्त ही होता है, वह स्वतः परिणत नहीं होता, उपादान ही परिणत होता है। कार्य की उत्पत्ति में उपादान व निमित्त— ये दोनों ही कारण होते हैं।

बृ. स्वयम्भू स्तोत्र (श्लोक-60) में कहा गया है— "यह द्रव्यगत स्वभाव है कि कार्य में बाह्य व इतर (अन्तरङ्ग) उपाधि की समग्रता रहती है।"

द्रव्य कर्म का निमित्त पाकर, उपादान रूप आत्मा विभाव रूप से परिणत होती है, और आत्मा के विभाव परिणामों को निमित्त पाकर उपादान रूप पुद्गल ही कर्म रूप से परिणत होते हैं। इस तरह, निमित्त एक बाह्य सहकारी (उदासीन) कारण ही है, और अन्तरङ्ग कारण तो उपादान ही होता है— यह विवेक (अन्तर) करणीय है। इनमें जो निमित्त कारण होता है, वह स्वयं परिणत नहीं होते हुए भी अपनी सन्निधि (उपस्थिति) मात्र से नियामक रूप में हेतु होता है— यह व्यवहारनय से कथन समझना चाहिए। व्यवहारनय से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध काल्पनिक नहीं, वास्तविक है।

उक्तं च श्लोकवार्तिके *(1/7 श्लोक-13)— ''व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठः सम्बन्धः संयोगसमवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव, न पुनः कल्पनारोपितः, सर्वथाऽपि अनवद्यत्वात्। संग्रह-ऋजुसूत्रनयाश्रयणे तु न कस्यचित् कश्चित्सम्बन्धोऽन्यत्र कल्पनामात्रत्वात् इति सर्वमविरुद्धम्।''* **निश्चयनयेन तु उपादानकारणस्यैव प्रमुखत्वम्, तत्र कार्यकारणयोरभेदश्च स्वीक्रियते।**

उक्तं च आत्मख्यातौ *(समयसार, गाथा-65-66)— ''निश्चयतः कर्मकरणयोरभिन्नत्वात् यद्येन क्रियते, तत्तदेव''।*

(णिच्चयणयेण जीवस्स ण संसारो) **निश्चयनयेन विचार्यमाणे संसारस्य अभावः। निश्चयनयेन न जीवस्य कर्मभिः सम्बन्धः, न च परस्परं कार्यकारणभावः, केवलं शुद्धात्मद्रव्यमेव तत्र दृग्गोचरीभवति, एवं रीत्या संसारस्याभावो ज्ञातव्यः।** *(कम्मणिम्मुक्को)* **निश्चयनयेन च यतो हि स आत्मा कर्मनिर्मुक्त एव, न तस्य कर्मबन्धः निश्चयदृष्ट्या न जीवः कर्मणां कर्ता।**

(तत्त्वार्थ) श्लोकवार्तिक (1/7 श्लोक-13 पर) में कहा गया है— ''व्यवहारनय का अवलम्बन लें तो कार्य-कारण भाव एक ऐसा सम्बन्ध है जो दो पदार्थों में रहता है और वह सम्बन्ध संयोग, समवाय आदि संबधों की तरह ही प्रतीतिसिद्ध होने से पारमार्थिक (वास्तविक) ही है, कल्पना-निर्मित नहीं, क्योंकि वह सर्व प्रकार से निर्दोष है। किन्तु ऋजुसूत्र व संग्रह नय का सहारा लें तो किसी का किसी अन्य के साथ सम्बन्ध नहीं बनता, इसलिए वह मात्र काल्पनिक माना जाता है, इस प्रकार समस्त कथन विरोधरहित है।'' किन्तु निश्चयनय से उपादान कारण ही प्रमुख है, वहाँ कार्य व कारण में अभेद ही माना जाता है।

आत्मख्याति (समयसार, गाथा-65-66) में कहा भी है— ''निश्चयनय से कर्म व करण (हेतु) में अभिन्नता होती है, अर्थात् जो (कार्य) जिस (हेतु) द्वारा किया जाता है, वह (कार्य) वही (हेतु भी) होता है।''

(निश्चयनयेन जीवस्य न संसारः) निश्चयनय से विचार करें तो (जीव के) संसार का सद्भाव (ही) नहीं है। निश्चयनय से न तो जीव का कर्म से सम्बन्ध होता है और न ही परस्पर कार्य-कारण भाव होता है, मात्र शुद्धात्मा द्रव्य ही दिखाई पड़ता है। इस रीति से संसार के सद्भाव का निषेध समझना चाहिए। **(कर्मनिर्मुक्तः)** निश्चयनय के अनुसार चूँकि वह आत्मा कर्म-मुक्त है, अतः उसका कर्मबन्ध नहीं माना जाता। निश्चयनय से तो जीव कर्मों का कर्ता ही नहीं है।

उक्तं च भावसंग्रहे *(गाथा-296)*—

जो कत्ता सो भोत्ता ववहारगुणेण होइ कम्मस्स।
ण हु णिच्छयेण भणिओ कत्ता भोत्ता य कम्माणं॥

कर्मबन्धाभावात् संसारस्य स्वतोऽसद्भावः इति तात्पर्यम्। अत्र विशदतया किञ्चिद् (अन्यद्) निरूप्यते— नयो ज्ञातुरभिप्रायरूपः। नानास्वभाववतः पदार्थस्य वक्ता स्वाभिप्रायानुरूपं विशेषस्वभावं निरूपयितुमिच्छति, अथवा गुणपर्यायात्मकस्य वस्तुनो द्रव्ये पर्याये वाऽध्यवसायं कारयितुमिच्छति अथवा विरुद्धधर्मद्वयात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतरधर्मस्य कथनं कर्तुमिच्छति, अतः स नयाश्रयणं करोति।

उक्तं च धवलाग्रन्थे *(पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, गाथा-4)*—

णयदि त्ति णयो भणिदो बहूहि गुणपज्जएहिं जं दव्वं।
परिणामखेत्तकालंतरेसु अविणट्ठसब्भावं॥

भावसंग्रह (गाथा-296) में कहा गया है—

"जो कर्म का कर्ता है, वह भोक्ता भी है— यह व्यवहारनय से कथन है। निश्चयनय से तो (आत्मा) कर्मों का न कर्ता है और न ही भोक्ता।"

कर्मबन्ध के अभाव में (जीव के) संसार का स्वतः अभाव हो जाता है— यह तात्पर्य है। यहाँ (अधिक) स्पष्ट रूप से कुछ (और) निरूपण किया जा रहा है— ज्ञाता (या वक्ता) का अभिप्राय 'नय' है। वक्ता नानास्वभावी पदार्थ के विशेष स्वभाव को अपने अभिप्राय के अनुसार निरूपित करना चाहता है, अथवा गुण-पर्यायात्मक वस्तु का द्रव्य या पर्याय में निश्चय कराना चाहता है, अथवा दो विरुद्ध धर्मों वाली वस्तु के किसी एक धर्म का कथन करना चाहता है, इसलिए वह 'नय' का सहारा लेता है।

धवला ग्रन्थ (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, गाथा-4) में कहा गया है—

"अनेक गुण और अनेक पर्यायों सहित, अथवा उनके द्वारा, एक परिणाम से दूसरे परिणाम में, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में और एक काल से दूसरे काल में अविनाशी स्वभाव रूप से रहने वाले द्रव्य को जो ले जाता है अर्थात् उसका ज्ञान करा देता है, उसे 'नय' कहते हैं।"

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे *(गाथा-264)* **च—**

णाणाधम्मजुदं पि य एयं धम्मं पि वुच्चदे अत्थं।
तस्सेव विवक्खादो णत्थि विवक्खा हु सेसाणं॥

सर्वार्थसिद्धौ *(1/33)* **च—** *"वस्तुनि अनेकान्तात्मनि अविरोधेन हेत्वर्पणात् साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणः प्रयोगो नयः।"*

आलापपद्धतौ *(181)* **च—** *"ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः, नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्त्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्राप्नोतीति वा नयः।"*

तिलोयपण्णत्तौ *(1/83)* **च—** *"णाणं होदि पमाणं, णओ वि णादुस्स हिदयभावत्थो।"*

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-264) में कहा गया है—

"नाना धर्मों से युक्त भी पदार्थ के एक धर्म को ही नय कहता है, क्योंकि उस समय उसी धर्म की विवक्षा होती है, शेष धर्मों की नहीं।"

सर्वार्थसिद्धि (1/33) में कहा गया है—

"अनेकान्तात्मक वस्तु में विरोध के बिना, हेतु की मुख्यता से साध्य विशेष की यथार्थता को प्राप्त (ज्ञात) कराने में समर्थ जो (वाक्य) प्रयोग होता है, उसे 'नय' कहते हैं।"

आलापपद्धति (181) में कहा गया है—

"ज्ञाता का अभिप्राय 'नय' है। नाना स्वभावों से हटाकर वस्तु को एक स्वभाव में जो प्राप्त (ज्ञात) कराए, उसे 'नय' कहते हैं।"

तिलोयपण्णति (1/83) में भी कहा गया है—

"सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं और ज्ञाता के हृदय-स्थित अभिप्राय को 'नय' कहते हैं।"

नयानां द्वौ भेदौ— व्यवहारो निश्चयश्च। द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेत्यपि द्वौ भेदौ। निश्चयनयो द्रव्यार्थिकस्यैव भेदः। तत्र निश्चयनयोऽभेदविषयः, अर्थात् स वस्तुनिश्चयमभेदानुपचारतया करोति। आत्माश्रितोऽथवा अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयनयः। स जीवस्य स्वाभाविकं भावमेव विषयीकरोति, अर्थात् परनिमित्तकं भावं न स्वीकरोति।

किन्तु व्यवहारनयस्तु पराश्रितः, तथा भिन्नकर्तृ-कर्मादिगोचरः। अभेदात्मकवस्तुनि धर्माणां गुणपर्यायाणां च भेदो व्यवहारनयेन क्रियते, अर्थात् गुणगुणिनोर्भेद आश्रीयते। किं च, तेन लोकव्यवहारमाश्रित्य परद्रव्यसम्बद्धतया वस्तुन औपचारिकं कथनं विधीयते।

किन्तु निश्चयनयस्तु तादात्म्यसम्बन्धसम्बद्धयोरेव परस्परं सम्बन्धं निर्दिशति, तत्र तदनुरूपमेव कार्यकारणभावं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिकं च स्वीकुरुते, व्यवहारनयस्तु पृथग्भूतपदार्थयोरपि परस्परं सम्बन्धं कार्यकारणादिभावांश्च स्वीकरोति —इत्यनयोर्मूलतो भेदः। विस्तरस्तु ग्रन्थान्तरेभ्यो ज्ञेयम्।

नयों के दो भेद हैं— व्यवहार और निश्चय। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक— ये दो भेद भी माने गए हैं। निश्चयनय द्रव्यार्थिक का एक भेद कहा गया है। इनमें निश्चयनय अभेद को विषय करता है अर्थात् वह अभेद दृष्टि से या उपचाररहित रूप से वस्तु का निश्चय करता है। इसी तरह, निश्चयनय आत्माश्रित होता है (अर्थात् शुद्ध वस्तु को ही विषय करता है) या अभिन्न वस्तु में ही कर्ता-कर्मभाव मानता है। वह जीव के स्वाभाविक (निरुपाधिक) भाव को ही विषय करता है, अर्थात् जो भाव पर-निमित्त से होता है, उसे वह स्वीकार नहीं करता।

किन्तु व्यवहारनय पराश्रित होता है और दो भिन्न वस्तुओं में कर्ता-कर्म भाव को विषय करता है। व्यवहारनय द्वारा अभेद रूप वस्तु में भी उसके धर्मों में तथा गुण पर्यायों में भेद किया जाता है अर्थात् गुण व गुणी में भेद का आश्रय कर (कथन) किया जाता है। और वह लौकिक व्यवहार का आश्रयण कर पर-द्रव्यों से संबद्ध वस्तु का औपचारिक कथन करता है।

किन्तु निश्चयनय तादात्म्य सम्बन्ध वाले पदार्थों में ही परस्पर सम्बन्ध, और वहाँ तदनुरूप कार्यकारणभाव और कर्तृत्व व भोक्तृत्व आदि को स्वीकार करता है। जबकि व्यवहारनय दो पृथक् भूत पदार्थों में भी परस्पर सम्बन्ध व कार्यकारण आदि भावों को स्वीकार करता है— यह इन दोनों (नयों) का मौलिक भेद है। विस्तार से तो अन्य ग्रन्थों से जाना जा सकता है।

तत्र निश्चयनयो द्विविधः —अशुद्धः, शुद्धश्च। अशुद्धनिश्चयनयः सोपाधिकस्फटिकवत् प्रतीयमानानां परनिमित्तकानां सोपाधिकभावानामपि सद्भावं स्वीकरोति। शुद्धनिश्चयनयस्तु शुद्धस्वाभाविकभावमेव विषयीकरोति। वस्तुतस्तु अशुद्धनिश्चयनयोऽपि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव, तस्य निश्चयनयत्वमौपचारिकमिति शास्त्रकाराणां मतम्।

तदेवं निष्कर्षोऽयं यत् व्यवहारनयेनैव आत्मा द्रव्यकर्मणां कर्ता, भोक्ता, ततश्च संसारभ्रान्तो वर्तते। अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारेण आत्मीयपरिणामाः पुण्यपापकर्तारो भण्यन्ते। अशुद्धनिश्चयेन स रागादिविभावपरिणामानां, भावकर्मणां वा कर्ता, न तु द्रव्यकर्मणां कर्ता भवति। शुद्धनिश्चयनयेन तु न स भावकर्मणामपि कर्ता वर्तते, यतो हि स नयः अखण्ड-अद्वैत-शुद्धचिन्मात्रस्वरूपमेव आत्मानं विषयीकरोति।

उक्तं च समयसारे *(गाथा-14)*—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि॥

यह निश्चयनय दो प्रकार का है— अशुद्ध व शुद्ध। इनमें अशुद्ध निश्चयनय सोपाधिक स्फटिक (में प्रतीयमान रंगों) की तरह (आत्मा में) प्रतीयमान पर-निमित्तक सोपाधिक भावों का सद्भाव स्वीकार करता है। किन्तु शुद्ध निश्चयनय शुद्ध स्वाभाविक भाव को ही विषय करता है। वस्तुतः अशुद्ध निश्चयनय भी शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से व्यवहारनय (जैसा) ही है। उसका निश्चयपना औपचारिक है— यह शास्त्रकारों का अभिमत है।

तो इस प्रकार से निष्कर्ष यह है कि व्यवहारनय से ही आत्मा द्रव्यकर्मों का कर्ता व भोक्ता है, इसीलिए वह संसार-भ्रमण भी कर रहा है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से आत्मा के परिणामों को पुण्य-पाप कर्मों का कर्ता कहा जाता है। अशुद्ध निश्चयनय से वह आत्मा अपने रागादि विभाव परिणामों का या भावकर्मों का कर्ता है, किन्तु द्रव्यकर्मों का कर्ता नहीं है। शुद्ध निश्चयनय से तो वह आत्मा अपने भाव कर्मों का भी कर्ता नहीं है, क्योंकि यह नय अखण्ड-अद्वैत-शुद्ध चिन्मात्र स्वरूप आत्मा को ही विषय करता है।

समयसार (गाथा-14) में कहा गया है— ''जो नय आत्मा को बन्धरहित, पर के स्पर्श से रहित, अन्यत्व-रहित, नियत, निर्विशेष व असंयुक्त रूप से देखता है, उसे शुद्ध नय जानें।''

उक्तं च पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकायां *(1/80)*—

निरूप्य तत्त्वं स्थिरतामुपागता, मतिः सतां शुद्धनयावलम्बिनी।
अखण्डमेकं विशदं चिदात्मकं निरन्तरं पश्यति तत्परं महः॥

पारमार्थिकदृष्ट्या आत्मनः न केनचित् परद्रव्येण कोऽपि सम्बन्धः, सम्बन्धाभावे तत्कर्तृत्वादिकस्य सम्भावनैव निराकृता भवति।

उक्तं च समयसारकलशे *(सं. 201)*—

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः।
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम्॥

समयसारे *(गाथा-169)* **च भणितमेव**—

पुढवी पिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वे वि णाणिस्स॥

पद्मनन्दिपंचविंशतिका (1/80) में भी कहा गया है—

''शुद्ध नय का आश्रय करने वाले साधुओं की बुद्धि तत्त्व का निरूपण कर स्थिरता को प्राप्त होती हुई निरन्तर अखंड, निर्मल, एक चित्स्वरूप उत्कृष्ट ज्योति का अवलोकन करती है।''

पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा का अन्य किसी भी पर-द्रव्य से कोई भी सम्बन्ध नहीं है, सम्बन्ध न होने पर अन्य पदार्थों के कर्ता आदि होने की संभावना ही समाप्त हो जाती है।

समयसारकलश (सं. 201) में कहा भी गया है—

''यहाँ एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सारे सम्बन्धों का ही निषेध है, इसलिए जहाँ वस्तु-भेद है, वहाँ (परस्पर) कर्ता-कर्म भाव घटित नहीं होता। इस प्रकार मुनिजन और लौकिकजन तत्त्व को अकर्ता देखें-जानें।''

समयसार (गाथा-169) में भी कहा गया है—

''ज्ञानी के पूर्वबद्ध समस्त प्रत्यय (कषायादि) मिट्टी के ढेले के समान होते हैं और वे (मात्र) कार्मण शरीर के साथ बँधे हुए हैं (जीव के साथ बँधे हुए नहीं होते)।''

गाथायास्तात्पर्यमिदं यत् शुद्धनिश्चयदृष्टिमवलम्ब्य वीतरागपरमाल्हादैकरूपं चित्प्रकाशस्वरूपं शुद्धात्मद्रव्यमेवोपादेयं कर्तव्यम्। परद्रव्येभ्यः पूर्णा निःसङ्गता अकिञ्चनता च भावनीया, तदैव शुद्धनयदृष्टिः सार्थकतां प्राप्स्यति।

उक्तं च आत्मानुशासने *(श्लोक-162-163)* **श्रीमद्भिर्गुणभद्राचार्यैः—**

निर्धनत्वं धनं येषां मृत्युरेव हि जीवितम्।
किं करोति विधिस्तेषां सतां ज्ञानैकचक्षुषाम्॥

जीविताशा धनाशा च येषां तेषां विधिर्विधिः।
किं करोति विधिस्तेषां येषामाशा निराशता॥

अतः शुभाशुभकर्म हेयं शुद्धात्मद्रव्यमेवोपादेयम्, तत एव संसारभ्रमणस्य अन्तः सम्भवति। शुद्धात्मद्रव्योपलब्धये च शुद्धनिश्चयनयस्यावलम्बनमेव श्रेयस्करमिति च मनसि निर्धारणीयम्।

संसारी जीवो हेयः, मुक्तजीव एवोपादेयः —इति शास्त्रकाराः प्रतिपादयन्तः संसारानुप्रेक्षामुपसंहरन्ति—

प्रस्तुत गाथा का तात्पर्य यह है कि शुद्ध निश्चय दृष्टि का आधार लेकर वीतराग परमाह्लाद मात्र स्वरूप चित्प्रकाशमय शुद्धात्मा द्रव्य को ही उपादेय बनाना चाहिए। पर-द्रव्यों से पूर्णतया निःसङ्गता व अकिञ्चनता की भावना करनी चाहिए, तभी शुद्ध नय की दृष्टि सार्थक हो पाएगी।

आत्मानुशासन (श्लोक-162-163) में आचार्य गुणभद्र जी ने कहा भी है— ''जिनका धन निर्धनता है, जिनके लिए मृत्यु ही जीवन है। उन ज्ञान मात्र नेत्र वाले सत्पुरुषों का कर्म या दैव क्या बिगाड़ सकता है? जिनको धन एवं जीवन की आशा रहती है, किन्तु जिन लोगों की आशा व विषयतृष्णा नष्ट हो चुकी हो, उनका भी कर्म (या दैव) क्या बिगाड़ सकता है?''

इसलिए शुभ-अशुभ कर्मों को हेय करें, शुद्धात्म द्रव्य को उपादेय बनाएँ, तभी संसार-भ्रमण का अन्त होना सम्भव है। और शुद्धात्म द्रव्य की उपलब्धि के लिए शुद्ध निश्चयनय का आलम्बन ही श्रेयस्कर है, इस तथ्य को भी मन में बैठा लेना चाहिए।

संसारी जीव हेय है और मुक्त जीव ही उपादेय है— इसे प्रतिपादित करते हुए शास्त्रकार संसारानुप्रेक्षा का उपसंहार कर रहे हैं—

संसारमदिक्कंतो, जीवोवादेयमिदि विचिंतिज्जो।
संसारदुहक्कंतो, जीवो सो हेयमिदि विचिंतिज्जो ॥३८॥

छाया— *संसारमतिक्रान्तः जीवः उपादेय इति विचिन्तनीयम्।*
संसारदुःखाक्रान्तः जीवः स हेयः इति विचिन्तनीयम्॥

(सर्वोदया टीका—) *(संसारमदिक्कंतो जीवो)* **यो जीवः संसारमतिक्रान्तः, स जीवः, अर्थात् मुक्तजीवः, सिद्धात्मेत्यर्थः। सिद्धा एव प्रनष्टसंसारा भवन्ति। उक्तं च तिलोयपण्णत्तौ** *(1/1)*—

अट्ठविहकम्मवियला णिट्ठियकज्जा पणट्ठसंसारा।
दिट्ठसयलत्थसारा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु॥

(उवादेयमिदि विचिंतिज्जो) **प्रोक्तः संसारातिक्रान्तः सिद्धात्मापरपर्यायो जीवः उपादेयः इति रूपेण विचिन्तनीयम् अर्थात् मनसि विचारणीयम्। 'विचिंतेज्ज' इतिपाठान्तरमस्ति। तस्य 'विचिन्तयेत्' चिन्तनं भावनां वा कुर्याद् —इत्यर्थः।**

---

(38)

(गाथा-अर्थ:) जिसने संसार को पार कर लिया है, वह जीव उपादेय है— ऐसा चिन्तन करना चाहिए। और जो संसार के दुःखों से आक्रान्त है, वह जीव हेय है— ऐसा चिन्तन में लाना चाहिए।

(सर्वोदया टीका—) (संसारमतिक्रान्तो जीवः) जिसने संसार को पार कर लिया है, ऐसा जीव, अर्थात् मुक्त व सिद्ध आत्मा। सिद्ध ही संसार को नष्ट कर चुके होते हैं। जैसाकि तिलोयपण्णत्ति (1/1) में कहा गया है—

"वे सिद्ध परमेष्ठी मेरे लिए सिद्धि प्रदान करें, जिनका संसार नष्ट हो चुका है, आठों कर्मों से रहित हैं, कृतकृत्य हैं और सकल पदार्थों के ज्ञाता हैं।"

(उपादेय इति विचिन्तनीयम्) पूर्वोक्त संसारोत्तीर्ण जीव, जिसका अन्य पर्यायवाची शब्द सिद्धात्मा भी है, उपादेय रूप में मननीय अर्थात् मन में विचारणीय है। (कुछ संस्करणों में विचिंतेज्जो के स्थान पर) विचिंतेज्ज यह पाठान्तर है, उसका अर्थ है— चिन्तन या भावना करे।

तथैव *(संसारदुहक्कंतो जीवो)* **संसार-दुःखैः आक्रान्तो जीवः। संसारे दुर्गतिप्रभृतीनि दुःखानि यानि यानि, तैस्तैः व्यापादितो व्याकुलो वा यो जीवः इति भावः। एतादृशो जीवस्तु** *(सो हेयमिदि विचिंतिज्जो)* **हेयः इतिरूपेण विचिन्तनीयः, मनसि वा भावनीयः।**

अत्रेदं ज्ञेयम्— मुक्तावेव सर्वदुःखोच्छेदः शाश्वतसुखं च। सा मुक्तिः सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रेति-रत्नत्रयाराधनात् प्राप्यते— इति सिद्धान्तः। तत्र संक्षेपेण सम्यक्चारित्रात् मुक्तिः इति निष्कर्षः, यतो हि सम्यक्चारित्रे सति सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानयोरवश्यम्भावित्वमस्ति।

उक्तं च चारित्रप्राभृते *(गाथा-4)— ''णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं।''*

अत्रैवापरा दृष्टिः— सम्यग्ज्ञानान्मुक्तिः इति। सम्यग्ज्ञाने सति सम्यग्दर्शनस्यावश्यम्भाविता। यतो हि सज्ज्ञानं तदेव यत्सम्यक्चारित्ररूपेण परिणमति, अन्यथा तदज्ञानमेवेति दृष्ट्या सम्यग्ज्ञाने सम्यक्चारित्रस्यापि स्वतोऽन्तर्भावः स्वीक्रियते।

इसी प्रकार, **(संसारदुःखाक्रान्तो जीवः)** जो संसार-दुःखों से आक्रान्त जीव है, इस संसार में दुर्गति आदि जो-जो दुःख हैं, उन-उनसे व्यापादित या व्याकुल जो जीव है— यह तात्पर्य है। ऐसा जीव तो **(स हेय इति विचिन्तनीयम्)** हेय रूप में मननीय है, मन में विचारणीय है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है— समस्त दुःखों का उच्छेद मुक्ति में ही प्राप्त होता है, शाश्वत सुख भी वहीं मिलता है। वह मुक्ति मिलती है तो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र— इन तीनों रत्नों की आराधना से मिलती है— यह सिद्धान्त है। संक्षेप में कहें तो निष्कर्ष यह है कि सम्यक्-चारित्र से मुक्ति मिलती है, क्योंकि सम्यक्चारित्र के होने में सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान —दोनों तो अवश्य होंगे ही।

चारित्रप्राभृत (गाथा-4) में कहा भी है— ''ज्ञान व दर्शन के संयोग से चारित्र होता है।''

इसी सम्बन्ध में एक दूसरी दृष्टि भी है कि सम्यग्ज्ञान से मुक्ति होती है। सम्यग्ज्ञान के होने पर सम्यग्दर्शन का सद्भाव अवश्य होगा ही। चूँकि सज्ज्ञान वही है जो सम्यक्चारित्र रूप से परिणत (फलित) होता है, अन्यथा वह अज्ञान ही है— इस दृष्टि से सम्यग्ज्ञान में सम्यक्चारित्र का स्वतः अन्तर्भाव मान लिया जाता है।

अतएव आत्मख्यातौ *(समयसार, गाथा-155)* **उक्तं**— *"रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रम्... ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः।"*

बोधप्राभृतेऽपि *(गाथा-20)* **भणितम्**— *"णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं"* **इति।**

मूलाचारे *(गाथा-267)* **च**—

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे।।

अर्थात् चारित्रपरिणतं ज्ञानमेव सज्ज्ञानमिति तेषामभिप्रायः। अस्य सम्यग्ज्ञानस्य हेयोपादेयज्ञानमेव मुख्यं प्रयोजनम्।

उक्तं च नियमसारग्रन्थस्य *(गाथा-51)* **तात्पर्यवृत्तौ**— *"तत्र जिनप्रणीतहेयोपादेयतत्त्वपरिच्छित्तिरेव सम्यग्ज्ञानम्"* **इति। अस्यां गाथायां सारभूतं सम्यग्ज्ञानं निरूपितमिति विज्ञेयम्।**

इसीलिए आत्मख्याति (समयसार, गाथा-155) में कहा गया है— "रागादि के त्याग स्वभाव रूप ज्ञान का होना अर्थात् परिणमन करना —यह चारित्र है।...इसलिए ज्ञान ही मोक्ष का परमार्थ (वास्तविक) कारण है।"

बोधप्राभृत (गाथा-20) में भी कहा है— "ज्ञान से लक्ष्य की प्राप्ति होती है, इसलिए ज्ञान जानने योग्य है।"

मूलाचार (गाथा-267) में कहा है—

"जिससे तत्त्व का ज्ञान हो, चित्त का निरोध हो और जिससे आत्मा विशुद्ध हो, जिन शासन में वही ज्ञान 'ज्ञान' है।"

अर्थात् चारित्र में परिणत होने वाला ज्ञान ही सज्ज्ञान है— यह उनका अभिप्राय है। इस सम्यग्ज्ञान का मुख्य प्रयोजन यही है कि ज्ञाता को हेय व उपादेय की जानकारी दी जाए।

नियमसार ग्रन्थ (गाथा-51) की तात्पर्यवृत्ति में कहा गया है— "जिन-प्रणीत तत्त्वों का हेय व उपादेय रूप में ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है।" (बारस अणुवेक्खा की) इस गाथा में सारभूत सम्यग्ज्ञान का निरूपण है—यह समझना चाहिए।

तत्र प्रथमं हेयविचारः। संसारदुःखाक्रान्तो जीवो हेयः इति प्रतिपादितम्। किं च संसारदुःखम्, किञ्च तन्मूलम्, कश्च तेन समाक्रान्तः? उच्यते— संसरणमेव दुःखम्। गतिषु जन्म प्राप्य देहो धार्यते, स एव नित्यं दुःखाश्रयः। उक्तं च ज्ञानार्णवे *(2/117)*—

भवोद्भवानि दुःखानि यानि यानीह देहिभिः।
सह्यन्ते तानि तान्युच्चैर्वपुरादाय केवलम्॥

तत्रैव शरीरे क्षुधातृषादिकाः पञ्चकोटिसंख्यातिक्रान्ता व्याधयो भवन्ति। उक्तं च स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थस्य *(गाथा-288)* **शुभचन्द्रकृतटीकायाम्—** *"शरीरोद्भवं शीतोष्णक्षुत्तृषापञ्चकोट्यष्टषष्टिलक्षनवनवतिसहस्रपञ्चशतचतुरशीतिव्याध्यादि"।*

तस्य दुःखस्य मूलं वर्तते देहे आत्मबुद्धिः। उक्तं च समाधिशतके *(श्लोक-15)* **पूज्यपादप्रवैरः—** *"मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।"*

तत्रैव *(श्लोक-105)* **च—** *"परबुद्धिमहंधियं च संसारदुःखजननीम्"'* **इत्युक्तम्।**

तो पहले 'हेय' सम्बन्धी विचार किया जाता है। संसार-दुःखों से आक्रान्त (पीड़ित) जीव हेय है— ऐसा प्रतिपादित किया गया है। वह संसार-दुःख क्या है? उसका मूल कहाँ हैं? कौन उससे समाक्रान्त है? समाधान दे रहे हैं— संसरण ही दुःख है। (विविध) गतियों में जन्म लेकर जो देह धारण किया जाता है, वही नित्य दुःख का घर है। ज्ञानार्णव (2/117) में कहा भी गया है—

"जन्म के कारण होने वाले जिन-जिन दुःखों को प्राणियों द्वारा सहन किया जाता है, वे सभी मात्र शरीर को लेकर ही होते हैं।"

उसी शरीर में भूख-प्यास आदि पाँच करोड़ से भी ज्यादा व्याधियाँ होती हैं। स्वामि-कार्तिकेयानुप्रेक्षा (गाथा-288) की शुभचन्द्र-कृत टीका में कहा गया है— "शीत, उष्ण, भूख, प्यास आदि के कष्ट, इन से अतिरिक्त पाँच करोड़ अड़सठ लाख निन्यानवे हजार पाँच सौ चौरासी व्याधियों से उत्पन्न होने वाले शारीरिक दुःख होते हैं।"

उस दुःख का मूल है—शरीर में आत्म-बुद्धि। समाधिशतक (श्लोक-15) में आचार्य पूज्यपाद ने कहा भी है— "संसार-दुःख का मूल है— देह में ही आत्मबुद्धि (अर्थात् स्वयं को देह समझना)।"

वहीं (श्लोक-105) "पर-पदार्थों में स्वत्वबुद्धि तथा अहंबुद्धि— ये संसार-दुःख की जननी हैं" ऐसा कहा है।

एतेन सिद्ध्यति यत् संसारदुःखेन आक्रान्तो बहिरात्मैव, यतो हि तस्यैव देहादिषु आत्मेतरपदार्थेषु आत्मभ्रान्तिर्भवति।

उक्तं च समाधिशतके *(श्लोक-5, 7)— ''बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः''*, **तथा**

बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः।
स्फुरितश्चात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति।।

मोक्षप्राभृते *(गाथा-4)* **चैष भावः प्रकटितः। एवं स बहिरात्मा हेयः।**

उक्तं च समाधिशतके *(श्लोक-4)—*

बहिरन्तःपरश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत्।।

मोक्षप्राभृते *(गाथा-4)* **च समर्थितमेतत्। एवं संसारदुःखाक्रान्तो वस्तुतः बहिरात्मजीव एव भवति, स एवात्र ग्राह्यः। परमार्थेन तु बहिरात्मभाव एव त्याज्यः, इति विज्ञेयम्।**

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि संसार-दुःख से आक्रान्त बहिरात्मा जीव ही है, क्योंकि उसी को आत्मा से पृथक् पदार्थों में 'आत्मा' का भ्रम हुआ करता है।

समाधिशतक (श्लोक-5, 7) में कहा भी है— ''शरीरादि को आत्मा समझने वाला व्यक्ति बहिरात्मा है।'' तथा

''चूँकि बहिरात्मा इन्द्रिय-द्वारों से बाह्य पदार्थों के ग्रहण करने में प्रवृत्त होता हुआ आत्मज्ञान से पराङ्मुख होता है, अतः शरीर को 'आत्मा' रूप से निश्चय करता है— अपनी आत्मा मानता है।''

मोक्षप्राभृत (गाथा-4) में भी इसी का समर्थन किया गया है। इस प्रकार वह बहिरात्मा (की अवस्था) हेय है।

समाधिशतक (श्लोक-4) में भी कहा गया है— ''सब प्राणियों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा —इस तरह तीन प्रकार की आत्माएँ हैं। आत्मा के इन भेदों में 'अन्तरात्मा' के द्वारा परमात्मा को अंगीकार करे और बहिरात्मा का त्याग करे।''

मोक्षप्राभृत (गाथा-4) में भी इसी का समर्थन है। इस प्रकार, संसार-दुःख से आक्रान्त वस्तुतः बहिरात्मा जीव ही होता है, वही यहाँ ग्राह्य है। परमार्थ रूप से बहिरात्मा का भाव त्याज्य है —यह ज्ञातव्य है।

सम्प्रति उपादेयविचारः प्रक्रान्तः। संसारदुःखतः सर्वथा शाश्वतरूपेण च यो मुक्तः, स सिद्धात्मा उपादेयः। कर्ममलेन संसारावस्थायामात्मा अशुद्धः, मुक्तिं प्राप्य शुद्धो भवति। अतः आत्मनो द्विधा स्थितिः। शुद्धात्मस्वरूपप्राप्तये शुद्धाशुद्धविवेकः साधकस्य कृते आवश्यकः।

उक्तं च समयसारे *(गाथा-186)*—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ॥

शुद्धात्मनो ग्रहणं शुद्धनिश्चयनयेनैव, अतः पूर्वगाथायां निश्चयनयमाश्रित्य तत्स्वरूपं विशदीकृतम्। एवं निश्चयनयविषयीकृतः शुद्धात्मा उपादेयतां गच्छति। अत एव समयसारे *(गाथा-299)* **प्रोक्तम्**—

पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा॥

अब, उपादेय पर विचार किया जा रहा है। संसार-दुःख से जो सर्वथा व शाश्वत रूप से मुक्ति पा चुका है, वह सिद्धात्मा उपादेय है। कर्म-मल के कारण संसारावस्था में आत्मा अशुद्ध होती है, और मुक्ति प्राप्त कर शुद्ध हो जाती है। इसलिए आत्मा की द्विविध स्थिति हुई। शुद्ध आत्मा के स्वरूप को प्राप्त करने के लिए शुद्ध-अशुद्ध का विवेक रखना साधक के लिए आवश्यक हो जाता है।

समयसार (गाथा-186) में कहा भी गया है— ''शुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव शुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है। यदि अशुद्ध आत्मा को जानेगा तो अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करेगा।''

शुद्धात्मा का ग्रहण (ज्ञान आदि) शुद्ध निश्चयनय के द्वारा ही होगा, इसलिए पूर्वगाथा में निश्चयनय का आश्रयण कर उसके स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार, निश्चयनय का विषय-भूत शुद्ध आत्मा उपादेय की श्रेणी में आता है। इसीलिए समयसार (गाथा-299) में कहा गया है—

''प्रज्ञा के द्वारा उसे इस रूप में ग्रहण करना चाहिए कि जो ज्ञाता है, वही निश्चयनय से मैं हूँ, शेष जो भी भाव हैं, वे मुझसे 'पर' (भिन्न, पृथक) हैं।''

अत्रायं विशेषः— मुक्तिप्राप्तिः प्रशस्त-उत्कृष्टध्यानादेवेति निर्विवादम्। इयमुपादेयबुद्धिः ध्यानप्रक्रियायां सहयोगिनी भवति। उपादेयबुद्ध्या तत्रैव श्रद्धान-प्रतीति —रतिप्रभृतयो ध्यानभूमिकाः रूढमूला भवन्ति। उक्तं च समाधिशतके *(श्लोक-95)*—

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥

एवं संसारमुक्तेषु सिद्धेषु उपादेयबुद्धिः कार्या —इति गाथायाः सारः। एवं परमात्मस्वरूप-मुपादेयं कृत्वा तत्स्वरूपावाप्तये परमात्मोपासना प्रारब्धव्या भवति, सा चोपासना ध्यानप्रक्रियाङ्गभूतैव, अतः 'सोऽहम्' इति दृढभावनया पूर्वं सविकल्पं पश्चाच्च निर्विकल्पं ध्यानं कर्तव्यमिति शास्त्रकारैर्विस्तरेण प्रतिपादितमस्ति।

मोक्षप्राभृते *(गाथा-4)* **तत् साररूपेण प्रोक्तम्—** *"तत्थ परो झाइज्जइ अंतोबाएण चयहि बहिरप्पा।"*

यहाँ यह विशेष कथनीय है— मुक्ति की प्राप्ति प्रशस्त व उत्कृष्ट ध्यान से ही होती है— यह निर्विवाद है। उक्त (शुद्धात्मा के प्रति) उपादेय बुद्धि ध्यान की प्रक्रिया में सहयोगी की भूमिका निभाती है। उपादेय बुद्धि जहाँ होती है, वहीं श्रद्धा, प्रतीति व रति आदि ध्यान की भूमिकाओं की जड़ें मजबूत होती हैं। समाधिशतक (श्लोक-95) में कहा भी है—

"जिस किसी विषय में व्यक्ति की बुद्धि स्थिर होती है, श्रद्धा वहीं होती है और श्रद्धा जहाँ होती है, चित्त भी वहीं लीन होता है।"

इस प्रकार, संसार-मुक्त सिद्धात्मा में उपादेय बुद्धि करनी चाहिए —यह गाथा का सार है। इस तरह परमात्मा के स्वरूप को उपादेय मानकर, उसके स्वरूप की प्राप्ति हेतु (साधक द्वारा) परमात्मा की उपासना प्रारम्भ की जाती है, वह उपासना ध्यान-प्रक्रिया का अंग ही होती है, इसलिए 'सोऽहम्' इस दृढ़ भावना के साथ पहले सविकल्प ध्यान, बाद में निर्विकल्प ध्यान करना चाहिए —ऐसा शास्त्रकारों ने विस्तार से प्रतिपादित किया है।

मोक्षप्राभृत (गाथा-4) में कहा गया है— "इन (तीन आत्माओं) में बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा की स्थिति के द्वारा परमात्मा का ध्यान किया जाता है, अतः बहिरात्मा का त्याग करो।"

समाधिशतके *(श्लोक-98, 27, 28, 48, 30)* **च सूत्ररूपाणि वचनानि संक्षेपेणात्र प्रस्तूयन्ते—**

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः।।

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम्॥

सोऽहमित्यात्तसंस्कारः, तस्मिन्भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्कारात्, लभते ह्यात्मनि स्थितिम्॥

युञ्जीत मनसात्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेद् वाक्काययोजितम्॥

समाधिशतक में (श्लोक-98, 27, 28, 48, 30) भी सूत्र रूप में कुछ वचन मिलते हैं, जिन्हें यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

"जिस प्रकार बांस का वृक्ष अपने को अपने से रगड़कर अग्निरूप हो जाता है, उसी तरह यह आत्मा भी अपने चित्स्वरूप की उपासना करके परमात्मा हो जाता है।"

"इस प्रकार बहिरात्मा-अवस्था को छोड़कर, अन्तरात्मा रूप में स्थित होकर समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित परमात्मा को ध्याना चाहिए।"

"उस (परमात्मा-पद) में 'सोऽहं' (वह परमात्मस्वरूप वाला मैं हूँ) —इस प्रकार के संस्कार को प्राप्त होता हुआ ज्ञानी पुरुष उस (परमात्मा पद में आत्मस्वरूपी) की भावना करता हुआ, उसी (परमात्म-स्वरूप) में संस्कार की दृढ़ता हो जाने से निश्चय ही अपने (शुद्ध चैतन्य) स्वरूप में स्थिरता को प्राप्त कर लेता है।"

"आत्मा को मन के साथ जोड़े और वचन व शरीर से अलग करे (वचन क्रिया व शरीर क्रिया को विराम दे), वचन व काय से किये व्यवहार को मन से छोड़ दे (अर्थात् उसमें अनासक्त रहे।"

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः॥

तत्त्वानुशासने *(श्लोक-191)* **च प्रोक्तम्—**

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित्।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा।।

ध्यानस्य सविकल्पनिर्विकल्पभेदावाश्रित्य साधकानां च द्वौ प्रकारौ स्वीकृतौ— प्रारब्धयोगी, निष्पन्नयोगी च।

पञ्चास्तिकायस्य *(गाथा-173)* **तात्पर्यवृत्तौ संकेतितमपि—** *''अथवातिसंक्षेपेण द्विधा ध्यातारो भवन्ति। शुद्धात्मभावनाप्रारम्भकाः पुरुषाः सूक्ष्मसविकल्पावस्थायां प्रारब्धयोगिनो भण्यन्ते। निर्विकल्प-शुद्धात्मावस्थायां पुनर्निष्पन्नयोगिन इति।''*

''समस्त इन्द्रियों को संयमित कर स्थिर हुए अन्तःकरण के द्वारा क्षणमात्र के लिए ही अनुभव करने वाले जीव को जो (चिदानन्द स्वरूप) प्रतिभासित होता है, वही परमात्मा का स्वरूप है।''

तत्त्वानुशासन (श्लोक-191) में कहा गया है—

''आत्मज्ञानी आत्मा को जिस भाव से जिस रूप में ध्याता है, उसके साथ वह उसी तरह तन्मय हो जाता है जिस प्रकार कि उपाधि के साथ स्फटिक (तन्मय हो जाता है)।''

ध्यान के सविकल्प व निर्विकल्प —इन दो भेदों के आधार पर साधकों के भी दो प्रकार माने गए हैं— प्रारब्धयोगी और निष्पन्नयोगी।

पञ्चास्तिकाय (गाथा-173) की तात्पर्यवृत्ति टीका में इसका संकेत भी किया गया है— ''अथवा अति संक्षेप में ध्याता दो प्रकार के होते हैं— शुद्धात्मा की भावना से प्रारम्भ करने वाले सूक्ष्म सविकल्प स्थिति में 'प्रारब्ध योगी' कहे जाते हैं। और निर्विकल्प शुद्धात्म स्थिति में रहने वाले 'निष्पन्न योगी' कहे जाते हैं।''

सविकल्पध्याने तु अर्हदादिपरमेष्ठिनामुपादेयता ध्येयता वा वरीवर्ति। पदस्थपिण्डस्थ-प्रभृतिध्यानानि च सविकल्परूपाण्येव। निर्विकल्पकध्याने निराकारशुद्धात्मा ध्येयतां व्रजति। (वस्तुतस्तु तत्र विषयविषयिभेदोऽपि समाप्यते।) इदं स्वात्मालम्बनध्यानमेव 'निश्चयध्यानं' भणितम्। यथा तत्त्वानुशासने *(श्लोक-141)*—

व्यवहारनयादेवं ध्यानमुक्तं पराश्रयम्।
निश्चयादधुना स्वात्मालम्बनं तन्निरूप्यते॥

प्रारब्धयोगिनां निष्पन्नयोगिनां च सविकल्प-निर्विकल्पध्यानेत्युभयं भवति। अत्र प्रासङ्गिकं किञ्चिदुच्यते— प्रारब्धयोगिनः सर्वदा सविकल्पकस्थितिर्न भवति। तेषां षष्ठगुणस्थानस्य स्थितिरान्तर्मौहूर्तिकैव, अतोऽन्तर्मुहूर्तकालानन्तरं निर्विकल्प-अप्रमत्तसंज्ञक-सप्तमगुणस्थाने तेषामुपरिगमनं भविष्यत्येव। तदा निर्विकल्पावस्थायां शुद्धात्मैव उपादेयो भविष्यति। यदि षष्ठगुणस्थानादधःपतनं भवति, तर्हि तेषां भावलिङ्गिमुनित्वमपि अपगतं भवति, अतस्तेषां षष्ठात्

यहाँ यह समझने की बात है— सविकल्प ध्यान में तो अर्हन्त आदि परमेष्ठियों की उपादेयता या ध्येयता रहती है। पदस्थ, पिण्डस्थ (व रूपस्थ) आदि जो ध्यान हैं, वे सविकल्प ही हैं। निर्विकल्प ध्यान में निराकार शुद्धात्मा ध्यान-विषय होता है। (वस्तुतः तो वहाँ विषय-विषयी भेद भी नहीं रहता।) इसी स्वात्मालम्बन ध्यान को निश्चय ध्यान भी कहा गया है। जैसे तत्त्वानुशासन (श्लोक-141) में कहा है—

"इस प्रकार व्यवहारनय की दृष्टि से यह पराश्रित ध्यान का निरूपण हुआ। अब निश्चयनय की दृष्टि से 'स्वात्मालम्बन' रूप ध्यान निरूपित किया जा रहा है।"

प्रारब्धयोगी और निष्पन्नयोगी —इन दोनों के ही सविकल्पक व निर्विकल्पक दोनों ध्यान होते हैं। यहाँ प्रसङ्गवश कुछ कहा जा रहा है— प्रारब्धयोगी सदा सविकल्प स्थिति में ही नहीं रहते। उनके छठे गुणस्थान का स्थिति-काल अन्तर्मुहूर्त ही होता है, इसलिए अन्तर्मुहूर्त के बाद निर्विकल्प अप्रमत्तसंयतनामक सातवें गुणस्थान में उनका जाना होगा ही। तब जो निर्विकल्प अवस्था होगी, वहाँ शुद्धात्मा ही उपादेय होता है। यदि वे छठे गुणस्थान से ऊपर न जाएँ, तो वहाँ से नीचे पतन हो तो उनका भावलिङ्गी मुनिपना ही नहीं रहेगा, इसलिए उनका छठे से सातवें में और सातवें से छठे गुणस्थान में, अर्थात् सविकल्प स्थिति से

सप्तमे, सप्तमाच्च षष्ठे गुणस्थाने, अर्थात् सविकल्पावस्थातो निर्विकल्पावस्थायां तथा निर्विकल्पावस्थातः सविकल्पावस्थायां गमनागमने भवतः। तर्हि प्रारब्धयोगिनः सविकल्पावस्था कथमुक्ता?

उच्यते। यथा आम्रवने आम्रवृक्षाः भवन्ति, कुत्रचित् निम्बादिवृक्षा अपि भवन्ति, किन्तु आम्रवृक्षाणां प्रचुरतया तस्य आम्रवनसंज्ञा भवत्येव, तथैव प्रारब्धयोगिनां शुभोपयोगरूपसविकल्पक-ध्यानप्रचुरतामाश्रित्य सविकल्पकावस्था निरूपिता। वस्तुतस्तेषामपि समस्तसंकल्पविकल्पातीतो निर्विकल्पसमाधिरपि सम्भावनीयः।

एवं निष्पन्नयोगिनामपि निर्विकल्पावस्था अन्तर्मुहूर्तानन्तरं परिवर्तते एव, तत्त्वार्थसूत्रे *(9/27) 'उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्, आन्तर्मुहूर्तात्'* **इति सूत्रे तथाप्रतिपादितत्वात्। किन्तु निर्विकल्पकसमाधेः प्राचुर्यात् तेषां निर्विकल्पकावस्था स्वीक्रियते। अथवा अन्तर्मुहूर्तानन्तरं केवलज्ञानस्योदयस्तेषाम्। किं च, उत्तमसंहननधारिणोऽपि निर्विकल्पकध्यानं यद् भवति, तन्न**

निर्विकल्प स्थिति में और निर्विकल्प स्थिति से सविकल्प स्थिति में जाना-आना होता रहता है। **(शंका—)** तो फिर प्रारब्धयोगियों की सविकल्प अवस्था ही क्यों बताई गई?

(समाधान—) बता रहे हैं, जैसे किसी आम्रवन (आमों के बगीचे) में आम्र वृक्ष होते हैं, कहीं कहीं नीम आदि के वृक्ष भी होते हैं, किन्तु आम्र वृक्षों की प्रचुरता के कारण, उसे आम्रवन नाम ही दिया जाता है, उसी प्रकार प्रारब्धयोगियों के सविकल्प शुभोपयोग रूप ध्यान प्रचुरता से होते हैं, इस समस्त संकल्प-विकल्पों से परे निर्विकल्पक समाधि की भी सम्भावना करनी चाहिए।

इसी प्रकार, निष्पन्नयोगियों के भी निर्विकल्प अवस्था अन्तर्मुहूर्त के बाद बदलेगी ही, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र (9/27) में 'उत्तमसंहननस्य एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्' इस सूत्र में ऐसा ही होना बताया गया है। किन्तु निर्विकल्पक समाधि की प्रचुरता उनके होती है, इसलिए उन (निष्पन्न योगियों) की निर्विकल्पावस्था मानी जाती है। अथवा उनके (निर्विकल्प स्थिति के) अन्तर्मुहूर्त बाद केवलज्ञान का उदय हो जाता है। और, उत्तम संहनन के धारक (योगी) का भी जो निर्विकल्प ध्यान होता है, वह सर्वदा उत्कृष्ट ही नहीं होता, अपितु भूमिका के अनुरूप जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट भेद वाला होता है। और, निष्पन्नयोगी भी पहले प्रारब्धयोगी और बाद में निष्पन्नयोगी की स्थिति में आए हों —यह भी सम्भावित है। उनके

सर्वदा उत्कृष्टमेव, तस्य जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदा अपि भूमिकानुसारं भवन्ति। किञ्च, निष्पन्नयोगिनोऽपि पूर्वं प्रारब्धयोगिनः, पश्चात् निष्पन्नयोगितां प्राप्ताः —इत्यपि सम्भाव्यते। प्रारब्धयोग्यवस्थायां सविकल्पध्यानप्रचुरता चासीदेव।

इदमपि विज्ञेयं यत् सर्वे पञ्चैव परमेष्ठिन उपादेयाः ध्यानविषया भवन्ति। उक्तं च तत्त्वानुशासने *(119, 140)— "तत्रापि तत्त्वतः पञ्च, ध्यातव्याः परमेष्ठिनः।"* **तथा**

संक्षेपेण यदत्रोक्तं विस्तरात् परमागमे।
तत्सर्वं ध्यानमेव स्याद् ध्यातेषु परमेष्ठिषु।।

किन्तु अध्यात्मशास्त्रमिदम्, तत्र सिद्धावस्थाया उपादेयता प्रमुखतः स्वीकृता। किञ्च, तीर्थंकरराजकुमारादयो दीक्षावसरे 'नमः सिद्धेभ्यः' इत्युक्त्वा वस्त्राभूषणादित्यागं विधाय केशलुञ्चनं कुर्वन्तीति प्रतिष्ठासारे निरूपितम्, अतः सिद्धावस्थायाः सर्वैः नमस्करणीयतया सर्वश्रेष्ठता निर्विवादैव। धवलाग्रन्थे *(पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, पृ. 48)* **प्रतिपादितं यदर्हन्तः सलेपाः, सिद्धास्तु निर्लेपाः, अतोऽर्हदपेक्षयाऽपि सिद्धत्वस्य श्रेष्ठतायां न काऽपि विप्रतिपत्तिः।**

प्रारब्धयोगी की स्थिति में सविकल्प ध्यान की प्रचुरता थी ही (अतः निष्पन्नयोगी के भी सविकल्प अवस्था होती है)।

यह भी ज्ञातव्य है कि सभी पाँचों ही परमेष्ठी उपादेय व ध्यान के विषय होते हैं। तत्त्वानुशासन (श्लोक-119 व 140) में कहा भी गया है— "आत्मध्यान में भी वस्तुतः पाँचों परमेष्ठी ध्यान करने योग्य हैं।" तथा "यहाँ जो कुछ संक्षेप में बताया गया है, उसे ही विस्तार से परमागम में बताया गया है। परमेष्ठियों के ध्यान करने पर सभी विषयों का ध्यान स्वतः हो जाता है।"

किन्तु यह अध्यात्मशास्त्र है, इसलिए वहाँ सिद्धावस्था की उपादेयता को प्रमुखता दी गई है। दूसरी बात, (भावी) तीर्थंकर राजकुमार आदि भी दीक्षा के अवसर पर 'नमः सिद्धेभ्यः' यह कहकर वस्त्र व आभूषण आदि का त्याग करते हुए केशलोंच की क्रिया करते हैं— ऐसा प्रतिष्ठासार में निरूपित है। इसलिए सिद्धावस्था सब के लिए नमस्करणीय होने से उसकी सर्वाधिक श्रेष्ठता निर्विवाद सिद्ध है। सिद्ध निर्लेप हैं और अर्हन्त सलेप —ऐसा धवला ग्रन्थ (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1, पृ. 48) में बताया गया है, इसलिए अर्हन्त की स्थिति से सिद्ध की स्थिति श्रेष्ठ है— इसमें कोई शंका नहीं है।

शास्त्रकारेण समुपदिष्टमस्यां गाथायां यत् अनाद्यपारसंसारसागरोत्तीर्णनिष्कलपरमात्म-स्वरूपज्ञानाभावादेव हे भव्य! तव पञ्चविधपरावर्तनात्मके संसारे परिभ्रमणं समजायत, तत्र विविधसांसारिकशारीरिकमानसिकदुःखान्यपि बहुशः समनुभूतानि। अतस्तन्मुक्तये संसारच्छेदोपायो ज्ञातव्यः। शुद्धात्मस्वरूपं सम्यक् विज्ञाय तत्रैव रतिः कर्तव्या, तत एव संसारमुक्तिमार्गे गतिः सुकरा।

एवं संसारानुप्रेक्षां भावयतो जनस्य निर्वेदो भवति, ततश्च स संसारप्रहाणार्थं प्रयतते — इत्यतः संसारानुप्रेक्षा भावयितव्येति पञ्चमाधिकारस्य सारः। एवं '*पंचविहे संसारे*' इति गाथामादिं कृत्वा '*संसारमदिक्कंतो*' इत्यादिगाथां यावत् पञ्चदशगाथाभिः पञ्चमोऽधिकारः संसारानुप्रेक्षानामकः सम्पन्नः।

[इति परमपूज्यगणाचार्यश्रीडॉ.विरागसागरकृतायां सर्वोदयानाम्न्यां टीकायां 'संसारानुप्रेक्षा-' नामकः पञ्चमाधिकारः सम्पन्नतां प्राप्तः।]

इस (प्रस्तुत 39वीं) गाथा में शास्त्रकार ने उपदेश दिया है कि अनादि अपार संसार-सागर से उत्तीर्ण, निष्कल परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण ही हे भव्य! तुम्हारा पंचपरावर्त रूप संसार में परिभ्रमण होता रहा है, और वहाँ विविध सांसारिक शारीरिक व मानसिक दुःखों का भी अनेक बार अनुभव किया है, इससे मुक्त होने के लिए संसार के उच्छेद का उपाय जानना चाहिए। शुद्धात्मा के स्वरूप को अच्छी तरह जान कर वहीं रति करें, तभी संसार-मुक्ति के मार्ग पर चलना सुगम होगा।

इस प्रकार संसार-अनुप्रेक्षा की भावना करने वाले व्यक्ति को निर्वेद (वैराग्य) उदित होगा, परिणामस्वरूप वह व्यक्ति संसार-नाश हेतु प्रयत्नशील हो पाएगा— इसलिए संसार-अनुप्रेक्षा की भावना करनी चाहिए —यह इस पाँचवें अधिकार का सार है। इस प्रकार, '**पंचविहे संसारे**' इस गाथा से लेकर '**संसारमदिक्कंतो**' इत्यादि गाथा तक पन्द्रह गाथाओं वाला 'संसारानुप्रेक्षा' नामक पाँचवाँ अधिकार पूर्ण हुआ।

[परम पूज्य गणाचार्य श्री डॉ. विरागसागर जी द्वारा रचित इस 'सर्वोदया' नामक टीका में 'संसारानुप्रेक्षा' नामक पाँचवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।]

[लोयाणुवेक्खा— छट्ठो अहियारो]

।। लोकानुप्रेक्षा— षष्ठोऽधिकारः ।।

अथेदानीं लोकानुप्रेक्षानामकः षष्ठोऽधिकारः प्रारभ्यते। पूर्वं पातनिका प्रस्तूयते। अस्याधिकारस्य '*जीवादि पयत्थाणं*' इत्यादिकां गाथामादिं कृत्वा '*असुहेण णिरयतिरियं*' इत्यादिकां गाथां यावत् चतस्रो गाथा भवन्ति। तत्र '*जीवादि पयत्थाणं*' इत्यादिकायां प्रथमगाथायां सभेदलोकस्वरूपं कथितमस्ति। तदनन्तरं '*णिरया हवंति हेट्ठा*' इत्यादिगाथया द्वितीयया त्रिषु लोकेषु कस्य कस्य सद्भाव इति संकेतितम्। तदनन्तरं च '*इगतीस-सत्त-चत्तारि*' इत्यादिकया तृतीयगाथया स्वर्गे त्रिषष्टिपटलानां निरूपणं कृतमस्ति। अनन्तरं च '*असुहेण णिरयतिरियं*' इत्यादिकया चतुर्थगाथया शुभाशुभशुद्धोपयोगफलानि निर्दिष्टानि। एवं षष्ठाधिकारे लोकानुप्रेक्षानामके समुदायपातनिका ज्ञेया।

अथेदानीं शास्त्रकाराः लोकस्वरूपं तद्भेदांश्च संक्षेपेण निरूपयन्ति—

[लोकानुप्रेक्षा— छठा अधिकार]

अब, लोकानुप्रेक्षा नामक छठा अधिकार प्रारम्भ हो रहा है। पहले पातनिका प्रस्तुत है। इस अधिकार में '**जीवादि पयत्थाणं**' इस गाथा से लेकर '**असुहेण णिरयतिरयं**' इस गाथा तक कुल चार गाथाएँ हैं। इनमें '**जीवादि पयत्थाणं**' इत्यादि प्रथम गाथा में लोक का स्वरूप और उसके भेद बताये गये हैं। इसके बाद, '**णिरया हवंति हेट्ठा**' इत्यादि दूसरी गाथा से यह बताया गया है कि तीन लोकों में क्या-क्या है। इसके बाद, '**इगतीस-सत्त-चत्तारि**' इत्यादि तीसरी गाथा में स्वर्ग के तिरेसठ पटलों का निरूपण किया गया है। इसके बाद, '**असुहेण णिरयतिरयं**' इत्यादि चतुर्थ गाथा में शुभोपयोग, अशुभोपयोग व शुद्धोपयोग के फलों का निर्देश किया गया है। इस प्रकार, छठे अधिकार लोकानुप्रेक्षा की समुदाय-पातनिका जाननी चाहिए।

अब शास्त्रकार संक्षेप में लोक के स्वरूप और उसके भेदों का निरूपण कर रहे हैं—

जीवादि-पयत्थाणं, समवाओ सो णिरुच्चदे लोगो।
तिविहो हवेदि लोगो, अह-मज्झिम-उड्ढभेएण॥३९॥

छाया— *जीवादिपदार्थानां समवाय: स निरुच्यते लोक:।*
त्रिविधो भवति लोक: अधो-मध्यम-ऊर्ध्वभेदेन॥

(सर्वोदया टीका—) *(जीवादिपयत्थाणं समवाओ)* **जीवादिपदार्थानां समूहः। जीवोऽजीवश्चेति द्वौ मूलपदार्थौ। अजीवस्य च पञ्च प्रमुखा भेदाः— धर्मः, अधर्मः, आकाशः, कालः, पुद्गलश्चेति। एवं संहत्य षट् पदार्थाः, तेषां समुदायः एकत्र संहतिः,** *(सो लोगो णिरुच्चदे)* **स समुदायः यत्र, अर्थात् जीव-धर्माधर्म-पुद्गल-कालसमुदायः, योऽखण्डाकाशे स्थितः, स एवं लोकरूपेण निरुच्यते, अभिधीयते इत्यर्थः। लोकपदस्य निर्युक्तिः— लोक्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र, स लोकः।**

उक्तं च बृहद्द्रव्यसंग्रहे *(गाथा-20)*—

धम्माधम्मा कालो पुग्गलजीवा य संति जावदिये।
आयासे सो लोगो... ।।

(39)

(गाथा-अर्थ—) जीव आदि पदार्थों का जो समुदाय है, उसे 'लोक' कहा जाता है। अधोलोक, मध्यलोक व ऊर्ध्वलोक —इस प्रकार (यह) लोक तीन प्रकार का है।

(सर्वोदया टीका—) (जीवादिपदार्थानां समवायः) जीव (व अजीव) आदि पदार्थों का समूह। जीव व अजीव —ये दो मूल पदार्थ हैं। अजीव के पाँच प्रमुख भेद इस प्रकार हैं— धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल। इस प्रकार कुल मिलाकर छः पदार्थ होते हैं, उनका समुदाय —यानी एकत्रित (जो) स्थिति है, **(स लोको निरुच्यते)** उसे 'लोक' रूप से वर्णित-निरूपित किया जाता है। वह समुदाय जहाँ है, अर्थात् जीव, धर्म, अधर्म, पुद्गल व काल —इनका समुदाय जो अखण्ड आकाश में स्थित है, उसे 'लोक' रूप से बताया जाता है, अर्थात् कहा जाता है। 'लोक' पद की निर्युक्ति भी इस प्रकार है— जीव आदि पदार्थ जहाँ लोकित —दृष्टिगोचर होते हैं, वह लोक है।

बृहद्द्रव्यसंग्रह (गाथा-20) में कहा भी है— "आकाश के जितने भाग में धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल व जीव रहते हैं, वह 'लोक' कहा जाता है।"

अत्रेदं ज्ञेयम्— अयं लोकोऽनादिः, तथा शाश्वतः, न कदाचन विनश्यति। न कश्चिदस्य स्रष्टा, न च कश्चित् पालकः, न च कश्चित्संहारकः। उक्तं च आचार्यनेमिचन्द्रविरचिते त्रिलोकसारे *(3-5)*—

लोगो अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो।

जीवाजीवेहि फुडो सव्वागासवयवो णिच्चो।

धम्माधम्मागासा गदिरागदिजीवपोग्गलाणं च।
जावत्तावल्लोगो।।

आदिपुराणे *(4/13-15)* **च तथैव—**

लोक्यन्तेऽस्मिन् निरीक्ष्यन्ते जीवाद्यर्थाः सपर्ययाः।
इति लोकस्य लोकत्वं निराहुस्तत्त्वदर्शिनः॥

क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन् जीवादिद्रव्यविस्तराः।
इति क्षेत्रं निराहुस्तं लोकमन्वर्थसंज्ञया॥

यहाँ यह ज्ञातव्य है— यह लोक अनादि है, शाश्वत है, कभी यह नष्ट नहीं होता। इसका न कोई स्रष्टा है, न कोई पालनकर्ता है और न ही कोई संहारकर्ता है। आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा विरचित त्रिलोकसार (3-5) में कहा भी गया है—

"यह लोक अकृत्रिम है, अनादिनिधन (आदि व अन्त से रहित) है, स्वभाव से निष्पन्न है, जीव व अजीव पदार्थों से स्पृष्ट है, समस्त आकाश का अवयवभूत है, नित्य है। धर्म, अधर्म, आकाश (लोकाकाश) का सद्भाव जहाँ है तथा जीव व पुद्गल द्रव्यों का जहाँ तक गमन-आगमन है, उतना 'लोक' कहा जाता है।"

इसी तरह आदिपुराण (4/13-15) में भी कहा गया है—

"जिसमें जीवादि पदार्थ अपनी-अपनी पर्यायों सहित देखे जायें, उसे 'लोक' कहते हैं। तत्त्वों के जानकार आचार्यों ने लोक का यही स्वरूप बताया है (लोक्यन्ते जीवादिपदार्था यस्मिन् स लोकः)।"

"जहाँ जीवादि द्रव्यों का विस्तार निवास करता हो, उसे क्षेत्र कहते हैं। सार्थक नाम होने के कारण विद्वान् लोग लोक को ही क्षेत्र कहते हैं।"

लोको ह्यकृत्रिमो ज्ञेयो जीवाद्यर्थावगाहक:।
नित्य: स्वभावनिर्वृत्त:, सोऽनन्ताकाशमध्यग:॥

अन्यतीर्थिका ईश्वरं सृष्टिकर्तारं स्वीकुर्वन्ति। किन्तु तेषां मतं युक्तियुक्तं प्रमाणसिद्धं च नैव प्रतिभाति। यतो हि सृष्टेः पूर्वं स कर्ता कुत्र तिष्ठति? सृष्टेः पूर्वं कस्यचिद् आधारभूतस्य स्थानस्यैव अभाव:। यदि स स्रष्टा निराधार: कूटस्थनित्यो वर्तते, तर्हि जगत् उत्पाद्य स कुत्र, कस्मिन्नाधारभूते स्थाने तत् स्थापयति? शरीररहितेन अमूर्तेन मूर्तपदार्थानामुत्पादनं नैव सम्भवति, यतो हि लोके सर्वेषां मूर्तपदार्थानां घटादीनां कर्ता सशरीर एव दृश्यते, न चाशरीरी कश्चित्। यदि ईश्वर: सशरीर:, तर्हि केन तस्य शरीरस्य निर्माणं विहितम्? यदि सृष्टेः प्रागपि ईश्वरस्य, तच्छरीरस्य च सद्भावो यदि स्वीक्रियते, तर्हि सृष्टेरपि सद्भावे का हानि: ? अत: सृष्टेरनादित्वमेव स्वीकार्यम्।

''जीवादि पदार्थों को अवगाह (स्थान) देने वाला यह लोक अकृत्रिम है— किसी का बनाया हुआ नहीं है, नित्य है, इसका कभी सर्वथा प्रलय नहीं होता, अपने आप ही बना हुआ है और अनन्त आकाश के ठीक मध्य में स्थित है।''

अन्यतीर्थी (इतर दार्शनिक) ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानते हैं। किन्तु उनका मत न तो युक्तियुक्त है और न ही प्रमाणसिद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि (यहाँ कई प्रश्न उठते हैं, जैसे कि) सृष्टि के पहले उसका रचयिता रहता किस स्थान में है? सृष्टि से पहले तो किसी आधारभूत स्थान का सद्भाव होता नहीं। यदि वह रचयिता बिना किसी आधार के भी रहने वाला व कूटस्थनित्य है तो वह जगत् को बना कर कहाँ, किस आधारभूत स्थान में रखता है? चूँकि वह (ईश्वर) शरीर रहित है और अमूर्त (निराकार, अदृश्य) है तो वह मूर्त (साकार) पदार्थों का निर्माण करे —यह सम्भव नहीं है, क्योंकि लोक में सभी घट आदि मूर्तिमान् पदार्थों का रचयिता कोई न कोई शरीरधारी व्यक्ति ही हुआ करता है, न कि कोई अशरीरी व्यक्ति। यदि ईश्वर शरीरधारी है तो उसके शरीर का निर्माण किसने किया? यदि सृष्टि के पहले भी ईश्वर और उसके शरीर का सद्भाव माना जाय तो फिर सृष्टि का ही (अनादि) सद्भाव मानने में क्या हानि है? इसलिए, (यही उचित होगा कि) सृष्टि को अनादि मान लिया जाय।

किं च, सर्वस्य पदार्थसमूहस्य निर्माणं कारणसामग्रीं विना न भवति। ईश्वरः कां कारणसामग्रीं अवलम्ब्य सृष्टिं करोति? सृष्टेः पूर्वं कारणसामग्री केन विनिर्मिता? यदि ईश्वर एव सृष्टेः प्राक् कारणसामग्रीं रचयति, तर्हि तस्याः कारणसामग्र्याः रचनायामपि स द्वितीयां कारणसामग्रीं समपेक्षेत एव, सा द्वितीयकारणसामग्री केन विनिर्मिता? किं च, ईश्वरस्य तस्य सर्जनं केन विहितम्? यदि तस्यापि कोऽपि रचयिता वर्तते, तर्हि तस्यापि (ईश्वररचयितुः) कर्ता को भवति? इत्येवं सृष्टिवादे बहवो विप्रतिपत्तयः समुद्भवन्ति।

उक्तं च आदिपुराणे *(4/16-21)*—

स्रष्टाऽस्य जगतः कश्चिदस्तीत्येके जगुर्जडाः।
तद्दुर्णयनिरासार्थं सृष्टिवादः परीक्ष्यते॥

स्रष्टा सर्गबहिर्भूतः क्वस्थः सृजति तज्जगत्।
निराधारश्च कूटस्थः सृष्ट्वैतत् क्व निवेशयेत्॥

और दूसरी बात, सभी पदार्थ-समूह का निर्माण किसी कारण-सामग्री के बिना नहीं होता। तो ईश्वर किस कारण सामग्री के आधार पर सृष्टि की रचना करता है? सृष्टि के पूर्व कारण सामग्री की रचना किसके द्वारा हुई? यदि स्वयं ईश्वर सृष्टि से पूर्व कारण-सामग्री की रचना करता है तो उस कारण-सामग्री की भी कारणसामग्री अपेक्षित होगी, उस द्वितीय कारण-सामग्री की रचना किसके द्वारा हुई? इसी तरह, (यह प्रश्न भी उठता है कि) ईश्वर की रचना किसने की? यदि उसका भी कोई रचयिता है तो उस (ईश्वर-रचयिता) का भी कौन रचयिता होगा? इस प्रकार, सृष्टिवाद में अनेक शंकाएँ उठ खड़ी होती हैं।

आदिपुराण (आ. जिनसेनकृत, 4/16-21) में कहा भी है—

''कितने ही मूर्ख लोग कहते हैं कि इस लोक का कोई न कोई रचयिता अवश्य है। ऐसे लोगों के दुराग्रह को दूर करने हेतु यहाँ सर्वप्रथम सृष्टिवाद की परीक्षा की जाती है।''

''यदि यह मान लिया जाय कि इस लोक को बनाने वाला कोई है तो यह विचार करना चाहिए कि वह सृष्टि के पूर्व, लोक-रचना से पहले सृष्टि से अलग कहाँ रहता था? किस स्थान पर बैठकर लोक की रचना करता था? यदि यह कहें कि वह आधाररहित व नित्य है तो उसने इस सृष्टि को कैसे बनाया और बना कर कहाँ रखा?''

नैको विश्वात्मकस्यास्य जगतो घटने पटुः।
वितनोश्च न तन्वादिमूर्त्तमुत्पत्तुमर्हति॥

कथं च स सृजेल्लोकं विनान्यैः करणादिभिः।
तानि सृष्ट्वा सृजेल्लोकमिति चेदनवस्थितिः॥

तेषां स्वभावसिद्धत्वे, लोकेऽप्येतत् प्रसज्यते।
किं च निर्मातृवद् विश्वं स्वतः सिद्धिमवाप्नुयात्॥

सृजेद् विनाऽपि सामग्र्या स्वतन्त्रः प्रभुरिच्छया।
इतीच्छामात्रमेवैतत् कः श्रद्दध्यादयुक्तिकम्॥

''दूसरी बात यह है कि यदि उस ईश्वर को एक व शरीररहित मानते हैं तो वह सृष्टि का रचयिता नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही ईश्वर अनेक रूप संसार की रचना में समर्थ कैसे हो सकता है? शरीररहित व अमूर्तिक ईश्वर द्वारा मूर्त वस्तुओं की रचना कैसे हो सकती है? क्योंकि लोक में यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मूर्त पदार्थों की रचना मूर्त पुरुषों द्वारा ही होती है, जैसे मूर्त कुम्हार द्वारा मूर्त घट की रचना की जाती है।''

''एक बात यह भी है कि —जब संसार के समस्त पदार्थ कारण-सामग्री के बिना नहीं बनाये जाते, तो ईश्वर कारण-सामग्री के बिना लोक की रचना कैसे कर पाएगा? किसी कारण-सामग्री को भी बनाने के लिए उसकी भी कारणसामग्री की रचना अपेक्षित होगी, इस तरह अनवस्था-दोष होगा।''

''यदि यह माना जाय कि कारण-सामग्री स्वभावतः स्वयं बन जाती है, ईश्वर द्वारा उसकी रचना होना अपेक्षित नहीं, तो यह बात लोक के विषय में भी लागू हो सकती है, अर्थात् यही क्यों न मान लिया जाय कि लोक भी स्वतः निर्मित है।''

''यदि यह मानते हैं कि वह ईश्वर स्वतन्त्र है और सृष्टि रचना में समर्थ है, अतः सामग्री के बिना भी, इच्छा मात्र से लोक की रचना कर देता है तो यह आपकी इच्छा मात्र है, इस युक्ति-असंगत कथन पर भला कौन बुद्धिमान् व्यक्ति विश्वास करेगा?''

किं च, ईश्वरेण सर्जिताः प्राणिनस्तस्य सन्तानतुल्याः तर्हि तेन स्वसन्ततीनां कृते सुखमेव उत्पादितं स्यात्, किमर्थं सुखदुःखात्मकं जगत् तेन निर्मीयते। यदि कथ्यते यत् सुखदुःखादिप्राप्तिस्तु प्राणिनां कर्मानुसारेणैव, तदाऽयं प्रश्न उदेति यत् तस्य शुभाशुभपुण्यपापकर्मसमूहस्य निर्माणं सृष्टेः प्राक् केन कृतम्? अन्यच्च, यदि स्वयंकृतेनैव कर्मणा सृष्टिप्राणिनां सुखदुःखव्यवस्था प्रचलति, तदीश्वरस्य का आवश्यकता? यदीश्वर एव सुखदुःखप्रदाता, तर्हि लोके कर्मव्यवस्था निरर्थिका स्यात्। उक्तं चाचार्यवरैः अमितगतिभिः भावनाद्वात्रिंशिकायाम् *(श्लोक-30)*—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

अतः सिद्धान्तितमेतद् यत् लोकोऽयं शाश्वतः, न केनापि विरच्यते, न च संह्रियते। सर्वद्रव्य-समुदायरूपो लोकः पुरुषाकारनिभः, अधोलोक-मध्यलोक-ऊर्ध्वलोकेतिभाग-त्रयसन्निवेशयुक्तो वर्तते।

दूसरी बात, ईश्वर द्वारा उत्पन्न किये गये प्राणी तो ईश्वर की संतान जैसे होते हैं, तो उस ईश्वर ने अपने सन्तानों को सुखी ही उत्पन्न किया होता, वह क्यों सुख-दुःखात्मक सृष्टि की रचना करता है। यदि कहें कि सुख या दुःख की प्राप्ति तो प्राणियों को अपने कर्मों के अनुरूप होती है (ईश्वर उसमें कुछ नहीं करता), तो यह प्रश्न उठता है कि उस शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप रूपी कर्म-समूह का निर्माण, सृष्टि के पूर्व ही, किसने किया? एक बात और, यदि ऐसा मानें कि कर्म स्वयंकृत हैं, उनके द्वारा सृष्टि के प्राणियों के सुख व दुःख की व्यवस्था चलती है, तो फिर ईश्वर की ही क्या आवश्यकता है? यदि ईश्वर ही सुख या दुःख का प्रदाता है तो लोक में कर्म-व्यवस्था ही निरर्थक हो जाएगी। आचार्यप्रवर अमितगति ने अपनी कृति भावनाद्वात्रिंशिका (श्लोक-30) में कहा भी है—

"अपने द्वारा जो पूर्व में कर्म किये गये थे, उन्हीं के अनुरूप शुभ या अशुभ फल प्राप्त होते हैं। यदि सुख या दुःख कोई (ईश्वर आदि) अन्य हमें देता है तो फिर अपने किये कर्मों की सार्थकता ही समाप्त हो जाएगी।"

इसलिए यह सिद्धान्त रूप से मान लेना चाहिए कि यह संसार शाश्वत है, न तो इसका कोई रचयिता है और न ही कोई संहारक ही है। समस्त द्रव्यों का समूह रूप यह लोक पुरुषाकार जैसी आकृति वाला है, वह अधोलोक, मध्यलोक व ऊर्ध्वलोक —इन तीन रचना-विशेष से युक्त है।

उक्तं चादिपुराणकारैः *(4/40-46)*—

असृज्योऽयमसंहार्यः स्वभावनियतस्थितिः।
अधस्तिर्यगुपर्याख्यैः, त्रिभिर्भेदैः समन्वितः॥

वेत्र-विष्टर-झल्लर्यो मृदङ्गश्च यथाविधाः।
संस्थानैस्तादृशान् प्राहुः, त्रींल्लोकाननुपूर्वशः॥

वैशाखस्थः कटीन्यस्तहस्तः स्याद् यादृशः पुमान्।
तादृशं लोकसंस्थानम्, आमनन्ति मनीषिणः॥

अनन्तानन्तभेदस्य वियतो मध्यमाश्रितः।
लोकस्त्रिभिर्वृतो वातैर्भाति शिक्यैरिवायतैः॥

जैसा कि आदिपुराण (4/40-46) में कहा गया है—

''इस लोक को न कोई बनाता है और न ही इसका विनाश (प्रलयादि) किसी के द्वारा किया जा सकता है। यह तो सदा अपनी स्वाभाविक स्थिति में विद्यमान रहता है। अधोलोक, तिर्यक् लोक व ऊर्ध्वलोक —इस प्रकार वह तीन भेदों से युक्त है।''

''वेत्रासन, झल्लरी और मृदंग के जैसे आकार (पृथक्-पृथक्) होते हैं, अधोलोक, मध्यलोक व ऊर्ध्वलोक के भी आकार (क्रमशः) वैसे ही होते हैं।'' [अर्थात् अधोलोक वेत्रासन की तरह नीचे फैला हुआ और ऊपर सकड़ा —संकीर्ण है। मध्यम लोक झल्लरी (झालर वाद्य) के समान सब ओर फैला हुआ है। ऊर्ध्वलोक मृदंग के समान बीच में चौड़ा तथा दोनों भागों में संकीर्ण है।]

''अथवा, दोनों पाँव फैलाकर और कमर पर दोनों हाथ रखकर खड़े हुए पुरुष का जैसा आकार होता है, वैसा ही इस लोक का आकार है— ऐसा बुद्धिमन्त (आचार्यों) ने बताया है।''

''यह लोक अनन्तानन्त आकाश के मध्यभाग में स्थित तथा घनोदधि, घनवात व तनुवात —इन तीन प्रकार के विस्तृत वातवलयों से घिरा हुआ है और ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे अनेक रस्सियों से बना हुआ कोई छींका ही हो।''

वातरज्जुभिरानद्धो लोकस्तिसृभिराशिखम्।
पटत्रितयसंवीत-सुप्रतिष्ठकसन्निभः ॥

तिर्यग्लोकस्य विस्तारं रज्जुमेकां प्रचक्षते।
चतुर्दशगुणां प्राहुः, रज्जुं लोकोच्छ्रितिं बुधाः॥

अधोमध्योर्ध्वमध्याग्रे लोकविष्कम्भरज्जवः।
सप्तैका पञ्च चैका च यथाक्रममुदाहृताः॥

इत्येवंरूपो *(लोगो)* **लोकः** *(अह-मज्झिम-उड्ढभेएण)* **अधोमध्यमऊर्ध्वभेदेन** *(तिविहो हवेदि)* **त्रिविधतां प्राप्तोऽस्ति। उक्तानां त्रिलोकानां पृथक् पृथक् वर्णनं 'तिलोयपण्णत्ति'-प्रभृतिग्रन्थैरवगम्यम्। विस्तरभयादत्र न लिख्यते। एवं, लोकोऽयं कच्छपाधिष्ठितः, यद्वा शेषनागोपरि संस्थितः इत्यादिका अन्यतीर्थिकमान्यताः निराकृता भवन्ति। सर्वज्ञदेव एव यथार्थकथनं कर्तुं प्रभवति। सर्वज्ञदेवेन तु यल्लोकस्वरूपं प्ररूपितम्, तत्तु प्रोक्तमेव।**

"नीचे से लेकर ऊपर तक, उपर्युक्त तीन वातवलयों से घिरा हुआ यह लोक ऐसा प्रतीत होता है कि मानों यह तीन कपड़ों से ढका हुआ 'सुप्रतिष्ठ' (पात्रविशेष, औंधे किये हुए सिकोरे की तरह) ही हो।"

"विद्वानों ने मध्यलोक का विस्तार एक 'राजु' प्रमाण बताया है तथा पूरे लोक की ऊँचाई उससे चौदह गुनी अर्थात् चौदह राजू कही है।" [एक राजू का प्रमाण= असंख्यात योजन सामान्यतः माना जाता है।]

"यह लोक अधोभाग में सात राजु, मध्यभाग में एक राजू और ऊर्ध्वलोक के मध्य भाग में पाँच राजू, और सबसे ऊपर एक राजू चौड़ा है।"

इस प्रकार, यह **(लोकः)** लोक **(अधो-मध्यम-ऊर्ध्वभेदेन)** अधोलोक, मध्यलोक व ऊर्ध्वलोक —इन तीन रूपों में **(त्रिविधो भवति)** तीन भेदों वाला हो जाता है। उपर्युक्त तीनों लोकों का पृथक्-पृथक् निरूपण 'तिलोयपण्णत्ति' इत्यादि ग्रन्थों से जाना जा सकता है। विस्तार के भय से यहाँ नहीं लिख रहे हैं। इस प्रकार, अन्यतीर्थिकों की वह मान्यता कि यह लोक कछुए पर स्थित है या 'शेष नाग' (के फणों) पर टिका है, स्वतः खण्डित हो जाती है। सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव ही यथार्थ निरूपण करने की सामर्थ्य रखते हैं। उन्होंने जो लोक-स्वरूप बताया है, वह तो उपर्युक्त ही है।

एवं गाथायास्तात्पर्यमिदं यत् सर्वज्ञकथिते लोकस्वरूपे श्रद्धा विधातव्या। लोकस्वभावा-नुचिन्तनेन च तत्त्वज्ञानादिविशुद्धिः करणीयेति।

अथ सम्प्रति त्रिविधलोकस्य संघटनास्वरूपं शास्त्रकाराः विशदरूपेण निर्दिशन्ति—

णिरया हवंति हेट्ठा, मज्झे दीवंबुरासयोऽसंखा।
सग्गो तिसट्ठिभेदो, एसो उड्ढं हवे मोक्खो ॥४०॥

छाया— *निरयाः भवन्ति अधस्तने, मध्ये द्वीपाम्बुराशयः असंख्याः।*
स्वर्गः त्रिषष्टिभेदः, एतस्मात् ऊर्ध्वं भवति मोक्षः॥

(सर्वोदया टीका—) सुदर्शनपर्वतस्य *(हेट्ठा)* **अधस्तात्,** *(णिरया हवंति)* **नरका भवन्ति। मन्दराचलपर्वतमूलाद् नीचैः यत्क्षेत्रं वेत्रासनसदृशाकारं तदधोलोकरूपेण निरूप्यते। अस्याधोलोकस्य उत्सेधः सप्तरज्जुप्रमितो वर्तते। अधोलोके क्रमशोऽधोऽधः संस्थिताः सप्तपृथिव्यः। प्रथमं रत्नप्रभानामिका पृथिवी, तस्या अधोऽधः प्रत्येकमेकैकरज्जुप्रमाणमाकाशं (स्थूलरूपेण) गत्वा**

इस तरह, इस गाथा का तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ-कथित लोक-स्वरूप में श्रद्धान करना चाहिए। लोक-स्वभाव का अनुचिन्तन (अनुप्रेक्षण) कर, तत्त्वज्ञान आदि की विशुद्धि करनी चाहिए।

अब, त्रिविध लोक के स्वरूप को शास्त्रकार अधिक स्पष्ट रूप से बता रहे हैं—

(40)

(गाथा-अर्थ—) अधोलोक में नरकों का सद्भाव है। मध्यलोक में असंख्य द्वीप व समुद्र हैं। ऊर्ध्वलोक में तिरेसठ प्रकार के स्वर्ग हैं, उनसे ऊपर मोक्ष (मुक्ति का स्थान) है।

(सर्वोदया टीका—) सुमेरु पर्वत के **(अधस्तने)** नीचे, **(निरयाः भवन्ति)** नरकों का सद्भाव है। मन्दराचल के मूल के नीचे जो क्षेत्र वेत्रासन के आकार वाला है, वह अधोलोक नाम से निरूपित किया गया है। इस अधोलोक की ऊँचाई सात राजू है। अधोलोक में क्रम से नीचे की ओर सात पृथिवियाँ स्थित हैं। उनमें प्रथम पृथिवी का नाम रत्नप्रभा है, उसके नीचे-नीचे एक-एक राजू प्रमाण आकाश में (अर्थात् मोटे तौर पर एक-एक राजू के अन्तराल से,) क्रमशः छः भूमियाँ हैं, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

क्रमशः षड्भूमयः, यासां नामानि क्रमशः सन्ति— शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा। ततोऽपि अधोभागे रज्जुप्रमाणक्षेत्रे भूमिरहितक्षेत्रे निगोदादिस्थावरजीवानां सद्भावः। रत्नप्रभादिसप्तभूमिषु प्रत्येकं घनोदधि-घनवात-तनुवातेतिवलयत्रयवेष्टितं तिष्ठति। अर्थात् एताः पृथिव्यः घनोदधिवलयप्रतिष्ठाः, घनोदधिवलयं घनवातवलयप्रतिष्ठम्, घनवातवलयं तनुवातवलयप्रतिष्ठम्, तनुवातवलयं त्वाकाशप्रतिष्ठितम्, आकाशं तु स्वप्रतिष्ठितम्।

एतासु सप्तसु पृथिवीसु सप्तैव क्रमेण नरकभूमयः, यासां नामानि— धर्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी, माघवी —इति सन्ति। वस्तुतः धर्मादिकानि तासां पृथिवीनां गोत्रनामानि सन्ति —इति तिलोयपण्णत्तिग्रन्थे *(1/153)* संकेतितम्। रत्नप्रभादिनामानि अन्वर्थकानि। रत्नप्रभासहचरिता रत्नप्रभा, एवं शर्कराप्रभासहचरिता शर्कराप्रभा इत्यादि।

कथं तर्हि तमःसहचरिता प्रभा? उच्यते— तमसोऽपि स्वीया कृष्णा प्रभा भवति।

शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा। इनसे भी नीचे एक राजू प्रमाण भूमिरहित क्षेत्र में निगोदादि पाँच स्थावर जीवों का सद्भाव है। रत्नप्रभा आदि सात भूमियों में प्रत्येक पृथ्वी को घनोदधि, घनवात व तनुवात —ये तीन वात-वलय वेष्टित करते हैं। अर्थात् ये सभी पृथिवियाँ घनोदधिवलय पर प्रतिष्ठित हैं; घनोदधिवलय, घनवातवलय पर प्रतिष्ठित है और घनवातवलय, तनुवातवलय पर प्रतिष्ठित है। तनुवातवलय भी आकाश पर प्रतिष्ठित है और आकाश स्वतः प्रतिष्ठित होता है।

इन सात पृथिवियों में क्रमशः सातों ही पृथिवियाँ नरकभूमियाँ हैं, जिनके नाम (क्रमशः प्रथम से सातवीं तक) इस प्रकार हैं— धर्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी, माघवी। वस्तुतः 'धर्मा' आदि उन पृथिवियों के गोत्र-नाम हैं —ऐसा तिलोयपण्णत्ति (1/153) ग्रन्थ में संकेत किया गया है। रत्नप्रभा आदि जो नाम हैं, वे अन्वर्थक हैं (अर्थात् अपने नाम के अनुरूप गुण वाली हैं)। (जैसे—) रत्नप्रभा का अर्थ है— रत्नप्रभा से युक्त, इसी तरह शर्कराप्रभा का अर्थ है— शर्करा की प्रभा से युक्त।

(शंका—) तमःप्रभा का फिर क्या अर्थ करेंगें? (क्या तम की भी कोई प्रभा होती है?) उत्तर है— तम (अन्धकार) की भी अपनी कृष्ण प्रभा होती है।

तत्र प्रथमरत्नप्रभानामिकायाः अशीतिसहस्राधिकयोजनलक्षप्रमितबाहल्यवत्याः पृथिव्याः त्रयो भागाः। यथा— खरपृथिवीभागः, पङ्कबहुलभागः, अब्बहुलभागश्चेति। खरभागे षोडश-सहस्रयोजनबाहल्यवति षोडश पृथिव्यः, तासु प्रथमा चित्रा वर्तते। अन्याश्चतुर्दश पृथिव्यः सन्ति— वैडूर्या, लोहिताङ्का, असारगल्ला, गोमेदका, प्रवाला, ज्योतीरसा, अञ्जना, अञ्जनमूला, अङ्का, स्फटिका, चन्दना, वर्चगता, बहुला, शैला। सर्वासामधः पाषाणानामिका षोडशी पृथ्वी वर्तते। तस्मादपि अधः चतुरशीतियोजनसहस्रबाहल्ययुक्तः पङ्कभागः, ततोऽपि अधोभागे अशीतिसहस्र-योजनबाहल्ययुक्तः अब्बहुलभागो वर्तते। तत्र खरभागे असुरकुलं विहाय नवप्रकारभवनवासि-देवानाम्, तथा च राक्षसकुलं विहाय सप्तविधव्यन्तरदेवानां चावासाः वर्तन्ते। पङ्कभागे च असुराणां राक्षसाणां चावासाः। अब्बहुलभागे तु नारका भवन्ति। तत्रैव प्रथमो धर्मानामको नरको वर्तते। तस्मादधश्चेतरे नरकाः सन्ति।

तत्र सर्वासु रत्नप्रभादिषु सप्तसु पृथ्वीषु, प्रत्येकपृथ्वीगत-निजबाहल्यात् अधः उपरि च एकैकसहस्रयोजनक्षेत्रं विहाय मध्यभागे पटलानि सन्ति। पटलशब्दस्य पर्यायाः— अन्तर्भूमयः,

---

इनमें जो पहली रत्नप्रभा नामक पृथ्वी है, वह एक लाख अस्सी हजार योजन प्रमाण मोटाई वाली है। उसके तीन भाग हैं— खरपृथिवीभाग, पङ्कबहुलभाग और अब्बहुलभाग। खरभाग सोलह हजार योजन मोटाई वाला है, उसमें सोलह पृथिवियाँ हैं, जिनमें पहली है— चित्रा। अन्य चौदह पृथिवियाँ इस प्रकार हैं— वैडूर्या, लोहितांका, असारगल्ला, गोमेदका, प्रवाला, ज्योतीरसा, अञ्जना, अञ्जनमूला, अङ्का, स्फटिका, चन्दना, वर्चगता, बहुला और शैला। इन सबके नीचे सोलहवीं पृथ्वी है जिसका नाम है— पाषाणा। इन सबके नीचे चौरासी हजार योजन मोटाई वाला पङ्कभाग है, उसके भी नीचे अस्सी हजार योजन मोटाई वाला अब्बहुलभाग है। उक्त खरभाग में असुर-कुल को छोड़कर अन्य नौ प्रकार के भवनवासी देवों के तथा राक्षस-कुल को छोड़कर सात प्रकार के व्यन्तर देवों के आवास हैं। पङ्कभाग में असुरों व राक्षसों के आवास विद्यमान हैं। अब्बहुलभाग में तो नारकी जीव रहते हैं। वहीं प्रथम 'धर्मा' नामक नरक है। उसी के नीचे अन्य नरकों का सद्भाव है।

उन रत्नप्रभा आदि सभी सातों पृथिवियों में, प्रत्येक पृथिवी की मोटाई के नीचे और ऊपर एक-एक हजार योजन क्षेत्र को छोड़कर, मध्य भाग में नरकों के पटल विद्यमान हैं। अन्तर्भूमि, प्रस्तार, इन्द्रक —ये पटल शब्द के पर्याय हैं। सातों पृथिवियों में नरक-पटलों की संख्या इस प्रकार है— प्रथम पृथ्वी में तेरह, द्वितीय पृथ्वी में ग्यारह, तृतीय में नौ, चौथी में सात, पाँचवी में पाँच, छठी में तीन और सातवीं में एक, इस

प्रस्ताराः, इन्द्रका इति। प्रथमपृथ्व्यां त्रयोदश, द्वितीयपृथ्व्यां तु एकादश, तृतीयापृथिव्यां नव, चतुर्थ्यां सप्त, पञ्चम्यां पञ्च, षष्ठ्यां त्रयः, सप्तम्यामेकः, इत्येवं संहत्य सर्वे पटलाः एकोनपञ्चाशत् भवन्ति। तत्र रत्नप्रभायां प्रथमपटलविस्तारे मनुष्यलोकक्षेत्रप्रमितं संख्यातयोजनविस्तृतं (पञ्चचत्वारिंशल्लक्षयोजनपरिमितं) इन्द्रकसंज्ञकं मध्यबिलं वर्तते। तस्मात् चतसृषु दिक्षु असंख्यातयोजनविस्तृतानि पंक्तिबद्धानि एकोनपञ्चाशद् बिलानि। किं च चतसृषु विदिक्ष्वपि प्रतिदिशं पंक्तिरूपेण असंख्यातयोजनविस्तृतानि अष्टचत्वारिंशत्संख्यकानि बिलानि सन्ति। एतानि दिक्षु विदिक्षु च स्थितानि बिलानि श्रेणीबद्धसंज्ञकानि भवन्ति। दिक्विदिक्स्थितानां श्रेणीबद्धबिलानां मध्ये पंक्तिरहितानि पुष्पसमूहवत् विकीर्णानि यानि बिलानि सन्ति, तानि 'प्रकीर्णकबिलानि' इतिसंज्ञया अभिधीयन्ते, येषु कानिचित् संख्यातयोजनविस्तृतानि, कानिचिच्च असंख्यातयोजनविस्तृतान्यपि भवन्ति। एवं प्रथमपटलनिरूपणं परिसमाप्तम्।

एवम् इन्द्रक-श्रेणीबद्ध-प्रकीर्णकरूपेण नरकानां त्रिविधः प्रकारो ज्ञेयः। समस्तपृथिवीषु (नरकेषु) सर्वेषां बिलानां संख्या चतुरशीतिलक्षात्मिका वर्तते। तेषु कानिचित् उष्णानि, कानिचित् शीतानि भवन्ति। विस्तरस्तु ग्रन्थान्तरेभ्यो विज्ञेयः।

प्रकार कुल मिलाकर समस्त पटलों की संख्या उनचास (49) हो जाती है। रत्नप्रभा के प्रथम पटल-विस्तार में मनुष्यलोक जितने क्षेत्र-प्रमाणवाला संख्यात योजन विस्तारवाला (अर्थात् पैंतालीस लाख योजन परिमाणवाला) 'इन्द्रक' नाम का मध्य बिल है। उस बिल की चारों दिशाओं में असंख्यात योजन विस्तृत पंक्तिबद्ध (49) बिल हैं। इसके अतिरिक्त, चारों विदिशाओं में भी, प्रतिदिशा में 'श्रेणीबद्ध' नामक नरक-बिल हैं। दिशा व विदिशा में स्थित इन श्रेणीबद्ध बिलों के बीच-बीच में पंक्तिरहित रूप में फूलों के समूह की तरह (यत्र-तत्र) विकीर्ण रूप से भी बिल स्थित हैं, उन्हें 'प्रकीर्णक बिल' इस नाम से पुकारा जाता है, जिनमें कुछ तो संख्यात योजन विस्तृत होते हैं तो कुछ असंख्यात योजन विस्तृत। इस प्रकार, प्रथम पटल का निरूपण समाप्त हुआ।

इस प्रकार, इन्द्रक, श्रेणीबद्ध व प्रकीर्णक रूप से नरकों के तीन प्रकार जानने चाहिए। उक्त समस्त पृथिवियों (नरकों) में समस्त बिलों की संख्या चौरासी लाख है। इनमें कुछ उष्ण हैं तो कुछ शीत। अधिक विस्तार से जानना हो तो ग्रन्थान्तर द्रष्टव्य हैं।

प्रथमपटलवदेव पूर्वोक्तेषु अवशिष्टेषु अष्टचत्वारिंशत्सु पटलेष्वपि इन्द्रकादित्रिविधबिलानां सद्भावः, किन्तु तत्रायं विशेषो यद् तदधःपृथिवीषु श्रेणीबद्धविमानानां संख्यायाम् क्रमश एकैकन्यूनता भवति, अतः द्वितीयपृथिव्यां (एकादशपटलेषु प्रत्येकं) चतसृषु दिक्षु सप्त पटलानि, तृतीयपृथिव्यां (नवपटलेषु प्रत्येकं) षट् पटलानि, चतुर्थपृथिव्यां (सप्तपटलेषु प्रत्येकं) पञ्च पटलानि, पञ्चमपृथिव्यां (पञ्चपटलेषु प्रत्येकं) चत्वारि पटलानि, षष्ठपृथिव्यां (त्रिषु पटलेषु प्रत्येकं) त्रीणि पटलानि, सप्तमपृथिव्यां (एकपटले) एकमेव पटलं वर्तते।

रत्नप्रभादिस्थितनरकेषु नारकाणां देहोत्सेधोऽपि वैविध्यं वहति। यथा— प्रथमपृथिव्यां प्रथमपटले हस्तत्रयप्रमितः, ततश्च क्रमेण वर्द्धमानः त्रयोदशपटले धनुस्सप्तकं हस्तत्रयम् अङ्गुलिषट्कंचेति समुदितप्रमाणः स भवति। ततो द्वितीयादिपृथिवीषु चरम-इन्द्रकबिलेषु द्विगुणद्विगुणतां प्राप्नुवानः सप्तमपृथिव्यां पञ्चशतधनुःप्रमित उत्सेधो भवति। उपरितने च नरके य उत्कृष्टोत्सेधः, सोऽधःस्थितनरके तद्विशेषाधिको जघन्यो भवति। तथैव पटलेषु चोत्सेधो हीनाधिकतया ज्ञातव्यः।

प्रथम पटल की तरह ही, पूर्वोक्त शेष अड़तालीस पटलों में भी इन्द्रक आदि तीन प्रकार के नरक-बिलों का सद्भाव जानना चाहिए, किन्तु इतना अन्तर जानें कि उनके नीचे की पृथिवियों में श्रेणीबद्ध विमानों की संख्या में क्रमशः कमी होती जाती हैं, इसलिए दूसरी पृथिवी में (वहाँ के ग्यारह पटलों में, प्रत्येक के) चारों दिशाओं में सात पटल हैं। तृतीय पृथिवी में (कुल नौ पटलों में, प्रत्येक के) छः पटल हैं, चौथी पृथिवी में (कुल सात पटलों में, प्रत्येक के) पाँच पटल हैं, पाँचवीं पृथिवी में (पाँच पटलों में, प्रत्येक के) चार पटल हैं, छठी पृथिवी में (कुल तीन पटलों में प्रत्येक के) तीन पटल हैं, सातवीं पृथिवी में (मात्र एक ही पटल है, उसमें) एक ही पटल है।

रत्नप्रभा आदि पृथिवियों में जो नरक हैं, वहाँ के नारकी जीवों के देह की ऊँचाई (प्रत्येक पटल में) विविधता लिए होती है। उदाहरणार्थ— प्रथम पृथिवी के प्रथम पटल में तीन हाथ, तथा क्रम से बढ़ती हुई तेरहवें पटल में सात धनुष, तीन हाथ व छः अंगुलि की ऊँचाई हो जाती है। उसके बाद, द्वितीय-तृतीय आदि पृथिवियों में अन्तिम 'इन्द्रक' बिलों में दुगुनी-दुगुनी बढ़ती हुई सातवीं पृथिवी में पाँच सौ धनुष शारीरिक ऊँचाई हो जाती है। ऊपर के नरकों में जो उत्कृष्ट शारीरिक ऊँचाई होती है, उससे कुछ अधिक ऊँचाई नीचे के नरक की जघन्य ऊँचाई होती है। इसी रीति से पटलों में भी शारीरिक ऊँचाई की हीनता-अधिकता जाननी चाहिए।

एवं नारकाणामायुषः प्रमाणं क्रमशोऽधोऽधो वर्द्धते। यथा— प्रथमपृथिव्यां प्रथमे पटले जघन्यायुः दशसहस्रवर्षप्रमितं भवति, किन्तु क्रमिकवृद्ध्या अन्तिमपटले एकसागरोपमुत्कृष्टमायुः। एवं द्वितीयपृथिव्यादिषु क्रमेण त्रिसागरोपमम्, सप्तसागरोपमम्, दशसागरोपमम्, सप्तदशसागरोपमम्, द्वाविंशतिसागरोपमम्, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमम् उत्कृष्टमायुःप्रमाणं विज्ञेयम्।

अथानुषङ्गिकरूपेण नारकाणां जन्मभूमयो निरूप्यन्ते। उपर्युक्त-इन्द्रकादिबिलानामुपरि नारकजीवानां जन्मभूमयः सन्ति, या अर्द्धवृत्ता अधोमुखाकाराः वर्णिताः। प्रथमधर्मापृथिवीमारभ्य तृतीयां पृथिवीं यावत् एता जन्मभूमयः उष्ट्रिका-कोथली-कुम्भी-मुद्गलिका-मुद्गर-मृदङ्ग-नालिकासदृशाः सन्ति। चतुर्थपंचमपृथिव्योराकाराः गौ-हस्ति-अश्व-भस्त्रा-अब्जपुट-अम्बरीष-द्रोणीसदृशा भवन्ति। षष्ठसप्तमपृथिव्योः झल्लरि-मल्लक-पात्री-केयूर-मसूर-शाणक-किलिंज-ध्वज-द्वीपि-चक्रवाक-शृगाल-अज-खर-करभ-संदोलक-ऋक्ष-सदृशा आकाराः।

इसी प्रकार, नारकियों की आयु भी नीचे-नीचे क्रमशः बढ़ती जाती है। जैसे— प्रथम पृथिवी के प्रथम पटल में जघन्य आयु दस हजार वर्ष है, किन्तु क्रमशः बढ़ती हुई अन्तिम पटल में एक सागरोपम की उत्कृष्ट आयु हो जाती है। इसी क्रम से द्वितीय पृथिवी आदि में क्रमशः तीन सागरोपम, सात सागरोपम, दस सागरोपम, सत्रह सागरोपम, बाईस सागरोपम तथा (सातवीं पृथिवी में) तैंतीस सागरोपम उत्कृष्ट आयु होती है।

अब, प्रसंगवश, नारकों की जन्मभूमियों का निरूपण किया जा रहा है। उपर्युक्त इन्द्रक आदि बिलों के ऊपर, नारकी जीवों की जन्मभूमियाँ होती हैं, जो अर्द्धवृत्त एवं अधोमुख आकार वाली हैं। प्रथम 'धर्मा' नामक पृथ्वी से लेकर तीसरी पृथ्वी तक इन जन्मभूमियों के आकार क्रमशः इस प्रकार हैं— ऊँटनी, कोथली, कुम्भी, मुद्गलिका, मुद्गर, मृदंग व नाली। चौथी व पाँचवीं पृथिवी में इनके आकार क्रमशः इस प्रकार हैं— गौ, हाथी, घोड़ा, भस्त्रा, अब्जपुट, अम्बरीष और द्रोणी। छठी व सातवीं पृथिवियों में इनके आकार क्रमशः इस प्रकार हैं— झालर (वाद्यविशेष), मल्लक (पात्रविशेष), पात्री, केयूर, मसूर, शाणक, किलिंज (तृण की बनी टोकरी), ध्वज, द्वीपी, चक्रवाक, शृगाल, अज, खर, करभ, संदोलक (झूला) और ऋक्ष (रीछ)।

सर्वा जन्मभूमयः करपत्रसदृशान्तभागाः दुष्प्रेक्ष्याः, भयंकराः दुर्गन्धपूर्णाश्च वर्ण्यन्ते। एतासां जन्मभूमीनां विस्तारः जघन्यतया क्रोशपञ्चकप्रमितः, उत्कृष्टतया चतुःशतक्रोशप्रमितो भवति। आसामुच्चता विस्तारापेक्षया पञ्चगुणिता भवति।

ते नारका क्षेत्रज-मानस-शारीरदुःखैः सह असुर-कृतं दुःखमपि अनुभवन्ति। तत्र क्षेत्रजदुःखं यथा— नरक-क्षेत्रं स्वाभाविकदुर्गन्धपूर्णं भवति। अज-हस्ति-महिष-अश्व-गर्दभ-उष्ट्र-मार्जार-सर्प-मनुष्यादिकशवानां यो दूषितगन्धः, तस्मादपि अनन्तगुणितो दुर्गन्धस्तत्र स्वभावतो भवति।

दुर्गन्ध-तीव्रता च तिलोयपण्णत्तिग्रन्थे *(2/349)* इत्थं वर्णिता—

धम्माए आहारो कोसस्सब्भंतरम्मि ठिदजीवे।
इह मारदि गंधेणं सेसे कोसद्धवड्ढिया सत्ती॥

आदिपुराणेऽपि *(10/99-100)* भणितमास्ते—

सभी जन्म-भूमियाँ अन्त में करोंत के समान, देखने में भयंकर और दुर्गन्ध से भरी होती हैं। इन जन्मभूमियों का विस्तार जघन्य रूप से पाँच कोस और उत्कृष्ट रूप से चार सौ कोस जितना होता है। इनकी ऊँचाई अपने अपने विस्तार की तुलना में पाँच गुनी होती है।

वे नारकी जीव क्षेत्रजनित, मानसिक व शारीरिक दुःखों के साथ-साथ असुर-कृत दुःख को भी भोगते हैं। इनमें क्षेत्रजनित दुःख इस प्रकार हैं— नरक-क्षेत्र स्वाभाविक रूप से दुर्गन्ध से भरा होता है। बकरा, हाथी, भैंसा, घोड़ा, गधा, ऊँट, बिल्ली, सर्प व मनुष्य आदि के शवों की जो दूषित गन्ध होती है, उससे भी अनन्तगुनी दुर्गन्ध वहाँ होती है।

वह दुर्गन्ध कितनी तीक्ष्ण होती है— इसके विषय में तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ (2/349) में इस प्रकार वर्णित किया गया है—

"धर्मा पृथिवी में जो आहार है, उसकी गन्ध से यहाँ पर एक क्रोश के भीतर स्थित जीव मर सकते हैं, इसके आगे द्वितीय आदि पृथिवियों में इसकी घातक शक्ति आधा-आधा कोस और बढ़ती गई है।"

आदिपुराण (10/99-100) में भी कहा गया है—

यादृशः कटुकालाबु-काञ्जीरादिसमागमे।
रसः कटुरनिष्टश्च तद्गात्रेष्वपि तादृशः॥

श्वमार्जारखरोष्ट्रादिकुणपानां समाहृतौ।
यद् वैगन्ध्यं तदप्येषां देहगन्धस्य नोपमा॥

नरके भयसंत्रास-पीडाजनकानि भूयांसि स्थानादीनि सन्ति, येषां विषये त्रिलोकसारे *(गाथा-186-187, 191)* **इत्थं वर्णितमस्ति—**

वेदालगिरिभीमा जंतसुयक्कडगुहा य पडिमाओ।
लोहणिहग्गिकणड्ढा परसूछुरिगासिपत्तवणं॥

कूडासामलिरुक्खा वइदरणि-णदीउ खारजलपुण्णा।
पुहरुहिरा दुग्गंधा हदा य किमिकोडिकुलकलिदा॥

"कड़वी तूम्बी और काँजीर आदि के संयोग से जैसा कडुआ और अनिष्ट रस उत्पन्न होता है, वैसा ही रस नारकी जीवों के शरीर में भी उत्पन्न होता है।"

"कुत्ता, बिलाव, गधा, ऊँट आदि जीवों के मृतक शरीरों को इकट्ठा करने से जो दुर्गन्ध पैदा होती है, वह भी इन नारकियों के शरीर की दुर्गन्ध की बराबरी नहीं कर सकती।"

नरक में भय, त्रास व पीड़ा को पैदा करने वाले अनेकानेक कारण हैं, जिनके विषय में त्रिलोकसार (गाथा-186-187, 191) में इस प्रकार वर्णित है—

"वेताल जैसी आकृति वाले महाभयानक पर्वत हैं और सैकड़ों दुःखदायक यन्त्रों से उत्कट ऐसी गुफाएँ हैं। प्रतिमाएँ अर्थात् स्त्री की आकृतियाँ व पुतलियाँ अग्निकणिका से संयुक्त लोहमयी हैं। असिपत्र वन हैं, वे फरसी, छुरी, खड्ग इत्यादि शस्त्र समान यन्त्रों से युक्त (वन) हैं।"

"वहाँ झूठे (मायामयी) शाल्मली वृक्ष हैं जो महादुःखदायक हैं। वैतरणी नाम की नदी है जो खारे जल से भरी है। घिनावने रुधिर वाले महादुर्गन्धित द्रह (छोटे तालाब) हैं जो कीड़ों, कृमि-कुल से व्याप्त हैं।"

विच्छियसहस्सवेयणसमधियदुक्खं धरित्तिफासादो।

शीतेषु उष्णेषु वा नरकेषु यद् दुःखं प्राप्यते, तस्योपमानं नैव वर्तते। उक्तं चादिपुराणे *(10/89)*—

शीतोष्णनरकेष्वेषां दुःखं यदुपजायते।
तदसह्यमचिन्त्यं च बत केनोपमीयते॥

शीतोष्णनरकाणां विवरणं तिलोयपण्णत्ति-ग्रन्थे *(2/29-33)* **प्रदत्तमस्ति—**

पढमादिबितिचउक्के पंचमपुढवीए तिचउक्कभागंतं।
अदिउण्हा णिरयबिला तट्ठियजीवाण तिव्वदाघकरा॥

पंचमिखिदिए तुरिमे भागे छट्ठी य सत्तमे महिए।
अदिसीदा णिरयबिला तट्ठियजीवाण घोरसीदकरा॥

"हजारों बिच्छुओं के काटने से जैसी वेदना होती है, उससे भी अधिक वेदना यहाँ की भूमि के स्पर्श मात्र से होती है।"

शीत व उष्ण नरकों में जो दुःख प्राप्त होता है, उसका उपमान कोई नहीं है। आदिपुराण (10/89) में कहा भी है—

"शीत व उष्ण नरकों में जो असह्य व अकल्पनीय दुःख होता है, खेद है, उसकी उपमा किससे दें?"

शीत व उष्ण नरकों का विवरण तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ (2/29-33) में इस प्रकार दिया गया है—

"पहिली पृथिवी से लेकर दूसरी, तीसरी, चौथी और पाँचवीं पृथ्वी तक के चार भागों में से तीन भागों (ड) में स्थित नारकी जीवों के बिल अति उष्ण होने से वहाँ रहने वाले जीवों को तीव्र गर्मी की पीड़ा पहुँचाने वाले हैं।"

"पाँचवीं पृथिवी के अवशिष्ट चतुर्थ भाग में, तथा छठी व सातवीं पृथिवी में स्थित नारकियों के बिल अत्यन्त शीत होने से वहाँ रहने वालों को भयानक शीत की वेदना देने वाले हैं।"

वासीदीलक्खाणं उण्हबिला पंचवीसदिसहस्सा।
पणहत्तरिं सहस्सा अदिसीदबिलाणि इगि लक्खं॥

मेरुसमलोहपिंडं सीदं उण्हे बिलम्मि पक्खित्तं।
ण लहदि तलप्पदेसं विलीयदे मयणखंडं व॥

मेरुसमलोहपिंडं उण्हं सीदे बिलम्मि पक्खित्तं।
ण लहदि तलप्पदेसं विलीयदे लवणखंडं व॥

एवमेव नारकजीवाः मानसिक-शारीरिकैरपि दुःखैर्युक्ताः, भयाक्रान्ताश्च भवन्ति। उत्पद्य पर्याप्तिभिः पूर्णतां गतो नारकः अकस्माद्भीतस्त्रस्तो वेपमानो भवन् विविधायुधानामुपरि पतित्वा तत उच्छलति, उत्पतति वा। प्रथमनरके जीवः सप्त उत्सेधयोजनानि, सार्द्धषट्सहस्रधनूंषि चोर्ध्वमुत्पतति, शेषपृथिवीषु तु क्रमशोः नीचैरुत्तरोत्तरं द्विगुणक्षेत्रं स समुत्पतति। अन्यानि च यानि दुःखानि तत्र प्राप्यन्ते, तद्विषये ज्ञानार्णवे *(36/77-78)* **प्रोक्तम्—**

"नारकियों के उपर्युक्त चौरासी लाख बिलों में से बयासी लाख पच्चीस हजार बिल उष्ण हैं और एक लाख पचहतर हजार बिल अत्यन्त शीत हैं।"

"यदि उष्ण बिल में मेरु के बराबर लोहे का पिण्ड डाल दिया जाय, तो वह तल-प्रदेश तक नहीं पहुँच कर बीच में ही नमक की डली के समान पिघलकर नष्ट हो जाएगा।"

"इसी प्रकार यदि मेरुपर्वत के बराबर लोहे का उष्ण पिण्ड शीत बिल में डाल दिया जाय तो वह भी तलप्रदेश तक नहीं पहुँचकर बीच में ही नमक के टुकड़े के समान विलीन हो जावेगा।"

इसी तरह नारकी जीव मानसिक, शारीरिक दुःखों से युक्त होकर भयभीत रहते हैं। उत्पन्न होते ही, पर्याप्तियों को पूर्णकर नारकी जीव अकस्माद् भयग्रस्त होकर काँपता हुआ विविध आयुधों के ऊपर गिरकर उछलता है या गिरता है। प्रथम नरक में जीव सात उत्सेध योजन और छः हजार पाँच सौ धनुष प्रमाण ऊपर उछलता है, इसके आगे की अन्य पृथिवियों में उछलने का प्रमाण क्रमशः उत्तरोत्तर दुगुना दुगुना होता जाता है। वहाँ अन्य प्रकार के भी जो अनेक दुःख प्राप्त होते हैं, उनके बारे में ज्ञानार्णव (36/77-78) में कहा गया है—

बुभुक्षा जायतेऽत्यर्थं नरके तत्र देहिनाम्।
यां न शामयितुं शक्तः पुद्गलप्रचयोऽखिलः॥

तृष्णा भवति या तेषु वाडवाग्निरिवोल्वणा।
न सा शाम्यति निःशेषपीतैरप्यम्बुराशिभिः॥

तिलोयपण्णत्तिग्रन्थेऽपि *(2/343, 345)* **निरूपितम्—**

अइतित्तकडुवकत्थरिसत्तीदो मट्टियं अणंतगुणं।
धम्माए णारइया थोवं ति चिरेण भुंजंति॥

अदिकुणिममसुहमण्णं रयणप्पहपहुदि जाव चरिमखिदिं।
संखातीदगुणेणं दुगुच्छणिज्जो हु आहारो॥

नारकाः प्रचुररोगाक्रान्ता भवन्ति। उक्तं च ज्ञानार्णवे *(36/20)*—

"वहाँ नरकों में नारकी जीवों को इतनी अधिक भूख लगती है कि उसको शान्त करने के लिए समस्त पुद्गलों का समूह भी समर्थ नहीं हो सकता है।"

"उन नरकों में प्राणियों को बड़वाग्नि के समान इतनी उत्कट प्यास लगती है कि वह समस्त समुद्र का पानी भी पी ले तो शान्त नहीं होती।"

तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ (2/343, 345) में भी कहा गया है—

"धर्मा पृथिवी के नारकी अत्यन्त तीखी और कड़वी कत्थरी (कचरी आदि) की शक्ति से अनन्तगुनी तीखी और कड़वी थोड़ी-सी मिट्टी को चिरकाल में खा पाते हैं।"

"रत्नप्रभा से लेकर अन्तिम पृथिवी तक, अत्यन्त सड़ा, अशुभ और उत्तरोत्तर असंख्यातगुना ग्लानिकारक अन्न का आहार होता है।"

नारकी जीव अनेकानेक रोगों से (अधिकाधिक) आक्रान्त होते हैं। ज्ञानार्णव (36/20) में कहा भी गया है—

दुःसहा निष्प्रतीकारा ये रोगाः सन्ति केचन।
साकल्येनैव गात्रेषु नारकाणां भवन्ति ते॥

अन्यच्च, ते नारकाः *'परस्परोदीरितदुःखाः' (त. सू. 3/4)* **भवन्ति। ते भवप्रत्ययेन अवधिज्ञानेन दूरादेव दुःखहेतून् ज्ञात्वा दुःखिताः भवन्ति, परस्परं समीपमागत्य अन्यावलोकनादेव प्रज्वलित-कोपानलाः जायन्ते, पूर्वभववैरस्मरणाच्च तीव्रवैरानुबन्धयुक्ताः श्वशृगालवत् परस्परोपघाते प्रवर्तन्ते। ते च स्वविक्रियाभिः विविधायुधानि निर्मीय परस्परं छेदन-भेदन-तक्षण-दंशनादिभिः परस्परस्य तीव्रदुःखानि उत्पादयन्ति। अन्यच्च, केचन अम्बाम्बरीषादयोऽसुरकुमारनिकायदेवाः अपि तान् नारकान् दुःखितान् कुर्वन्ति, विविधप्रकारैः पीडयन्ति। ते असुराः तृतीयां पृथ्वीं यावदेव गन्तुं प्रभवन्ति, अर्थात् चतुर्थनरके गन्तुं न प्रभवन्ति, अतः असुरोदीरितदुःखोत्पादनं चतुर्थनरकात् प्रागेव।**

उक्तं च तत्त्वार्थसूत्रे *(3/5)— 'संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः'* **इति।**

''जितने ही रोग दुःसह और असाध्य होते हैं, वे समस्त रूप में नारकियों के शरीर में होते हैं।''

और भी, वे नारकी जीव परस्पर भी एक दूसरे को दुःख देते रहते हैं (त. सू. 3/4)। वे जन्मतः अवधिज्ञानी होते हैं, इसलिए अपने अवधिज्ञान के द्वारा दूर से ही भावी दुःख के कारणों को जान लेते हैं और दुःखी हो जाते हैं। जब वे परस्पर एक दूसरे के निकट आते हैं, तो दूसरे को देखते ही उनकी क्रोधाग्नि भभक उठती है, तथा पूर्वभव के वैर का स्मरण होने से उनके वैर की गाँठ और दृढ़तर होती जाती है, परिणामतः वे कुत्ता और गीदड़ की तरह एक दूसरे का घात करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। वे अपनी विक्रिया शक्ति से विविध आयुधों का निर्माण कर परस्पर, एक दूसरे को छेदने, भेदने, छीलने व काटने आदि के द्वारा परस्पर दुःख देते हैं। और भी, अम्बाम्बरीष आदि कुछ असुरनिकायस्थ देव भी उन नारकी जीवों को दुःखी करते हैं और अनेक प्रकार से पीड़ित करते हैं। वे असुर देव तीसरी पृथ्वी तक जा पाते हैं, अर्थात् चौथी पृथ्वी में जा नहीं पाते, इसलिए असुरों द्वारा उत्पादित दुःख की प्राप्ति चौथी पृथिवी से पूर्व तक ही है।

तत्त्वार्थसूत्र (3/5) में कहा भी है— ''चौथी भूमि से पहले तक वे संक्लिष्ट (उनमें जो पूर्वोपार्जित पापकर्म के कारण संक्लेश रूप परिणाम से युक्त होते हैं, उन) असुर देवों द्वारा उत्पन्न किये गये दुःख वाले होते हैं।''

अपि च आदिपुराणे *(10/41)* **भणितमास्ते—**

चोदयन्त्यसुराश्चैनान् यूयं युध्यध्वमित्यरम्।
संस्मार्य पूर्ववैराणि प्राक् चतुर्थ्याः सुदारुणाः॥

एवं नरकगतौ उपलभ्यमानदुःखसन्ततिं विज्ञाय नरकगतिर्न बद्ध्येत —इत्यर्थं सदा जीवेन प्रयतितव्यम्। तदर्थं व्रतनियमसंयमधारणं कर्तव्यम्, पञ्चपरमेष्ठिभक्तिरपि विधातव्या, चतुर्विधसंघस्य निःस्वार्थसेवादिकमपि यथाशक्ति अनुष्ठातव्यम्। नरकगतिकर्मण आस्रवभूतानां बहुआरम्भ-बहुपरिग्रहादि-अशुभ-प्रवृत्तीनां त्यागस्तु कर्तव्य एव नरकभीतेन जनेन।

तथैव *(मज्झे)* **मध्ये, मध्यलोके इत्यर्थः।** *(दीवंबुरासयोऽसंखा)* **द्वीपाः, अम्बुराशयः समुद्राः इत्यर्थः, ते च असंख्याः वर्तन्ते। अयम्भावः— मध्यलोके जम्बूद्वीपादिद्वीपानां, लवणोदधिप्रभृति-समुद्राणां चासंख्यातानां स्थितिः। तत्र द्वीपं परितः समुद्रो वलयरूपेण वेष्टयति, समुद्रं च अनन्तरद्वीपो परितो तद्वलयरूपेण —इत्येवं क्रमः। यथा— तत्र जम्बूद्वीपः सर्वद्वीपसमुद्रमध्यस्थितः, लक्षयोजन-**

आदिपुराण (10/41) में भी कहा गया है—

''पहले की तीन पृथिवियों तक अतिशय भयंकर असुरकुमार जाति के देव जाकर वहाँ के नारकियों को उनके पूर्वभव के वैर का स्मरण कराकर परस्पर में लड़ने के लिए प्रेरित करते रहते हैं।''

इस प्रकार, नरक गति में प्राप्त होने वाली दुःख-परम्परा को जान-समझकर, जीव द्वारा ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि नरकगति का बन्ध न हो। इसके लिए व्रत, नियम, संयम को धारण करना चाहिए, पञ्च परमेष्ठियों की भक्ति भी करनी चाहिए, तथा चतुर्विधसंघ की निःस्वार्थ सेवा आदि भी यथाशक्ति करनी चाहिए। नरकगति से भयभीत व्यक्ति को नरकगति के आस्रवभूत, अत्यधिक आरम्भ व अत्यधिक परिग्रह आदि अशुभ प्रवृत्तियों का त्याग तो करना ही चाहिए।

इसी तरह, **(मध्ये)** मध्य यानी मध्यलोक में। **(द्वीपाम्बुराशयोऽसंख्याः)** द्वीप और अम्बुराशि यानी समुद्र जो संख्यातीत हैं। तात्पर्य यह है— मध्यलोक में जम्बूद्वीप आदि द्वीप एवं लवणोदधि आदि समुद्र, ये असंख्यात हैं। इनमें द्वीप को चारों ओर वलयाकार समुद्र घेरे रहता है और समुद्र को आगे का द्वीप वलय रूप में घेरे हुए है— इसी क्रम से द्वीप व समुद्रों की स्थिति है। जैसे— समस्त द्वीप-समुद्रों के मध्य में, एक लाख योजन गोल विस्तार वाला जम्बूद्वीप स्थित है, उसके बीचोंबीच सूर्यमण्डल की तरह गोल आकार

विष्कम्भः, तन्मध्ये च सूर्यमण्डलवत् वृत्ताकारो नाभिरूपो मेरुपवर्तः। जम्बूद्वीपं च परितो वेष्टयन्, तद्द्विगुणविष्कम्भो द्विलक्षयोजनवलयविष्कम्भो लवणजलधिः, तमपि वेष्टयन् तज्जलधेर्द्विगुण-विष्कम्भो चतुर्लक्षयोजनात्मकवलयविष्कम्भः धातकीखण्डद्वीपः, तमपि वेष्टयन् कालोदकसमुद्रः, एवं क्रमेण पुष्करवरो द्वीपः, पुष्करवरः समुद्रः, वारुणीवरो द्वीपः, वारुणीवरः समुद्रः, क्षीरवरो द्वीपः, क्षीरवरः समुद्रः, घृतवरो द्वीपः, घृतवरः समुद्रः, इक्षुवरो द्वीपः, इक्षुवरः समुद्रः, नन्दीश्वरो द्वीपः, नन्दीश्वरसमुद्रः, अरुणवरो द्वीपः, अरुणवरः समुद्रः, इत्येवंक्रमेण असंख्यातद्वीपसमुद्रानन्तरमन्ते स्वयम्भूरमणद्वीपः, तथा तमपि वेष्टयन् स्वयम्भूरमणसमुद्रो वर्तते।

तत्र मनुष्यलोकस्तु सार्धद्वयद्वीपं यावदेव स्थितः। पूर्वं जम्बूद्वीपः, ततो लवणोदधिः, तदनन्तरं धातकीखण्डद्वीपः, ततः कालोदकः (कालोदधिः), ततश्च पुष्करवरद्वीपो वर्तते। तत्र पुष्करवरद्वीपस्य मध्ये कुण्डलाकारः मानुषोत्तरपर्वतः। जम्बूद्वीपादारभ्य मानुषोत्तरपर्यन्तं सार्धद्वयद्वीपान्तरं क्षेत्रमेव मनुष्यलोकः, न ततो बहिः। नियमतो मानुषोत्तरात् प्रागेव मनुष्याः सम्भवन्ति। न कश्चिन्मनुष्यो मानुषोत्तरपर्वतमुल्लंघयितुं समर्थः।

का नाभि की तरह मेरु पर्वत स्थित है। जम्बूद्वीप को चारों ओर से घेरते हुए, जम्बूद्वीप से दुगुने विस्तार वाला— दो लाख योजन परिधि-प्रमाण वाला लवणसमुद्र स्थित है। उसे भी घेरते हुए, उस समुद्र से दुगुने विस्तार वाला, अर्थात् गोलाई में चार लाख योजन विस्तार वाला धातकीखण्ड द्वीप है। उसे भी घेरता हुआ कालोदक समुद्र है, इस क्रम से आगे पुष्करवर द्वीप, पुष्करवर समुद्र, वारुणीवर द्वीप, वारुणीवर समुद्र, क्षीरवर द्वीप, क्षीरवर समुद्र, घृतवर द्वीप, घृतवर समुद्र, इक्षुवर द्वीप, इक्षुवर समुद्र, नन्दीश्वर द्वीप, नन्दीश्वर समुद्र, अरुणवर द्वीप, अरुणवर समुद्र —इस तरह क्रमशः असंख्यात द्वीप-समुद्रों के अनन्तर, अन्त में स्वयम्भूरमण द्वीप है, और उसे भी घेरता हुआ स्वयम्भूरमण समुद्र स्थित है।

इनमें मनुष्यलोक की स्थिति अढ़ाई द्वीप तक ही है। पहले जम्बूद्वीप, उसके बाद लवणसमुद्र, उसके बाद घातकीखण्ड द्वीप है, उसके बाद कालोदक (कालोदधि) समुद्र है, उसके बाद पुष्करवर द्वीप है। पुष्करवर द्वीप के बीच में कुण्डाकार मानुषोत्तर पर्वत है। जम्बूद्वीप से लेकर मानुषोत्तर पर्वत तक अढ़ाई द्वीपों वाला क्षेत्र ही मनुष्य-लोक है, उसके बाहर नहीं है। नियम से मानुषोत्तर पर्वत से पूर्व तक ही मनुष्यों का सद्भाव सम्भव है। कोई मनुष्य मानुषोत्तरपर्वत को लांघकर नहीं जा सकता।

तत्र जम्बूद्वीपे षड्भिः कुलपर्वतैर्विभक्तानि सप्त क्षेत्राणि सन्ति। यथा— भरतक्षेत्रम्, हैमवतक्षेत्रम्, हरिक्षेत्रम्, विदेहक्षेत्रम्, रम्यकक्षेत्रम्, हैरण्यवतक्षेत्रम्, ऐरावतक्षेत्रं चेति। तत्र कुलपर्वतानां षण्णां नामानि सन्ति —हिमवान्, महाहिमवान्, निषधः, नीलः, रुक्मी, शिखरी चेति। यश्च हिमवान् पर्वतः, तस्य दक्षिणदिग्भागे आरोपितधनुषाकृतिः भरतवर्षः। विजयार्द्धेन गङ्गासिन्धुभ्यां च विभक्तः सन् स षट्खण्डात्मकः। भरतक्षेत्रस्य विस्तारः षड्विंशाधिकपञ्चशतयोजनप्रमितः, एकोनविंशति-विभक्तषड्योजनाधिकश्च वर्ण्यते।

तत्र सामान्यतया भरत-ऐरावतक्षेत्रयोः, तथा देवकुरुउत्तरकुरुभागं विहाय विदेहक्षेत्रे च कर्मभूमयः, अन्यत्र भोगभूमयः सन्ति। शुभाशुभकर्मणां प्रकृष्टानामुपार्जनमत्रैव कर्मभूमिषु भवति। पञ्च भरतक्षेत्रे, पञ्च ऐरावते, पञ्च च विदेहे— इति संहत्य सर्वाः कर्मभूमयः पञ्चदश भवन्ति। भोगभूमयस्तु सर्वाः त्रिंशत् वर्तन्ते। कर्मभूमिषु (भोगभूमिषु च) मनुष्याणां तिरश्चां च जघन्यमायु-रन्तर्मुहूर्तमात्रम्, उत्कृष्टन्तु त्रिपल्यप्रमितं स्वीकृतम्।

इस जम्बूद्वीप में भी छः कुल-पर्वतों से विभक्त होने वाले सात क्षेत्र हैं। उदाहरणार्थ (इनके नाम हैं)— भरत क्षेत्र, हैमवत क्षेत्र, हरिक्षेत्र, विदेहक्षेत्र, रम्यकक्षेत्र, हैरण्यवत क्षेत्र, और ऐरावत क्षेत्र। इन छः कुलपर्वतों के नाम इस प्रकार हैं— हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी। यह जो हिमवान् पर्वत है, उसके दक्षिण दिशा में स्थित तथा चढ़ाये हुए धनुष के आकार वाला भरत क्षेत्र है जो विजयार्द्ध पर्वत और गंगा व सिन्धु नदियों से विभाजित होकर छः खण्डों में बँटा हुआ है। भरत क्षेत्र का विस्तार पाँच सौ छब्बीस व छः बटे उन्नीस ($526\ ^{6/19}$) योजन बताया जाता है।

सामान्यतया भरत-ऐरावत क्षेत्रों में तथा देवकुरु व उत्तरकुरु को छोड़कर विदेह क्षेत्र में कर्मभूमियाँ हैं, अन्यत्र भोगभूमियाँ हैं। प्रकृष्ट शुभ व अशुभ कर्मों का उपार्जन यहीं कर्मभूमियों में ही सम्भव है। भरत क्षेत्र में पाँच, ऐरावत में पाँच, विदेह में पाँच, इस प्रकार सब मिलाकर सब कर्मभूमियाँ पन्द्रह होती हैं। भोगभूमियों की संख्या तीस है। कर्मभूमि (व भोगभूमि), इनमें मनुष्य व तिर्यञ्चों की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट आयु तीन पल्य प्रमाण होती है।

मनुष्यलोके द्विहीनशतचतुष्टयमकृत्रिमस्वतन्त्रजिनालयानां वर्तते। तिर्यग्लोके तु नन्दीश्वर-कुण्डलरुचकेतिद्वीपत्रये क्रमेण द्विपञ्चाशत्, चत्वारि, चत्वारि चाकृत्रिमजिनचैत्यालया वर्तन्ते। एवं मध्यलोके अष्टपञ्चाशदधिकचतुःशतसंख्यका अकृत्रिमजिनालयाः सन्ति —इति विज्ञेयम्। मध्यलोकस्य विस्तारतो वर्णनं ग्रन्थान्तरैर्विज्ञातुं शक्यते। विस्तारभयान्नाधिकमत्र लिख्यते।

(सग्गो तिसट्ठिभेदो) **स्वर्गाणां त्रिषष्टिपटलानि भवन्ति। एतेषां पटलानां विवरणमग्रे शास्त्रकारा गाथायां निरूपयिष्यन्ति।**

(एसो उड्ढं) **एतेभ्यः त्रिषष्टिस्वर्गपटलेभ्योऽपि उपरि,** *(मोक्खो हवे)* **मोक्षः, मोक्षस्थानं, मुक्तनिवासः, सिद्धशिला वर्तते। मोक्ष्यते अस्यते समस्तकर्मसमूहो येन, कर्माष्टकस्यासनमात्रं वा मोक्षः। एवं समस्तकर्मोच्छेदरूपो मोक्ष इति भावः। अथवा निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्य अशरीरस्य आत्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणम्, अव्याबाधसुखम्, आत्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्षः इति। एतस्यैव सिद्धगतिरिति नामान्तरम्।**

मनुष्यलोक में तीन सौ अठानवे (398) अकृत्रिम जिनालय हैं। तिर्यग्लोक (मध्यलोक) में तो नन्दीश्वरद्वीप, कुण्डलद्वीप व रुचकद्वीप —इन तीन द्वीपों में क्रमशः बावन, चार, चार अकृत्रिम जिन चैत्यालय हैं। इस प्रकार मध्यलोक में कुल चार सौ अट्ठावन अकृत्रिम जिनालय विद्यमान हैं— ऐसा ज्ञातव्य है। मध्यलोक का विस्तार से वर्णन अन्य ग्रन्थों से जाना जा सकता है। विस्तारभय से और अधिक नहीं लिख रहे हैं।

(स्वर्गः त्रिषष्टिभेदः) स्वर्गों के तिरेसठ पटल होते हैं। इन पटलों का विवरण आगे (स्वयं) शास्त्रकार एक गाथा में प्रस्तुत करेंगे।

(एतस्मात् ऊर्ध्वम्) इन तिरेसठ स्वर्ग-पटलों से भी ऊपर, **(मोक्षः भवति)** मोक्ष यानी मोक्ष-स्थान, मुक्ति-निवास, सिद्धशिला है। जिससे समस्त कर्म-समूह उच्छिन्न हो जाय, वह या आठ कर्मों का उच्छेद होना 'मोक्ष' कहा जाता है। इस तरह मोक्ष से तात्पर्य है— समस्त कर्मों का उच्छेद। अथवा जब आत्मा कर्म-मल (आठों कर्म), (रागादि) कलंक, और शरीर को स्वयं से पृथक् कर देता है, तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुख रूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है, उसे 'मोक्ष' कहते हैं। इसका ही दूसरा नाम सिद्धगति है।

उक्तं च प्राकृतपञ्चसंग्रहे *(गाथा-64)*—

जाइजरामरणभया संजोयविओयदुक्खसण्णाओ।
रोगादिया य जस्स ण होंति सा होइ सिद्धिगई॥

अपि च भगवती-आराधनेतिग्रन्थे *(गाथा-2127)* **प्रोक्तम्**—

ईसिप्पब्भाराए उवरिं अत्थदि सो जोयणम्मि सीदाए।
धुवमचलमजरठाणं लोगसिहरमस्सिदो सिद्धो॥

सिद्धलोकस्वरूपं विवृण्वता तिलोयपण्णत्तौ *(8/652-58)* **यतिवृषभाचार्यवरेण प्रत्यपादि**—

सव्वट्ठसिद्धिइंदयकेदणदंडादु उवरि गंतूणं।
बारस जोयणमेत्तं अट्ठमिया चेट्ठदे पुढवी॥

पुव्वावरेण तीए उवरिमहेट्ठिमतलेसु पत्तेक्कं।
वासो हवेदि एक्का रज्जू रूवेण परिहीणा।

प्राकृत पंचसंग्रह (गाथा-64) में कहा भी है— "जहाँ जन्म, वृद्धावस्था, मरण, भय, संयोग-वियोग, दु:ख, संज्ञा व रोग आदि नहीं होते, वह सिद्ध गति कहलाती है।"

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-2127) में कहा भी है— "ईषत्प्राग्भार नाम की आठवीं पृथिवी के कुछ ऊपर एक योजन पर लोक का शिखर स्थित है जो ध्रुव, अचल और अजर है। उस पर सिद्ध जीव स्थित होता है।"

सिद्धलोक के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ (8/652-58) इस प्रकार में प्रतिपादित किया है—

"सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक के ध्वज-दण्ड से बारह योजन मात्र ऊपर जाकर आठवीं पृथिवी स्थित है।"

"उसके ऊपरी और नीचे के तल में से प्रत्येक का विस्तार पूर्व-पश्चिम में रूप रहित एक राजु प्रमाण है।"

उत्तरदक्खिणभाए दीहा किंचूणसत्तरज्जूओ।
वेत्तासणसंठाणा सा पुढवी अट्ठजोयणबहला॥

जुत्ता घणोवहिघणाणिलतणुवादेहि तिहि समीरेहिं।
जोयणवीससहस्सं पमाणबहलेहिं पत्तेक्कं॥

एदाए बहुमज्झे खेत्तं णामेण ईसिपब्भारं।
अज्जुणसुवण्णसरिसं णाणारयणेहिं परिपुण्णं॥

उत्ताणधवलछत्तोवमाणसंठाणसुंदरं एदं।
पंचत्तालं जोयणलक्खाणिं वाससंजुत्तं॥

तम्मज्झबहलमट्ठं जोयणया अंगुलं पि यंतम्मि।
अट्ठमभूमज्झगदो तप्परिही मणुवखेत्तपरिहिसमो॥

अपि च तत्रैव *(9/3)* प्रोक्तम्—

"वेत्रासन के समान यह पृथिवी उत्तर-दक्षिण भाग में कुछ कम सात राजु लंबी और आठ योजन मोटाई (बाहल्य) वाली है।"

"यह पृथिवी घनोदधि, घनवात और तनुवात —इन वायुओं से युक्त है। इनमें से प्रत्येक वायु का बाहल्य बीस हजार योजन प्रमाण है।"

"इसके बहुमध्य भाग में चाँदी व सुवर्ण के समान और नाना रत्नों से परिपूर्ण ईषत् प्राग्भार नामक क्षेत्र है।"

"यह क्षेत्र उत्तान धवल छत्र के समान आकार से सुन्दर और पैंतालीस लाख योजन प्रमाण विस्तार से संयुक्त है।"

"उसका मध्यबाहल्य आठ योजन और अन्त में एक अंगुल मात्र है। आठवीं भूमि में स्थित सिद्ध क्षेत्र की परिधि मनुष्य क्षेत्र की परिधि के समान है।"

और भी वहीं (9/3) कहा गया है—

अट्ठमखिदीए उवरिं पण्णासब्भहियसत्तयसहस्सा।
दंडाणिं गंतूणं सिद्धाणं होदि आवासो॥

एवं प्रकारेण भो ज्ञानिजीव! अधोलोक-मध्यलोक-स्वर्गपटलादिज्ञानं समवगत्य सिद्धलोकवासिकार्यसमयसारस्वरूपं मनसि श्रद्धातव्यम्, तथा स्वशरीरे कारण-समयसाररूप-परब्रह्मण: सदा निवासोऽस्ति —इति च प्रत्येतव्यम्, तत्रैव उपादेयबुद्धिं विधाय रति: कर्तव्या। अन्यत्र लोके दुरन्तविस्तारे मा विहारं कार्षी: —इति गाथाया: तात्पर्यार्थो ग्राह्य:।

अथ सम्प्रति स्वर्गसम्बन्धित्रिषष्टिपटलानां विवरणं शास्त्रकारैर्निर्दिश्यते—

इगतीस-सत्त-चत्तारि-दोण्णि-एक्केक्क-छक्क-चदुकप्पे।
तित्तिय एक्केक्केंदय-णामा उडुआदि तेसट्ठी॥४१॥

छाया— एकत्रिंशत्-सप्त-चत्वारि द्वौ एकैकं षट्कं चतु:कल्पम्।
त्रित्रिकमेकैकेन्द्रकनामानि ऋत्वादि त्रिषष्टि:॥

"आठवीं पृथिवी से सात हजार पचास धनुष प्रमाण क्षेत्र ऊपर जाकर सिद्धों का आवास है।"

इस प्रकार, हे ज्ञानी जीव! अधोलोक, मध्यलोक व स्वर्ग-पटलों आदि की जानकारी प्राप्त कर, सिद्धलोक में स्थित कार्यसमयसार के स्वरूप का मन में श्रद्धान करें, और अपने देह में 'कारणसमयसार' परब्रह्म का सर्वदा निवास है— इस पर भी विश्वास करें, और वहीं उपादेय बुद्धि कर, वहीं रति करनी चाहिए। अन्यत्र इस लोक में, जिसका अन्त पाना कठिन है, विहार न करें —इस प्रकार गाथा का तात्पर्यार्थ ग्रहण करना चाहिए।

अब शास्त्रकार स्वर्ग के तिरेसठ पटलों का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

(41)

(गाथा-अर्थ—) (सौधर्म से लेकर अनुत्तर विमानों के स्वर्गों में क्रमश:) इकतीस, सात, चार, दो, एक, एक, चार कल्पों में छ:, तीन तीन (अर्थात् नौ), एक, एक —इस प्रकार (कुल मिलाकर) इन्द्रक नामक तिरेसठ पटल होते हैं।

(सर्वोदया टीका—) इन्द्रकः, प्रस्तारः इति पटलस्य पर्यायौ स्तः। सुमेरुपर्वतस्य चूलिकायाः उत्तमभोगभूमिज-मनुष्यैककेशान्तरमुपरि स्वर्गस्य पटलानां प्रारम्भो भवति। अयम्भावः— स्वर्गाणां संख्या षोडश स्वीकृताः, यथा— सौधर्मः, ऐशानः, सनत्कुमारः, माहेन्द्रः, ब्रह्मः, ब्रह्मोत्तरः, लान्तवः, कापिष्ठः, शुक्रः, महाशुक्रः, शतारः, सहस्रारः, आनतः, प्राणतः, आरणः, अच्युतश्चेति। तत उपरि नवग्रैवेयकवैमानिकदेवाः, ततोऽनन्तरं नवविमानसंख्याकं नवानुदिशसंज्ञकमेकं पटलम्, ततोऽपि अनन्तरं पञ्चविमानसंख्याकं पञ्चानुत्तरसंज्ञकं पटलमेकम्। तत उपरि तु मोक्षशिला।

तत्र मेरुचूलिकोपरि आकाशस्थं सौधर्मैशानेति स्वर्गयुगलं वर्तते —इति प्रागुक्तम्। तद्विषये विशेषः— आदिमध्यान्तेषु द्वादश-अष्ट-चतुर्योजनवृत्तविष्कम्भा चत्वारिंशद्योजनप्रमितोत्सेधा मेरुचूलिका वर्तते, तस्याः कुरुभूमि-उत्पन्नमनुष्यबालाग्रान्तरेण ऋतुविमानं (ऋजुविमानं वा) वर्तते। तदादिं विधाय चूलिकासहितलक्षयोजनप्रमाणं मेरोरुत्सेधमानम्, ततः सार्द्धैकरज्जुप्रमाणमाकाशक्षेत्रं यद् वर्तते, तत्पर्यन्तं सौधर्मैशानसंज्ञकौ स्वर्गौ भवतः।

(सर्वोदया टीका—) इन्द्रक और प्रस्तार —ये दोनों पटल के पर्याय हैं। सुमेरु पर्वत की चूलिका से ऊपर, उत्तम भोगभूमि में जन्मे मनुष्य के बाल के अग्रभाग जितने अन्तर के बाद, स्वर्ग-पटलों का सद्भाव प्रारम्भ होता है। तात्पर्य यह है— स्वर्गों की कुल संख्या सोलह मानी गई है, जैसे सौधर्म, ऐशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत। उनके ऊपर नवग्रैवेयक वैमानिक देवों का निवास है। उसके बाद नव विमानों की संख्यावाला नवअनुदिश देवों का एक पटल है, उससे भी ऊपर पाँच अनुत्तर नामक पाँच विमानों का एक पटल है। उसके ऊपर तो मोक्षशिला है।

यहाँ मेरुचूलिका के ऊपर आकाश में सौधर्म-ईशान नामक स्वर्गयुगल स्थित है— यह पहले बताया गया है। इस विषय में विशेष कथनीय यह है— मेरु पर्वत की चूलिका आदि में बारह, मध्य में आठ और अन्त में चार योजन प्रमाण गोल व्यास वाली, चालीस योजन ऊँची है। उसके ऊपर, (देवकुरु-उत्तरकुरु —इन) कुरुभूमि में उत्पन्न मनुष्यों के बाल के अग्रभाग जितने अन्तर क्षेत्र के बाद, ऋतु-विमान (या ऋजुविमान) की स्थिति है। चूलिका सहित मेरु पर्वत की ऊँचाई का प्रमाण एक लाख योजन है, उस ऊँचाई से शुरू करके, डेढ़ राजू प्रमाण जो आकाश-क्षेत्र है, वहाँ तक सौधर्म-ईशान नामक स्वर्ग-युगल है।

एवं सौधर्मैशानयोरुपरि सार्द्धैकरज्जुपर्यन्तं सनत्कुमारमाहेन्द्रनामकं स्वर्गयुगलं वर्तते। तस्मादुपर्यर्धरज्जुप्रमाणाकाशपर्यन्तं ब्रह्मब्रह्मोत्तरसंज्ञकं स्वर्गयुगलम्। ततश्च अर्द्धरज्जुप्रमाणाकाशपर्यन्तं लान्तव-कापिष्ठनामकं स्वर्गयुगलम्, ततश्चार्द्धरज्जुपर्यन्तं शुक्र-महाशुक्रनामकं स्वर्गद्वयं वर्तते। ततश्चार्द्धरज्जुपर्यन्तं शतारसहस्रारनामकं स्वर्गयुगलम्, ततोऽपि अर्द्धरज्जुपर्यन्तमानतप्राणतसंज्ञकं स्वर्गयुगलम्, ततः परमर्द्धरज्जुपर्यन्तं नभो यावत् आरण-अच्युतसंज्ञकं स्वर्गयुगलं भवतीति ज्ञेयम्।

एषु षोडशस्वर्गेषु इन्द्राणां संख्या द्वादशैव, यतो हि प्रथमद्वितीयस्वर्गयुगलयोः चत्वार इन्द्राः, मध्ययुगलचतुष्टये तु (अष्टसु स्वर्गेषु) चत्वार इन्द्राः, उपरितन-स्वर्गयुगलद्वये चत्वारः —इत्येवं संहत्य द्वादशेन्द्रा भवन्ति। षोडशस्वर्गादुपरि एकरज्जुक्षेत्रे नव ग्रैवेयकाः, नव अनुदिशाः, पञ्च अनुत्तरविमानानि च सन्ति। तत उपरि द्वादश-योजनेषु गतेषु मोक्षशिला, या मनुष्यलोकवत् पञ्चचत्वारिंशल्लक्ष-योजनविस्तृता वर्तते। तत उपरि घनोदधि-घनवात-तनुवातेतित्रयम्, तत्र तनुवातमध्ये लोकान्ते सिद्धानां स्थितिः।

इस प्रकार, सौधर्म व ईशान स्वर्ग के ऊपर डेढ़ रज्जु प्रमाण क्षेत्र पर्यन्त आकाश-क्षेत्र में सनत्कुमार व माहेन्द्र नाम के दो स्वर्ग स्थित हैं। उनसे ऊपर आधा राजु प्रमाण क्षेत्र पर्यन्त ब्रह्म व ब्रह्मोतर नामक दो स्वर्ग हैं। उससे ऊपर डेढ़ राजु क्षेत्र पर्यन्त लान्तव कापिष्ठ नामक दो स्वर्ग हैं, उससे आधा राजु पर्यन्त क्षेत्र में शुक्र व महाशुक्र नामक दो स्वर्ग स्थित हैं, उससे ऊपर आधा राजु पर्यन्त क्षेत्र में शतार व सहस्रार नामक दो स्वर्ग स्थित हैं, उससे भी ऊपर आधा राजु पर्यन्त क्षेत्र में आनत व प्राणत नामक दो स्वर्ग हैं, उससे ऊपर आधा राजु पर्यन्त क्षेत्र में आरण व अच्युत नामक दो स्वर्ग हैं— यह जानें।

इन सोलह स्वर्गों में इन्द्रों की संख्या बारह ही है, क्योंकि प्रथम-द्वितीय स्वर्ग-युगल में चार इन्द्र हैं, मध्य के चार युगलों (ब्रह्म से लेकर सहस्रार) तक (आठ स्वर्गों में) चार ही इन्द्र हैं, ऊपर के दो स्वर्ग-युगलों (आनत से लेकर अच्युत) तक चार इन्द्र हैं, इस प्रकार कुल मिलाकर बारह इन्द्र होते हैं। सोलह स्वर्गों से ऊपर, एक राजु प्रमाण क्षेत्र में नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमान स्थित हैं। उससे भी ऊपर बारह योजन जाने पर मोक्षशिला है, जो मनुष्यलोक के समान पैंतालीस लाख योजन विस्तार वाली है। उससे ऊपर घनोदधि, घनवात, तनुवात —ये तीनवलय हैं, उनमें तनुवात के मध्य में और लोक के अन्त में केवलज्ञान आदि अनन्तगुणों सहित सिद्ध आत्माओं की स्थिति है।

तत्र पटलसंख्याक्रमो विव्रियते— सौधर्मैशानयोः एकत्रिंशत्, सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त, ब्रह्मब्रह्मोत्तरयोः चत्वारि, लान्तवकापिष्ठयोः द्वयम्, शुक्र-महाशुक्रयोरेकम्, शतारसहस्रारयोः एकम्, आनतप्राणतयोः त्रयम्, आरण-अच्युतयोः त्रयम् —इति षोडशस्वर्गेषु द्विपञ्चाशत् स्वर्ग-पटलानि ज्ञेयानि। नवसु ग्रैवेयकेषु (अधो-मध्य-ऊर्ध्वेतित्रिधा विभक्तेषु, प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि, संहत्य) नव, नवानुदिशेषु एकम्, पञ्चानुत्तरेषु (विजय-वैजयन्त-जयन्त-अपराजित-सर्वार्थसिद्धिनामकेषु वैमानिकदेवेषु) एकमिति सर्वाणि संहत्य त्रिषष्टिपटलानि भवन्ति।

एतदेव सर्वं ग्रन्थकारो वक्ति— *(इगतीस)* **एकत्रिंशत्, सौधर्म-ईशानयोरेकत्रिंशत् पटलानि इत्यर्थः। पटलानां विमानप्रस्तारेतिनामापि भवति।** *(सत्त)* **सप्त, सनत्कुमार-माहेन्द्रयोः सप्त पटलानि।** *(चत्तारि)* **चत्वारि ब्रह्म-ब्रह्मोत्तरयोः इत्यर्थः।** *(दोण्णि)* **द्वे पटले लान्तव-कापिष्ठयोः स्वर्गयोः इत्यर्थः।** *(एक्केक्क)* **एकमेकम्, अर्थात् शुक्रमहाशुक्रयोरेकम्, शतार-सहस्रारयोश्च एकम् इति भावः।** *(चदुकप्पे छक्क)* **चतुर्षु कल्पेषु षट्कम्, आनत-प्राणत-आरण-अच्युतेषु चतुर्षु स्वर्गेषु षट् पटलानि भवन्ति।** *(तित्तिय)* **त्रीणि त्रयाणि, अर्थात् नव पटलानि नवग्रैवेयकेषु।**

अब इनमें पटलों की संख्या क्रम से बता रहे हैं— सौधर्म व ईशान में इकतीस, सनत्कुमार व माहेन्द्र में सात, ब्रह्म व ब्रह्मोत्तर में चार, लान्तव व कापिष्ठ में दो, शुक्र व महाशुक्र में एक, शतार व सहस्रार में एक, आनत व प्राणत में तीन, आरण व अच्युत में तीन —इस क्रम से सोलह स्वर्गों में बावन स्वर्गपटल जानने चाहिए। नौ ग्रैवेयकों में (अधोग्रैवेयक, मध्यग्रैवेयक, ऊर्ध्वग्रैवेयक —इस प्रकार तीन भागों में विभक्त हैं, प्रत्येक में तीन-तीन पटल हैं, इस प्रकार कुल) नौ स्वर्ग-पटल हैं, नव अनुदिश विमानों में एक पटल है और पाँच (विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित व सर्वार्थसिद्धि —इन) अनुत्तर विमानों में एक स्वर्ग-पटल है, इस प्रकार कुल मिला कर तिरेसठ स्वर्ग-पटल हो जाते हैं।

इसी समस्त विवरण को (संक्षेप में) ग्रन्थकार यहाँ कह रहे हैं— **(एकत्रिंशत्)** इकतीस, अर्थात् सौधर्म व ईशान —इन दो स्वर्गों में इकतीस स्वर्ग-पटल हैं। पटलों को विमान-प्रस्तार भी कहा जाता है। **(सप्त)** सात, यानी सनत्कुमार व माहेन्द्र —इन स्वर्गों में पटलों की संख्या सात है। **(चत्वारि)** चार, यानी ब्रह्म व ब्रह्मोत्तर —इन दो स्वर्गों में चार स्वर्गपटल हैं। **(द्वौ)** दो, यानी लान्तव व कापिष्ठ स्वर्ग में दो स्वर्गपटल हैं। **(एकैकम्)** एक-एक, अर्थात् शुक्र व महाशुक्र स्वर्ग में एक, और शतार व सहस्रार में भी

अयम्भावः— अधोग्रैवेयकेषु त्रीणि, मध्यग्रैवेयकेषु च त्रीणि, ऊर्ध्वग्रैवेयकेषु च त्रीणि, इत्येवं नव पटलानि ज्ञेयानि। *(एक्केक)* **एकम् एकं च, अर्थात् नवानुदिशविमानेषु एकम्, पञ्चानुत्तरविमानेषु च एकं स्वर्गपटलमित्यर्थः। एवं** *(इंदयणामा)* **इन्द्रकसंज्ञकानि,** *(उडुआदि)* **ऋतुप्रभृतीनि, सौधर्मैशानस्वर्गयोर्यानि एकत्रिंशत्पटलानि, तेषु प्रथमं 'ऋतु' (ऋजु) इति नामकं वर्तते। तदादीनि इत्यर्थः।** *(तेसट्ठी)* **त्रिषष्टिसंख्यकानि भवन्ति।**

ऋतुविमानादिपटलानां विशेषतो निरूपणमुच्यते। अस्माद् भूमितलात् नवनवतिर्योजन-सहस्राणि चत्वारिंशच्च योजनानि उत्पत्य सौधर्मैशानकल्पौ भवतः, तत्रैकत्रिंशत् विमानप्रस्ताराः सन्ति— ऋतु-चन्द्र-विमल-वल्गु-वीर-अरुण-नन्दन-नलिन-लोहित-काञ्चन-वञ्चन्-मारुत-ऋद्धीश-वैडूर्य-रुचक-रुचिर-अङ्क-स्फटिक-तपनीय-मेघ-हारिद्र-पद्म-लोहिताक्ष-वज्र-नन्द्यावर्त-प्रभङ्कर-पिष्टक-गज-मस्तक-चित्रप्रभादि-संज्ञकाः।

एक स्वर्गपटल है। **(चतुःकल्पं षट्कम्)** चारों कल्पों, आनत, प्राणत, आरण व अच्युत —इन चार स्वर्गों में छः स्वर्ग-पटल हैं। **(त्रित्रिकं)** तीन के तीन समूह, अर्थात् नव ग्रैवेयकों में नौ स्वर्गपटल हैं।

तात्पर्य है कि अधोग्रैवेयक में तीन, मध्यग्रैवेयक में तीन, और ऊर्ध्वग्रैवेयक में तीन, इस प्रकार नौ स्वर्ग-पटल हैं। **(एकैकं)** अर्थात् नौ अनुदिशविमानों में एक पटल है, इसी तरह पाँच अनुत्तर विमानों में भी एक ही स्वर्ग-पटल है। इस प्रकार **(इन्द्रकनामानि)** इन्द्रक नाम वाले, **(ऋत्वादि)** ऋतुविमान (या ऋजुविमान) आदि, सौधर्म-ईशान स्वर्ग में जो इकतीस पटल हैं, उनमें पहला जो पटल है, वह ऋतु (या ऋजु) नाम का है। वे ऋतु-विमान आदि पटल **(त्रिषष्टिः)** तिरेसठ संख्या में हैं।

ऋतुविमान आदि (तिरेसठ) पटलों का विशेष निरूपण किया जा रहा है। इस भूमि-तल से निन्नानवे (99) हजार चालीस योजन ऊपर जाकर सौधर्म व ईशान (इन नामों वाले वैमानिक देवों के) कल्पोपपन्न स्वर्ग हैं, वहाँ कुल इकतीस विमान प्रस्तार (या पटल) इस प्रकार हैं— ऋतु (ऋजु), चन्द्र, विमल, वल्गु, वीर, अरुण, नन्दन, नलिन, लोहित, काञ्चन, वञ्चन्, मारुत, ऋद्धीश, वैडूर्य, रुचक, रुचिर, अङ्क, स्फटिक, तपनीय, मेघ, हारिद्र, पद्म, लोहिताक्ष, वज्र, नन्द्यावर्त, प्रभङ्कर, पिष्टक, गज, मस्तक, चित्रप्रभ आदि। *[राजवार्तिक, 4/19/8 में ये 30 नाम ही प्राप्त होते हैं— सम्पा.]*

मेरुपर्वतचूलिकाया उपरि ऋतुविमानं वर्तते, तयोरन्तरं बालाग्रमात्रं प्रागुक्तमेव। ऋतुविमानस्य इन्द्रकसंज्ञा वर्तते। तस्माच्चतुर्दिग्भागेषु असंख्ययोजनविस्ताराणि पंक्तिरूपेण सर्वद्वीपसमुद्रेषु उपरि प्रतिदिशं यानि त्रिषष्टिविमानानि, येषां संज्ञा 'श्रेणीबद्ध' इति। यानि च पंक्तिरहितानि पुष्पप्रकरवत् विदिक्षु तिष्ठन्ति, तेषां संख्येय-असंख्येययोजनविस्तृतानां प्रकीर्णकेतिसंज्ञा। अस्मात्पटलादुपरि संख्येयानि असंख्येयानि योजनानि गत्वा द्वितीयादिपटलानि सन्ति। अयं च विशेषो यत् श्रेणीचतुष्टये पटले प्रतिदिशमेकैकविमानं न्यूनं भवति, एवं पञ्चानुत्तरपटलेषु चतुर्दिक्षु एकैकविमानं तिष्ठति। एतानि सौधर्मादिविमानानि चतुरशीतिलक्ष-सप्तनवतिसहस्र-त्रयोविंशति-अकृत्रिमजिनगृहैर्मण्डितानि सन्ति।

सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोः यानि सप्त पटलानि (विमानप्रस्ताराः), अञ्जन-वनमाल-नाग-गरुड-लाङ्गल-बलभद्र-चक्रेतिसंज्ञकानि सन्ति। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तरकल्पयोः चत्वारि पटलानि अरिष्ट-देवसमित-ब्रह्म-ब्रह्मोत्तरसंज्ञकानि सन्ति। लान्तवकापिष्ठ-स्वर्गयोः द्वौ विमानप्रस्तारौ (पटलद्वयं) ब्रह्महृदय-लान्तवनामानौ भवतः। शुक्र-महाशुक्रस्वर्गयोः एकं पटलं महाशुक्रनामकम्।

मेरु पर्वत की चूलिका से ऊपर ऋतुविमान है, इन दोनों के मध्य मात्र एक बाल जितना अन्तर है— यह पहले कहा ही गया है। ऋतु-विमान को 'इन्द्रक' नाम से भी कहते हैं। उसकी चारों दिशाओं में असंख्य योजन विस्तार वाले, समस्त द्वीप-समुद्रों के ऊपर प्रत्येक दिशा में पंक्तिबद्ध तिरेसठ विमान हैं, जिन्हें श्रेणीबद्ध नाम से कहा जाता है। इनके अतिरिक्त, विदिशाओं में भी फूलों के समूह की तरह पंक्तिरहित विमान हैं, वे संख्यात या असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं और उन्हें 'प्रकीर्णक' विमान कहा जाता है। इस (प्रथम ऋतुविमान नामक) पटल से ऊपर संख्यात-असंख्यात योजन जाकर, द्वितीय, तृतीय आदि पटल हैं। उनमें इतना अन्तर है कि (चारों दिशाओं के) चार श्रेणियों के पटल में प्रत्येक दिशा में (ऊपर-ऊपर) एक-एक विमान कम होता जाएगा, इस प्रकार पाँच अनुत्तरविमानों के पटलों में चारों दिशाओं में एक-एक ही विमान होता है। इन सौधर्म आदि विमानों में चौरासी लाख, सन्तानवे हजार तेईस (8497023) अकृत्रिम जिनमन्दिर विद्यमान हैं।

सनत्कुमार व माहेन्द्र —इन दो (कल्पोपपन्न वैमानिक) स्वर्गों में सात पटल (विमान-प्रस्तार) हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं— अञ्जन, वनमाल, नाग, गरुड़, लाङ्गल, बलभद्र व चक्र। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर —इन दो कल्पों में चार पटल इस (नाम वाले) प्रकार हैं— अरिष्ट, देवसमित, ब्रह्म व ब्रह्मोत्तर। लान्तव व कापिष्ठ — इन दो स्वर्गों में दो विमान-प्रस्तार (पटल) हैं, जिनके नाम हैं— ब्रह्महृदय व लान्तव। शुक्र व महाशुक्र स्वर्ग में एक ही पटल है, जिसका नाम है— महाशुक्र। शतार व सहस्रार स्वर्ग में भी एक ही पटल है जिसका नाम

शतारसहस्रारयोः स्वर्गयोरपि एकं पटलं सहस्रारनामकं वर्तते। आनतप्राणतआरण-अच्युतेतिस्वर्ग-चतुष्टये षट् पटलानि आनत-प्राणत-पुष्पक-सातक-आरण-अच्युतनामानि भवन्ति।

आरणाच्युतविमानादुपरि बहूनि योजनशतसहस्राणि गत्वा अधोग्रैवेयकविमानानि सन्ति। तत्र त्रयो विमानप्रस्ताराः सुदर्शन-अमोघ-सुप्रबुद्धेतिसंज्ञकाः सन्ति। तद्विमानादुपरि मध्यमग्रैवेयक-विमानेषु च त्रयो विमानप्रस्ताराः यशोधर-सुभद्र-विशालसंज्ञकाः सन्ति। तत उपरि उपरिमग्रैवेयक-विमानानि सन्ति, तत्रापि त्रयो विमानप्रस्ताराः सुमनाः, सौमनाः, प्रीतिङ्कर इति नामकाः। एवं ग्रैवेयकेषु त्रिषु त्रीणि त्रीणि पटलानि सन्ति, संहत्य नव पटलानि ज्ञेयानि।

प्रीतिङ्करविमानादुपरि सन्त्यनुदिशविमानानि, तत्रैक एव विमानप्रस्तारः, यस्य नाम 'आदित्यः' इति वर्तते। आदित्यविमानादुपरि अनुत्तरविमानानि सन्ति, तत्रापि एक एव 'सर्वार्थसिद्ध'नामको विमानप्रस्तारो भवति। एवं पूर्वोक्तानाम् ऋतुविमानादारभ्य सर्वार्थसिद्धविमानप्रस्तारपर्यन्तानां विमानपटलानां सर्वेषां त्रिषष्टिसंख्या भवति। उपर्युक्तस्वर्गेषु श्रेणीबद्ध-प्रकीर्णकविमानां संख्यादिविषयकं विवरणं ग्रन्थान्तरेभ्यो राजवार्तिकादिभ्योऽवगन्तव्यम्। विस्तरभयान्न लिख्यते।

है— सहस्रार। आनत, प्राणत, आरण व अच्युत —इन चार स्वर्गों में छः स्वर्ग-पटल हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं— आनत, प्राणत, पुष्पक, सातक, आरण व अच्युत।

आरण व अच्युत स्वर्ग से अनेक लाख योजन ऊपर जाकर, अधोग्रैवेयक विमानों की स्थिति है। वहाँ तीन विमान-प्रस्तार हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं— सुदर्शन, अमोघ, सुप्रबुद्ध। इनके ऊपर मध्यम ग्रैवेयक विमान हैं, जहाँ तीन विमान-प्रस्तार हैं, जिनके नाम हैं— यशोधर, सुभद्र, विशाल। इनके भी ऊपर उपरिम ग्रैवेयकों के विमान हैं, इनमें भी तीन विमान-प्रस्तार हैं, जिनके नाम हैं— सुमनस, सौमनस, प्रीतिङ्कर। इस तरह तीन ग्रैवेयकों में, प्रत्येक में तीन-तीन पटल हैं, कुल मिलाकर वहाँ नौ पटल हैं।

प्रीतिङ्कर विमान से ऊपर अनुदिश विमान हैं, वहाँ एक ही विमान-प्रस्तार (पटल) है, जिसका नाम 'आदित्य' है। आदित्य विमान से ऊपर अनुत्तर विमान हैं। वहाँ भी सर्वार्थसिद्धि नाम का एक ही विमान-प्रस्तार (पटल) है। इस प्रकार, पूर्वोक्त ऋतुविमान से लेकर सर्वार्थसिद्धि विमान-पटल तक समस्त विमानपटलों की संख्या तिरेसठ हो जाती है। उपर्युक्त स्वर्गों में श्रेणीबद्ध व प्रकीर्णक विमानों की संख्या आदि के विषय में विवरण जानना हो तो राजवार्तिक आदि अन्य ग्रन्थों से जानें। विस्तार के भय से उसे नहीं लिखा जा रहा है।

एवं देवलोकसम्बन्धि विस्तृतं विवरणं विज्ञाय निष्कर्षरूपेण चिन्तनीयं यत् देवगतिः प्रशस्तकर्मभिः प्राप्यते। किन्तु कर्मक्षये पुनरपि तदन्यगतिषु गन्तव्यमेव भवति। तत्र बाधासहितमेव सुखम् भवति। अव्याबाध-शाश्वतसुखप्राप्तिस्तु मोक्षे एव। अतस्तत्साधनभूता आत्मरतिरेव समाश्रयणीया। हे ज्ञानिन् आत्मन्! नित्यं निजशुद्धात्मसुखामृतरसास्वादं कुरु, तमेव नित्यं स्मर — इत्यादिकं गाथायास्तात्पर्यम्।

अथ सम्प्रति 'उपयोगवैविध्येन गतिवैविध्यम्' इति प्रतिपादयन्तः शास्त्रकाराः लोकानुप्रेक्षा-मुपसंहरन्ति—

असुहेण णिरय-तिरयं, सुहउवजोगेण दिविज-नरसोक्खं।
सुद्धेण लहदि सिद्धिं, एवं लोगं विचिंतिज्जा॥४२॥

छाया— अशुभेन निरय-तिर्यञ्चौ, शुभोपयोगेन दिविज-नरसौख्यम्।
शुद्धेन लभते सिद्धिम्, एवं लोकं विचिन्तयेत्॥

इस प्रकार, देवलोक (ऊर्ध्वलोक) से सम्बन्धित विस्तृत विवरण को हृदयगम्य कर निष्कर्ष रूप में यह चिन्तन करना चाहिए कि देवगति की प्राप्ति प्रशस्त (पुण्य) कर्मों से होती है। किन्तु (पुण्य) कर्म के क्षीण होने पर फिर अन्यान्य गतियों में जाना पड़ता है। इस तरह वहाँ बाधासहित सुख है। अव्याबाध, शाश्वत सुख की प्राप्ति तो मोक्ष में ही सम्भव है। इसलिए उस (मोक्ष) के साधन के रूप में मान्य आत्मरति का ही आश्रय लेना उचित है। हे ज्ञानी आत्मा! निज शुद्धात्म-सुखामृत के रस का ही नित्य आस्वादन करो, उसी का नित्य स्मरण करो —इत्यादि तात्पर्य इस गाथा का है।

अब 'उपयोग की विविधता के अनुसार गति की विविधता है' इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए शास्त्रकार लोकानुप्रेक्षा का उपसंहार कर रहे हैं—

(42)

(गाथा-अर्थ—) (यह जीव) अशुभ भाव (उपयोग) से नरक व तिर्यञ्च गति को, शुभ उपयोग से स्वर्ग व मनुष्य गति के सुख को तथा शुद्ध उपयोग से सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त करता है, इस प्रकार लोक-सम्बन्धी भावना का चिन्तन करते रहना चाहिए।

(सर्वोदया टीका—) *(असुहेण णिरयतिरयं)* **अशुभेनोपयोगेन, नरक-तिर्यग्गत्योः प्राप्तिर्भवति। तत्त्वार्थसूत्रे** *(6/15-16)* **नरकगतेरास्रवहेतुभूतौ बह्वारम्भ-परिग्रहौ स्वीकृतौ। तिर्यग्योनेश्च आस्रवभूता माया निरूपिता। बह्वारम्भपरिग्रहमायादिप्रवृत्तयोऽशुभोपयोगरूपा एव।**

अशुभोपयोग-विषयं विशदयता श्रीकुन्दकुन्दाचार्येण रयणसारग्रन्थे *(गाथा-57-59)* **प्रत्यपादि च—**

असुहादो णिरयाऊ (सुहभावादो दु सग्ग-सुहमाओ)। **तथा**

हिंसादिसु कोहादिसु मिच्छाणाणेसु पक्खवाएसु।
मच्छरिदेसु मदेसु दुरहिणिवेसेसु असुहलेस्सेसु॥

विकहादिसु रुद्दट्टझाणेसु असुयगेसु दंडेसु।
सल्लेसु गारवेसु य, जो वट्टदि असुहभावो सो॥

तथैव प्रवचनसारग्रन्थे *(गाथा-2/66)*—

(सर्वोदया टीका—) (अशुभेन निरयतिर्यञ्चौ) अशुभ उपयोग से नरक व तिर्यञ्च गति की प्राप्ति होती है। तत्त्वार्थसूत्र (6/15-16) में नरक गति के आस्रव-हेतुओं के रूप में बहु-आरम्भ व परिग्रह को स्वीकृत किया गया है और तिर्यञ्च योनि के आस्रव-हेतु के रूप में माया का निरूपण किया गया है। बहु-आरम्भ, (बहु) परिग्रह आदि प्रवृत्तियाँ अशुभोपयोग रूप ही हैं।

अशुभोपयोग रूपी विषय को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने रयणसार ग्रन्थ (की गाथा-57-59) में इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

"अशुभ भावों से नरकायु की प्राप्ति होती है (और शुभ भावों से स्वर्गसुख)।" और

"हिंसादि (पाप), क्रोध आदि (कषाय), मिथ्याज्ञान, पक्षपात, मात्सर्य, मद, दुरभिनिवेश, अशुभ लेश्याएँ, विकथाएँ, आर्त-रौद्र ध्यान, ईर्ष्या, दण्ड (असंयम), शल्य व मान-बड़ाई —इनमें जो वर्तन (प्रवर्तन) होता है, वह अशुभ भाव है।"

इसी प्रकार, प्रवचनसार ग्रन्थ (गाथा-2/66) में कहा है—

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो॥

अपि च तत्रैव *(गाथा-1/12)*—

असुहोदएण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमइ अच्चंतं॥

मिथ्यात्व-अविरति-प्रमाद-कषाय-योगेतिपञ्च-प्रत्ययरूपोऽशुभोपयोगो भवति। उक्तं च प्रवचनसारग्रन्थस्य *(गाथा1/9)* **तात्पर्यवृत्तौ**— *"मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगपञ्चप्रत्ययरूप-अशुभोपयोगेन अशुभो विज्ञेय:।"* **आर्तरौद्रेतिदुर्ध्यानद्वयमपि कृष्ण-नील-कापोतलेश्यासहितं भवति, तदपि अशुभोपयोगरूपमेव। तथैव आहारभयमैथुनपरिग्रहादिचतु:संज्ञारूपोपयोगानामपि अशुभत्वमेव। एवं सर्वविधैरशुभोपयोगै: तिर्यग्गतिर्नरकगतिर्वा बद्ध्यते इति भाव:।**

"जीव का जो उपयोग विषय व कषाय से व्याप्त है, मिथ्याशास्त्रों को सुनने, आर्त-रौद्र रूप खोटे ध्यानों में प्रवृत्त होने तथा दुष्ट-कुशील व्यक्तियों के साथ गोष्ठी करने आदि कार्यों से युक्त है, हिंसादि पापों के आचरण में उग्र है, और उन्मार्ग, विपरीत मार्ग में चलाने में तत्पर है, वह (सब) अशुभोपयोग है।"

वहीं (गाथा-1/12) यह भी कहा गया है— "अशुभोपयोग रूप परिणामों के कारण जीव खोटा (दु:खी, दरिद्र) मनुष्य, तिर्यञ्च या नारकी होकर हजारों दु:खों से दु:खी होता हुआ सदा संसार में अत्यधिक भ्रमण करता रहता है। अशुभोपयोग में चारित्र का अल्पमात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिए वह जीव अशुभ कर्मों का बन्ध कर दुर्गतियों में निरन्तर भ्रमण करता रहता है।"

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग— ये पाँच कारणों (प्रत्ययों) वाला अशुभोपयोग होता है। प्रवचनसार ग्रन्थ (गाथा 1/9) की तात्पर्यवृत्ति टीका में भी कहा गया है— "मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग —इन पाँच प्रत्यय रूप अशुभोपयोग से परिणत हुआ आत्मा 'अशुभ' कहलाता है।" आर्त व रौद्र —ये दो अप्रशस्त ध्यान भी कृष्ण, नील, व कापोत —इन तीन अप्रशस्त लेश्याओं वाले होते हैं, वे भी अशुभ उपयोग रूप होते हैं। इसी तरह, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह आदि चार संज्ञा स्वरूप उपयोग भी अशुभ ही है। इस प्रकार उक्त समस्त अशुभ उपयोगों के कारण तिर्यञ्चगति या नरकगति का बन्ध होता है— यह तात्पर्य है।

(सुहउवजोगेण) **शुभोपयोगेन तु,** *(दिविज-नर-सोक्खं)* **दिविजनरसौख्यं प्राप्यते इत्यर्थः। दिवि स्वर्गे जायन्ते इति दिविजाः देवाः, ते च नराश्च देवमनुष्याः, तेषां सौख्यं यदपि भवति, अर्थात् मनुष्याणां स्वर्गस्थानां च यत्सौख्यं भवति, तत्तु शुभोपयोगेन प्राप्यते —इति भावः। काः काः प्रवृत्तयः शुभोपयोगरूपेण स्वीकृताः इतिविषये रयणसारग्रन्थे** *(गाथा-60-61)* **प्रतिपादितम्—**

दव्वत्थिकायछप्पण, तच्चपयत्थेसु सत्तणवगेसु।
बंधणमोक्खे तक्कारणरूवे वारसणुवेक्खे॥

रयणत्तयस्सरूवे अज्जाकम्मे दयादिसद्धम्मे।
इच्चेवमाइगे जो वट्टदि सो होदि सुहभावो॥

अपि च तत्रैव *(गाथा-52)—*

पुव्वट्ठिद खवदि कम्म, पविसदु णो देदि अहिणवं कम्मं।
इह-परलोयमहप्पं देदि तहा उवसमो भावो॥

(शुभोपयोगेन) शुभ उपयोग से तो **(दिविज-नर-सौख्यम्)** स्वर्गीय एवं मानवीय सुख प्राप्त होता है —यह भाव है। दिवि=स्वर्ग में जो उत्पन्न हों, वे देव 'दिविज' हैं, वे और मनुष्य, इन (दोनों गतियों) के जो भी सुख होते हैं, अर्थात् मानवीय या स्वर्ग-सम्बन्धी जो भी सुख होते हैं, वे शुभोपयोग से प्राप्त होते हैं— यह तात्पर्य है। किन-किन प्रवृत्तियों को शुभोपयोग रूप से स्वीकृत किया गया है— इस विषय में रयणसार ग्रन्थ (गाथा-60-61) में इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

"छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ, बन्ध व मोक्ष, उस (मोक्ष) के कारण रूप बारह अनुप्रेक्षाएँ, रत्नत्रय स्वरूप, आर्य (प्रशस्त) कर्म, दया आदि सद्धर्म इत्यादि में जो वृत्ति (प्रवृत्ति) होती है, वह शुभ भाव है।"

और भी वहीं (गाथा-52) कहा गया है—

"(भव्य आत्माओं का) उपशम भाव पूर्वकृत कर्मों का क्षय (निर्जरा) करता है, नये कर्मों को प्रवेश करने नहीं देता (अर्थात् संवर करता है) तथा इहलोक व परलोक में माहात्म्य (सुख आदि) प्रकट करता है।"

अपि च *(गाथा-57)— सुहभावादो दु सग्गसुहमाओ॥*

अन्यच्च, प्रवचनसारे *(गाथा-1/69)* **भणितमास्ते—**

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा॥

अपि च तत्रैव *(गाथा-2/65)—*

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स॥

सरागसम्यक्त्वसहितं सत्पात्रेभ्य: आहारौषधिज्ञानादिदानमपि शुभोपयोगरूपमेव श्रावकाणां कृते। पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे *(श्लोक-6/7)* **गृहस्थानामावश्यककृत्येषु दानादिकपरिगणना कृताऽस्ति। यथा—**

इसके अतिरिक्त (गाथा-57 में) यह कहा जा चुका है— "शुभ भावों से स्वर्ग-सुख व स्वर्ग-आयु मिलते हैं।"

और भी, प्रवचनसार (गाथा-1/69) में कहा गया है—

"जो आत्मा देव, मुनि, गुरु आदि की पूजा, दान, पाँच समिति, तीन गुप्ति रूप उत्तम शीलों में और उपवास आदि कार्यों में लीन रहता है, वह शुभोपयोगी कहलाता है।"

इसके अलावा, वहीं (गाथा-2/65 में) यह कहा गया है—

"जो जीव अर्हन्त, सिद्ध व अनगार (आचार्य, उपाध्याय व साधु) को जानता-देखता है, तथा जीव मात्र पर दया भाव रखता है, उस जीव का यह उपयोग 'शुभोपयोग' कहलाता है।"

सराग सम्यक्त्व के साथ सत्पात्रों को आहार-औषधि, ज्ञान आदि का किया हुआ दान भी श्रावकों के लिए शुभोपयोग रूप ही होता है। पद्मनन्दिपंचविंशतिका ग्रन्थ (श्लोक-6/7) में गृहस्थों के आवश्यक कृत्यों में दान आदि की परिगणना की गई है। उदाहरणार्थ—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने॥

एवमेव तपोधनानां मुनीनामपि मूलोत्तरगुणपालने, दशविधधर्मानुष्ठाने, द्वादशानुप्रेक्षादि-रूपचिन्तने, सरागधर्मध्याने, शुभलेश्ये चतुर्विधविनये, दशविधवैयावृत्त्ये, पञ्चविधस्वाध्याये एवं ज्ञानोपदेश-शिष्यसंग्रह-पोषणादिकार्ये च शुभोपयोगात्मिका प्रवृत्तिरेव जैनाचार्यैरभिमता।

उक्तं च प्रवचनसारे *(3/46-49, 52-53)*—

अरहंतादिसुभत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया॥

वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमण-पडिवत्ती।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रागचरियम्हि॥

"देवपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान —ये गृहस्थों द्वारा प्रतिदिन किये जाने वाले छः (आवश्यक) कर्म हैं।"

इसी तरह, जैनाचार्यों ने तपस्वी मुनियों की इन प्रवृत्तियों को शुभोपयोग रूप ही माना है, जैसे— मूल व उत्तरगुणों का पालन, दस प्रकार के धर्मों का अनुष्ठान, बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन, सराग धर्मध्यान, शुभलेश्या सहित चार प्रकार का विनय, दस प्रकार का वैयावृत्त्य, पाँच प्रकार का स्वाध्याय एवं ज्ञानोपदेश, शिष्य-संग्रहण-पोषण आदि के कार्य।

प्रवचनसार (3/46-49, 52-53) में कहा भी है—

"यदि मुनि अवस्था में अरहन्त आदि में भक्ति तथा परमागम में उपयोग-युक्त मुनियों के प्रति वत्सलता है, तो वह शुभोपयोगयुक्त चर्या है।"

"सराग चर्या में अपने से पूज्य मुनियों की वन्दना, नमस्कार, आते हुए देखकर खड़ा होना, जाने लगें तो पीछे-पीछे चलना —इत्यादि प्रवृत्ति, तथा उनकी थकावट को दूर करना निन्दनीय नहीं माना गया है।"

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य॥

उवकुणदि जोवि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
कायविराधणरहिदं सोवि सरागप्पधाणो से॥

रोगेण वा छुधाए तण्हाए वा समेण वा रूढं।
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए॥

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा॥

अत्रेदं ज्ञेयम्— शुभोपयोगेन तु पुण्यास्रवो भवति, न सर्वथा तेनास्रवबन्धौ भवतः। शुभोपयोगः संवरणमपि करोति, परम्परया निर्जरामोक्षयोरपि तस्य कारणता प्रत्येतव्या।

"दर्शन व ज्ञान का उपदेश देना, शिष्यों का संग्रह करना, उनका पोषण-संवर्धन करना, तथा जिनेन्द्र देव की पूजा का उपदेश देना —यह सब सराग यानी शुभोपयोगी मुनि की चर्या है।"

"जो ऋषि, मुनि, यति, अनगार —इन चतुर्विध श्रमणों का, षट्कायिक जीवों की विराधना से रहित, उपकार करता है, वैयावृत्त्य करता है, वह भी सराग स्थिति वाला शुभोपयोगी साधु है।"

"शुभोपयोगी मुनि, किसी अन्य मुनि को रोग से, भूख से, प्यास से अथवा श्रम, थकावट आदि से आक्रान्त देखकर, उसे यथाशक्ति प्रतिपन्न करे —वैयावृत्त्य द्वारा खेद दूर करे।"

ग्लान (बीमार), गुरु, बाल, वृद्ध साधुओं की वैयावृत्त्य के लिए, शुभ भावों के साथ किया जाने वाला लौकिक जनों से वार्तालाप भी निन्दित नहीं है।"

यहाँ यह जान लें कि शुभोपयोग से पुण्यास्त्रव तो होता है, फिर भी सर्वथा आस्त्रव व बन्ध ही होता है— ऐसा नहीं। शुभोपयोग कर्म का संवर भी करता है और परम्परा से निर्जरा व मोक्ष में भी वह कारण होता है —ऐसा मानना चाहिए।

उक्तं चास्मिन्नेव ग्रन्थे *(गाथा-63)*— *''सुह-जोगस्स पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स''* **इति।**

मूलाचारे *(गाथा-593)* **च प्रतिपादितम्—**

आइरिय-उवज्झायाणं पवत्तयत्थेरगणधरादीणं।
एदेसिं किदियम्मं कादव्वं णिज्जरट्ठाए॥

अतः सम्यग्दृष्टीनां शुभानुष्ठानेन पुण्यास्रवो भवति, किन्तु निदानराहित्येन परम्परया स मोक्षहेतुर्भवति। उक्तं च भावसंग्रहे *(गाथा-404)*—

सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणई॥

अत्रेदं विचारणीयं यत् शुभोपयोगस्य स्वामी कः? उच्यते— अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानात् प्रारभ्य प्रमत्तगुणस्थानपर्यन्तं जीवस्तारतम्येन शुभोपयोगस्य स्वामी भवति। यद्यपि मिथ्यादृष्टिरपि

इसी (बारस अणुवेक्खा) ग्रन्थ (गाथा-63) में कहा भी गया है— ''शुभ योग की प्रवृत्ति अशुभ योग का संवर करती है।''

मूलाचार (गाथा-593) में भी इसी बात को प्रतिपादित किया गया है—

''निर्जरा के लिए आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणधर का कृति-कर्म (वन्दनादि) करना चाहिए।''

इसलिए सम्यग्दृष्टि जीवों के शुभानुष्ठान से पुण्यास्रव होता है, किन्तु निदान के अभाव में वह (पुण्यास्रव) परम्परा से मोक्ष का हेतु होता है। भावसंग्रह (गाथा-404) में कहा भी गया है—

''सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियमतः संसार का कारण नहीं होता, अपितु वह मोक्ष का कारण होता है बशर्ते वह 'निदान' (पुण्य-फल की आकांक्षा) नहीं करे।''

यहाँ यह विचारणीय है कि शुभोपयोग का स्वामी कौन है? उत्तर यह है— अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर प्रमत्तगुणस्थान तक तारतम्यपूर्वक जीव शुभोपयोग का स्वामी होता है। यद्यपि मिथ्यादृष्टि

जीवः, देवपूजादिकं करोति, तथापि तस्य शुभयोगानुष्ठानं मोक्षनिमित्तं न भवति, अपितु संसारवृक्ष-वर्धकमेव। अयम्भावः— कस्यचित् भद्रपरिणामस्य मिथ्यादृष्टेः सा शुभक्रिया सम्यक्त्वहेतुर्भवतीति कृत्वा उपचारेण सा शुभोपयोगात्मिका वक्तुं शक्यते। किन्तु निश्चयेन मिथ्यात्वभूमिकामधिष्ठितस्य तस्य शुभक्रियाया उद्देश्यं भोग एव भवति, न च मोक्षः; अतस्तस्य अशुभरूपता —इति वरेण्यैराचार्यैर्निरूपितमस्ति।

यथा समयसार-ग्रन्थराजे *(गाथा-275)* **प्रतिपादितमपि—**

सद्दहेदि य पत्तियदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं॥

अत्रायं विशेषः— द्रव्यसंग्रहटीकायां *(गाथा-34)* **चतुर्थगुणस्थानादारभ्य षष्ठगुणस्थानपर्यन्तं तारतम्येन शुभोपयोग उक्तः, अन्यत्र कैश्चिदाचार्यप्रवरैः व्याख्यातृभिः सप्तमगुणस्थानेऽपि (अप्रमत्तगुणस्थाने) शुभोपयोगो भणितः, इति परस्परविरोधः प्रतीयते।**

भी देवपूजा आदि (शुभानुष्ठान) करता है, फिर भी उसका उक्त शुभानुष्ठान मोक्ष-निमित्त नहीं होता, अपितु संसार-वृक्ष को बढ़ाने वाला ही होता है। तात्पर्य यह है— किसी भद्रपरिणामी मिथ्यादृष्टि जीव की जो शुभ क्रिया है, वह सम्यक्त्व-हेतु होती है, इस दृष्टि से उपचारतः उस शुभक्रिया को शुभोपयोगरूप कहा जा सकता है, किन्तु निश्चय दृष्टि से तो मिथ्यात्व भूमिका में स्थित उस जीव की शुभ क्रिया का उद्देश्य भोग ही होता है, मोक्ष नहीं होता, इसलिए श्रेष्ठ आचार्यों ने उसे अशुभरूप ही बताया है।

उदाहरणार्थ— समयसार ग्रन्थराज (गाथा-275) में कहा गया है—

''वह (अभव्य) जीव शुभोपयोग रूप धर्म का श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है, रुचि करता है, और अनुष्ठान रूप से स्पर्श भी करता है, किन्तु यह सब वह भोग में निमित्तभूत धर्म का श्रद्धान आदि करता है, कर्मक्षय में निमित्तभूत धर्म का श्रद्धानादि नहीं करता।''

यहाँ विशेष ज्ञातव्य यह है— द्रव्यसंग्रह की टीका (गाथा-34) में चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ कर छठे गुणस्थान तक तरतमता से शुभोपयोग का सद्भाव बताया गया है। अन्यत्र किन्हीं व्याख्याता आचार्यवरों ने सातवें गुणस्थान (अप्रमत संयत गुणस्थान) में शुभोपयोग होना कहा गया है, इस तरह दोनों कथनों में परस्पर-विरोध प्रतीत होता है।

अत्र समाधानम्— अप्रमत्तसंज्ञकस्य सप्तमगुणस्थानस्य आरोहणमवरोहण चेति अवस्थाद्वयं भवति। तत्रारोहणे अधस्तनावस्थापेक्षया अधिकां विशुद्धिं दधाना ऊर्ध्वमवस्था या भवति, तत्र शुद्धोपयोगः, तस्मात्स्वरूपादधःपतने विशुद्धिन्यूनतायां शुभोपयोगस्थितिः, इत्यतः परस्परविरोधो न वर्तते, अपेक्षाभेदमाश्रित्य सप्तमगुणस्थानेऽपि सूक्ष्मरूपेण अवरोहणे शुभोपयोगस्य स्वीकरणात्। किं च, शुद्धोपयोगात्पतने विशुद्धिहीनतया, तस्मिन्नेव गुणस्थाने शुभोपयोगो भवतीति ज्ञातव्यम्।

शुभोपयोगे सति देवमनुष्यायुषोरेव बन्धः सम्भवति, किन्तु सम्यग्दृष्टिर्मनुष्यः शुभोपयोगे देवायुष एव बन्धं करोति। विराधितसम्यक्त्व एव पुनः मनुष्यगतौ गच्छति। अथवा मिथ्यात्वावस्थायां येन मनुष्यायुष्यं बद्धम्, स सम्यक्त्वे सति मरणानन्तरं (विदेह) भोगभूमौ मनुष्यः सम्भवति, न कर्मभूमौ। यदि देवो भवति, तदापि मृत्योः षण्मासपूर्वं मनुष्यायुः बध्नाति। विस्तरस्तु ग्रन्थान्तरेभ्यो विज्ञेयः। अतः सम्यग्दृष्टिर्देव एव मनुष्यायुर्बन्धं कर्तुं समर्थः। एवञ्च सामान्यतः सम्यग्दृष्टिर्मनुष्यो देवायुष्यमेव बध्नाति —इति नियमो ज्ञेयः।

इसका समाधान यह है कि अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान की आरोहण व अवरोहण —ये दो अवस्थाएँ होती हैं। वहाँ आरोहण करने में नीचे की अवस्था से अधिक विशुद्धि लिये हुए ऊपर की अवस्था जो होती है, वहाँ शुद्धोपयोग है, किन्तु उससे नीचे अवरोहण की स्थिति में विशुद्धि की कमी के कारण शुभोपयोग की स्थिति होती है— अतः परस्पर-विरोध (दोनों कथनों में) नहीं है। अपेक्षाभेद का अवलम्बन लेकर सातवें गुणस्थान में भी अवरोहण की स्थिति में (गिरते समय) शुभोपयोग की स्थिति मानी जा सकती है। और शुद्धोपयोग से गिरने पर विशुद्धि की हीनता के कारण, उसी गुणस्थान में शुभोपयोग होता है— ऐसा समझें।

शुभोपयोग होने पर देव व मनुष्य की आयु का ही बन्ध सम्भव है, किन्तु सम्यग्दृष्टि मनुष्य शुभोपयोग में देव-आयु का ही बन्ध करता है। यदि वह मनुष्यगति में जाता है तो सम्यक्त्व की विराधना करके ही जाता है। अथवा मिथ्यात्व की अवस्था में जिसने मनुष्य-आयु बाँधी हो तो सम्यक्त्व की स्थिति में मृत्यु होने पर वह (विदेह क्षेत्र-) भोगभूमि में ही मनुष्य हो सकता है, कर्मभूमियों में नहीं। यदि देव हो तो मृत्युकाल से छः मास पूर्व मनुष्यायु का बन्ध करता है। इस विषय में विस्तृत कथन अन्य ग्रन्थों से जानना चाहिए। इसलिए सम्यग्दृष्टि मनुष्य देव-आयु ही बाँधता है— यह नियम है —ऐसा जानें।

एतद्दृष्ट्यैव तत्त्वार्थसूत्रे *(6/20-21)* **सरागसंयमादेः सम्यक्त्वस्य च देवायुष आस्रवभूतत्वं निर्दिष्टम्।**

अत्रेदं विज्ञेयम्— शुभयोग-शुभोपयोगयोरन्तरं वर्तते। शुभोपयोगे सति अशुभयोगस्यापि स्थितिः कदाचित् सम्भवति। अविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृतिगुणस्थानेषु यः शुभोपयोगो भवति, तस्मिन् सति शुभयोगेन सह कदाचित् अशुभयोगोऽपि सम्भवति। अर्थात् शुभाशुभेतिद्वयोर्योगयोः शुभोपयोगस्य स्थितिः सम्भवति। यथा— अविरतसम्यग्दृष्टिः भोगादिकं सर्वं हेयं मन्वानोऽपि, विषयभोगादिसेवने कदाचित् प्रवर्तते, तदा स आत्मग्लानि-निन्दा-गर्हा-पश्चात्ताप-प्रतिक्रमणा-लोचनादिकं च करोति, ततस्तस्य कर्मणां संवरनिर्जरे च भवतः। अतः शुभोपयोगे सत्यपि अशुभयोगस्य स्थितिः सम्भाव्यते।

(सुद्धेण लहदि सिद्धिं) **शुद्धेन, शुद्धोपयोगेन च सिद्धिं मोक्षरूपां लभते प्राप्नोति जीवः। शुद्धोपयोगस्वरूपं च प्रवचनसारे** *(1/14)* **श्रीकुन्दकुन्दाचार्यो निरूपितवान्—**

इसी दृष्टि से तत्त्वार्थसूत्र (6/20-21) में सराग-संयमादि और सम्यक्त्व को देव-आयु का आस्रव रूप बताया गया है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है— शुभयोग व शुभोपयोग में कुछ अन्तर है। शुभोपयोग होने पर अशुभयोग की स्थिति भी कभी सम्भव हो सकती है। अविरत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानों में जो शुभोपयोग होता है, उसके होने पर शुभ योग के अतिरिक्त कभी अशुभयोग भी सम्भव है। अर्थात् शुभ व अशुभ —इन दोनों योगों में शुभोपयोग की स्थिति सम्भव है। जैसे— अविरत सम्यग्दृष्टि जीव समस्त भोग आदि को हेय मानता हुआ भी कभी-कभी विषय-भोग आदि के सेवन में प्रवृत्त हो जाता है, तब वह आत्मग्लानि, आत्म-निन्दा, आत्मगर्हा, पश्चात्ताप, प्रतिक्रमण, आलोचना आदि भी करता है, जिससे उसके कर्मों के संवर व निर्जरा —दोनों होते हैं। इसलिए शुभोपयोग के होने पर भी अशुभयोग की स्थिति सम्भावित मानी जाती है।

(शुद्धेन लभते सिद्धिम्) शुद्ध से, अर्थात् शुद्धोपयोग से जीव मोक्षरूपी सिद्धि को प्राप्त करता है। शुद्धोपयोग का क्या स्वरूप है— इसका निरूपण प्रवचनसार (1/14) में श्रीकुन्दकुन्दाचार्यवर ने इस प्रकार किया है—

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति॥

अयं शुद्धोपयोगः सप्तमगुणस्थानाद् अप्रमत्तसंयताद् आरभ्य क्षीणकषायगुणस्थानं यावत् जघन्य-मध्यमोत्कृष्टभेदेन सम्भवति। यथोपर्युक्तगुणस्थानानां कालोऽन्तर्मुहूर्तात्मकः, तथैव शुद्धोपयोगस्यापि कालोऽन्तर्मुहूर्त एव। तेन शुद्धोपयोगेन सर्वेषां मोक्षः कथं न जायते? समाधीयते शुक्लध्यानोचितोत्तमसंहननस्याभावात् शुक्लध्यानं तत्र न भवति, हीनसंहननवतां तु निर्विकल्पक-धर्मध्यानमेव भवति।

उक्तं च तत्त्वानुशासनग्रन्थे *(83-84)*—

अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः।
धर्म्यध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणीभ्यां प्राग्-विवर्तिनाम्।।

''जिसने (जीवादि) पदार्थों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लिया है, संयम व तप से सहित है, जिसका राग (आदि) नष्ट हो गया है, और जो सुख-दुःख में समभाव रखता है, ऐसा मुनि शुद्धोपयोगी कहा गया है।''

यह शुद्धोपयोग सातवें गुणस्थान अप्रमत्तसंयत से लेकर क्षीणकषाय नामक गुणस्थान तक जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट रूपों में सम्भव होता है। जैसे उपर्युक्त गुणस्थानों का समय अन्तर्मुहूर्त होता है, उसी तरह शुद्धोपयोग का समय भी अन्तर्मुहूर्त होता है। (यहाँ प्रश्न है—) इस शुद्धोपयोग से फिर सभी को मोक्ष कैसे नहीं हो पाता है? उत्तर है— शुक्लध्यान के लायक उत्तम संहनन (वज्रवृषभनाराच) के अभाव से, शुक्लध्यान तो होता नहीं, अतः हीनसंहनन वालों को निर्विकल्प धर्मध्यान ही होता है।

तत्त्वानुशासन ग्रन्थ (83-84) में कहा भी है—

''यहाँ इस (पंचम) काल में जिनेन्द्र देव ने शुक्लध्यान का निषेध किया है, परन्तु दोनों श्रेणियों (उपशम व क्षपक) से पूर्ववर्तियों के धर्म-ध्यान का सद्भाव बताया है, अतः ध्यानमात्र का निषेध नहीं है।''

(अथवा-)

यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः।
श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तन्नाधस्तान्निषेधकम्॥

मोक्षप्राभृतेऽपि *(76-77)* **भणितमास्ते—**

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी॥

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं।
लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति॥

अत्रायं विशेषः— निर्विकल्पधर्मध्यानं तपोधनानां संयमिनां सप्तमगुणस्थाने अप्रमत्तसंयत-नामके सम्भवति, गृहस्थानां चतुर्थपञ्चमगुणस्थानयोस्तु शुभोपयोगरूपं सविकल्पधर्मध्यानमेव, यतो हि तपोधनानां यादृशी शुद्धात्मभावना, तादृशी गृहस्थानां न भवति।

(अथवा) ''वज्रकाय (उत्तम संहनन) वाले के ध्यान होता है —यह जो आगम का वचन है, वह दोनों श्रेणियों के ध्यान को लक्ष्य में रखकर किया गया है, और इसलिए वह नीचे के गुणस्थानों में ध्यान का निषेध नहीं करता।''

मोक्षप्राभृत (76-77) में भी कहा गया है—

''भरतक्षेत्र में दुःषम नामक पञ्चमकाल में मुनि के धर्मध्यान होता है तथा वह धर्म ध्यान आत्मस्वभाव-स्थित साधु के होता है, ऐसा जो नहीं मानता, वह अज्ञानी है।''

''आज भी रत्नत्रय से शुद्धता प्राप्त हुए मनुष्य आत्मा का ध्यानकर इन्द्र पद व लौकान्तिक देवों के पद प्राप्त करते हैं और वहाँ से च्युत होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।''

यहाँ यह विशेष बात कथनीय है— निर्विकल्पक धर्मध्यान तपस्वी संयमी मुनियों के अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान में सम्भव होता है, और गृहस्थों के तो चतुर्थ व पञ्चम गुणस्थान में शुभोपयोग रूप सविकल्प धर्मध्यान ही हो पाता है, क्योंकि तपस्वी मुनियों की जैसी शुद्धात्मभावना होती है, वैसी गृहस्थों को नहीं होती।

उक्तं च—

कषायैरिन्द्रियैर्दुष्टैः व्याकुलीक्रियते मनः।
यतः कर्तुं न शक्यते भावना गृहमेधिभिः॥

अतएव ध्यानसामग्रीषु वैराग्यं नैर्ग्रन्थ्यं चेत्यादिकानां परिगणनं कृतमस्ति *(बृ. द्रव्यसंग्रह-टीका, गाथा-57)*—

वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता।
परीषहजयश्चेति पञ्चैते ध्यानहेतवः॥

यद्यपि सामायिककाले श्रावकस्यापि शुद्धभावना शास्त्रकारैर्निरूप्यते, अत एव समन्तभद्राचार्यैः *(रत्नकरण्डश्रावकाचारे, श्लोक-102)* **सामायिकस्थितश्रावकस्य मुनिभावापन्नता वर्णिता—**

सामायिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम्॥

कहा भी है— ''चूँकि दुष्ट इन्द्रियों व कषायों के कारण मन व्याकुल होता रहता है, इसलिए गृहस्थों के शुद्धात्मभावना में रहना अशक्य है।''

इसी दृष्टि से ध्यान की सामग्री का जहाँ निरूपण हुआ है, वहाँ वैराग्य व निर्ग्रन्थता इत्यादि का भी परिगणन किया गया है—

''ध्यान के ये पाँच हेतु (सामग्री) हैं— वैराग्य, तत्त्वज्ञान, निर्ग्रन्थता, समचित्तता (समता) और परीषहजय (बृ. द्रव्य संग्रह, गाथा-57 पर टीका)।''

यद्यपि सामायिक के समय श्रावक के भी शुद्ध भावना होती है— ऐसा शास्त्रकारों ने प्रतिपादित किया है, इसलिए पूज्य समन्तभद्र आचार्य महाराज ने रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-102) में यह बताया है कि सामायिक साधना में स्थित श्रावक मुनिभावापन्न होता है—

''सामायिक करते हुए श्रावक के आरम्भ सहित सभी (बाह्य व आभ्यन्तर) परिग्रह नहीं होते, और उस समय, वह श्रावक, उपसर्ग की स्थिति में वस्त्र ओढ़ा दिये गये हों ऐसे मुनि की तरह, मुनित्व स्वरूप को ही प्राप्त करता है।''

किन्तु गृहस्थानां या शुद्धभावना वर्णिता, सा अनुप्रेक्षणादिरूपा सविकल्पचिन्तनात्मिकैव ज्ञेया, न तु निर्विकल्पकध्यानरूपेति विज्ञेयम्।

उक्तं च भावसंग्रहे *(गाथा-381-385)*—

जं पुणु वि णिरालंबं तं झाणं गयपमायगुणठाणे।
चत्तगेहस्स जायइ धरियं जिणलिंगरूवस्स॥

जो भणइ कोवि एवं अत्थि गिहत्थाण णिच्चलं झाणं।
सुद्धं च णिरालंबं ण मुणइ सो आयमो जइणो॥

कहियाणि दिट्ठिवाए पडुच्च गुणठाण जाणि झाणाणि।
तम्हा स देसविरओ मुक्खं धम्मं ण झाएई॥

किं जं सो गिहवंतो बहिरंतरगंथपरिमिओ णिच्चं।
बहुआरंभपउत्तो कह झायइ सुद्धमप्पाणं॥

किन्तु गृहस्थों के शुद्ध भावना का जो सद्भाव बताया गया है, वह अनुप्रेक्षा रूप में सविकल्पक चिन्तन रूप ही होता है, वह निर्विकल्पध्यान रूप नहीं होता है— ऐसा जानना चाहिए।

भावसंग्रह (गाथा-381-385) में कहा भी गया है—

"और जो निरालम्ब (निर्विकल्पक) ध्यान है, वह तो गृहत्यागी (अनगार) व जिनलिङ्गधारी जीव के अप्रमत्तगुणस्थान (नामक सातवें गुणस्थान) में ही होता है।"

"जो कोई ऐसा कहता है कि गृहस्थों को निश्चल (निर्विकल्प), शुद्ध निरालम्ब ध्यान होता है, तो वह मुनियों के आगम (शास्त्र) को नहीं जानता।"

"दृष्टिवाद में गुणस्थानों का आधार बनाकर जो ध्यान निरूपित हुआ है, उसके अनुसार तो वह देशविरत (पंचम गुणस्थानवर्ती) श्रावक मुख्य धर्मध्यान का ध्याता नहीं होता।"

"वह गृहस्थ नित्य बाह्य व आन्तरिक परिग्रहों से युक्त होता है, और अत्यधिक आरम्भ-कार्य (सावद्य कर्म) में प्रवृत्त रहता है, तो वह कैसे शुद्ध आत्मा का ध्यानकर सकता है?"

घरवावारा केई करणीया अत्थि तेण ते सव्वे।
झाणट्ठियस्स पुरओ चिट्ठंति णिमीलियच्छिस्स॥

तथैव ज्ञानार्णवे *(6/4)* **च भणितमास्ते—**

रत्नत्रयमनासाद्य यः साक्षाद् ध्यातुमिच्छति।
खपुष्पैः कुरुते मूढः स वन्ध्यासुतशेखरम्॥

एवं निर्विवादमेव सिद्धान्तो निरूप्यते यद् गृहस्थानां सावलम्बनं ध्यानमेव भवति, न तु निर्विकल्पध्यानम्। उक्तं च भावसंग्रहे *(गाथा-371, 388)*—

मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पमायविरहिए ठाणे।
देसविरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्वं॥

तम्हा सो सालंबं झायउ झाणं पि गिहवई णिच्चं।
पंचपरमेट्ठिरूवं अहवा मंतक्खरं तेसिं॥

"उस गृहस्थ द्वारा अनेक गृह सम्बन्धी कार्य करने शेष रहते हैं, वह आँख बन्दकर ध्यानस्थ भी हो तो उसके सामने (चिन्तन में) उपस्थित हो जाते है।"

इसी तरह ज्ञानार्णव (6/4) में भी कहा गया है—

"रत्नत्रय को प्राप्त न करके जो साक्षात् ध्यान करना चाहता है, वह मूढ़ मानो आकाश-पुष्पों द्वारा वन्ध्या के पुत्र के मस्तक को अलंकृत करना चाहता है।"

इस प्रकार, निर्विवाद रूप से यह सिद्धान्त प्ररूपित होता है कि गृहस्थों के सावलम्बन ध्यान ही होता है, निर्विकल्प ध्यान नहीं होता। भावसंग्रह (गाथा-371, 388) में भी कहा गया है—

"मुख्य धर्मध्यान का सद्भाव तो प्रमादरहित (अप्रमत्त) गुणस्थान में कहा गया है, अतः देशविरत व प्रमत्त संयत (पाँचवे-छठे गुणस्थानों) में उसे उपचार से ही हुआ जानना चाहिए।"

"इसलिए गृहस्थ पंचपरमेष्ठी रूप या उनके वाचक मन्त्राक्षरों का नित्य सावलम्ब (सविकल्पक) ध्यान करे।"

आराधनासारे *(गाथा-31-32)* **च समर्थितमेतत् यत्समस्तपरिग्रहत्यागेनैव जीवस्योपशम-भाव:, ततश्च आत्मस्थिरता सम्भवति। यथा—**

संगच्चाएण फुडं जीवो परिणवइ उवसमो परमो।
उवसमगओ हु जीवो अप्पसरूवे थिरो हवइ॥

जाव ण गंथं छंडइ ताव ण चित्तस्स मलिणिमा मुवई।
दुविहपरिग्गहचाए णिम्मलचित्तो हवइ खवओ॥

ततः स्थितमेतत् यन्निरालम्बमुख्यनिश्चयनिर्विकल्पध्यानात्मकः शुद्धोपयोगो गृहस्थानां न भवति, अपितु अप्रमत्तसंयतनामकसप्तमगुणस्थानादारभ्य क्षीणकषायनामकं द्वादशमगुणस्थानं यावत् भवति। अथवा विवक्षाभेदेन शुक्लध्यानवतः शुद्धोपयोगः। अथवा मोहोदयाभावे उपशान्तमोहे क्षीणकषाये वा स भवति। अथवा सयोगकेवलिनः, अयोगकेवलिनश्च तथा सिद्धानां केवलज्ञान-दर्शनरूपः शुद्धोपयोगो भवति —इति विवक्षाभेदेन वक्तुं शक्यते।

आराधनासार (गाथा-31-32) में भी इसका समर्थन करते हुए कहा गया है कि समस्त परिग्रह के त्याग से ही जीव को उपशम भाव होता है और उसके होने पर ही आत्मस्थिरता सम्भव होती है—

"परिग्रह के त्याग से जीव स्पष्ट ही परम उपशम भाव को प्राप्त होता है और उपशम भाव को प्राप्त हुआ जीव (ही) आत्म-स्वरूप में स्थिर हो पाता है।"

"जब तक आराधक परिग्रह को नहीं छोड़ता, तब तक मन की मलिनता को नहीं छोड़ पाता। क्षपक साधक दोनों प्रकार के परिग्रह के त्याग से ही निर्मल चित्त वाला होता है।"

तो अब यह निर्णीत हो गया कि निरालम्बन मुख्य निश्चय-निर्विकल्प ध्यान रूप जो शुद्धोपयोग है, वह गृहस्थों को नहीं होता, अपितु अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान तक वह होता है। अथवा विवक्षा भेद से यह कहा जा सकता है कि शुक्ल ध्यान वाले को शुद्धोपयोग होता है। अथवा मोहनीय के उदय-अभाव में, उपशान्त मोह या क्षीणकषाय गुणस्थान में वह होता है। अथवा सयोगकेवली, अयोगकेवली एवं सिद्धों को केवलदर्शनज्ञानरूप शुद्धोपयोग होता है— ऐसा विवक्षाभेद से कहा जा सकता है।

(एवं लोगं विचिंतिज्जा) **एवं लोकं विचिन्तयेत्।** *'लोगो विचिन्तिज्जो'* **इतिपाठे तु लोको विचिन्तनीयः इत्यर्थो भावनीयः। तात्पर्यतः एवं प्रकारेण लोकानुप्रेक्षा भावनीया इति उपसंहारकथनम्।**

गाथायास्तात्पर्यमिदं यत् हे मनीषिन्! अयं लोको न केनचित् कृतः, अयं तु शाश्वतः सदास्थायी, अनादिनिधनश्च। कर्मबद्धावस्थायां जीवो लोकस्यास्य स्वकर्मानुसारमेव ऊर्ध्व-मध्य-अधोभागेषु चतुर्गतिषु परिभ्रमति। कर्ममुक्तस्य सत एव परिभ्रमणविरामः, सिद्धलोकस्थितिश्च। अतस्तत्परमपदप्राप्त्यै भेदाभेदरत्नत्रयं प्राप्नुहि, तदेव भावय येन केवलज्ञानं प्राप्येत, ततश्च मोक्षः सुलभो भवेत्। एवं लोकानुप्रेक्षां भावयतो जीवस्य तत्त्वज्ञानविशुद्धिरुपजायते। एवं *'जीवादि पयत्थाणं'* **इत्यादि गाथामादिं कृत्वा** *'असुहेण णिरयतिरियं'* **इत्यादिकां गाथां यावत् चतसृभिर्गाथाभिः लोकानुप्रेक्षानामकः षष्ठोऽधिकारः सम्पन्नः।**

[इति परमपूज्यगणाचार्यश्रीडॉ.विरागसागररचितायां सर्वोदयानाम्न्यां टीकायां 'लोकानुप्रेक्षा- 'नामकः षष्ठोऽधिकारः सम्पन्नतां प्राप्तः।]

(एवं लोकं विचिन्तयेत्) —इस रीति से लोक का चिन्तन करना चाहिए। 'लोको विचिन्तनीयः' ऐसा पाठ हो तो उसका अर्थ होगा— पूर्वोक्त स्वरूप वाले लोक को अपने चिन्तन का विषय बनाना चाहिए। (दोनों पाठों का) तात्पर्य यही है कि इस प्रकार से लोकानुप्रेक्षा का चिन्तन करते रहना चाहिए —यह उपसंहार रूप कथन है।

गाथा का यह तात्पर्य है कि हे मनीषी! इस लोक को किसी ने नहीं बनाया है, यह तो शाश्वत, सर्वदा स्थायी एवं अनादि निधन है। कर्म-बन्ध की स्थिति में जीव अपने कर्मों के अनुसार इस लोक के ऊर्ध्व, मध्य व अधो भाग में परिभ्रमण करता रहता है। कर्म-मुक्त होने पर ही उक्त परिभ्रमण का विराम सम्भव है और सिद्धलोक में वास भी तभी हो सकता है। इसलिए उस परम पद की प्राप्ति हेतु भेदाभेद रत्नत्रय को अधिगत (अंगीकार) करो, उसी की भावना करो ताकि केवलज्ञान की प्राप्ति हो जिसके फलस्वरूप मोक्ष सुलभ हो। इस प्रकार, लोकानुप्रेक्षा की भावना करते रहने वाले जीव को तत्त्व-ज्ञानसम्बन्धी विशुद्धि प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार, '**जीवादि पयत्थाणं**' इस गाथा से लेकर '**असुहेण तिरियनिरयं**' गाथा तक चार गाथाओं द्वारा लोकानुप्रेक्षा नामक छठा अधिकार सम्पन्न हुआ।

[परम पूज्य गणाचार्य श्री डॉ. विरागसागर जी द्वारा रचित इस सर्वोदया नामक टीका में 'लोकानुप्रेक्षा' नामक छठा अधिकार सम्पन्न हुआ।]

[असुचित्ताणुवेक्खा—सत्तमो अहियारो]

।।अशुचित्वानुप्रेक्षा— सप्तमोऽधिकारः।।

अथ पूर्वमध्रुवाशरणानुप्रेक्षामादिं कृत्वा लोकानुप्रेक्षां यावत् निरूपणं विधाय सम्प्रति 'अशुचित्वानुप्रेक्षा' -नामकः सप्तमोऽधिकारः प्रारभ्यते। प्रथममस्याधिकारस्य पातनिका निर्दिश्यते। गाथाचतुष्टयात्मके अत्राधिकारे आदौ *'अट्ठीहिं पडिबद्धं'* इत्यादिगाथामादिं कृत्वा *'देहादो वदिरित्तो'* इत्यादिगाथां यावत् चतस्रो गाथाः सन्ति। तत्र चतसृषु गाथासु *'अट्ठीहिं पडिबद्धं'* इत्यादिगाथा शरीरमिदमस्थिमांसत्वग्मयं कृमिसमूहैश्च संभृतं सत्सर्वदा अपवित्रम् इतिकथनपरा वर्तते। तदनन्तरं *'दुग्गंधं बीभच्छं'* इत्यादिका द्वितीया गाथा शरीरस्य दुर्गन्धमयत्वं बीभत्सरूपवत्त्वं कलिमलसंभृतत्वं जडरूपत्वं चेतनारहितत्वं तथा पूरणगलनस्वभाववत्त्वं च प्रतिपादयन्ती वर्तते। तदनन्तरं *'रसरुहिरमंसमेदट्ठी'* इत्यादिका तृतीया गाथा शरीरमिदं रुधिरमांससंकुलं मूत्र-पूयबहुलं पतनशीलं तथा अनित्यमचेतनत्वयुक्तं चास्ति —इति कथनपरा वर्तते। ततश्चान्ते *'देहादो वदिरित्तो'* इत्यादिका

[अशुचित्वानुप्रेक्षा— सप्तम अधिकार]

पूर्व में अध्रुव व अशरण अनुप्रेक्षा से प्रारम्भ कर लोकानुप्रेक्षा पर्यन्त निरूपण करने के बाद, अब '**अशुचित्व अनुप्रेक्षा**' नामक सातवाँ अधिकार प्रारम्भ किया जा रहा है। सर्वप्रथम इस अधिकार की पातनिका का निर्देश किया जा रहा है। चार गाथाओं वाले इस अधिकार में प्रारम्भ में '**अट्ठीहिं पडिबद्धं**' इत्यादि गाथा (गाथा-43) से प्रारम्भ कर '**देहादो वदिरित्तो**' इत्यादि (गाथा-46) तक चार गाथाएँ हैं। उन चार गाथाओं में '**अट्ठीहिं पडिबद्धं**' इत्यादि प्रथम (गाथा-43) है जो यह प्रतिपादित करती है कि यह शरीर अस्थि, मांस, त्वचा (चर्म) मय है, कृमि-समूह से भरा है, अतः सर्वदा अपवित्र है। उसके बाद, '**दुग्गंधं बीभच्छं**' इत्यादि दूसरी (गाथा-44) है, जिसमें शरीर की दुर्गन्धमयता, बीभत्सरूपता, कलिमल से पूर्णता, जड़रूपता एवं चेतना रहितता तथा पूरण-गलन स्वभावता का प्रतिपादन किया गया है। उसके बाद, '**रसरूहिरमंसमेदट्ठि**' इत्यादि तृतीय (गाथा-45) है, जो यह कथन करती है कि यह शरीर रूधिर-मांस से भरा है, मूत्र व पीव की बहुलता वाला है, पतनशील (विनश्वर) है तथा अनित्य व जड़ है। इसके बाद, अन्त में '**देहादो वदिरित्तो**' इत्यादिक चौथी (गाथा-46) है जिसमें यह प्रतिपादित करते हुए कि यह आत्मा

चतुर्थी गाथा आत्माऽयं शुद्धनिश्चयनयेन देहादिपरद्रव्येभ्योऽत्यन्तभिन्नः कर्मरहितः शुद्धोऽनन्तसुख-निधानं चास्तीति नित्यं भावना विधातव्येतिकथनपरा अधिकारोपसंहाररूपा भवति। इत्येवं समुदायेन चतसृभिर्गाथाभिः सप्तमाधिकारस्य पातनिका विज्ञेया।

अथेदानीमाचार्यवरा अशुचित्वानुप्रेक्षां प्ररूपयन्ति—

अट्ठीहिं पडिबद्धं मंसविलित्तं तएण ओच्छण्णं।
किमिसंकुलेहिं भरिदं, अचोक्ख देहं सयाकालं।।४३।।

छाया— अस्थिभिः प्रतिबद्धः, मांसविलिप्तः, त्वचा अवच्छन्नः।
कृमिसंकुलैः भरितः, अपवित्रो देहः सदाकालम्॥

(सर्वोदया टीका—) *(देहं)* **शरीरं, नामकर्मजनितं नोकर्मसंज्ञकं विषयभोगादिसहायभूतम्, औदारिकशरीरमित्यर्थः।** *(अट्ठीहिं पडिबद्धं)* **अस्थिभिः प्रतिबद्धम्, तेषां मनुष्यशरीरे संख्या त्रिशतात्मिका भवतीति शास्त्रेषु निरूपितम्। तथैवैतच्छरीरं** *(मंसविलित्तं)* **मांसेन विलिप्तं च भवति। रुधिरस्यैव मांसरूपेण परिणतिर्भवति।**

शुद्ध निश्चयनय से देह आदि पर-द्रव्यों से अत्यन्त भिन्न, पृथक् है, कर्मरहित, शुद्ध व अनन्तसुखमय है— ऐसी नित्य भावना करनी चाहिए, इस प्रकार अधिकार का उपसंहार किया गया है। इस प्रकार चार गाथाओं द्वारा सप्तम अधिकार की समुदाय पातनिका का निर्देश हुआ समझना चाहिए।

अब आचार्यप्रवर अशुचित्व-अनुप्रेक्षा की प्ररूपणा करने जा रहे हैं-

(43)

(गाथा-अर्थ—) यह देह हड्डियों से निर्मित है, मांस से लिप्त है, त्वचा (चर्म) से मंढ़ा (ढका) हुआ है, कृमि-समूह से भरा हुआ है, इस प्रकार (यह देह) सर्वदा अपवित्र है।।

(सर्वोदया टीका—) (देहः) शरीर जो नामकर्म से उत्पन्न है, नोकर्मसंज्ञक है, एवं विषय-भोगादि में सहायक है, अर्थात् औदारिक शरीर, जो **(अस्थिभिः प्रतिबद्धः)** हड्डियों से बँधा हुआ है। मनुष्य-शरीर में इन हड्डियों की संख्या तीन सौ होती है— ऐसा शास्त्रों में बताया गया है। एवं यह शरीर **(मांसविलिप्तः)** मांस से लिप्त भी होता है। रूधिर की ही मांस रूप से परिणति होती है।

उक्तं च धवलाग्रन्थे *(पु. 6, खण्ड-1, भाग-9, चूलिका-1, सू. 28, श्लोक-11)—*

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रवर्तते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जः शुक्रं ततः प्रजाः॥

अन्यच्च धवलाग्रन्थे तत्रैव— *पंचवीस कलासयाइं चउरसीदिकलाओ च तिहि सत्तभागेहिं परिहीणणवकट्ठाओ च रसो, रसरूवेण अच्छिय रुहिरं होदि। तं हि तत्तिय चेव कालं तत्थच्छिय मांसरूवेण परिणमइ।*

मनुष्यदेहे मांसपेशयोऽपि भवन्ति, तासां संख्या पञ्चशतात्मिका भवति। एवं समस्तशरीरे द्वे मांसरज्जू च भवतः। एवं मांसान्मेदःप्रभृतीनां यथाक्रममुत्पत्तिर्ज्ञातव्या। अत्रेदं विज्ञेयम्— द्वीन्द्रियादित आरभ्य पञ्चेन्द्रिय-जीवान् यावदेव मांसमयं शरीरं प्राप्यते, नैकेन्द्रियेषु।

(तएण ओच्छण्णं) **तथा शरीरमिदं त्वचा अवच्छिन्नं भवति। त्वचां संख्या सप्त कीर्तिता।** *(किमिसंकुलेहिं भरिदं)* **कृमीनां संकुलैः समूहैश्च भरितः, परिपूर्णो भवति देहः। कृमयोऽपि बहवो**

धवला ग्रन्थ (पु. 6, खण्ड-1, भाग-9, चूलिका-1, सू. 28, श्लोक-11) में भी कहा गया है—

"रस से रक्त बनता है, रक्त से मांस, मांस से मेद (वसा), मेद से हड्डी, उससे मज्जा, मज्जा से वीर्य (शुक्र) और उससे सन्तान उत्पन्न होती है"।

और भी वहीं धवला ग्रन्थ में कहा गया है— "2584 कला व $8^{4/7}$ काष्ठा काल तक रस रसरूप से रह कर रूधिर रूप परिणत होता है। वह रूधिर भी उतने ही काल तक रूधिर रूप से रह कर मांस रूप से परिणत होता है।"

मनुष्य के शरीर में मांसपेशियाँ भी होती हैं, उनकी संख्या 500 है। इस प्रकार समस्त शरीर में दो मांस-रज्जु भी होती हैं। इस प्रकार मांस से मेदा आदि की क्रमशः उत्पत्ति समझनी चाहिए। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि द्वीन्द्रिय जीवों से लेकर पञ्चेन्द्रियों तक मांसमय शरीर होता है, एकेन्द्रियों में (मांसमय शरीर) नहीं होता।

(त्वचा अवच्छन्नः) और यह शरीर त्वचा से अवच्छिन्न (व्याप्त) है। त्वचाओं की संख्या सात मानी गई है। **(कृमिसंकुलैः भरितः)** कीड़ों के समूहों से (यह) शरीर भरा हुआ है। कीड़े भी बहुत होते

भवन्ति, संख्यातासंख्याताश्च। अत्र कृमिशब्द उपलक्षणपरः, अतो न तेन द्वीन्द्रियजीव एव बोध्यते, अपितु द्वीन्द्रियादारभ्य पञ्चेन्द्रियान् यावदपि सर्वे जीवाः बोध्यन्ते। तथा *(सयाकालं)* **सर्वदा, सर्वस्मिन्नपि काले,** *(अचोक्ख)* **अपवित्रं च तिष्ठति शरीरमिदम्। अत्र अचोक्खशब्दः 'देसी' प्राकृतशब्दोऽपवित्रार्थकः। अस्य सम्पर्केण पवित्रं वस्त्वपि अपवित्रमिव भवति। दृश्यते च प्रत्यक्षं यत्पुष्पमालादयः, चन्दनलेपादयश्च शारीरिकभोगानन्तरं मलिना अपवित्राश्च जायन्ते। जगति यावती अपवित्रता, सा सर्वाऽपि देहे सन्निविष्टैव ज्ञायते।**

आचार्यपद्मनन्दिवैरपि प्रोक्तं पंचविंशतिकाग्रन्थे *(श्लोक-3/3)*—

दुर्गन्धाशुचिधातुभित्तिकलितं संछादितं चर्मणा,
विण्मूत्रादिभृतं क्षुधादिविलसद्दुःखाखुभिश्छिद्रितम्।
क्लिष्टं कायकुटीरकं स्वयमपि प्राप्तं जरावह्निना,
चेदेतत्तदपि स्थिरं शुचितरं मूढो जनो मन्यते॥

हैं, संख्यातासंख्यात। यहाँ कीड़ा शब्द उपलक्षणपरक है, अतः वह द्वीन्द्रिय जीव का ही बोधक नहीं है, अपितु द्वीन्द्रियों से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक का बोधक है। तथा **(सदाकालं)** सर्वदा, सभी समयों में, **(अपवित्रः)** यह शरीर अपवित्र रहता है। यहाँ 'अचोक्ख' यह देशी प्राकृत शब्द है जिसका 'अपवित्र' अर्थ है। (यहाँ तक कि) इसके सम्पर्क में आकर पवित्र वस्तु भी अपवित्र जैसी बन जाती है। प्रत्यक्ष में देखा भी जाता है कि पुष्पमाला, चन्दनलेप आदि शारीरिक भोग के बाद मलिन व अपवित्र हो जाते हैं। जगत् में जो भी अपवित्रता है, मानों वह सारी देह में समाविष्ट हो गई हो।

आचार्य पद्मनन्दि जी म. ने भी (अपने ग्रन्थ) पञ्चविंशतिका ग्रन्थ (श्लोक-3/3) में कहा है—

"यह शरीर दुर्गन्ध, अपवित्र धातुओं की दीवार से युक्त है, चर्म से ढका हुआ है, विष्ठा, मूत्र आदि इसमें भरे हुए हैं, क्षुधा आदि के दुःख रूपी चूहे इसे छिद्रयुक्त (जर्जरित) करते रहते हैं, क्लेशयुक्त यह शरीर रूपी कुटीर (कुटिया) स्वयं जरा (वृद्धावस्था) रूपी आग से ग्रस्त होता रहता है, ऐसा सब कुछ होने पर भी मूढ़ व्यक्ति इसे स्थायी व पवित्र मानता है।"

भगवती-आराधनाग्रन्थे *(गाथा-1021-1031)* **देहविषये सारभूतं निरूपणमिदं प्राप्यते—**

अट्ठीणि हुंति तिण्णि हु सदाणि भरिदाणि कुणिममज्जाए।
सव्वम्मि चेव देहे संधीणि हवंति तावदिया॥

ण्हारूण णवसदाइं सिरासदाणि हवंति सत्तेव।
देहम्मि मंसपेसीण हुंति पंचेव य सदाणि॥

चत्तारि सिराजालाणि हुंति सोलस य कंडराणि तहा।
छच्चेव सिराकुच्चा देहे दो मंसरज्जू य॥

सत्त तयाओ कालेज्जयाणि सत्तेव होंति देहम्मि।
देहम्मि रोमकोडीण होंति असीदिं सदसहस्सा॥

पक्कामयासयत्था य अंतगुंजाओ सोलस हवंति।
कुणिमस्स आसया सत्त हुंति देहे मणुस्सस्स॥

भगवती-आराधना ग्रन्थ (आ. शिवार्य कृत) ग्रन्थ (गाथा-1021-1031) में इस देह के विषय में सारभूत निरूपण इस प्रकार प्राप्त होता है—

''इस मनुष्य शरीर में तीन सौ हड्डियाँ होती हैं जो कुत्सित मज्जा से भरी होती हैं। सम्पूर्ण शरीर में तीन सौ ही सन्धियाँ होती हैं।''

''शरीर में नौ सौ स्नायु हैं। सिराएँ सात सौ हैं। मांस-पेशियाँ पाँच सौ होती हैं।''

''देह में चार शिराजाल हैं। रक्तपूर्ण सोलह महाशिराएँ हैं। छः शिराओं के मूल हैं। दो मांस-रज्जु हैं (जिनमें एक पीठ और एक पेट के आश्रित है)।''

''सात त्वचाएँ हैं। सात कालेयक-मांसखण्ड हैं। और अस्सी लाख करोड़ रोम हैं।''

''पक्वाशय और आमाशय में सोलह अन्त्रयष्टियाँ (आँतें) हैं। मनुष्य के शरीर में सात मलस्थान होते हैं।''

थूणाओ तिण्णि देहम्मि होंति सत्तुत्तरं च मम्मसदं।
णव होंति वणमुहाइं णिच्चं कुणिमं सवंताइं॥

देहम्मि मच्छुलिंगं अंजलिमित्तं सयप्पमाणेण।
अंजलिमित्तो मेदो उज्जोवि य तत्तिओ चेव॥

तिण्णि य वसंजलीओ छच्चेव य अंजलीओ पित्तस्स।
सिंभो पित्तसमाणो लोहिदमद्धाढगं होदि॥

मुत्तं आढयमेत्तं उच्चारस्स य हवंति छप्पच्छा।
बीसं णहाणि दंता बत्तीसं होंति पगदीए॥

किमिणो व वणो भरिदं सरीरं किमिकुलेहिं बहुगेहिं।
सव्वं देहं अप्फंदिदूण वादा ठिदा पंच॥

एवं सव्वे देहम्मि अवयवा कुणिमपुग्गला चेव।
एक्कं पि णत्थि अंगं पूयं सूचियं च जं होज्ज॥

''शरीर में वात, पित्त, कफ —ये तीन थूणाएँ हैं। एक सौ सात मर्मस्थान हैं। नौ व्रण-मुख (मलद्वार) हैं जिनसे सदा मल बहता रहता है।''

''(शरीर में) अपनी एक अंजुली- प्रमाण का मस्तिष्क है। एक अंगुली प्रमाण मेद है और एक अंजुली प्रमाण ही वीर्य है।''

''तीन अंजुलि प्रमाण वसा (चर्बी) है। छः अंजुलि प्रमाण पित्त है। पित्त प्रमाण ही कफ है। रूधिर आधा आढ़क (अर्थात् 2 प्रस्थ, सेर) प्रमाण है।''

''मूत्र एक आढ़क (4 प्रस्थ, सेर) प्रमाण है। विष्ठा छः प्रस्थ प्रमाण है। स्वाभाविक रूप में बीस नख और बत्तीस दाँत होते हैं।''

''जैसे घाव में कीड़े भरे रहते हैं, वैसे ही शरीर बहुत-से कीड़ों से भरा रहता है। समस्त शरीर को घेरे हुए पाँच वायु हैं।''

''इस प्रकार शरीर के सभी अवयव अशुभ पुद्गल रूप ही हैं। एक भी अवयव ऐसा नहीं है जो पवित्र व शुचि हो।''

शरीरे सप्त उपधातवोऽपि भवन्ति। उक्तं *(गोम्मटसार-कर्मकाण्डे 33 गाथाया उपरि जीवतत्त्व-प्रदीपिकाटीकायामुद्धृतं पद्यम्)* **च—**

वात: पित्तं तथा श्लेष्मा सिरा स्नायुश्च चर्म च।
जठराग्निरिति प्राज्ञै: प्रोक्ता: सप्तोपधातव:॥

उपर्युक्तनिरूपणमनुसृत्य, हे ज्ञानिन्! देहस्याशुचिस्वरूपं विज्ञाय शरीरं प्रति ममत्वं जहीहि। अन्यस्मिन् बाह्ये कुत्रचिदपि दुर्गन्धमयेऽपवित्रे स्थाने त्वं क्षणमपि स्थातुं न प्रभवसि यद्वा नेच्छसि, तथैव दुर्गन्धितेऽशुचिपदार्थभरितेऽत्र देहे चिरं स्थातुं कथमिच्छसि? वस्तुत: शरीरमेव दु:खकारणम्, तच्छरीरेणैव पापादिकर्माणि अनुष्ठीयन्ते। अत: त्वया शरीरहितार्थं तु प्रयतितं किन्तु स्वात्महिताय न प्रयतितम्। जानीहि यत् शरीरस्यात्मनश्चोभयो: युगपदुपकारो न सम्भवति।

उक्तं च इष्टोपदेशे *(श्लोक-19)*—

यज्जीवस्योपकाराय, तद् देहस्यापकारकम्।
यद् देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम्॥

शरीर में सात उपधातुएँ भी होती हैं। कहा भी है—

"वात, पित्त, कफ, सिरा, स्नायु, चर्म और उदराग्नि —इन सात को विद्वानों ने उपधातु कहा है।" *(गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा-33 पर जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका में उद्धृत पद्य)*।

उपर्युक्त निरूपण के अनुसार, देह के अशुचित्व आदि के स्वरूप को जानकर, हे ज्ञानी! शरीर के प्रति ममत्व त्यागो। किसी बाहरी दुर्गन्धित व अपवित्र स्थान पर तुम क्षण भर भी ठहर नहीं सकते या ठहरना नहीं चाहते, उसी तरह दुर्गन्धित व अशुचि पदार्थों से भरे इस शरीर में चिरकाल क्यों रहना चाहते हो? वस्तुत: शरीर ही तो दु:ख का कारण है, और उस (शरीर) के कारण पाप आदि कर्म होते हैं। अत: तुमने शरीर के हित के लिए तो यत्न किया, किन्तु आत्महित का यत्न नहीं किया। यह जानो कि शरीर व आत्मा —इन दोनों का एक साथ उपकार सम्भव नहीं है।

इष्टोपदेश (श्लोक-19) में कहा भी है—

"जो जीव (आत्मा) के उपकार के लिए (योग्य) होता है, वह देह का अपकारक होता है तथा जो देह के उपकार के लिए होता है वह जीव का अपकारक होता है।"

अतो देहस्यात्मनश्च परस्परभेदं हृदि निश्चित्य स्वात्मश्रेयसे संसारान्निवृत्तिं दधन् अन्तःस्थित-परमात्मतत्त्वस्याश्रयणं कुरु। समाधिशतके *(श्लोक-15)* **प्रोक्तमपि—**

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः॥

एवं शरीरादिं प्रति विरक्तिः समाश्रयितव्या, यया सहजशुद्धनिर्विकाराशरीरिस्वभावलाभो भवेदिति गाथायास्तात्पर्यम्।

इदानीं शरीरस्य विशरण-पतनस्वभावं शास्त्रकारा निरूपयन्ति—

दुग्गंधं बीभच्छं, कलिमलभरिदं अचेयणं मुत्तं।
सडण-पडणस्सहावं, देहं इदि चिंतये णिच्चं।।४४।।

छाया— *दुर्गन्धं बीभत्सं कलिमलभृतं अचेतनं मूर्तम्।*
सदन-पतनस्वभावं देहम् इति चिन्तयेत् नित्यम्॥

इसलिए देह व आत्मा के परस्पर-भेद को हृदय में निश्चित करके अपनी आत्मा के कल्याण के लिए संसार से निवृत्ति रखकर अन्तःस्थित परमात्मतत्त्व का आश्रयण करो। समाधिशतक (श्लोक-15) में कहा भी है—

''संसार-दुःख का मूल है— देह में आत्म-बुद्धि। इसलिए इसे त्यागकर, बाह्य विषयों से इन्द्रियों को हटाकर अन्तर्मुखता में प्रविष्ट होना चाहिए।''

इस तरह, शरीरादि के प्रति विरक्तिभाव का आश्रय लेना चाहिए ताकि सहज शुद्ध निर्विकार अशरीरी स्वभाव का लाभ हो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब शास्त्रकार शरीर के अरक्षित व क्षीण होने के स्वभाव का निरूपण कर रहे हैं—

(44)

(गाथा-अर्थ—) यह शरीर दुर्गन्धमय है, बीभत्स है, कलुषित मल से भरा है, अचेतन है, मूर्त है, इसका स्वभाव सड़ना-गलना है —इस प्रकार (ज्ञानी को) सदा चिन्तन करते रहना चाहिए।

(सर्वोदया टीका—) शरीरविषयकचिन्तनाय शास्त्रकारा अत्र परामृशन्ति— *(देहं चिंतये)* **देहं चिन्तयेत्। किंस्वरूपं देहं चिन्तयेत् —इतिजिज्ञासायाः समाधानाय** *'दुग्गंधं'* **इत्यादि कथनं विधीयते।** *(दुग्गंधं)* **दुर्गन्धयुक्तः सामान्यशरीरिणां देहो भवति। केवलं तीर्थंकरादिमहापुरुषस्यैव देहः स्वभावतः सुगन्धमयो भवति, नान्येषां प्राणिनाम्।**

तीर्थंकरस्य निर्मलशरीरवत्त्वमुत्तमगन्धवत्वमित्यादिकाः दश जन्मातिशयाः तिलोयपण्णत्तौ *(4/896-898)* **वर्णिताः—**

णिस्सेदत्तं णिम्मलगत्तत्तं दुद्धधवलरुहिरत्तं।
आदिमसंहडणत्तं समचउरस्संगसंठाणं॥

अणुवमरूवत्तं णवचंपयवरसुरहिगंधधारित्तं।
अट्ठुत्तरवरलक्खणसहस्सधरणं अणंतबलविरियं॥

मिदहिदमधुरालाओ साभावियअदिसयं च दसभेदं।
एयं तित्थयराणं जम्मग्गहणादिउप्पण्णं॥

(सर्वोदया टीका—) देह के विषय में चिन्तन के लिए शास्त्रकार परामर्श दे रहे हैं— **(देहं चिन्तयेत्)** देह का चिन्तन करना चाहिए। देह के किस स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए —इस जिज्ञासा के समाधान हेतु **'दुग्गंधं बीभच्छं'** इत्यादि (गाथा का) कथन किया गया है। ***(दुर्गन्धम्)*** सामान्य शरीरधारियों का शरीर दुर्गन्धयुक्त होता है। केवल तीर्थंकर आदि महापुरुष का देह ही स्वभावतः सुगन्धमय होता है, अन्य प्राणियों का नहीं।

तीर्थंकरों के निर्मल व उत्तमगन्धयुक्त शरीर आदि दस जन्मातिशयों का निरूपण तिलोयपण्णत्ति (4/896-898) में इस प्रकार किया गया है—

"स्वेदरहितता (पसीना न होना), निर्मलशरीर, दूध के समान धवल रुधिर, वज्रऋषभनाराच-संहनन नामक प्रथम शरीर, समचतुरस्ररूप शरीरसंस्थान, अनुपम रूप, नृप चम्पक की उत्तम गन्ध धारण करना, एक हजार आठ उत्तम लक्षणों से युक्त होना, अनन्त बल-वीर्य, हित-मित-मधुर भाषण —ये स्वाभाविक अतिशय के दस भेद हैं। यह दस भेद रूप अतिशय तीर्थंकरों के जन्मग्रहण के समय से ही उत्पन्न हो जाते हैं।"

पित्रोः रजोवीर्यसमुद्भूतं तथाऽशुचिपदार्थपूरितं दुर्गन्धमयगर्भस्थाने क्रमशो वृद्धिंगतं च सामान्यशरीरिणां शरीरं दुर्गन्धयुक्तं भवत्येवेति शास्त्रकारा अग्रे गाथायां स्पष्टं प्रतिपादयिष्यन्ति। तथैव शरीरमिदं *(बीभच्छं)* बीभत्सं रमणीयतारहितमशोभनं वा भवतीत्यर्थः। बाह्यचर्मणा आच्छादितं शरीरं यौवनाद्यवस्थासु शोभनं कदाचिद् दृश्येत, तथाऽपि चर्मणोऽन्तःस्थितं मांसपिण्डादिकं दृष्ट्वा भयजुगुप्सादिकमेव द्रष्टुर्भवति। तथैव देहोऽयं *(कलिमलभरिदं)* अत्र कलिशब्दः कालुष्यवाचकः। कल्यते क्षिप्यते शोभा श्रीर्वा यत्र इति कलिः। कालुष्यपूर्णैः मलैः परिपूर्णमित्यर्थः। मल-मूत्र-पित्त-श्लेष्मवसादिविविधमलैः सर्वदा युक्तं शरीरमिति तात्पर्यम्। शरीरे नव मलद्वाराणि भवन्ति। शरीरस्थितैर्नासिकादिनवमलद्वारैः मलाद्यास्रवेण स्वरूपेणाशुचित्वात् तथैव मूत्रपुरीषाद्यशुचि-मलानामुत्पत्तिस्थानत्वाच्च देहोऽयमशुचिरेवेति बृहद्द्रव्यसंग्रहस्य *(गाथा-35)* टीकायां निरूपित-मस्ति।

(अचेयणं) **चेतनारहितं स्वतः इत्यर्थः। जीवात्म-संयोगेन सचेतनं** ***(चेतनाव्याप्तं)*** **भवति नान्यथेति भावः।**

सभी सामान्य शरीरधारियों के शरीर उनके माता-पिता के रज व वीर्य से उत्पन्न, अशुचि पदार्थों से पूर्ण, दुर्गंधित तथा दुर्गन्धमय गर्भस्थान में क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होने वाले होते ही हैं— ऐसा शास्त्रकार आगे गाथा में स्पष्ट प्रतिपादित करेंगे। उसी तरह वह शरीर **(बीभत्सं)** भयंकर, रमणीयतारहित या शोभारहित होता है— यह तात्पर्य है। बाह्य चमड़े से आच्छादित हुआ यह शरीर यौवन आदि अवस्थाओं में कभी शोभायुक्त भी दिखे, फिर भी चमड़े के अन्दर स्थित मांस-पिण्ड आदि को देखकर द्रष्टा को भय व जुगुप्सा ही होगी। इसी तरह यह देह **(कलिमलभृतम्)** कालुष्यपूर्ण मल से भरा हुआ होता है। यहाँ 'कलि' शब्द कालुष्य का वाचक है। जहाँ शोभा या लक्ष्मी कलित या क्षिप्त (निर्गत) हो, वह 'कलि' कहलाता है। मल-मूत्र-पित्त-श्लेष्म-वसा आदि विविध मलों से यह शरीर सर्वदा युक्त रहता है —यह तात्पर्य है। शरीर में नौ मल-द्वार होते हैं। शरीर में नासिका आदि नौ मल-द्वारों से मल आदि के आगमन होते रहने से अशुचिता बनी रहती है, उसी तरह, मूत्र, विष्ठा आदि अशुचि मलों का उत्पत्ति स्थान होने से भी यह देह 'अशुचि' ही है —ऐसा बृहद्द्रव्यसंग्रह (गाथा-35) की (ब्रह्मदेवकृत) टीका में कहा गया है।

(अचेतनम्) अर्थात् स्वयं चेतना से रहित है। तात्पर्य यह है शरीर जीवात्मा के सान्निध्य से तो सचेतन (चेतना से व्याप्त) होता है, अन्यथा वह अचेतन ही रहता है।

अत्र कश्चित् शङ्कते— यद् यदि शरीरमचेतनमेव, तर्हि तस्य विनाशे कथं हिंसापापसद्भावः ? अत्र समाधानम्— उपचरित-असद्भूतव्यवहारनयेन शरीरमपि चेतनं सद् जीवरूपेणाभिधातुं शक्यते।

उक्तं चालापपद्धतिग्रन्थे *(सू. 160)— 'असद्भूतव्यवहारेण कर्मनोकर्मणोरपि चेतनस्वभावः'* **इति। पञ्चाध्यायीग्रन्थे** *(I/567)* **च मनुजादिशरीरस्य जीवसंज्ञा व्यवहारलोके निर्दिष्टा दृश्यते। अतस्तस्य पीडादिप्रदानेन हिंसा-दोषः प्रसज्ज्यते। अशुद्धनिश्चयनयेन तु शरीरमचेतनमेवेति दृष्ट्या तस्याचेतनत्वं निर्विवादमेव।** *(मुत्तं)* **मूर्तं स्पर्शरसगन्धवर्णयुक्तत्वात्। मूर्तपदार्थे श्वेत-पीत-नील-अरुण-कृष्णोतिपञ्च वर्णा भवन्ति। तिक्तकटुकषायाम्ल-मधुरेति रसाः पञ्च भवन्ति, सुगन्ध-दुर्गन्धेतिगन्धद्वयं भवति, शीत-उष्ण-स्निग्ध-रूक्ष-मृदु-कर्कश-गुरु-लघुसंज्ञकाः अष्टौ स्पर्शाश्च भवन्ति —इत्यादिकं बृहद्द्रव्यसंग्रहे** *(गाथा-7)* **प्रतिपादितम्। रूपादिमत्त्वात् यः पदार्थ इन्द्रिय-ग्राह्यो भवति, स मूर्तः कथ्यते।**

उक्तं च पञ्चास्तिकाये *(गा. 99)— ''जे खलु इंदियगेज्झा बिसया जीवेहिं होंति ते मुत्ता''* **इति।**

यहाँ कोई शंका करता है— यदि शरीर अचेतन ही है तो उसके घात या विनाश में हिंसा का पाप कैसे लगता है? यहाँ उसका समाधान यह है— उपचरित असद्भूतव्यवहार की दृष्टि से यह शरीर भी चेतनस्वभावी है और उसे जीव रूप से अभिहित किया जा सकता है।

आलापपद्धति ग्रन्थ (सू. 160) में कहा भी गया है— ''असद्भूत व्यवहारनय से कर्म, नोकर्म के भी चेतन स्वभाव है।'' पञ्चाध्यायी (ड्ड/567) ग्रन्थ में भी ऐसा बताया गया है कि मनुष्य आदि के शरीर की जीव संज्ञा व्यवहार-जगत् में की जाती है। इस दृष्टि से उस (शरीर) को पीड़ा आदि देने पर हिंसा का दोष प्रसक्त होता है। अशुद्ध निश्चयनय से तो शरीर अचेतन ही है— इसलिए उसका अचेतनपना निर्विवाद ही है। **(मूर्तम्)** स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से युक्त होने के कारण शरीर मूर्त-मूर्तिमान है। मूर्त पदार्थ में श्वेत, पीत, नील, लाल, कृष्ण —ये पाँच वर्ण होते हैं, तिक्त, कटु, कषाय, अम्ल, मधुर —ये पाँच रस होते हैं, सुगन्ध व दुर्गन्ध —ये दो गन्ध होती हैं, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, कर्कश, गुरु, लघु —ये आठ प्रकार के स्पर्श होते हैं —इत्यादि का प्रतिपादन बृहद्द्रव्यसंग्रह (गाथा-7) में किया गया है। मूर्त वह कहा जाता है जो रूप आदि से युक्त होने के कारण इन्द्रिय-ग्राह्य होता है।

पंचास्तिकाय (गाथा-99) में कहा भी है— ''जो विषय जीव द्वारा इन्द्रियग्राह्य होते हैं, वे मूर्त होते हैं।''

एवं जीवस्यापि कर्मबन्धावस्थायामुपचरित-असद्भूतव्यवहारनयेन मूर्तत्वं प्रतिपाद्यते शास्त्रकारैः। अत एवोक्तं बृहद्द्रव्यसंग्रहे *(गाथा-7)— 'ववहारा मुत्ति बंधादो'* **इति।**

(सडणपडणस्सहावं) **विनश्वरो देहः सड़न-पतनस्वभावो भवति। अथवा सदनशब्दमपि अत्र गृह्यते। सदनं नाम क्रमशो जराग्रस्तत्वं म्लानत्वं च भवति। देहः शनैः शनैर्जीर्यते, सीदति, विशीर्यते वा, तथा निपतति, नश्यति च।** *(इदि)* **इति, एवंप्रकारेण,** *(णिच्चं)* **नित्यं** *(चिंतये)* **चिन्तयेत्।**

भो भव्य! यावत् शरीरस्वभावो न खलु चिन्तितो भवति, तावद् वैराग्यं नोदेति। वैराग्योदयाभावे जनस्य स्वशरीरशृंगारादिकार्येषु संसारवर्द्धकेषु आसक्तिः प्रचरति, तेन च रागमोहादिकषायवृद्धिः। प्रतिकूलावस्थासु च दुर्ध्यानमपि समेधते। परमात्मविषयकः शुद्धोपयोगस्तु न जातुचित् सम्भवति। अतः आत्मकल्याणाय स्वशरीरस्वभावानुचिन्तनं करणीयं, तेन च वैराग्यवृद्धिः, प्रशस्तध्यानस्थितिरपि सम्भवति। एवं तदर्थमेव प्रयतितव्यम् —इति गाथायास्तात्पर्यम्।

इस प्रकार, कर्म-बन्ध की स्थिति में जीव को भी शास्त्रकारों ने उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से मूर्त प्रतिपादित किया है। इसीलिए बृहद्द्रव्यसंग्रह (गाथा-7) में कहा गया है— "कर्मबन्ध के कारण, व्यवहारनय से वह मूर्त है।"

(सदन-पतनस्वभावम्) यह विनाशशील देह सड़न व पतन के स्वभाव वाला होता है। अथवा यहाँ सदन शब्द भी ग्रहण करना चाहिये। सदन का अर्थ है— क्रमशः जराग्रस्त होना, मुरझा जाना। देह धीरे-धीरे जीर्ण होता जाता है, मुरझाने लगता है या क्षीण होता जाता है, और वह पतन-शील है, नश्वर है। **(इति)** इस प्रकार से, **(नित्यम्)** सर्वदा, **(चिन्तयेत्)** चिन्तन करते रहना चाहिए।

हे भव्य! जब तक शरीर के स्वभाव को चिन्तन में नहीं उतारोगे, तब तक वैराग्य का उदय नहीं हो पाएगा। वैराग्य के उदय न होने की स्थिति में व्यक्ति की संसारवर्द्धक कार्यों— अपने शरीर के पोषण, संवर्धन व शृंगारादि सम्बन्धी कार्यों में आसक्ति प्रवर्तित रहती है, परिणामस्वरूप राग-मोहादि कषायों का संवर्धन होता रहता है। प्रतिकूल स्थितियों में दुर्ध्यान की स्थिति भी समृद्ध होती है। परमात्मविषयक शुद्धोपयोग तो कभी सम्भव नहीं हो पाता। इसलिए आत्म-कल्याण हेतु निज शरीर के (पूर्वोक्त) स्वभाव का अनुचिन्तन करना चाहिए ताकि वैराग्य में वृद्धि हो, और प्रशस्त ध्यान की स्थिति भी सम्भव हो। इस प्रकार इसी दिशा में प्रयत्नशील रहना चाहिए —यह गाथा का तात्पर्य है।

अथ मनुष्याणां तिरश्चां च शरीरे सप्त धातवो भवन्तीति शास्त्रकारा निरूपयन्ति—

रस-रुहिर-मंस-मेदट्ठी-मज्जसंकुलं मुत्तपूयकिमिबहुलं।
दुग्गंधमसुचि चम्ममयमणिच्चमचेयणं पडणं ॥४५ ॥

छाया— रस-रुधिर-मांस-मेदास्थि-मज्जासंकुलं मूत्रपूयकृमिबहुलम्।
दुर्गन्धमशुचि चर्ममयमनित्यमचेतनं पतनम् ॥

(सर्वोदया टीका—) देहस्यैव पूर्ववत्स्वरूपवर्णनमत्र विधीयते— *(रसरुहिरमंसमेदट्ठी-मज्जसंकुलं)* **संकुलं पूर्णं भरितमित्यर्थः। कैः ? रसरुधिरादिभिः। तत्र भोजनान्तरं प्रथमं रसधातुरुत्पद्यते। स रसश्च रुधिररूपेण परिणतो भवति। स रसः कियत्कालं स्थित्वा रुधिररूपेण परिणतो भवति?**

धवलानुसारं *(पुस्तक-6, खण्ड-1, भाग-9, सूत्र-9, चूलिका-1, पृष्ठ-63)* **तस्य समयो भवति चतुरशीत्यधिक-पञ्चशतोत्तर-द्विसहस्रकाष्ठाः** *(2584 काष्ठा)*, **$8^{4/7}$ कलाश्च (अर्थात् प्रायः त्रिचतुर्दिवसेषु रसस्य द्वितीय धातु-रुधिरत्वेन परिणतिः स्वीकृता)। पूर्वोक्तकालमर्यादामनुसृत्य**

अब, मनुष्य व तिर्यञ्च प्राणियों के शरीर में होने वाली सात धातुओं का निरूपण शास्त्रकार कर रहे हैं—

(45)

(गाथा-अर्थ—) यह शरीर रस, रक्त, मांस, चर्बी, हड्डी व मज्जा से भरा हुआ है, इसमें मूत्र, मवाद व कीड़ों की बहुलता है, यह दुर्गन्धमय है, अपवित्र है, चर्ममय है, अनित्य है, अचेतन और पतनशील है।

(सर्वोदया टीका—) यहाँ पूर्ववत् ही देह के स्वरूप का वर्णन यहाँ किया जा रहा है— **(रसरुधिमांसमेदास्थिमज्जासंकुलं)** संकुल अर्थात् पूर्ण, भरा हुआ। किन से (भरा हुआ) ? रस-रुधिर आदि से (पूर्ण है)। इनमें भोजन करने के बाद प्रथम जो धातु उत्पन्न होती है, वह रस होती है। वह रस कितने समय तक रस रूप रहकर रुधिर रूप से परिणत होता है ?

धवला (पुस्तक-6, खण्ड-1, भाग-9, सू. 9, चूलिका-1, पृ. 63) के अनुसार वह समय-अवधि है— 2584 काष्ठा व $8^{4/7}$ कला (अर्थात् प्रायः तीन-चार दिनों में रस की परिणति द्वितीय धातु रक्त रूप में होनी मानी गई है)। पूर्वोक्त काल-मर्यादा का ही अनुसरण कर रुधिर भी मांस रूप से परिणत हो जाता है, इस प्रकार

रुधिरस्यापि मांसरूपेण परिणतिर्भवति, एवं तृतीयधातुरुत्पद्यते। मांसादपि पूर्वोक्तकालस्थित्यनन्तरं चतुर्थधातुमेदोत्पत्तिर्जायते। मेदादपि पूर्वोक्तसमयमर्यादायां पञ्चमधातोरस्थिरूपेण समुत्पत्तिर्भवति। अस्थिधातुरपि पूर्वोक्तसमयं यावत् स्थित्वा षष्ठधातुमज्जारूपेण परिणमति। मज्जाधातुरपि उक्तसमयानन्तरं सप्तमधातुशुक्ररूपेण परिणमति। स्त्रीषु शुक्रस्थानीयं रजो भवतीत्यतः शुक्रधातुः स्त्रीरजसोऽपि उपलक्षणत्वेन बोधको भवतीति ज्ञेयम्। आहारानन्तरं सप्तमधातोर्निमाणमेकोनत्रिंशद्दिनेषु जायते। एवं शरीरमिदं रस-रुधिर-मांस-मेदोऽस्थि-मज्जाभिः संकुलं सर्वतः परिपूरितं भवति -इति भावः।

(मुत्तपूयकिमिबहुलं) **मूत्रम्, पूयम्, कृमयः, एतेषां बहुलता शरीरे वर्तते इति भावः। अत्र मूत्रशब्दो देशामर्शकः, अतः उच्चारस्यापि संकेतग्राहको भवति। पूयं च कुत्सितपदार्थविशेषः। कृमयो द्वीन्द्रियजीवाः। अत्र कृमिशब्दोऽपि त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियजीवानामपि बोधकः। मूत्रादीनामेतेषां बहुलतया देहोऽयं पूर्णतया अशुचिररम्यश्च सदा वर्तते।**

तीसरी धातु उत्पन्न होती है। मांस से भी पूर्वोक्त काल की स्थिति के अनन्तर चतुर्थ धातु मेद की उत्पत्ति हो जाती है। मेद से भी उक्त समय-मर्यादा में पाँचवी धातु अस्थि की उत्पत्ति होती है। अस्थि धातु भी उक्त समय तक अस्थि रूप में रहकर छठी धातु मज्जा के रूप में परिणत हो जाती है। मज्जा धातु भी उक्त समय-स्थिति के बाद सातवीं धातु शुक्र रूप में परिणत हो जाती है। स्त्रियों में शुक्र के स्थान पर 'रज' होता है, इस दृष्टि से 'शुक्र धातु' शब्द उपलक्षण से स्त्री-रज का भी बोधक है— यह जानें। आहार के बाद सातवीं धातु का निर्माण उनतीस दिनों में हो जाता है। इस प्रकार यह शरीर रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि व मज्जा से सर्वतोभावेन संकुल या परिपूरित है —यह तात्पर्य है।

(मूत्रपूयकृमिबहुलम्) मूत्र, पीव, कृमि —इनकी बहुलता शरीर में है —यह तात्पर्य है। यहाँ मूत्र शब्द 'देशामर्शक' के रूप में विष्ठा का भी बोध कराता है। पूय यानी पीव —जो एक कुत्सित पदार्थ ही है। कृमि —ये द्वीन्द्रिय जीव होते हैं। यहाँ कृमिशब्द भी त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व संमूर्च्छिम पञ्चेन्द्रिय जीवों का भी बोधक है। मूत्र आदि इन पदार्थों की बहुलता के कारण यह देह पूर्ण रूप से सर्वदा अपवित्र व अरमणीय रहता है।

(दुग्गंधं) **दुर्गन्धमयम्,** *(असुचि)* **जुगुप्सितमपवित्रम्।** *(चम्ममयं)* **चर्मास्तृतम्।** *(अणिच्चं)* **अनित्यम्, विनश्वरम्।** *(अचेयणं)* ***अचेतनम्, चैतन्यरहितम्।*** *(पडणं)* **पतनशीलम्। नियतायुष्यकाल-समाप्तौ तस्य पतनं निश्चितमेव।**

देहस्यैतत्स्वरूपमेव स्वामिकार्तिकेयैः इत्थं निरूपितमस्ति—

सयलकुहियाण पिंडं किमिकुलकलियं अउव्वदुग्गंधं।
मलमुत्ताण य गेहं देहं जाणेहि असुइमयं॥

(स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-83)

यद्यपि अनुपचरित-असद्‌भूतव्यवहारनयेन पञ्चविधदेहा अपि जीवस्य स्वीकृताः, शुद्धनिश्चयनयेन तु ते नैव निजस्वरूपभूताः। तथापि अज्ञानवशाद् जीवो देहं निजं स्वरूपं मन्वानः संसारवने एव निरन्तरं हिण्डति। अतो देहस्य कुत्सितं स्वरूपमवबुद्ध्य भो शिष्य! देहादात्मानं पृथक् भावय, देहे आसक्तिं मा कृथाः। रत्नत्रयाचरणसहचरितशुद्धात्मध्यानेन कर्मक्षयं कुरु, येन देहरहितमशरीरिमुक्तात्मस्वरूपं प्राप्येत —इति गाथायास्तात्पर्यम्।

(दुर्गन्धम्) दुर्गन्धमय, और **(अशुचि)** जुगुप्सायोग्य व अपवित्र है। और **(चर्ममयं)** चमड़े से ढका हुआ है। **(अनित्यम्)** विनश्वर है, **(अचेतनम्)** अचेतन है, अर्थात् चैतन्यरहित है, और **(पतनम्)** पतनशील (सड़ने-गलने वाला) है। अपनी नियत आयु की समाप्ति पर उसका पतन —विनाश निश्चित ही है।

देह के इसी स्वरूप को स्वामिकार्तिकेय महाराज ने इस प्रकार निरूपित किया है— ''यह शरीर अपवित्र द्रव्यों से बना है। यह समस्त बुरी वस्तुओं का समूह है। इसे कृमियों से युक्त, अत्यन्त दुर्गन्धमय, तथा मल-मूत्र का घर ही समझें।'' *(स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-83)*।

यद्यपि अनुपचरित-असद्‌भूत व्यवहारनय से पंचविध देहों को जीव का माना जाता है, किन्तु शुद्ध निश्चयनय से वे देह जीव के स्वरूप नहीं है। फिर भी अज्ञान के कारण जीव देह को अपना स्वरूप मानता हुआ संसार-वन में ही निरन्तर चक्कर काटता रहता है। इसलिए हे शिष्य! देह के उक्त कुत्सित स्वरूप को हृदयंगम कर देह से स्वयं को पृथक् समझो और देह में आसक्ति मत रखो। रत्नत्रय के आचरण के साथ शुद्धात्मा का ध्यान कर कर्मों का क्षय करो ताकि देहरहित-अशरीरी मुक्त आत्मा के स्वरूप को प्राप्त कर सको —यह गाथा का तात्पर्य है।

अथ देहातीतः शुद्धात्मैव सर्वैर्मुमुक्षुभिरुपादेयः इति शास्त्रकारा निरूपयन्ति—

देहादो वदिरित्तो, कम्मविरहिदो अणंतसुहणिलओ।
चोक्खो हवेइ अप्पा, इदि णिच्चं भावणं कुज्जा॥४६॥

छाया— देहात् व्यतिरिक्तः कर्मविरहितः अनन्तसुखनिलयः।
प्रशस्तो भवति आत्मा — इति नित्यं भावनां कुर्यात्॥

(सर्वोदया टीका—) *(अप्पा)* **आत्मा,** *(देहादो वदिरित्तो)* **देहात् व्यतिरिक्तः, पूर्णतः पृथक्, भिन्नः, विजातीयश्च वर्तते। अत्रेदं बोध्यम्— देहस्यैव शरीरसंज्ञा। शरीरनामकर्मोदयवशाद् शीर्यते नश्यति इति शरीरम्। आत्मा तु शाश्वतः, अविनाशी —इत्यनयोः भेदः पृथक्त्वं च सुगमतया बोध्ये। अत्राशंक्यते यद् यदि 'शीर्यन्त इति शरीराणि' इति स्वीक्रियते तर्हि घटादीनामपि विशरणमस्तीति तेषामपि शरीरत्वं प्रसज्ज्यते? तन्न, यतो हि तस्मिन् घटादिपदार्थे नामकर्मोदयाभावात् तेषां शरीरसंज्ञा नोपपद्यते, नामकर्मोदयजनितविशरणशीलं हि शरीरमिति स्वीकृतत्वात्।**

अब, यह देहातीत शुद्धात्मा ही सभी मुमुक्षु आत्माओं के लिए उपादेय है —इस तथ्य का शास्त्रकार निरूपण कर रहे हैं—

(46)

(गाथा-अर्थ—) (यह) आत्मा देह से भिन्न है, कर्मरहित है, अनन्त सुख का धाम है, शुद्ध है —इस प्रकार से सदा भावना करनी चाहिए।

(सर्वोदया टीका—) (आत्मा) आत्मा **(देहात् व्यतिरिक्तः)** देह से व्यतिरिक्त, पूर्णतया पृथक्, भिन्न व विजातीय है। यहाँ यह ज्ञातव्य है— देह का 'शरीर' नाम भी है। शरीर नामकर्म के उदय से (उत्पन्न होकर) जो विनाशशील होता है— वह शरीर होता है। आत्मा तो शाश्वत व अविनाशी है— इस दृष्टि से इन (देह व आत्मा) में परस्पर पार्थक्य व भेद सुगमतया ज्ञेय है। यहाँ शंका की जाती है कि यदि 'जो विशीर्ण (नष्ट) होने वाला होता है, वह शरीर होता है' —ऐसा माना जाए तो घट आदि भी विशरणस्वभावी होने से शरीर कहलाने लगेंगे? (समाधान-) ऐसी बात नहीं है, क्योंकि विशरणशील होने पर भी घट आदि में नामकर्मोदय-जनित (विशरणशीलता) नहीं है। क्योंकि 'नामकर्मोदय से उत्पन्न विशरण (नाश) के स्वभाव वाला शरीर होता है' —ऐसा स्वीकार किया गया है।

शरीराणि च पंचविधानि, तानि औदारिक-वैक्रियिक-आहारक-तैजस-कार्मणेतिसंज्ञकानि भवन्ति। एतेषु शरीरेषु औदारिक-वैक्रियिक-आहारेतिसंज्ञकानि शरीराणि, तेषां क्रमशः पूर्वशरीरापेक्षयोत्तरोत्तरं भवत्यसंख्येयगुणप्रदेशता।

उक्तं च तत्त्वार्थसूत्रे *(2/38-39)— ''प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात्। अनन्तगुणे परे॥''*

यद्यपि धवलाग्रन्थानुसारं *(पु. 14, खण्ड-5, भाग-6, सू. 512, पृ. 435)* **प्रत्येकं शरीरमनन्तानन्तकर्मपुद्गलप्रचयात्मकं भवति। तथापि औदारिकाद् पल्योपमसंख्येयभागप्रमित-गुणप्रदेशं वैक्रियिकम्। वैक्रियिकाद् पल्योपमसंख्येयभागप्रमितगुणप्रदेशमाहारकमिति। तथा आहारकात् तैजसशरीरं प्रदेशतोऽनन्तगुणं, तैजसाच्च कार्मणं प्रदेशतोऽनन्तगुणं भवति। अत्र को गुणकारः?**

अभव्यानामनन्तगुणः, सिद्धानामनन्तभागः। एवं तान्युत्तरोत्तरं प्रदेशवृद्धि-युक्तान्यपि उत्तरोत्तरमधिकसूक्ष्मतां वहन्ति।

शरीर के पाँच प्रकार हैं। उनके नाम हैं— (1) औदारिक, (2) वैक्रियिक (3) आहारक, (4) तैजस, और (5) कार्मण। इन (पाँच शरीरों) में जो औदारिक, वैक्रियिक व आहारक नामक (तीन) शरीर हैं, उनमें क्रमशः अपने पूर्वशरीर की अपेक्षा उत्तरोत्तर असंख्येयगुणी प्रदेशता होती है।

तत्त्वार्थसूत्र (2/38-39) में कहा भी है— ''प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तैजसात्। अनन्तगुणे परे।''

यद्यपि धवला ग्रन्थ (पु. 14, खण्ड-5, भाग-6, सू. 512, पृ. 435) के अनुसार प्रत्येक शरीर अनन्तानन्त कर्मपुद्गलों (परमाणुओं) का प्रचय (समूह) होता है, फिर भी औदारिक शरीर की अपेक्षा पल्योपम के असंख्येय भाग प्रमाण गुणित प्रदेशों वाला वैक्रियिक शरीर होता है। वैक्रियिक शरीर की अपेक्षा पल्योपम के असंख्येय भाग प्रमाण गुणित प्रदेशों वाला आहारक शरीर होता है। आहारक शरीर से भी अनन्तगुने प्रदेश वाला तैजस शरीर होता है। तैजस से भी अनन्तगुने प्रदेश वाला कार्मण शरीर होता है। यहाँ गुणकार का प्रमाण क्या है?

(उत्तर—) अभव्यों से अनन्तगुणा और सिद्धों का अनन्तवाँ भाग गुणकार समझना चाहिए। इस प्रकार ये शरीर उत्तरोत्तर प्रदेशवृद्धि वाले होते हुए भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक सूक्ष्मता लिये होते हैं।

उक्तं च तत्त्वार्थसूत्रे *(6/37)— 'परं परं सूक्ष्मम्'* **इति। अर्थात् औदारिकशरीरं स्थूलं, ततः सूक्ष्मं वैक्रियिकम्, तस्मात्सूक्ष्ममाहारकम्, ततोऽपि सूक्ष्मं तैजसम्, ततोऽपि सूक्ष्मं कार्मणं शरीरम्।**

अत्रेदं ज्ञेयम्— यद्यपि वैक्रियिकादिशरीराणि पूर्वशरीरापेक्षया अधिकपरमाणुसंचयात्मकानि, तथापि पूर्वापेक्षयोत्तरस्य महापरिमाणता न भवति, यतो हि बन्धपरिणतिविशेषेण तत्र सूक्ष्मसूक्ष्मावगाहनसम्भवः, स कार्पसपिण्ड-अयःपिण्डवन्न विरुद्ध्यते, अपि तु संगत एव।

तत्रौदारिकशरीरं प्राणिनामौदारिकशरीरनामकर्मोदयात् गर्भज-सम्मूर्च्छनजानां भवति। एवमौदारिक-शब्दे उदारशब्दः स्थूलतावाचकः। उदारः स्थूलः उरालः इत्येकार्थकाः। उदारे भवम्, उदारं प्रयोजनमस्य इति वा औदारिकम् —इति निर्युक्तिः। अन्यशरीरापेक्षया औदारिकशरीर-द्रव्यवर्गणानामवगाहना असंख्यातगुणिता भवति, तथा तद् इन्द्रियग्राह्यं च भवति, इतिदृष्ट्या तत्र स्थूलत्वं संगच्छते।

तत्त्वार्थसूत्र (6/37) में कहा भी है— **'परं परं सूक्ष्मम्'**। अर्थात् औदारिक शरीर (सर्व शरीरों की तुलना में सर्वाधिक) स्थूल है, उसकी अपेक्षा (अधिक) सूक्ष्म वैक्रियिक शरीर है, उससे भी सूक्ष्म आहारक है, उससे भी सूक्ष्म तैजस है, और उससे भी सूक्ष्म कार्मण शरीर है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है— यद्यपि वैक्रियिक आदि शरीरों में पूर्व-पूर्व शरीर की अपेक्षा उत्तरोत्तर परमाणु-संचय तो अधिक-अधिक है, फिर भी पूर्वशरीर की अपेक्षा उत्तरवर्ती शरीर की महापरिणामवत्ता नहीं होती, क्योंकि बन्धपरिणति-विशेष के कारण, जिस प्रकार रूई के ढेर से लोहे के पिण्ड में प्रदेशपना अधिक होने पर भी (क्षेत्र थोड़ा रोकने अर्थात्) सूक्ष्म अवगाहना की स्थिति सम्भव होती है, वैसे ही इन शरीरों में भी उत्तरोत्तर उस सूक्ष्म अवगाहना का होना विरोधयुक्त (असंगत) नहीं होता, अपितु संगत ही होता है।

उनमें औदारिक शरीर वह होता है जो औदारिक शरीर नामकर्म के उदय से गर्भज और सम्मूर्च्छनज प्राणियों को प्राप्त होता है। औदारिक शब्द में 'उदार' शब्द स्थूलता का वाचक है। उदार, स्थूल, उराल — ये एक ही अर्थ के बोधक हैं। औदारिक शब्द की निर्युक्ति इस प्रकार है— जो उदार (स्थूल) में होता है या जिसका प्रयोजन स्थूल (रूप में दिखना) है। अन्य शरीरों की अपेक्षा (तुलना) में औदारिक शरीर सम्बन्धी द्रव्य-वर्गणाओं की अवगाहना असंख्यातगुणित होती है और यह इन्द्रियग्राह्य भी होता है— इस दृष्टि से उसकी स्थूलता संगत होती है।

इदं शरीरं गर्भजसम्मूर्च्छनजजीवानामेव भवति। गर्भ इति सार्थकसंज्ञा, यतो हि स्त्रिया उदरे शुक्र-शोणितयोर्गरणं मिश्रणं गर्भः, यद्वा मातृ-भुक्ताहारगरणाद् गर्भः इत्युच्यते —इतिसर्वार्थसिद्धौ *(2/31)* **निर्दिष्टम्। गर्भस्थजीवस्य क्रमशो वृद्धिः कया रीत्या भवति —इतिविषये शास्त्रेषु निम्नलिखितं निरूपणं प्राप्यते।**

उक्तं यथा भगवती-आराधनाग्रन्थे *(गाथा— 1001-1006, 1009-1011)*—

कललगदं दसरत्तं अच्छदि कलुसीकदं च दसरत्तं।
थिरभूदं दसरत्तं अच्छदि गब्भम्मि तं बीयं।।

तत्तो मासं बुब्बुदभूदं अच्छदि पुणो वि घणभूदं।
जायदि मासेण तदो मंसप्पेसी य मासेण॥

यह शरीर गर्भज व सम्मूर्च्छनज जीवों के ही होता है। 'गर्भ' यह संज्ञा सार्थक है, क्योंकि सर्वार्थसिद्धि (2/31) के कहा है कि स्त्री के उदर में शुक्र व शोणित —इन दोनों का गरण यानी मिश्रण ही गर्भ है, या माता द्वारा खाये आहार का गरण (ग्रहण) करने (की स्थिति) को गर्भ कहते हैं। गर्भस्थ जीव की वृद्धि क्रमशः किस प्रकार होती है— इस विषय में शास्त्रों में निम्नलिखित निरूपण प्राप्त होता है।

(आचार्य शिवार्य कृत) भगवती आराधना ग्रन्थ (गाथा—1001-1006, 1009-1011) में कहा गया है—

"गर्भ में स्थित (माता का रज और पिता का वीर्य रूप) बीज दस दिनों तक 'कलल' (तरल पदार्थ) रूप में रहता है, फिर दस दिनों तक कालिमा रूप रहता है, फिर दस दिनों तक स्थिर पदार्थ के रूप में रहता है।"

"स्थिर होने के बाद, एक माह तक बुलबुले की तरह, पुनः एक माह घनभूत-कठोर पदार्थ के रूप में, फिर एक माह मांस-पिण्ड के रूप में स्थित रहता है।"

मासेण पंच पुलगा तत्तो हुंति हु पुणो वि मासेण।
अंगाणि उवंगाणि य णरस्स जायंति गब्भम्मि॥

मासम्मि सत्तमे तस्स होदि चम्मणहरोमणिप्पत्ती।
फंदणमट्ठममासे णवमे दसमे य णिग्गमणं॥

सव्वासु अवत्थासु वि कललादीयाणि ताणि सव्वाणि।
असुईणि अमिज्झाणि य विहिंसणिज्जाणि णिच्चं पि॥

आमासयम्मि पक्कासयस्स उवरिं अमेज्झमज्झम्मि।
वत्थिपडलपच्छण्णो अच्छइ गब्भे हु णवमासं॥

तथा च—

दंतेहिं चव्विदं वीलणं च सिंभेण मेलिदं संतं।
मायाहारियमण्णं जुत्तं पित्तेण कडुएण॥

"पाँचवें माह में उस मांसपिण्ड में से दो हाथ, दो पैर, और सिर के रूप में पाँच अंकुर उगते हैं। छठे माह में उस बालक के अंग व उपांग बन जाते हैं।"

"सातवें माह में उस गर्भस्थ पिण्ड पर चर्म, नख व रोम बन जाते हैं। आठवें माह में उसमें हलन-चलन होने लगता है। नौवें या दसवें माह में उसका जन्म होता है।"

"रज व वीर्य की सब अवस्थाओं में वे सब कलल आदि अशुचि व अमेध्य तथा जुगुप्सा (ग्लानि) के कारक होते हैं।"

"आमाशय से नीचे और पाकाशय से ऊपर इन दोनों अशुचि स्थानों के मध्य में गर्भाशय होता है। उसमें वस्तिपटल से वेष्टित होकर प्राणी नौ माह तक रहता है।"

और भी—

"(जिस आहार से उसका शरीर बनता है, उसे बता रहे हैं—) माता द्वारा खाया हुआ अन्न पहले दाँतों से चबाया गया। फिर कफ के साथ मिलकर वह चिकना हुआ और फिर कटुक पित्त से युक्त हुआ।"

वमिगं अमेज्झसरिसं वादविओजिदरसं खलं गब्भे।
आहारेदि समंता उवरिं थिप्पंतगं णिच्चं॥

तो सत्तमम्मि मासे उप्पलणालसरिसी हवइ णाही।
तत्तो पभूदि पाए वमियं तं आहारेदि णाहीए॥

मनुष्येषु केचिद् सप्तमं, केचिद् अष्टमं, केचित् नवमं, केचित्तु दशमं मासं स्थित्वा गर्भस्था जन्म लभन्ते। तिर्यचां तु गर्भकालः स्वजात्यनुसारेण पृथक् पृथक् भवति। यथा मार्जारीणां सार्द्धैकमासः, शुनीनां सार्द्धद्वयमासः, अजानां षण्मासाः, गोः दश मासाः, महिषीणामेकादश मासाः, अश्वानां द्वादस मासाः, हस्तिनीनां तु अष्टादश मासाः इत्यादि वर्ण्यते। सर्वेषां गर्भजानां मनुष्याणां तिर्यचामपि शरीरमौदारिकम्।

तथैव सम्मूर्च्छनजीवानामपि औदारिकशरीराणि भवन्ति। के ते सम्मूर्च्छनजाः? सम्मूर्च्छनाज्जाताः सम्मूर्च्छनजाः। जायमानजीवानुग्राहकभूतानां शरीराकारपरिणमन-योग्य-पुद्गलस्कन्धानां समन्तात् समुच्छ्रयणं (ग्रहणं) सम्मूर्च्छनम्। जनक-जननीसंयोगं विना

"(वह आहार) वमन के समान गन्दा होता है। वायु द्वारा उसका रस भाग अलग हो जाता है और खल भाग अलग। उसमें से गिरती हुई बूंद को गर्भस्थ पिण्ड सर्वांग से बूंद-बूंद रूप में ग्रहण करता है।" (इसके बाद वह नाल द्वारा ग्रहण करता है।)

"इसके बाद, सातवें माह में कमल की नाल के समान नाभि बनती है, तब वह (गर्भस्थ शिशु) उस नाभि के माध्यम से वमन किये आहार को ग्रहण करता है।"

मनुष्यों में गर्भस्थजीव कोई सात, कोई आठ, कोई नौ, तो कोई दस माह तक गर्भ में रहकर जन्म लेता है। तिर्यञ्चों का गर्भकाल अपनी-अपनी जाति के अनुरूप पृथक्-पृथक् होता है। जैसे— बिल्ली का डेढ़ माह, कुत्तियों का ढाई माह, बकरियों का छः माह, गाय का दस माह, भैंसों का ग्यारह माह, घोड़ी का बारह माह, हथनियों का अठारह माह आदि-आदि गर्भकाल होता है। गर्भज मनुष्य हो या तिर्यञ्च, उन सभी का शरीर औदारिक होता है।

इसी प्रकार, सम्मूर्च्छन जीवों का शरीर भी औदारिक होता है। इसी प्रकार, सम्मूर्च्छन जीव कौन होते हैं? सम्मूर्च्छन से जो उत्पन्न होते हैं, वे सम्मूर्च्छनज हैं। सम्मूर्च्छन का अर्थ है— शरीर के आकार में परिणत होने योग्य पौद्गलिक स्कन्धों को चारों ओर से ग्रहण करना। तात्पर्य यह है कि माता-पिता के संयोग

योग्यद्रव्यक्षेत्रादिकं निमित्तं प्राप्य औदारिकशरीरस्य निर्मितिर्भवति येषां ते सम्मूर्च्छनजाः जीवा ज्ञेयाः इति तात्पर्यम्। तिर्यक्षु एते एकेन्द्रियाः, द्वीन्द्रियाः, त्रीन्द्रियाः, चतुरिन्द्रियाः, संज्ञि-असंज्ञि-पर्याप्ता-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियाश्च भवन्ति। तिर्यक्षु अपर्याप्तजीवानामायुः अन्तर्मुहूर्तमात्रमेव भवति, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियसंज्ञिसम्मूर्च्छनजीवानां तु कोटिपूर्वमायुः। मनुष्येषु केचित् सम्मूर्च्छनजा भवन्ति, ते संज्ञिनस्तथाऽपर्याप्ता एव भवन्ति, आयुस्तेषामन्तर्मुहूर्तमेव भवति। सर्वेषां सम्मूर्च्छनजानां नपुंसकलिङ्गमेव भवति। सम्मूर्च्छनप्रक्रियया मनुष्योत्पत्तिविषये शास्त्रकारैरुक्तम्—

कर्मभूमिषु चक्रास्त्र-हलभृत्-भूरिभूभुजाम्।
स्कन्धावारसमूहेषु प्रसवोच्चारभूमिषु॥

शुक्र-सिंघाणक-श्लेष्म-कर्ण-दन्तमलेषु च।
अत्यन्ताशुचिदेहेषु सद्यः सम्मूर्च्छनेन ये॥

भूत्वाऽङ्गुलस्यासंख्येय-भागमात्रशरीरकाः।
आशु नश्यन्त्यपर्याप्तास्ते स्युः सम्मूर्च्छिमा नराः॥

(भगवती-आराधनाग्रन्थे 780 गाथाया विजयोदयाटीकायामुद्धृताः श्लोकाः)

के बिना योग्य द्रव्य-क्षेत्र-आदि का निमित्त पाकर जिनके औदारिक शरीर का निर्माण होता है, वे सम्मूर्च्छनज होते हैं। तिर्यञ्चों में ये एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और संज्ञी या असंज्ञी एवं पर्याप्त या अपर्याप्त पञ्चेन्द्रिय भी होते हैं। तिर्यञ्चों में अपर्याप्त जीवों की आयु अन्तर्मुहूर्त मात्र होती है। मनुष्यों में भी कोई सम्मूर्च्छन होते हैं, वे संज्ञी-अपर्याप्त ही होते हैं और उनकी आयु अन्तर्मुहूर्त होती है। सभी सम्मूर्च्छन जीव नपुंसक ही होते हैं। सम्मूर्च्छन की प्रक्रिया से मनुष्यों की उत्पत्ति के विषय में शास्त्रकारों ने कहा है—

"कर्मभूमि में चक्रवर्ती, बलभद्र वगैरह महान् राजाओं की सेना में, उन स्थानों पर जहाँ मल-मूत्र का त्याग किया जाता है, वीर्य, नाक का मल, कफ, कान व दाँतों का मल एवं अत्यन्त अपवित्र प्रदेशों में तत्काल जो उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका शरीर अंगुल का असंख्यात भाग मात्र होता है, जो जन्म लेने के बाद शीघ्र नष्ट हो जाते हैं और जो लब्ध्यपर्याप्तक होते हैं, वे सम्मूर्च्छनज मनुष्य होते हैं" (भगवती-आराधना ग्रन्थ की गाथा-780 पर विजयोदया टीका में उद्धृत श्लोक)।

अत्रायं विशेषः— संज्ञिपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु कश्चित् सम्यग्दर्शनं प्राप्तुं योग्यो भवति, किन्तु मनुष्येषु सम्मूर्च्छनजो न कदापि सम्यग्दृष्टिर्भवितुमर्हति।

वैक्रियिकशरीरं विक्रियानिर्मितं भवति। अष्टगुण-ऐश्वर्ययोगाद् एकानेक-अणुमहत्-शरीरवैविध्यनिर्मितिः विक्रिया। विक्रिया प्रयोजनमस्येति वैक्रियिकम्। विक्रिया च द्विविधा— एकत्वविक्रिया, पृथक्त्वविक्रिया च। तन्निमित्तकं वैक्रियिकशरीरमपि द्विविधम्। तत्र स्वशरीराद् अपृथग्भावेन सिंहव्याघ्रादिरूपेण या विक्रिया, सा एकत्वविक्रिया। या तु स्वशरीराद् अन्यत्वेन प्रसादमण्डपादिभावेन विक्रिया, सा पृथक्त्वविक्रिया। उभयी विक्रिया भवनवासि-व्यन्तर-ज्योतिष्क-कल्पवासिदेवानां भवति। सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तं सर्वेषां वैमानिकदेवानां तु प्रशस्तरूपा एकत्वविक्रियैव भवति। नारकेषु षष्ठभूमिपर्यन्तं त्रिशूल-चक्रासि-मुद्गराद्यनेकायुधरूपेण एकत्वविक्रिया भवति, न पृथक्त्वविक्रिया। सप्तम्यां नरकभूमौ तु महागोकीटकप्रमाणलोहितकुन्थुरूपेण एकत्वविक्रिया भवति, नानेकप्रहरणविक्रिया, न च पृथक्त्वविक्रियेति विज्ञेयम्।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है— संज्ञी-पर्याप्त पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों में कोई-कोई सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के योग्य भी होता है, किन्तु मनुष्यों में सम्मूर्च्छन जीव कभी सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता।

वैक्रियिक शरीर विक्रिया से निर्मित होता है। अष्टगुण वाले ऐश्वर्य के योग से एक या अनेक, अणु या महान् विविध शरीरों के निर्माण की शक्ति 'विक्रिया' होती है। विक्रिया प्रयोजन वाला शरीर 'वैक्रियिक' होता है। विक्रिया दो प्रकार की होती है— एकत्वविक्रिया और पृथक्त्वविक्रिया। इन दोनों के निमित्त से होने के कारण वैक्रियिक शरीर के दो भेद हो जाते हैं। जो विक्रिया अपने शरीर से अलग न होकर, जैसे— सिंह, व्याघ्र आदि के रूप में की जाती है, वह एकत्वविक्रिया है। किन्तु जो अपने शरीर से भिन्न रूप में, जैसे— महल, मण्डप आदि रूप से विक्रिया की जाती है, वह पृथक्त्व विक्रिया है। ये दोनों विक्रिया भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क व कल्पवासी देवों के होती हैं। सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त सभी वैमानिक देवों के एकमात्र प्रशस्त एकत्वविक्रिया होती है। छठी भूमि तक के नारकी जीवों में त्रिशूल-चक्र-तलवार-मुद्गर आदि अनेकानेक आयुध रूपों में एकत्वविक्रिया होती है, पृथक्त्वविक्रिया नहीं होती। सातवीं नरकभूमि में गाय बराबर कीड़े लोहू आदि रूप से एकत्वविक्रिया ही होती है, आयुधादि रूप से विक्रिया नहीं होती और न ही पृथक्त्व विक्रिया होती है— यह ज्ञातव्य है।

मनुष्याणां च तपोविद्यादिबलेन उभयी विक्रिया भवति। तिरश्चां मयूरादीनां कुमारादिरूपेण एकत्वविक्रियैव, न तु पृथक्त्वविक्रिया। येषां जीवानामौदारिकशरीरमेव विक्रियात्मकं भवति, तेषामेकत्वविक्रियैव, किन्तु भोगभूमिजानां चक्रवर्तिनां च पृथक्त्वविक्रिया च भवति। विस्तरस्तु तत्त्वार्थराजवार्तिके *(2/47)* **गोम्मटसारे** *(जीवकाण्डे, 233-234 गाथासु)* **च द्रष्टव्यः।**

अत्रेदं मीमांस्यते— षट्खण्डागमे *(सूत्र-57-58)* **तिर्यचां मनुष्याणां काययोगनिरूपणे औदारिककाययोग-औदारिकमिश्रकाययोगयोः सद्भाव उक्तः, देवनारकाणां तु वैक्रियिककाय-वैक्रियिकमिश्रकाययोगयोरस्तित्वमुक्तम्। तत्र तिर्यचां मनुष्याणां च वैक्रियिककाययोगस्वामित्वं कथं नोक्तम्? समाधीयते— षट्खण्डागमेऽन्यत्र व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डके शरीरभङ्गे मनुष्याणां पञ्चशरीर-स्वामित्वं निर्दिष्टं दृश्यते। अतो मनुष्याणां वैक्रियिकशरीरस्वामित्वे न विरोधः। उपर्युक्तयोः द्वयोः शास्त्रप्ररूपणयोः परस्परविरोधो न शंकनीयः, यतो हि प्रत्येकप्ररूपणा अपेक्षाविशेषमभिप्रायविशेष-माधृत्य विहिता। यतो हि देवनारकाणां सर्वकालं वैक्रियिकयोगः, न तथा मनुष्याणां तिर्यचां वा,**

मनुष्यों में तप विद्या के बल से दोनों विक्रिया होती हैं। मयूर आदि तिर्यञ्चों में कुमार आदि रूप से एकत्वविक्रिया ही होती है, पृथक्त्वविक्रिया नहीं होती। जिन जीवों का औदारिक शरीर ही विक्रिया करता है, उनकी एकत्व विक्रिया ही होती है, किन्तु भोगभूमिज व चक्रवर्तियों के पृथक्त्वविक्रिया भी होती है। इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक तत्त्वार्थ-राजवार्तिक *(2/47)* तथा गोम्मटसार *(जीवकाण्ड, गाथा-233-234)* से जान सकते हैं।

यहाँ (शास्त्रीय) मीमांसा प्रस्तुत है— षट्खण्डागम (सू. 57-58) में जहाँ तिर्यञ्च व मनुष्यों का काययोग निरूपित है, वहाँ उनके औदारिक काययोग व औदारिकमिश्र काययोग का अस्तित्व बताया गया है, किन्तु देवों व नारकियों में वैक्रियिक काय व वैक्रियिक मिश्रकाय —इन दोनों का अस्तित्व बताया गया है। (अब विचारणीय यह है कि) वहाँ तिर्यंचों व मनुष्यों के वैक्रियिक शरीर योग का स्वामित्व क्यों नहीं कहा? समाधान इस प्रकार है— षट्खण्डागम में अन्य स्थान पर, व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डक के शरीरभङ्ग (प्रकरण) के निरूपण में मनुष्यों के पाँचों शरीरों का स्वामित्व कहा गया है, इसलिए मनुष्यों के वैक्रियिक शरीर का स्वामित्व मानने में कोई विरोध नहीं है। उपर्युक्त दोनों प्ररूपणाओं में परस्पर-विरोध की आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक प्ररूपणा किसी विशेष अपेक्षा से या विशेष अभिप्राय (नय) को आधार मानकर की जाती है। चूँकि देवों व नारकों को सर्वदा ही वैक्रियिक शरीर का योग रहता है, किन्तु वैसा

तेषां तु लब्धिप्रत्ययवैक्रियिकशरीरयोगः कादाचित्कः, अतस्तदपेक्षया तिर्यग्मनुष्याणां वैक्रियिक-काययोगसद्भावो न निरूपितः। अन्यत्र अस्तित्व-सम्भावनामपेक्ष्य मनुष्याणां चतुःशरीरसद्भावो वर्णितः। एवं द्वयोरभिप्रायविशेषः पृथक्पृथगिति तदुभयकथनयोः परस्परमविरोध एव।

षष्ठगुणस्थानवर्तिना (आहारकऋद्धिसंपन्नेन) प्रमत्तसंयतेन मुनिना यदाह्रियते निर्वर्त्यते समुत्पाद्यते तदाहारकं शरीरम्। आहारकशरीरोत्पत्तौ त्रीणि कारणानि भवन्ति— (1) श्रुतज्ञान-अल्पता (आज्ञाकनिष्ठता), (2) असंयमबहुलता, (3) केवलिविरहे पदार्थसंशयः। एषु केनचिदेकेन कारणेन आहारकशरीरमुत्पद्यते।

तत्त्वार्थराजवार्तिके *(2/49/4)* **च भणितम्—** *"कदाचित् लब्धिविशेषसद्भावज्ञानार्थं कदाचित्सूक्ष्मपदार्थनिर्धारणार्थं संयमपरिपालनार्थं च भरत-ऐरावतेषु केवलिविरहे जातसंशयः, तन्निर्णयार्थं महाविदेहेषु केवलिसकाशं जिगमिषुः औदारिकेण मे महान् असंयमो भवति — इति विद्वान् आहारकं निर्वर्तयति।"*

सार्वकालिक रूप से तिर्यञ्च व मनुष्यों को वैक्रियिककाय का योग नहीं रहता, क्योंकि उनके (लब्धिप्रत्यय) वैक्रियिक शरीर का योग कभी-कभी होता है, इसलिए उक्त अपेक्षा से तिर्यञ्चों व मनुष्यों के वैक्रियिक काय के योग का सद्भाव नहीं बताया गया। (षट्खण्डागम में जो) अन्यत्र मनुष्यों के चार शरीरों का सद्भाव वर्णित है, वह अस्तित्व की सम्भावना की अपेक्षा से है। इस प्रकार, दोनों प्ररूपणाओं का पृथक्-पृथक् अभिप्राय-विशेष है, इस दृष्टि से दोनों कथनों में परस्पर अविरोध ही है।

छठे गुणस्थान में विद्यमान (आहारक ऋद्धिसम्पन्न) प्रमत्तसंयत मुनि द्वारा जो आहृत होता है, निष्पन्न होता है, उत्पादित होता है, वह आहारक शरीर है। आहारक शरीर की उत्पत्ति में तीन कारण होते हैं— (1) श्रुतज्ञान की अल्पता (आज्ञाकनिष्ठता), (2) असंयम की बहुलता, (3) केवली के अभाव में पदार्थसम्बन्धी सन्देह। इनमें से कोई भी एक कारण हो तो आहारक शरीर की उत्पत्ति होती है।

तत्त्वार्थराजवार्तिक (2/49/4) में बताया गया है— "प्रमत्तसंयत मुनि को कभी कोई (तात्त्विक) सन्देह हो जाय, तो वह उसके निर्णय हेतु किसी केवली के पास जाना चाहे, भरत व ऐरावत क्षेत्र में केवलियों का अभाव होने पर वह महाविदेह क्षेत्र में स्थित केवली भगवान् के समीप जाने का विचार करे, किन्तु औदारिक शरीर से जाना तो सम्भव नहीं और ऐसा करने में महान् असंयम भी होगा, ऐसा सोचकर वह मुनि संयम-निर्वाह हेतु आहारक शरीर की रचना करता है, अथवा ऋद्धि का सद्भाव जानने के लिए भी आहारक शरीर की रचना करता है।"

आहारकशरीरं सूक्ष्मं रसादिसप्तधातुरहितं निगोदराशिरहितं शुभं विशुद्धं हस्तमात्र-उत्सेधं हंसवद्धवलं सर्वाङ्गसुन्दरं भवति, तदसंहननमपि समचतुरस्रसंस्थानयुक्तं शास्त्रकारैर्वर्णितम्। प्रमत्तसंयतस्य उत्तमाङ्गमस्तकादस्य निःसृतिर्भवति। अस्य अनेकलक्षयोजनगमने अप्रतिहता शक्तिर्भवति। विषाग्निशस्त्रादिघातरहितस्य वज्रशिलापर्वतादिष्वपि तस्य गतिरव्याहता भवति। अस्य जघन्या उत्कृष्टा वा स्थितिरन्तर्मुहूर्तमात्रं भवति। आहारकशरीरस्य स्त्रीवेद-नपुंसकवेदाभ्यां विरोधः, अतो भावापेक्षया स्त्रीवेदयुक्तः द्रव्यापेक्षया पुरुषवेदयुक्तोऽपि न कदाचिदपि आहारकऋद्धिसम्पन्नो भवति। द्रव्यभावोभयापेक्षया पुंवेदी एव आहारकशरीरं निर्वर्तयति —इति भावः।

आहारकशरीरोत्पत्तिकारणानां विषये यत्खलु स्पष्टीकरणं धवलाग्रन्थे *(14/5, 6, सू. 239, पृ. 326)* **कृतमस्ति, तत्साररूपेण निरूप्यते— यदा कदाचिद् जले स्थले नभसि च युगपद् दुष्परिहार्यसूक्ष्मजीवानामापूरणं भवति, ततश्च असंयमबहुलता संजायते, तत्परिहाराय आहारकशरीरोद्भवः। अथवा स्वक्षेत्रे आज्ञाकनिष्ठता, अर्थात् जिनोपदेशे जिनवाण्यां चाल्पता**

शास्त्रकारों में आहारक शरीर को सूक्ष्म, रस आदि सात धातुओं से रहित, निगोद जीव राशि से भी रहित, शुभ, विशुद्ध, एक हाथ मात्र ऊँचा, हंस की तरह श्वेत, सर्वाङ्ग रमणीय, तथा संहनन रहित होकर भी समचतुरस्रसंस्थान (आकार) वाला बताया गया है। प्रमत्तसंयत मुनि के उत्तमाङ्ग (मस्तक) से इसका निस्सरण होता है। अनेक लाख योजन तक जाने की अप्रतिहत शक्ति इसकी होती है। विष, अग्नि, शस्त्र आदि से इसका घात नहीं होता और इसकी गति वज्र, शिला, पर्वत आदि में भी अव्याबाध (निर्बाध) होती है। इसका जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति-काल अन्तर्मुहूर्त होता है। आहारकशरीर का स्त्रीवेद व नपुंसक वेद के साथ विरोध है, इसलिए जो भावरूप से स्त्रीवेद वाला है और द्रव्य रूप से पुंवेद-वाला भी है, वह कभी आहारक-ऋद्धि से सम्पन्न नहीं होता। तात्पर्य यह है कि द्रव्य व भाव-दोनों रूपों से पुंवेद वाला ही आहारक शरीर की रचना करता है।

आहारक शरीर की उत्पत्ति के (पूर्वोक्त तीन) कारणों के विषय में खुलासा धवला ग्रन्थ (14/5,6, सू. 239, पृ. 326) में किया गया है, उसका सार यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है— जब कभी जल-थल-आकाश के एक साथ दुष्परिहार्य सूक्ष्म जीवों से आपूरित होने पर असंयम-बहुलता होती है, उसका परिहार करने के लिए साधु आहारक शरीर की रचना करते हैं। अथवा अपने क्षेत्र में आज्ञा-कनिष्ठता हो, अर्थात्

यदा समनुभूयते। अथवा केवलिविरहे पदार्थविषयकसन्देहापगमो दुःशक्यः इति कृत्वा विदेहादिपरक्षेत्रे केवलिनः श्रुतकेवलिनो वा पादमूले गत्वा सन्देहनिवारणेच्छा जायते, तदा आहारकशरीर-उत्पत्तिः। किञ्च, परक्षेत्रे महामुनीनां केवलज्ञानोत्पत्तिं तथा तीर्थकराणां परिनिष्क्रमणादिकल्याणकोत्सवं च अवधिज्ञानेन, श्रुतज्ञानेन, देवागमनादिकारणैश्च परिज्ञाय, तेषु क्षेत्रेषु केवलिजिनगृहादीनां वन्दनां कर्तुमभिलाषोऽपि कस्यचित्प्रमत्तसंयतस्य भवति, तदाऽपि आहारकशरीरस्य निर्वर्तनं सम्भवति।

जीवस्य तेजोनिमित्तं तेजसि भवं वा तैजसं शरीरं भवति। शरीरस्कन्धस्य पद्मरागमणिवर्णः तेजः, यद्वा शरीरान्निर्गतरश्मिकलाप्रभा तेजः, तत्र भवं तैजसम्। तस्य द्वौ भेदौ— निःसरणात्मकम्, अनिस्सरणात्मकं च। तयोर्निस्सरणात्मकतैजसशरीरस्य द्वौ भेदौ— शुभं प्रशस्तं वा, अशुभमप्रशस्तं वेति। अनिःसरणात्मकं तैजसशरीरं भुक्तान्नपाचकं सत् देहस्य दीप्तिहेतुरूपेण देहाभ्यन्तरे तिष्ठति। निस्सरणात्मकं तैजसं लब्धिप्रत्ययं च कथ्यते।

जिनोपदेश, जिनवाणी की अल्पता का अनुभव हो, अथवा केवलियों के न होने पर, पदार्थ-सम्बन्धी संदेह को दूर करना दुःसाध्य हो तो विदेह आदि परक्षेत्र में केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में जाकर संदेह के निवारण की इच्छा हो, तब (भी) आहारक शरीर की उत्पत्ति होती है। और परक्षेत्र में महामुनियों को होने वाले केवलज्ञान को तथा तीर्थंकरों के परिनिष्क्रमण आदि कल्याणक-उत्सवों को अपने अवधिज्ञान से, या श्रुतज्ञान से, या देवों के आगमन आदि कारणों से जानकर, किसी प्रमत्तसंयत मुनि को उन क्षेत्रों में स्थित केवली व जिनमन्दिरों की वंदना करने की इच्छा होती है, तब भी आहारक शरीर की रचना सम्भव होती है।

जीव के तेज (दीप्ति) का कारण या तेज में उत्पन्न होता है, वह तैजस शरीर है। शरीर स्कन्ध के पद्मराग मणि के समान वर्ण का नाम तेज है या शरीर से निकलने वाली रश्मि-कला का नाम तेज है, इसमें होने वाला तैजस शरीर है। उसके दो भेद हैं— निस्सरणात्मक और अनिस्सरणात्मक। इनमें निस्सरणात्मक तैजस शरीर के दो भेद हैं— प्रशस्त या शुभ और अप्रशस्त या अशुभ। अनिस्सरणात्मक तैजस शरीर देह के अन्दर ही रहता है, खाये हुए अन्न को पचाता है और देह की दीप्ति का कारण होता है। निस्सरणात्मक तैजस शरीर को लब्धिप्रत्यय (ऋद्धि से प्राप्त) भी कहते हैं।

लब्धि-(ऋद्धि)-सम्पन्नमुनिरेव तस्य स्वामी भवति, तद्यदि अनुकम्पादिशुभभावोत्पन्नं परपीडानिवारणादिनिमित्तं प्रयुक्तं भवति चेत्तर्हि शुभं भवति, किन्तु क्रोधादि-अशुभभावोद्भावितं परविनाशकारि यद् भवति, तदशुभं भवति। तदेतच्छुभाशुभरूपं समुद्घातरूपमेव बोद्धव्यम्।

कस्यचित् संयतस्य व्रतिनो दयानुकम्पापूर्णस्य इच्छया दक्षिणस्कन्धात् हंसशंखवद्धवलं सौम्यरूपं शरीरं तैजसं निस्सरति, यत्तस्य मुनेर्मूलशरीरादवियुक्तमेव तिष्ठति, तेन च मारी-व्याधि-वेदना-दुर्भिक्ष-उपसर्गादिप्रशमनं सर्वजीवसुखोत्पादनं विधीयते, एतत्सर्वं कार्यं विधाय पुनस्तच्छरीरं मूलशरीरे प्रविशति। एषा स्थितिः शुभतैजससमुद्घातरूपेण वर्ण्यते।

एवमेव, क्रोधपूर्णस्य संयतमुनेः वामस्कन्धात् जपाकुसुमवर्णं सिन्दूरपुञ्जप्रभं वा द्वादशयोजनायामं नवयोजनविस्कम्भं सूच्यङ्गुलसंख्यातभागप्रमाणं काहलाकृतिपुरुषात्मकं शरीरं बहिर्निष्क्रामति, क्रोधविषयभूतजीवादिकं परिवृत्य शाकमिव पचति, तद्विनाशं च विधाय पुनर्मूलशरीरे

जो ऋद्धि या लब्धि से सम्पन्न मुनि हैं, वही इसके स्वामी होते हैं। वह (निस्सरणात्मक लब्धिप्रत्यय) शरीर यदि अनुकम्पा आदि शुभ भावों से प्रेरित होता है और दूसरों की पीड़ा-निवारण आदि के लिए प्रयुक्त होता है तो शुभ होता है, किन्तु यदि क्रोधादि अशुभ भावों से प्रेरित हो और दूसरे के विनाश का कारक हो तो वह अशुभ होता है। ये दोनों शुभ-अशुभ तैजस शरीर समुद्घात रूप ही हैं— यह जानना चाहिए।

दया-अनुकम्पा से परिपूर्ण किसी संयत— व्रती की इच्छा से उसके दाहिने कंधे से हंस या शंख के समान धवल वह सौम्य रूपवाला तेजस शरीर निकलता है जो उस मुनि के मूल शरीर से संयुक्त ही रहता है और जो मारी-व्याधि-वेदना-दुर्भिक्ष-उपसर्ग आदि को शांत करके समस्त जीवों को सुखी करता है, यह सब कार्य पूर्णकर वह शरीर पुनः अपने मूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। इस स्थिति को शुभ तैजस समुद्घात रूप में वर्णित किया गया है।

इसी तरह, क्रोधपूर्ण संयत मुनि के बांए कंधे से जपाकुसुम वर्ण वाला या सिन्दूर-पुञ्ज जैसी कान्ति वाला, बारह योजन लम्बा, नौ योजन चौड़ा, सूची-अंगुल के संख्यात भाग प्रमाण वाला काहल (बिलाव) की आकृति के पुरुष जैसा शरीर बाहर निकलता है जो, जिन पर (मुनि का) क्रोध होता है, उन जीव आदि पदार्थों को घेरकर सब्जी की तरह पका देता है और उसे नष्टकर फिर अपने मूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है यदि इस शरीर की कुछ अधिक देर तक अवस्थिति हो तो वह संयमी को और स्वयं को भस्म कर देता है।

प्रविशति। यदि शरीरस्यास्य अधिककालं स्थितिस्तर्हि तत् संयमिनं स्वं च भस्मसात्करोति। द्वीपायनमुनिना एतेनाशुभतैजसशरीरसमुद्घातेन द्वारकाविनाशः कृत इति हरिवंशपुराणे *(61/85-86)* **वर्णितमस्ति।**

कर्मणां कार्यं कार्मणशरीरम्। यद्यपि औदारिकादिशरीराणामपि कर्मकार्यता, तथापि रूढिवशात् अस्यैव कार्मणेतिसंज्ञा। इदं शरीरं भविष्यत्सर्वकर्मणां प्ररोहणम् (आधारभूतम्), उत्पादकं त्रिकालगोचरसमस्तसुखदुःखबीजरूपं वर्तते। ज्ञानावरणप्रभृतिअष्टकर्मणां स्कन्धरूपं यद्वा कार्मणशरीरनामकर्मोदयेन समुद्भूतं कार्मणशरीरं कथ्यते। तैजसशरीरवत्कार्मणशरीरमप्रतीघाति स्वीक्रियते। सर्वेषां संसारिणां प्राणिनामनादिसम्बद्धमिदं शरीरं शरीरान्तरापेक्षया समस्तशरीरे सर्वाधिकप्रदेशान् दधदपि बन्धपरिणतिविशेषेण सर्वाधिकसूक्ष्मावगाहनां दधाति। औदारिक-वैक्रियिक-आहारक-तैजस-कार्मणेषु उत्तरोत्तरसूक्ष्मता उत्तरोत्तरप्रदेशाधिकता च तत्त्वार्थसूत्रे *(2/37-39)* **प्रत्यपादि। एतैः पञ्चभिः शरीरैः रहित आत्मा तु अशरीरी सिद्धो भवतीत्यलं विस्तरेण।**

द्वीपायन मुनि ने इसी अशुभ तैजस शरीर-समुद्घात से द्वारका का विनाश किया था —ऐसा हरिवंशपुराण (61/85-86) में वर्णित है।

कर्मों का कार्य कार्मण शरीर है। यद्यपि औदारिक आदि अन्य सभी शरीर कर्म (रूपी कारण) के कार्य हैं, फिर भी रूढ़िवश इसी शरीर की 'कार्मण' यह संज्ञा है। यह शरीर भावी समस्त कर्मों का प्ररोहण (आधार) होता है, उनका उत्पादक और त्रिकालवर्ती समस्त सुख-दुःख का बीज रूप होता है। ज्ञानावरण (दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, अन्तराय, नाम, गोत्र, आयु) आदि आठ कर्मों के स्कन्ध रूप को या कार्मण शरीरनामकर्म के उदय से होने वाले को कार्मण शरीर कहा जाता है। तैजस शरीर की तरह कार्मण शरीर भी अप्रतिघाती (सर्वत्र अप्रतिहत गति) माना जाता है। सभी संसारी प्राणियों से अनादिसम्बन्ध वाला यह शरीर होता है। अन्य शरीरों की तुलना में समस्त शरीर में सर्वाधिक प्रदेश-समूह रखते हुए भी बन्ध-परिणाम-विशेष के कारण, सर्वाधिक सूक्ष्म अवगाहना इसी कार्मण शरीर की होती है। तत्त्वार्थसूत्र (2/37/-39) में औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस व कार्मण —इन पाँच शरीरों में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर सूक्ष्मता तथा उत्तरोत्तर प्रदेशाधिकता प्रतिपादित की गई है। इन पाँच शरीरों से रहित आत्मा तो अशरीरी व सिद्ध होता है। अब अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है।

(कम्मविरहिदो) **ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभ्यः, रागद्वेषादि-भावकर्मभ्यः, औदारिकादिनोकर्मभ्यश्च रहितोऽयं निजात्मा भवतीत्यर्थः।** *(अणंतसुहणिलओ)* **स्वभावतोऽनन्तसुखस्य निलयः स्थानम्।** *(चोक्खो हवेइ)* **चोक्खशब्दो देशी प्रशस्तार्थं शुद्धार्थं वा बोधयति। अयमात्मा प्रशस्तः, शुद्धो वर्तते इत्यर्थः।** *(इदि)* **इति, एवं प्रकारेण,** *(णिच्चं)* **नित्यं सर्वदा, मुहुर्मुहुः** *(भावणं कुज्जा)* **भावनां कुर्यात्।**

इदमत्र तात्पर्यम्— जीवो देहममत्वं विधाय संसारे परिभ्रमति, अतोऽस्मिन् देहे अशुचित्वादिदोषानुद्भाव्य स्वयमनन्तसुखस्थान-निरञ्जन-निर्विकारनिजात्मनि अनुरक्तिः कर्तव्या, सैव सर्वथा निःश्रेयसकरी। एवमशुचित्वभावनां भावयतो जीवस्य शरीरनिर्वेदो भवति, निर्विण्णतया च जन्मोदधितरणाय चित्तसमाधिर्जायते। ततश्च मोक्षमार्गे गमनं सुकरं जायते। एवं *'अट्ठीहिं पडिबद्धं'* **इत्यादि गाथामादिं कृत्वा** *'देहादो वदिरित्तो'* **इत्यादि गाथां यावत् चतसृभिर्गाथाभिः अशुचित्वानुप्रेक्षानामकः सप्तमोऽधिकारः सम्पन्नः।**

[इति परमपूज्यगणाचार्यश्रीडॉ.विरागसागररचितायां सर्वोदयानाम्न्यां टीकायाम् 'अशुचित्वानुप्रेक्षा' -नामकः सप्तमोऽधिकारः सम्पन्नतां गतः।]

(कर्मविरहितः) ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मों से, राग-द्वेष आदि भाव कर्मों से तथा औदारिक आदि नोकर्म (शरीरों) से रहित यह अपना आत्मा है, यह अर्थ है। **(अनन्तसुखनिलयः)** स्वाभाविक रूप से अनन्त सुख का यह आत्मा निलय यानी स्थान है। **(प्रशस्तः भवति)** चोक्ख शब्द देशी है जो प्रशस्त या शुद्ध अर्थ का बोधक है। यह आत्मा प्रशस्त है, शुद्ध है— अर्थ है। **(इति)** इस प्रकार, **(नित्यम्)** नित्य, सर्वदा, बारबार, **(भावनां कुर्यात्)** भावना करे।

यहाँ तात्पर्य यह है— जीव इस देह में ममत्व रखकर संसार में भ्रमण करता रहता है, इसलिए इस देह में अशुचित्व आदि दोषों की उद्भावना कर अनन्त सुख के स्थान, निरञ्जन, निर्विकार निज आत्मा में अनुरक्ति करनी चाहिए, इसी से निःश्रेयस की सिद्धि होगी। इस प्रकार, अशुचित्व भावना भाने वाले जीव के शरीर-सम्बन्धी निर्वेद (वैराग्य) होता है, निर्वेद होने से जन्म-समुद्र को पार करने हेतु (उपयोगी) चित्त-समाधि (मानसिक शान्ति, स्वस्थता) सम्पन्न होती है। इसके अनन्तर मोक्षमार्ग में गमन सुकर हो जाता है। इस प्रकार **'अट्ठीहिं पडिबद्धं'** इस गाथा से लेकर **'देहादो वदिरित्तो'** इस गाथा तक चार गाथाओं में अशुचित्वानुप्रेक्षा नामक सातवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।

[परम पूज्य गणाचार्य श्री डॉ. विरागसागर जी द्वारा रचित इस सर्वोदया नामक टीका में 'अशुचित्वानुप्रेक्षा' नामक सातवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।]

परिशिष्ट

पूर्वार्द्धः

बारस अणुवेक्खा

पूर्वार्द्ध (गाथा-1 से 46 तक)

मूल गाथाओं की अकारादि

।। अनुक्रमणिका ।।

गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ सं.
अद्धुवमसरणमेयत्त	2	24
अट्ठीहिं पडिबद्धं	43	442
अण्णो अण्णं सोयदि	22	207
अण्णं इमं सरीरादिगं	23	211
अरुहा सिद्धाइरिया	12	109
अवसप्पिणि उस्सप्पिणि	27	234
असुहेण णिरयतिरियं	42	423
इगतीस सत्त चत्तारि	41	416
उत्तमपत्तं भणिदं	17	170
एक्को करेदि कम्मं	14	140
एक्को करेदि पावं	15	150
एक्को करेदि पुण्णं	16	158
एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो	20	189
कम्मणिमित्तं जीवो	37	360
जत्तेण कुणदि पावं	34	295
जलबुब्बुदसक्कधणु	5	60
जादिजरमरणरोग	11	97
जीवणिबद्धं देहं	6	68
जीवादि पयत्थाणं	39	390

गाथा	गाथा सं.	पृष्ठ सं.
णमिदूण सव्वसिद्धे	1	13
णवणिहि चउदसरयणं	10	91
णिच्चिदर धातु सत्त य	35	329
णिद्दिट्ठो जिणसमए	18	170
णिरयाउजहण्णादिसु	28	250
णिरया हवंति हेट्ठा	40	398
दंसणभट्टा भट्टा	19	184
दुग्गंधं बीभच्छं	44	448
देहादो वदिरित्तो	46	456
परमट्ठेण हु आदा	7	74
पुत्तकलत्तणिमित्तं	30	266
पंचविहे संसारे	24	221
मम पुत्तं मम भज्जा	31	272
मणिमंतोसहरक्खा	8	80
मादापिदासहोदर	21	200
मिच्छोदएण जीवो	32	279
रसरुहिरमंसमेदट्ठी	45	453
वरभवण जाणवाहण	3	46
सग्गो हवे हि दुग्गं	9	85
सम्मत्तं सण्णाणं	13	120
सव्वम्हि लोयखेत्ते	26	231
सव्वे पयडिट्ठिदिओ	29	260
सव्वे वि पोग्गला खलु	25	227
सामग्गिंदियरूवं	4	51
संजोगविप्पजोगं	36	344
संसारमदिक्कंतो	38	376
हंतूण जीवरासिं	33	286

000

सर्वोदया टीका में उद्धृत प्राकृत ग्रन्थ

(1) आराधनासार (आचार्य देवसेन)

(2) (स्वामि) कार्तिकेयानुप्रेक्षा (स्वामीकुमार)

(3) गोम्मटसार (आचार्य नेमिचन्द्र)

(4) चारित्रप्राभृत (आचार्य कुन्दकुन्द)

(5) तत्त्वसार (आचार्य देवसेन)

(6) तिलोयपण्णत्ति (आचार्य यतिवृषभ)

(7) त्रिलोकसार (आचार्य नेमिचन्द्र)

(8) दर्शनप्राभृत (आचार्य कुन्दकुन्द)

(9) दर्शनसार (आचार्य देवसेन)

(10) नयचक्र (लघु) (देवसेनाचार्य)

(11) नयचक्र (माइल्ल-धवल)

(12) नयचक्र-वृत्ति

(13) नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द)

(14) पद्मनन्दिपंचविंशतिका (आचार्य पद्मनन्दि)

(15) परमात्मप्रकाश (आचार्य योगीन्दु)

(16) प्रा. पंचसंग्रह

(17) पंचास्तिकाय (आचार्य योगीन्दु)

(18) प्रवचनसार (आचार्य कुन्दकुन्द)

(19) भगवती-आराधना (आचार्य शिवार्य)

(20) भावप्राभृत (आचार्य कुन्दकुन्द)

(21) भावसंग्रह (आचार्य देवसेन)

(22) मूलाचार (आचार्य वट्टकेर)

(23) मोक्षप्राभृत (आचार्य कुन्दकुन्द)

(24) योगसार (आचार्य योगीन्दु)

(25) रयणसार (आचार्य कुन्दकुन्द)

(26) वसुनन्दिश्रावकाचार (आचार्य वसुनन्दि)

(27) षट्खण्डागम
(आचार्य पुष्पदन्त व आचार्य भूतवली)

(28) समयसार (आचार्य कुन्दकुन्द)

(29) शीलप्राभृत (आचार्य कुन्दकुन्द)

सर्वोदया टीका में संस्कृत के उद्धृत ग्रन्थ

(1) अनगारधर्मामृत (पं. आशाधर)
(2) अमितगति-श्रावकाचार (आ. अमितगति)
(3) आत्मानुशासन (आचार्य गुणभद्र)
(4) आदिपुराण (आचार्य जिनसेन)
(5) आलापपद्धति (आचार्य देवसेन)
(6) इष्टोपदेश (आचार्य पूज्यपाद)
(7) उपासकाध्ययन (सोमदेव सूरि)
(8) कुरलकाव्य (तिरुवल्लुवर)
(9) गोम्मटसार टीका (संस्कृत)
(10) ज्ञानार्णव (आ. शुभचन्द्र) (शोलापुर संस्क.)
(11) तत्त्वानुशासन (आचार्य रामसेन)
(12) तत्त्वार्थसूत्र (आचार्य उमास्वामी)
(13) तत्त्वार्थराजवार्तिक (आचार्य अकलंक)
(14) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (आ. विद्यानन्दि)
(15) धवला टीका (आचार्य वीरसेन)
(16) नारदीय शिक्षा
(17) पञ्चाध्यायी (पं. राजमल्ल)
(18) परमात्मप्रकाश-टीका (ब्रह्मदेव)
(19) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (आचार्य अमृतचन्द्र)
(20) प्रमेयरत्नमाला (लघु अनन्तवीर्य)
(21) बृ. द्रव्यसंग्रह-टीका (ब्रह्मदेव-वृत्ति)
(22) बृ. स्वयम्भूस्तोत्र (आचार्य समन्तभद्र)
(23) भावना द्वात्रिंशिका (आचार्य अमितगति)
(24) मूलाचार (आचार्य कुन्दकुन्द)
(25) योगसार (आचार्य अमितगति)
(26) रत्नकरण्डश्रावकाचार (आ. समन्तभद्र)
(27) लाटी संहिता (श्रावकाचारसंग्रह में प्रकाशित)
(28) शुद्धोपयोग (गणाचार्य विरागसागर जी म.)
(29) समाधिभक्ति (आचार्य पूज्यपाद)
(30) समाधिशतक (तन्त्र) (आचार्य पूज्यपाद)
(31) सर्वार्थसिद्धि (आचार्य पूज्यपाद)
(32) समयसारकलश (आचार्य अमृतचन्द्र)
(33) सम्यग्दर्शन (गणाचार्य विरागसागर जी म.)
(34) सागारधर्मामृत (पं. आशाधर)
(35) सिद्धभक्ति (आचार्य पूज्यपाद)
(36) सुभाषितरत्नभाण्डागार
(37) स्याद्वादमञ्जरी (आचार्य मल्लिषेण)
(38) हरिवंश पुराण (आचार्य जिनसेन)

'सर्वोदया' टीका (पूर्वार्द्ध) में उद्धृत गाथा, पद्य, सूत्र आदि की अनुक्रमणिका

[उद्धृत गाथा आदि की वर्णक्रमानुरूप संयोजना में टीका-ग्रन्थ के पृष्ठ/गाथा संख्या के अनुक्रम को विशेष महत्त्व दिया गया है। अतः उद्धरणों का स्वकीय वर्णक्रम बाधित भी हुआ है। इसी तरह, एक ही वर्ण से प्रारम्भ होने वाले उद्धरणों में आदि वर्ण का अनुक्रम ठीक होने पर भी परवर्ती वर्णों के अनुक्रम को गौण कर दिया गया है। यदि कोई उद्धरण कई पृष्ठों में आया है तो पृष्ठानुसार उसकी पुनरावृत्ति भी हुई है। —संपा.]

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
अनादिसंसारसमुद्र	1	मंगलाचरण	2
अधिगतार्थस्य	21/1	सर्वार्थसिद्धि	9/25
अप्पा अप्पम्मि रओ	40/2	भावप्राभृत	85
अव्रतानि परित्यज्य	41/2	समाधिशतक	84
अव्रती व्रतमादाय	42/2	समाधिशतक	86
अबुधस्य बोधनार्थं	42/2	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	6
अथिरं परियण	50/3	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	6
अहमिन्द्रोऽस्मि	62/5	अनगारधर्मामृत	1/46 उद्धृत
अण्णोण्णं पविसंता	69/6	पंचास्तिकाय	7
अहमिक्को खलु	76/7, 191/20	समयसार	38
अन्यथा शरणं नास्ति	90/9	समाधिभक्ति	15
अपरिस्साई णिव्वावओ	114/12	अनगारधर्मामृत	9/76
अरिहंति वंदण	110/12	मूलाचार	567
अट्ठविहकम्मवियडा	111/12	गोम्मटसार, जीवकाण्ड	68
अष्टावाचारवत्त्वाद्याः	114/12	अनगारधर्मामृत	9/76
अन्यूनमनतिरिक्तं	128/13	रत्नकरण्डश्रावकाचार	42
असुहादो विणिवित्ती	134/13	बृहद्द्रव्यसंग्रह	45

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
अज्ञातस्वस्वरूपोऽयं	148/14	ज्ञानार्णव	2/90
अहो विषयिणां	152/15	आदिपुराण	11/197
अविदिदपरमत्थेसु	166/16	प्रवचनसार	3/57
अखण्डितमनाकुलं	197/20	समयसार कलश	14
अन्यत्वमेव देहेन	203/21	ज्ञानार्णव	2/100
अन्यः कश्चिद्	203/21	ज्ञानार्णव	2/103
अतत्त्वमपि पश्यन्ति	255/28	अमितगति श्रावकाचार	2/3
अट्ठ सगछक्क पण	258/28	तिलोयपण्णत्ति	2/286
अर्थस्योपार्जने दुःखम्	269/30	(अज्ञात)	
अभिमानभयजुगुप्सा	291/33	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	64
अट्ठे अजधागहणं	297/34	प्रवचनसार	1/85
अम्बु निम्बद्रुमे	164/16	हरिवंशपुराण	7/118
असुहसुहं विय कम्मं	297/34	बृहद् नयचक्र	299
अत्ता चेव अहिंसा	301/34	भगवती-आराधना टीका(उ.)	800
अलियं स किं पि	305/34	भगवती-आराधना टीका(उ.)	841
अन्यायप्रभवं वित्तं	307/34	कुरल काव्य	12/3
अदेहणं भावणं चापि	309/34	अनगारधर्मामृत (उ.)	4/57
अणणुण्णादग्गहणं	310/34	भगवती-आराधना	1202
अवि य वहो जीवाणं	312/34	भगवती-आराधना	916
अब्भन्तरमइलो चेव	320/34	भगवती-आराधना	1909
अतिवाहनातिसंग्रह	326/34	रत्नकरण्डश्रावकाचार	62
अप्पडिकुट्टं उवधिं	327/34	प्रवचनसार	3/23
अत्थि अणंता जीवा	335/35	गोम्मटसार, जीवकाण्ड	197
अयं मोहवशाज्जन्तुः	348/36	ज्ञानार्णव	23/29
अन्तर्दृष्ट्या कषायाणां	368/37	पंचाध्यायी	2/1069
अट्ठविहकम्मविमला	376/38	तिलोयपण्णत्ती	1/1
असृज्योऽयमसंहार्यः	396/39	आदिपुराण	4/40
अनन्तानन्तभेदस्य	396/39	आदिपुराण	4/43
अधोमध्योर्ध्वमध्याग्रे	397/39	आदिपुराण	4/46

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
अइतित्तकडुवकत्थ	408/40	तिलोयपण्णत्ति	2/343
अदि्कुणिममसुह	408/40	तिलोयपण्णत्ति	2/345
अट्ठमखिदीए उवरि	416/40	तिलोयपण्णत्ति	9/3
असुहादो णिरयाऊ	424/42	रयणसार	57
असुहोदएण आदा	425/42	प्रवचनसार	1/12
अरहंतादिसुभत्ती	428/42	प्रवचनसार	3/46
अत्रेदानीं निषेधन्ति	434/42	तत्त्वानुशासन	83
अज्ज वि तिरयण	435/42	मोक्षप्राभृत	77
अट्ठीणि हुंति तिण्णि	445/43	भगवती-आराधना	1021
अप्रवेशोऽमतेऽगारे	309/34	अनगारधर्मामृत (उ.)	4/57
अणुवमरूवत्तं	449/44	तिलोयपण्णत्ति	4/847
अधिगतार्थस्य	21/1	सर्वार्थसिद्धि	9/25
अत्राह प्रभाकरभट्ट:	126/13	परमात्मप्रकाश टी.	2
अथवातिसंक्षेपेण द्विधा	384/38	पंचास्तिकाय, ता. वृ.	173
अहवा सयबुद्धीए	302/34	भगवती-आराधना	819
अहवा जं उब्भावेदि	303/34	भगवती-आराधना	821
असद्भूतव्यवहारेण	451/44	आलापपद्धति	160
अनंतगुणे परे	457/46	तत्त्वार्थ सूत्र	6/39
आदम्हि दव्वभावे	27/1	समयसार	203
आत्मस्वभावं परभाव	75/7	समयसार कलश	10
आराहणाए कज्जे	103/11	भगवती-आराधना	19
आयारवं च आधारयं	113/12	भगवती-आराधना	419
आहारौषधयोरपि	167/16	रत्नकरण्डश्रावकाचार	117
आत्मा नदी संयमतोय	285/32	बृ. द्रव्यसंग्रह (उ.गा.)	35
आमास्वपि पक्वास्वपि	290/33	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	67
आमां वा पक्वां वा	290/33	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	68
आदसहावादण्णं	294/34	मोक्षप्राभृत	17
आस्तां परस्वस्वीकाराद्	306/34	लाटीसंहिता	2/169
आद्यं शरीरसंस्कारो	313/34	ज्ञानार्णव	11/7

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
आस्तां तत्सङ्गमे	314/34	लाटीसंहिता	2/170
आइरिय उवज्झायाणं	430/42	मूलाचार	593
आमासयम्मि	460/46	भगवती-आराधना	1006
आर्तमममनोज्ञस्य	208/22	तत्त्वार्थसूत्र	9/30
इय आलंबण	20/1	भगवती-आराधना	1874
इणमण्णं जीवादो	69/6	समयसार	28
इयमुक्कस्सिय	102/11	भगवती-आराधना	1923
इय सामण्णं	103/11	भगवती-आराधना	21
इह परलोहसुहाणं	136/13	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	400
इत्येकशोऽपि विषये	153/15	आदिपुराण	11/203
इतिसप्तगुणोपेतो	183/17-18	आदिपुराण	20/86
इदमेवेदृशमेव	226/24	रत्नकरण्डश्रावकाचार	11
इत्थी जोणीए	311/34	स्याद्वादमंजरी (उ.मा.)	23
इत्थं न किंचिदपि	77/7	ज्ञानार्णव	4/58(1)
इन्द्रियसुखभाजनेषु	73/6	प्रवचनसार (त.प्र.टी.)	1/71
इयमज्झिम	102/11	भगवती-आराधना	1927
ईसिप्पब्भाराए उवरिं	414/40	भगवती-आराधना	2127
ईसर बंभा विण्हू	351/36	मूलाचार	260
उपास्यात्मानमेवात्मा	109/11, 383/38	समाधिशतक	98
उत्तमपत्तविसेसे	168/16	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	366
उवसणिरीह झाण	177/17-18	रयणसार	115
उवओगो खलु दुविहो	195/20	पंचास्तिकाय	40
उवओगो दुवियप्पो	195/20	बृ. द्रव्यसंग्रह	4
उपादानं मतस्यैव	309/34	अनगारधर्मामृत (उ.गा.)	4/57
उवयरणं जिणमग्गे	328/34	प्रवचनसार	3/25
उत्तरदक्खिणभाए	415/40	तिलोयपण्णत्ति	8/654
उत्ताणधवलछत्तो	415/40	तिलोयपण्णत्ति	8/657
उवकुणदि जोवि	429/42	प्रवचनसार	3/49
उत्तमसंहननस्य	20/1, 386/38	तत्त्वार्थ सूत्र	9/27

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
उरसः शिरसः कण्ठाद्	54/4	नारदीयशिक्षा	1/5/7
उवयरणदंसणेण	321/34	गोम्मटसार, जीव.	138
ऋते भवमथार्तं	209/22	ज्ञानार्णव	2/23
एकाग्रचित्तनिरोधो	15/1	तत्त्वार्थसूत्र	9/27
एयत्तणिच्छयगदो	57/4	समयसार	3
एकोऽहं निर्ममः शुद्धो	28/2	इष्टोपदेश	27
एगो मे सस्सदो	77/7	भावप्राभृत	59
एवं जो जाणित्ता	78/7	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	20
एकश्चितश्चिन्मय एव	119/12	समयसार कलश	184
एवं चिय णाऊण	130/13	चारित्रप्राभृत	6
एदे भावा णियमा	131/13	गोम्मटसार, जीवकाण्ड	12
एवं ह्रस्य भावयतः	149/14	राजवार्तिक	9/7/4
एसो अज्जाणं पि	181/17-18	मूलाचार	187
एयम्मि भवे एदे	190/20	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	65
एकमेव हि तत्स्वाद्यं	198/20	समयसारकलश	139
एवं पराणि दव्वाणि	208/22	समयसार	96
एवं बाहिरदव्वं	218/23	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	81
एवं च सति सम्यक्त्वे	280/32	पंचाध्यायी	2/1002
एकमेव पदं	305/34	कुरलकाव्य	13/8
एवमेतत् परिज्ञाय	306/34	लाटीसंहिता	2/169
एदे सव्वे दोसा ण	310/34	भगवती-आराधना	869
एतत्सर्वं परिज्ञाय	318/34	लाटीसंहिता	2/207
एयस्स अणुग्गहणं	332/35	षट्खण्डागम	14/5, 6 सू.123
एगणिगोदसरीरे	334/35	गोम्मटसार, जीवकाण्ड	196
एतन्मोहदढकप्रयोग	359/36	पद्मनन्दिपंचविंशतिका	1/119
एकस्य वस्तुन इहा	374/37	समयसार कलश	201
एदाए बहुमज्झे खेत्तं	415/40	तिलोयपण्णत्ति	8/656
एवं सव्वे देहम्मि	446/42	भगवती-आराधना	1031
एवं तव तन्नित्यमेव	27/2	समयसार आ.ख्या.	206

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
एगजीवम्मि एक्कम्हि	262/29	धवला	12/4, 2, 7
ऐहिकफलानपेक्षा	183/17-18	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	169
ऐहिकं यत् सुखं	358/36	पंचाध्यायी	2/238
कय कोउय मंगल	9	धवला	1/1, 1 सू. 1, 41
कम्मस्स य परिणामं	108/11	समयसार	75
कण्ठादुत्तिष्ठते षड्ज:	54/4	नारदीयशिक्षा	1/5/6
कम्मत्तणेण एक्कं	141/14	गोम्मटसार, कर्मकाण्ड	6
कम्मक्खंधेहि	223/24	धवला	6/1, 9-1, 24
कज्जं पडि जह पुरिसो	297/34	बृहद् नयचक्र	310
कक्कस्सवयणं	303/34	भगवती-आराधना	824
कंदस्स व मूलस्स व	343/35	गोम्मटसार, जीवकाण्ड	190
कंदा मूला छल्ली	339/35	मूलाचार	214
कर्मपरवशे सान्ते	353/36	रत्नकरण्डश्रावकाचार	12
कच्छुं कंडूयमाणो	356/36	भगवती-आराधना	1246
कथं च स सृजेल्लोकं	394/39	आदिपुराण	4/19
कषायैरिन्द्रियैर्दुष्टै:	436/42	अज्ञात	-
कहियाणि दिट्ठिवाए	437/42	भावसंग्रह	383
कललगदं दसरत्तं	459/46	भगवती-आराधना	1001
कर्मभूमिषु चक्रास्त्र	462/46	भगवती-आराधना (उ.गा.)	780
कदाचित् लब्धिविशेष	465/46	राजवार्तिक	2/49/4
कार्येषु मन्त्री वचनेषु	205/21	सुभाषितरत्नभाण्डागार	पृ. 351/28
कालम्मि सुसमसुसमे	235/27	तिलोयपण्णत्ति	4/394
कारुय-किराय चंडाल	316/34	वसुनन्दिश्रावकाचार	88
कास्ता शीलविराधना	313/34	दर्शनप्राभृत टीका	9
कायवाङ्मन: कर्मयोग:	362/37	तत्त्वार्थ सूत्र	6/1
कांक्षा भोगाभिलाष:	273/31	पंचाध्यायी	2/547
किञ्च तत्र निगोतादि	288/33	लाटीसंहिता	1/74
किमसंतवयणं	302/34	धवला	12/4/2, 8
किं किंचण त्ति तक्कं	328/34	प्रवचनसार	3/24

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
किं जं सो गिहवंतो	437/42	भावसंग्रह	384
किमिणो व वणो	446/43	भगवती-आराधना	1030
कुपात्रदानतो भूत्वा	164/16	हरिवंशपुराण	7/115
कुपात्रदानतो याति	164/16	अमितगतिश्रावकाचार	11/84
कुम्पलानि च सर्वेषां	342/35	लाटीसंहिता	2/97
कुशलाकुशलं कर्म	362/37	आप्तमीमांसा	8
कूडासामलि	405/40	त्रिलोकसार	187
केवते सेवते	118/12	मोक्षप्राभृत टीका	6
केवलमिंदियरहियं	196/20	नियमसार	11
केवलीश्रुतसंघ	280/32	तत्त्वार्थसूत्र	6/13
कोऽपि जीवोऽभि	160/16	समयसार, ता. वृ.	224-227
क्लिष्टोऽसौ मुहुरार्तः	153/15	आदिपुराण	11/206
क्षेत्रवास्तुहिरण्य	326/34	तत्त्वार्थसूत्र	7/29
क्षिपयन्ति निवसन्त्य	391/39	आदिपुराण	4/14
गसियाइं पुग्गलाइं	56/4	भावप्राभृत	22
गजाश्वरथसैन्यानि	84/8	ज्ञानार्णव	2/59
गलत्येवायुरत्यर्थ	99/11	ज्ञानार्णव	2/39
गहिउज्झियाइं	228/25	भावप्राभृत	24
गदिमधिगदस्स देहो	367/37	पंचास्तिकाय	129
गामं नगरं रण्णं	327/34	मूलाचार	293
गुरूपदेशादभ्यासात्	216/23	इष्टोपदेश	33
गूढसिरसंधिपव्वं	340/35	मूलाचार	216
गृहकर्मणाऽपि निचितं	271/30	रत्नकरण्डश्रावकाचार	114
घोरं संसारसागरम्	146/14	हरिवंशपुराण	43/128
घरवावारा केई	438/42	भावसंग्रह	385
चइऊण महामोहं	59/4, 78/7	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	22
चउदसमलपरिसुद्धं	180/17-18	वसुनन्दिश्रावकाचार	231
चउवीस मुहुत्ताणि	258/28	तिलोयपण्णत्ति	2/287
चरिया पमादबहुला	299/34	पंचास्तिकाय	139

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
चत्तारि सिराजालाणि	445/43	भगवती-आराधना	1023
चारित्तं खलु धम्मो	135/13	प्रवचनसार	1/7
चोदयन्त्यसुराश्चैनान्	410/40	आदिपुराण	10/41
छद्मस्थयोगिनामाद्ये	18/1	ज्ञानार्णव	39/6
छक्खंडभरहणाहो	95/10	तिलोयपण्णत्ति	1/48
छिज्जदु वा भिज्जदु वा	348/36	समयसार	209
छेदो जेण ण विज्जदि	327/34	प्रवचनसार	3/22
जलथलसिहिपवणंबर	55/4, 228/25	भावप्राभृत	21
जदि दा रोगा एक्कम्मि	57/4	भगवती-आराधना	1048
जम्मं मरणेण समं	59/4	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	5
जलबुव्वय सारिच्छं	66/5	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	21
जह रायकुलपसूओ	103/11	भगवती-आराधना	20
जरवाहिजम्ममरणं	110/12	बोधप्राभृत	29
जम्मजरामरण	149/14	राजवार्तिक	9/7/4
जह फुल्लं गंधमयं	185/19	बोधप्राभृत	15
जह मूलम्मि विणट्ठे	186/19	दर्शनप्राभृत	10
जह कोइ तत्तलोहं	300/34	भगवती-आराधना	1356
जं असभूदुब्भाव	303/34	भगवती-आराधना	820
जं वा गरहिद	303/34	भगवती-आराधना	823
जन्मजरामरण	149/14	राजवार्तिक	9/7/4
जत्तो पाणवधादी	303/34	भगवती-आराधना	825
जह सीलरक्खयाणं	318/34	भगवती-आराधना	988
जह पत्थरो पडंतो	321/34	भगवती-आराधना	1908
जत्थेइ मरइ जीवो	333/35	षट्खण्डागम	14/5, 6 सू. 125
जह-जह भुंजइ भोगे	357/36	भगवती-आराधना	1256
जं पुणु वि णिरालंवं	437/42	भावसंग्रह	381
जा सासया ण लच्छी	59/4	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	10
जाणदि पस्सदि सव्वं	118/12	नियमसार	159
जा उवरिमगेवेज्जं	253/28	मूलाचार	1777

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
जायदि जीवस्सेवं	367/37	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	130
जाइजरामरणभया	414/40	प्राकृतपञ्चसंग्रह	64
जाव ण गंधं छंडइ	439/42	आराधनासार	32
जिणणाणदिट्ठिसुद्धं	130/13	चारित्रप्राभृत	5
जीवादजीवमिति	70/6, 215/23	समयसार कलश	43
जीवाजीवेहि फुडो	391/39	त्रिलोकसार	4
जीवस्स णत्थि रागो	108/11	समयसार	51
जीवो उवओगमओ	196/20,	नियमसार	10
जीवनिबद्धाऽबद्धा	327/34	मूलाचार	9
जीव: प्राणी च जन्तुश्च	360/37	आदिपुराण	24/103
जीवस्याच्छादकं कर्म	364/37	योगसार	3/13
जीवकृतं परिणामं	366/37	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	12
जीविताशा धनाशा च	375/37	आत्मानुशासन	163
जुत्ता घणोवहि	415/40	तिलोयपण्णत्ति	8/655
जे वि हु जहण्णियं	102/11	भगवती-आराधना	1934
जे दंसणेसु भट्टा	187/19	दर्शनप्राभृत	8
जे मज्जमंसदोसा	316/34	वसुनन्दिश्रावकाचार	92
जे वि य मूलादीया	343/35	गोम्मटसार, जीवकाण्ड	187
जेसिं विसएसु रदी	357/36	प्रवचनसार	1/64
जेण तच्चं विबुज्झेज्ज	378/38	मूलाचार	267
जे खलु इंदियगेज्झा	451/44	पंचास्तिकाय	99
जो पस्सदि अप्पाणं	75/7, 373/37	समयसार	14
जो इच्छदि णिस्सरिदुं	90/9	तिलोयपण्णत्ति	9/48
जोगा पयडिपदेसा	106/11	बृ. द्रव्यसंग्रह	33
जो रयणत्तयजुत्तो	115/12	बृ. द्रव्यसंग्रह	53
जो चरदि णादि पिच्छदि	135/13	पंचास्तिकाय	162
जो को वि धम्मसीलो	187/19	दर्शनप्राभृत	9
जो जाणिदूण देहं	218/23	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	82
जो ण वि जाणदि	217/23	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	466

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
जो खलु संसारत्थो	367/37	पंचास्तिकाय	128
जो कत्ता सो भोत्ता	370/37	भावसंग्रह	296
जो जाणदि जिणिंदे	427/42	प्रवचनसार	2/65
जो भणइ कोइ एवं	437/42	भावसंग्रह	382
ज्ञानावरणस्य कर्मण:	123/13	राजवार्तिक	2/7/1
ज्ञातुरभिप्रायो वा नय:	371/37	आलापपद्धति	181
झाणादो सव्वकम्म	15/1	रयणसार	150
णट्ठट्ठकम्मबन्धा	111/12	नियमसार	72
णवलक्खाणं मज्झे	311/34	स्याद्वादमंजरी (उ.गा.)	23
ण य वत्थुदो दु	324/34	समयसार	265
ण य को वि देदि	352/36	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	319
णयदि त्ति णयो	370/37	धवला	1/1, 1, 1
ण्हारूण णवसदाइं	445/43	भगवती-आराधना	1022
णाणं अट्ठवियप्पं	195/20	बृ. द्रव्यसंग्रह	5
णाणप्पमाणमादा	197/20	प्रवचनसार	1/24,
णाणी णाणसहावो	197/20	प्रवचनसार	1/28
णाणाधम्मजुदं पि य	371/37	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	264
णाणं होदि पमाणं	371/37	तिलोयपण्णत्ती	1/83
णाणेण लहदि लक्खं	378/38	बोधप्राभृत	20
णाणस्स पिच्छियस्स	377/38	चारित्रप्राभृत	4
णिच्चिदर धादुसत्त	98/11	मूलाचार	226
णिव्वाणसाधए जोगे	116/12	मूलाचार	577 (512)
णिस्संकिय णिक्कंखिय	130/13	चारित्रप्राभृत	7
णिच्छयणयस्स एवं	134/13,	मोक्षप्राभृत	83
णिट्ठुरकक्कस वयणा	180/17-18	वसुनन्दिश्रावकाचार	230
णिक्कंता णिरयादो	257/28	तिलोयपण्णत्ती	2/289
णिस्सेदत्तं णिम्मलगतत्तं	449/43	तिलोयपण्णत्ती	4/896
णेऊण णिययगेहं	180/17-18	वसुनंदिश्रावकाचार	227
णोकम्मकम्मरहिओ	29/2	तत्त्वसार	27

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
णो इंदिएसु विरदो	173/17-18	पञ्चसंग्रह	11
तपांसि रौद्राण्यनिशं	15/1	अमितगतिश्रावकाचार	15/96
तपसा निर्जरा च	37/2	तत्त्वार्थसूत्र	9/3
तत्रांगुलष्ठप्रसेनादी	83/8	राजवार्तिक	1/20/12
तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं	123/13	राजवार्तिक	9/7/11
तत्सत्तावलोकं दर्शनं	123/13	बृ. द्रव्यसंग्रह-टीका	43
तं चेव गुणविसुद्धं	130/13	चारित्रप्राभृत	8
तपो मनोक्षकायानां	136/13	अनगारधर्मामृत	7/2
तद् येनाष्टापदं यस्य	166/16	अमितगतिश्रावकाचार	9/50
तत्रोत्तमं तपस्वी	178/17-18	अमितगतिश्रावकाचार	10/4
तह दंसण उवओगो	196/20	नियमसार	13
तत्तो परं तु णियमा	253/28	मूलाचार	1178
त्यागाय श्रेयसे वित्त	272/30	इष्टोपदेश	16
तदहर्जस्तनेहातो	278/31	प्रमेयरत्नमाला	4/8
तध रोसेण सयं	300/34	भगवती-आराधना	1357
तदियं असंतवयणं	303/34	भगवती-आराधना	822
ततोऽवश्यं हि पाप:	306/34	लाटीसंहिता	2/168
तह सयणसोधणं पि	312/34	मूलाचार	999
तत्त्याग: सर्वत:	314/34	लाटीसंहिता	2/130
त्यजेत् तौर्यत्रिकासक्तिं	317/34	सागारधर्मामृत	3/20
तत्थ जे ते साहारण	333/35	षट्खण्डागम	14/5, 6 सू. 120
तल्लक्षणं यथा भङ्गे	340/35	लाटीसंहिता	2/109
तत्र व्यस्तानि केषांचित्	341/35	लाटीसंहिता	2/92
तत्थ परो झाइज्जइ	382/38	मोक्षप्राभृत	4
त्यक्त्वैवं बहिरात्मा	383/38	समाधिशतक	27
तत्रापि तत्त्वत: पञ्च	387/38	तत्त्वानुशासन	119
तम्मज्झबहलमट्ठं	415/40	तिलोयपण्णत्ति	8/658
तम्हा सो सालंबं	438/42	भावसंग्रह	388
तत्तो मासं बुब्बुद	459/46	भगवती-आराधना	1022

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
तत्र जिनप्रणीतहेयो	378/38	नियमसार टीका	51
तदेतच्चतुर्विधं	17/1	राजवार्तिक	9/28
तत्र वीतरागत्वं	41/2	पंचास्तिकाय, ता.वृ.	172
ता भुंजिज्जउ लच्छी	66/5	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	12
ताणि पुण जाण	198/20	समयसार	16
तिहुयणसलिलं सयलं	56/4	भावप्राभृत	23
तिरियगदीए वि तहा	294/33	भगवती-आराधना	866
तिर्यग्लोकस्य विस्तारं	397/39	आदिपुराण	4/45
तिण्णि य वंसजलीओ	446/43	भगवती-आराधना	1028
तुह मरणे दुक्खेण	228/25	भावप्राभृत	19
तृष्णा भवति या तेषु	408/40	ज्ञानार्णव	36/78
तेन स्वपरसन्ताप	301/34	श्लोकवार्तिक	7/14
तेल्लोकाडविडहणो	319/34	भगवती-आराधना	1109
तेषां स्वभावसिद्धत्वे	394/39	आदिपुराण	4/20
ते चेव विदिय	107/11	कषायप्राभृत	1/1, 13-14
तो सत्तमम्मि मासे	461/46	भगवती-आराधना	1011
थूणाओ तिण्णि	446/43	भगवती-आराधना	1026
दंसणणाणचरित्ते	102/11	भगवती-आराधना	1928
दंसणणाणसमग्गं	115/12, 171/17-18	बृ. द्रव्यसंग्रह	54
दंसणणाणचरित्ताणि	117/12	समयसार	16
दर्शनं त्रिविधं	123/13	राजवार्तिक	2/5/7
दंसणवयसामाइय	133/13	चारित्रप्राभृत	22
दंसणसुद्धो धम्मज्झाण	177/17-18	रयणसार	117
दंसेइ मोक्खमग्गं	185/19	बोधप्राभृत	14
दव्वे खेत्ते काले भावे	224/24	मूलाचार	706
दव्वादिएसु मूढो	296/34	प्रवचनसार	1/83
दग्धमङ्गं पुनः साधु	305/34	कुरलकाव्य	13/9
दसविहमब्बंभमिणं	312/34	मूलाचार	1000
दग्धे बीजे यथात्यन्तं	361/37	राजवार्तिक (उ.गा.)	10/2/3

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
दव्वथिकाय छप्पण	426/42	रयणसार	60
दंसणणाणुवदेसो	429/42	प्रवचनसार	3/48
दंतेहि चव्विदं वीलणं	460/46	भगवती-आराधना	1009
द्वादशापि सदा चिन्त्या	23/1	पद्मनन्दिपंचविंशतिका	6/42
दाणं पूया मुक्खं	162/16	रयणसार	11
दासीदासद्विपम्लेच्छ	165/16	अमितगतिश्रावकाचार	11/87
दिण्णदि सुपत्तदाणं	167/16	रयणसार	16
द्विषद्विषतमोरोगैः	274/31	अमितगतिश्रावकाचार	2/29
दृश्यन्ते नीचजातीनां	165/16	अमितगतिश्रावकाचार	11/88
दुविहं पि मोक्खहेउं	17/1	बृ. द्रव्यसंग्रह	47
दुविहं तु भत्तपच्चक्खाणं	100/11	भगवती-आराधना	64
दुविहं पि गंथचायं	185/19	दर्शनप्राभृत	14
दुर्ध्यानार्थमवद्य	322/34	पद्मनन्दिपंचविंशतिका	1/53
दुःखव्यालसमाकुले	365/37	पद्मनन्दिपंचविंशतिका	23/10
दुःसहा निष्प्रतीकारा	409/40	ज्ञानार्णव	36/20
दुर्गन्धाशुचि धातुभित्ति	444/43	पद्मनन्दिपंचविंशतिका	3/3
दुःखशोकतापाक्रन्दन	346/36	तत्त्वार्थसूत्र	6/11
देहा वा दविणा वा	71/6	प्रवचनसार	2/101
देसकुलजाइसुद्धो	112/12	षट्खण्डागम-धवला	1/1, 1 पृ, 48
देवपूजा गुरूपास्तिः	162/16, 279/31, 428/42	पद्मनन्दिपंचविंशतिका	6/7
देवाण णारयाणं	251/28	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	165
देहकलत्तं पुत्तं मित्तादी	275/31	रयणसार	128
देहे छुहादिमहिदे चले	356/36	भगवती-आराधना	1243
देवदजदिगुरुपूजासु	427/42	प्रवचनसार	1/69
देहम्मि मच्छुलिंगं	446/43	भगवती-आराधना	1027
देहात्पुनरिन्द्रियाणि	71/6	पंचास्तिकाय टीका	128-30
दोससहियं पि देवं	255/28	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	318
ध्यानमेवापवर्गस्य	14/1	ज्ञानार्णव	23/7
धम्मं सुक्कं च	17/1	मूलाचार	394

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
धर्मध्यानं च शुक्लं	18/1	ज्ञानार्णव	38/25
धनधान्यादिग्रन्थं	328/34	रत्नकरण्डश्रावकाचार	3/61
धम्माधम्मा कालो	390/39	बृ. द्रव्यसंग्रह	20
धम्माधम्मागासा	391/39	त्रिलोकसार	5
धम्माए आहारो	404/40	तिलोयपण्णत्ति	2/346
धिद्धी मोहस्स सदा	225/24	मूलाचार	732
धुवसिद्धी तित्थयरो	38/2	मोक्षप्राभृत	60
न स कोऽप्यस्ति	65/5	ज्ञानार्णव	2/48
नत्थि भयं मरणसमं	104/11	मूलाचार	95
न दृश्यन्तेऽत्र ते भृत्या	157/15	ज्ञानार्णव	33/46
न कलत्राणि मित्राणि	157/15	ज्ञानार्णव	33/47
न गोचरं मतिज्ञान	175/17-18	पंचाध्यायी	2/376
न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्	226/24	रत्नकरण्डश्रावकाचार	34
न्यायात् तद्भक्षणे	288/33	लाटी संहिता	1/73
न विना प्राणिविघातात्	290/33	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	65
नासूया परनिन्दा	62/5	अनगारधर्मामृत	1/46 उद्धृत
नास्तिकत्वपरीहार	8	द्रव्यसंग्रह टीका	1
नामतः स्थापनातोऽपि	176/17-18	सागारधर्मामृत	2/54
निजार्जितं कर्म विहाय	145/14	भावनाद्वात्रिंशतिका	31
निषेव्य लक्ष्मीमिति	166/16	अमितगतिश्रावकाचार	11/123
निन्दकत्वं प्रतीक्ष्येषु	298/34	योगसार (अमितगति)	4/38
निस्सारे खलु संसारे	358/36	आदिपुराण	17/17
निरूप्य तत्त्वं स्थिरता	374/37	पद्मनन्दिपंचविंशतिका	1/80
निर्धनत्वं धनं येषां	375/37	आत्मानुशासन	162
निःस्पृहत्वं महत्त्वं	300/34	ज्ञानार्णव	8/20
निश्चयनयेन तु	117/12	प्रवचनसार, तात्पर्यवृत्ति	1/37
निश्चयभावश्रुतज्ञानं	124/13	बृ. द्रव्यसंग्रह-टीका	5
निश्चयतः कर्मकरण	369/37	समयसार, आत्मख्याति	65-66
नीतिं मनः परित्यज्य	307/34	कुरलकाव्य	12/6

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
नैको विश्वात्मकस्यास्य	394/39	आदिपुराण	4/18
नो दृष्टः शुचितत्त्व	285/32	पद्मनन्दिपंचविंशतिका	25/5
पढमे मंगलवयणे	9	तिलोयपण्णत्ती	1/29
परे मोक्षहेतू	16/1	तत्त्वार्थसूत्र	9/29
पंथे पहियजणाणं	50/3	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	10
पंचेव य कोडीओ	57/4	भगवती आरा. टीका	1048
परमट्ठमस्सिदाण दु	74/7	समयसार	156
परमट्ठो खलु समओ	74/7	समयसार	151
पंच वि इंदियपाणा	82/8	गोम्मटसार, जीवकाण्ड	130
पंडिदपंडिदमरणं	99/11	भगवती-आराधना	26
पंचाचारसमग्गा	112/12	नियमसार	73
पवयण जलहि	112/12	षट्खण्डागम	1, 1, 1 पु, 48
पंचविधमाचारं चरन्ति	113/12	धवला	1/1, 1, 1, सू. 1
पतङ्गः पवनालोलदीपा	152/15	आदिपुराण	11/201
पंचवदाणि जदीणं	172/17-18	भगवती-आराधना टीका	115-118
प्रतिग्रहणमत्युच्चैः	179/17-18	आदिपुराण	20/86
पत्तं णियघरदारे	180/17-18	वसुनन्दिश्रावकाचार	226
परस्येव न जानाति	210/22	ज्ञानार्णव	2/57
पडिदेससमयपुग्गल	228/25	भावप्राभृत	35
परमाणुस्स णियट्ठि	248/27	तिलोयपण्णत्ती	4/285
परमश्रद्धया सन्तुष्टेन	181/17-18	श्रावकधर्मप्रदीप	
परलोगम्मि य चोरो	294/33	भगवती-आराधना	866
पंच रस पंच वण्णा	298/34	गोम्मटसार, जीवकाण्ड	479
प्रमत्तयोगात् प्राण-	299/34	तत्त्वार्थसूत्र	7/13
पढमं असंतवयणं	302/34	भगवती-आराधना	818
परुसं कडुयं वयणं	304/34	भगवती-आराधना	826
पत्थं हिदयाणिट्ठं	304/34	भगवती-आराधना	359
परलोगम्म वि दोसा	305/34	भगवती-आराधना	844
परदव्वहरणमेदं	293/33, 307/34	भगवती-आराधना	859

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
पंचंदिया मणुस्सा	311/34	स्याद्वादमंजरी (उ.गा.)	23
पढमं विउलाहारं	312/34	मूलाचार	998
पण्यस्त्री तु प्रसिद्धा	314/34	लाटी संहिता	2/129
पभणइ पुरओ	316/34	वसुनन्दिश्रावकाचार	90
परलोयम्मि अणंतं	317/34	वसुनन्दिश्रावकाचार	124
परिणममानस्य	366/37	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	13
पण्णाए घित्तव्वो जो	381/38	समयसार	299
पढमादिबितिचउक्के	406/40	तिलोयपण्णत्ति	2/29
पंचमिखिदिए तुरिमे	406/40	तिलोयपण्णत्ति	2/30
परस्परोदीरितदु:खा:	409/40	तत्त्वार्थसूत्र	3/4
पंचवीस कलासयाई	443/43	धवला	6/1, 9-1-28 श्लो.11
पक्कामयासयत्था	445/43	भगवती-आराधना	1025
परविवाहकरणेत्वरिका	319/34	तत्त्वार्थसूत्र	7/28
प्रसिद्धैः बहुभिस्तस्यां	315/34	लाटी संहिता	2/132
परबुद्धिमहंधियं	379/38	समाधिशतक	105
प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं	457/46	तत्त्वार्थसूत्र	6/38
परं परं सूक्ष्मं	458/46	तत्त्वार्थसूत्र	6/37
पायोपगमनमरणं	99/11	भगवती-आराधना	28
पात्राय विधिना	166/16	अमितगतिश्रावकाचार	11/102
प्राग्वादत्राप्यतीचारा:	289/33	लाटी संहिता	1/77
पावेण तेण दुक्खं	316/34	वसुनन्दिश्रावकाचार	93
पात्रं त्रिभेदमुक्तं	178/17-18	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	171
पाओदयं पवित्तं	180/17-18	वसुनन्दिश्रावकाचार	228
पीते यत्र रसाङ्ग	292/33	सागारधर्मामृत	2/5
पुव्विलाइरिएहिं	6, मङ्गल	तिलोयपण्णत्ति	1/16
पुष्पसाधारणे	54/4	नारदीयशिक्षा	1/5/5
पुरिसस्स पावकम्मो	58/4	भगवती-आराधना	1605
पुग्गलकम्मादीणं	142/14	बृ. द्रव्यसंग्रह	8
पुप्फंजलिं खिवित्ता	180/17-18	वसुनन्दिश्रावकाचार	229

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
पुत्तो वि भाऊ जाओ	190/20	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	64
पुत्रमित्रकलत्राणि	203/21	ज्ञानार्णव	2/102
पुरिसेण सह गयाए	311/34	स्याद्वादमंजरी (उ.गा.)	23
पुष्पसाधारणा:	341/35	मूलाचार	2/95
पुण्णजुदस्स वि	347/36	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	49
पुण्यात् सुरासुरनरो	350/36	आदिपुराण	16/272
पुण्यकर्मविपाकाच्च	355/36	तत्त्वार्थसार	8/49
पुढवी पिंडसमाणा	374/37	समयसार	169
पुव्वावरेण तोए	414/40	तिलोयपण्णत्ति	8/653
पुव्वट्ठिद खवदि	426/42	रयणसार	52
पूर्वानुभोगसंभोग	313/34	ज्ञानार्णव	11/9
फलसाधारणं ख्यातं	342/35	लाटी संहिता	2/96
बहिरब्भंतरकिरिया	134/13	बृ. द्रव्यसंग्रह	45
बध्यते मुच्यते जीव:	191/20	इष्टोपदेश	26
बन्धो धुवमुवधीदो	322/34	प्रवचनसार	3/19
बहिरात्मा शरीरादौ	380/38	समाधिशतक	5
बहिरात्मेन्द्रियद्वारै:	380/38	समाधिशतक	7
बहिरन्त:परश्चेति	380/38	समाधिशतक	4
बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वात्	137/13	अनगारधर्मामृत	7/33
बाहिरचाओ विहलो	320/34	भावप्राभृत	3
बादरसुहुमणिगोदो	334/35	षट्खण्डागम	14/5, 6, 126
बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं	368/37	बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र	60
बुभुक्षा जायतेऽत्यन्तं	408/40	ज्ञानार्णव	36/77
भवसागरे अणंते	228/25	भावप्राभृत	20
भवाब्धिप्रभवा: सर्वे	347/36	ज्ञानार्णव	2/9
भयाशास्नेहलोभाच्च	353/36	रत्नकरण्डश्रावकाचार	30
भवोद्भवानि दु:खानि	379/38	ज्ञानार्णव	2/117
भरहे दुस्समकाले	435/42	मोक्षप्राभृत	76
भगवान् केवलस्य	118/12	प्रवचनसार टीका	1/33

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
भारं णरो वहंतो	147/14	भगवती-आराधना	1787
भुक्त्वा परिहातव्यो	72/6	रत्नकरण्डश्रावकाचार	3/37, 83
भुक्तिमात्रप्रदाने हि का	176/17-18	उपासकाध्ययन	818
भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहात्	56/4, 230/25	इष्टोपदेश	30
भूत्वाङ्गुलस्यासंख्येय	462/46	भगवती-आराधना	780 (उद्धृत)
भेदविज्ञानत: सिद्धा:	216/23	समयसारकलश	131
भोगपत्नी निषिद्धा	317/34	लाटी संहिता	2/186
भोगोवभोगसोक्खं	356/36	भगवती-आराधना	1242
मंगल णिमित्त हेउं	5	षट्खण्डागम	1/1, 1, सू. 1
मण्णंति जदो णिच्चं	48/3	गोम्मटसार, जीवकाण्ड	149
मनसा उत्कटा मनुजा:	47/3	धवला	13/5, 5, 141
मणुसत्तणेण णट्ठो	64/5	पंचास्तिकाय	17
महाव्यसनसंकीर्ण	146/14	ज्ञानार्णव	2/84
मधुव्रत: सदामोद	152/15	आदिपुराण	11/200
मग्गणगुणठाणेहि य	192/20	बृ. द्रव्यसंग्रह	13
मधुशकलमपि प्रायो	288/33	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	69
मधुकृद्व्रातघातोत्थं	289/33	सागारधर्मामृत	2/11
मद्यं मोहयति मनो	291/33	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	62
महिलालोयण-पुव्वं	314/34	भगवती-आराधना	1204
माक्षिकं माक्षिकानां	288/33	लाटी संहिता	1/72
माणी कुलजो सूरो	316/34	वसुनन्दिश्रावकाचार	91
मासेण पंच पुलगा	460/46	भगवती-आराधना	1003
मासम्मि सत्तमे तस्स	460/46	भगवती-आराधना	1004
मिच्छत्तं वेदंतो जीवो	222/24	भगवती-आराधना	40
मिच्छत्तेणाच्छण्णो मग्गं	225/24	मूलाचार	705
मिथ्यादृशां विसदृशां	259/28	पद्मनन्दिपंचविंशतिका	1/34
मिच्छत्तं वेदंतो जीवो	282/32	प्राकृत पंचसंग्रह	1/6
मिच्छादिट्ठी जीवो	282/32	प्राकृत पंचसंग्रह	1/8
मितोचिताभ्यनुज्ञात	309/34	आदिपुराण	20/163

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
मिथ्यात्वाविरति	425/42	प्रवचनसार, ता. वृ.	1/9
मिदहिदमधुरालाओ	449/44	तिलोयपण्णत्ती	4/898
मिथ्यादर्शनाद्यावेशाद्	260/29	सर्वार्थसिद्धि	8/2
मुक्खं धम्मज्झाणं	163/16, 438/42	भावसंग्रह	371
मुत्तं आढयमेत्तं	446/43	भगवती–आराधना	1029
मूलोत्तरगुणनिष्ठा	172/17–18	सागारधर्मामृत	1/15
मूर्तैर्विचेतनैः चित्रैः	202/21	ज्ञानार्णव	2/99
मूलग्गपोरबीजा कंदा	339/35	मूलाचार	213
मूलसाधारणास्तत्र	341/35	लाटी संहिता	2/93
मूले कंदे छल्ली पवाल	342/35	गोम्मटसार, जीवकाण्ड	189
मूलं संसारदुःखस्य	379/38, 448/43	समाधिशतक	15
मेघहिमफेग्गउक्का	59/4	भगवती–आराधना	1054
मेहुणसण्णारूढो	311/34	स्याद्वादमंजरी (उद्धृत गा.)	23
मेरुसमलोहपिंडं सीदं	407/40	तिलोयपण्णत्ती	2/32
मेरुसमलोहपिंडं उण्हं	407/40	तिलोयपण्णत्ती	2/33
मोत्तूण बहिचिंतां	124/13	बृ. नयचक्र	350
मोहतिमिरापहरणे	129/13	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	47
मोहोदएण जीवो	222/24	भगवती–आराधना	39
यस्याभियोगात् परे	86/9	नीतिवाक्यामृत	20/1
यः परात्मा स एवाहं	109/11	समाधिशतक	31
यदिदं दर्शनमोहाख्यं	122/13	राजवार्तिक	1/2/12
यदाऽस्य दर्शन	127/13	सर्वार्थसिद्धि	1/1
यथेष्टगतिका पुष्टा	152/15	आदिपुराण	11/202
यतिः स्यादुत्तमं पात्रं	177/17–18	सागारधर्मामृत	5/44
यदैक्यं मनुते	204/21	ज्ञानार्णव	2/91
यदि पुत्रः कुपुत्रोऽस्ति	268/30	सूक्ति	–
यदि पापनिरोधोन्य	269/30	रत्नकरण्डश्रावकाचार	27
यदपि किल भवति	290/33	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	66
यदेकबिन्दोः प्रचरन्ति	292/33	सागारधर्मामृत	2/4

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
यः कल्पयेत् किमपि	296/34	पद्मनन्दिपंचविंशतिका	1/125
यत्रैवाहितधीः पुंसः	382/38	समाधिशतक	95
यत्पुनर्वज्रकायस्य	435/42	तत्त्वानुशासन	84
यज्जीवस्योपकाराय	447/43	इष्टोपदेश	19
यस्मिन् संसारकान्तारे	65/9	ज्ञानार्णव	2/53
यस्येत्थं स्थेयस्य	178/17-18	अमितगतिश्रावकाचार	10/18
यावत्स्वास्थ्यं शरीरस्य	60/4	अज्ञात	
यान्त्येव न निवर्तन्ते	104/11	ज्ञानार्णव	2/37
यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्	213/23, 276/31	सूक्ति	-
याः खादन्ति पलं	315/34	लाटी संहिता	2/131 (उद्धृत)
यादृशः कटुकालाबु	405/40	आदिपुराण	10/99
युञ्जीत मनसात्मानं	383/38	समाधिशतक	48
ये व्याख्यायन्ति न	116/12	अज्ञात	-
ये केचित् सिद्धान्ते	155/15	ज्ञानार्णव	18/108
येऽन्तरद्वीपजाः सन्ति	165/16	अमितगतिश्रावकाचार	11/85
ये ये सम्बन्धमायान्ति	203/21	ज्ञानार्णव	2/101
येन भावेन यद्रूपं	384/38	तत्त्वानुशासन	191
यैव स्वकर्मकृतकाल	81/8	पद्मनन्दिपंचविंशतिका	3/18
योऽत्ति नाम मधु	289/33	अमितगतिश्रावकाचार	5/32
योषिद्विषयसंकल्पः	313/34	ज्ञानार्णव	11/8
रयणत्तयसंजुत्ता	114/12	नियमसार	74
रत्नत्रयवद्भ्यः स्ववित्त	167/16	धवला	13/5, 5, 137
रत्तो बंधदि कम्मं	209/22, 349/36	समयसार	150
रसजानां च बहूनां	291/33	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	63
रजकशिलासदृशीभिः	315/34	लाटी संहिता	2/131 (उद्धृत)
रत्तं णाऊण णरं	316/34	वसुनन्दिश्रावकाचार	89
रयणत्तयस्सरूवे	426/42	रयणसार	61
रत्नत्रयमनासाद्य यः	438/42	ज्ञानार्णव	6/4
रसाद्रक्तं ततो मांसं	443/43	धवला	6/1, 9-1-28/11

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
रायाणं अद्धचक्की	95/10	तिलोयपण्णत्ती	1/47
रागादिविकल्परहितं	124/13	समयसार, तात्पर्यवृत्ति	190
रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादि	129/13	रत्नकरण्डश्रावकाचार	48
रागद्वेषासंयममद्दु:ख	181/17-18	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	170
रागविवागसतण्णादि	325/34,	भगवती-आराधना	1177
राज्यैश्वर्यकलत्रबान्धव	346/36	ज्ञानार्णव	25/29
रागादिपरिहरणस्वभावेन	378/38	समयसार, आ. ख्याति	155
रोगेण वा छुधाए	429/42	प्रवचनसार	3/52
लक्खणदो णियलक्खं	124/13	बृ. नयचक्र	351
लोगो अकिट्टिमो	391/39	त्रिलोकसार	3
लोक्यन्तेऽस्मिन्	391/39	आदिपुराण	4/13
लोको ह्यकृत्रिमो	392/39	आदिपुराण	15
लक्षितस्य यथा	174/17-18	न्यायदर्शन	
ववहारस्य दु आदा	108/11	समयसार	84
वने वनगजास्तुङ्गा	152/15	आदिपुराण	11/198
वर्यमध्यजघन्यासु	165/16	अमितगतिश्रावकाचार	11/86
ववहारणयो भासदि	214/23	समयसार	27
वर्णादिसाम्ग्रयमिदं	215/23	समयसार कलश	39
वज्जणमणण्णुणा	310/34	भगवती-आराधना	1203
वरमन्यकृतं पापम्	318/34	कुरलकाव्य	15/10
वरोपलिप्सयाशावान्	351/36	रत्नकरण्डश्रावकाचार	23
व्यवहारनयादेवं	385/38	तत्त्वानुशासन	141
वंदणणमंसणेहिं	428/42	प्रवचनसार	3/47
ववहारा मुत्ति बंधादो	452/44	बृ. द्रव्यसंग्रह	7
वमिगं अमेज्झसरिसं	461/46	भगवती-आराधना	1010
वत्थुं पडुच्च	324/34	कषायप्राभृत	1/1, 1, 51
ववहारणयं पडुच्च	323/34	धवला	9/4, 1, 67
व्यवहारनयसमाश्रयणे	369/37	श्लोकवार्तिक	1/7 श्लो. 13
वस्तुनि अनेकान्तात्मनि	371/37	सर्वार्थसिद्धि	1/33

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
वारसंगे जिणक्खादं	115/12	मूलाचार	575
वाचनापृच्छने	128/13	आदिपुराण	21/96
वालेसुं दाढीसुं	257/28	तिलोयपण्णत्ती	2/290
वासनामात्रमेवैतत्	357/36	इष्टोपदेश	6
वातरज्जुभिरानद्धो	397/39	आदिपुराण	4/44
वासीदिं लक्खाणं	407/40	तिलोयपण्णत्ती	2/31
वातः पित्तं तथा श्लेष्मा	447/43	गोम्मटसार, कर्म. (उ.गा.)	33
विध्याति कषायाग्निः	22/1	ज्ञानार्णव	13/2/59
विशुद्धज्ञानदर्शन	40/2	बृ. द्रव्यसंग्रह, वृत्ति	35
विश्वासानन्दयोः स्थानं	77/7	ज्ञानार्णव	4/58-2
वित्तपुत्रकलत्रादि	144/14	ज्ञानार्णव	2/88
विषयैर्विलब्धोऽयम्	153/15	आदिपुराण	11/205
विरुद्धनानायुक्ति	174/17-18	न्यायदीपिका	1/1
विधिद्रव्यदातृ	179/17-18	तत्त्वार्थसूत्र	7/39
विज्ञानं स्यात् क्रमज्ञत्वं	183/17-18	आदिपुराण	20/84
विपरीतं मनोज्ञस्य	208/22	तत्त्वार्थसूत्र	9/31
विदिताशेषशास्त्रोऽपि	217/23	समाधिशतक	94
विद्याविनयसंपन्नः	306/34	कुरलकाव्य	13/10, 14/9
विच्छियसहस्सवेयण	406/40	त्रिलोकसार	191
विकहादिसु रुद्दट्टझाणेसु	424/42	रयणसार	59
विसयकसाओगाढो	425/42	प्रवचनसार	2/66
वीतरागस्वभावाय	1	मंगलाचरण	1
वीतरागमुखोत्पन्ना	1	मंगलाचरण	3
वीतरागप्रभोर्भक्ताः	2	मंगलाचरण	5
वीरेण वि मरिदव्वं	96/10	मूलाचार	141
वेत्रविष्टरझल्लर्यो	396/39	आदिपुराण	4/41
वेदालगिरिभीमा	405/40	त्रिलोकसार	186
वेज्जावच्चणिमित्तं	429/42	प्रवचनसार	3/53
वैराग्यस्य परां काष्ठाम्	116/12	पंचाध्यायी	2/671

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
वैशाखस्थ: कटीन्यस्त	396/39	आदिपुराण	4/42
वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं	436/42	बृ. द्रव्यसंग्रह (उ.गा.)	57
वोच्छामि समयपाहुड	12/मंगलाचरण	समयसार	1
वोच्छामि नियमसारं	12/मंगलाचरण	नियमसार	1
शरीराद् व्यतिरेको	212/23	राजवार्तिक	9/7/5
शंकाकांक्षाविचिकित्सा	352/36	तत्त्वार्थसूत्र	7/23
श्वमार्जारखरोष्ट्रादि	405/40	आदिपुराण	10/100
शरीरोद्भवं शीतोष्ण	379/38	कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका	288
शाका: साधारणा:	342/35	मूलाचार	2/98
शुक्र-सिंघाणक	462/46	भगवती-आराधना (उ.गा.)	780
शून्यागार-विमोचिता	308/34	तत्त्वार्थसूत्र	7/6
शीतोष्णनरकेष्वेषां	406/40	आदिपुराण	10/89
शोच्यन्ते स्वजनं मूर्खा:	210/22	ज्ञानार्णव	2/52
श्रद्धानं परमार्थानाम्	125/13	रत्नकरण्डश्रावकाचार	4
श्रद्धा शक्तिश्च भक्तिश्च	182/17-18	आदिपुराण	20/82
श्रद्धाऽऽस्तिक्यमनास्तिक्ये	182/17-18	आदिपुराण	20/83
श्रीकुन्दकुन्देन हि	2	मंगलाचरण	4
श्रेयोमार्गस्य संसिद्धि:	8	द्रव्यसंग्रह टीका	1
स्यातां तत्रार्तरौद्रे	16/1	ज्ञानार्णव	39/6
स्वभावानुचिन्तन	21/1	राजवार्तिक	9/2/4
सकलमपि विहायान्हाय	25/2	समयसारकलश	35
समदा तह मज्झत्थं	39/2	बृहद् नयचक्र	357
सर्वदैव रुजाक्रान्तं	58/4	ज्ञानार्णव	2/113
संयोजयति देहेन	71/6	ज्ञानार्णव	29/11
सक्कदुगम्मि य	88/9	तिलोयपण्णत्ति	8/278
सदा आयारविद्दण्हू	112/12	मूलाचार	572
संगहणुग्गहकुसलो	113/12	धवला	1/1, 1 पृ. 48
सततमनुभवामोऽनन्त	119/12	समयसार कलश	20
सम्मद्दंसण पस्सदि	127/13	चारित्रप्राभृत	18

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
सकलं विकलं चरणं	132/13	रत्नकरण्डश्रावकाचार	50
संयोगे विप्रयोगे च	144/14	ज्ञानार्णव	2/87
स्वयं कृतं कर्म यदात्मना	145/14, 395/39	भावनाद्वात्रिंशतिका	30
सुट्ठु असारे संसारे	146/14	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	62
संसारसागरम्मि य	146/14	भगवती-आराधना	448
संसारचक्कमारुहिय	147/14	भगवती-आराधना	1786
सव्वायरेण जाणह	150/14	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	79
सरन् सरसि संफुल्ल	152/15	आदिपुराण	11/198
स्वामिगुरुबन्धुवृद्धान्	156/15	ज्ञानार्णव	18/107
सहाया अस्य जायन्ते	156/15	ज्ञानार्णव	2/89
सहायः कोऽपि कस्यापि	158/15	ज्ञानार्णव	33/51
सद्दहदि य पत्तेदि य	159/16,	भावप्राभृत	82
सद्दहेदि य	431/42,	समयसार	275
सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं	175/17-18	पंचाध्यायी	2/375
सम्मादिगुणविसेसं	178/17-18	रयणसार	118
संग्रहमुच्चस्थानं पादो	179/17-18	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	168
सम्मत्तरयणसारं	186/19	रयणसार	4
सम्यग्दर्शनज्ञान	43/2	बृ. द्रव्यसंग्रह, वृत्ति	35
संसारकारणनिवृत्तिं	129/13	सर्वार्थसिद्धि	1/1
समस्तरागादि	136/13	प्रवचनसार, ता. वृ.	79
संपज्जदि णिव्वाणं	187/19	प्रवचनसार	1/6
सम्यगेति गच्छति	173/17-18	स्याद्वादमंजरी	30
सण्णाणं चउभेयं	196/20	नियमसार	12
स्वस्वरूपमतिक्रम्य	203/21	ज्ञानार्णव	2/104
स्वपरयोरेकत्वज्ञानेन	217/23	आत्मख्याति	314
स्वपरिणमोपात्तस्य	99/11	सर्वार्थसिद्धि	7/22
समओ णिमिसो कट्ठा	249/27	पंचास्तिकाय	25
स्वयमेव विगलितं	288/33	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	70
स्तेनप्रयोग	307/34	तत्त्वार्थसूत्र	7/27

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
संगात् कामस्ततः	321/34	ज्ञानार्णव	16/12
सम्मूहदि रक्खेदि	322/34	लिंगप्राभृत	5
सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः	325/34	ज्ञानार्णव	16/33
समगं वक्कंताणं	332/35	षट्खण्डागम	14/5, 6 सू. 124
स्कन्धपत्रपयः	341/35	लाटी संहिता	2/94
सम्मादिट्ठी पुण्णं ण	354/36, 430/42	भावसंग्रह	404
सपरं बाधासहियं	357/36	प्रवचनसार	1/76
समसत्तुबंधुवग्गो	359/36	प्रवचनसार	3/41
स्वकर्मव्याघ्रेण	365/37	पद्मनन्दिपंचविंशतिका	3/49
सर्वेन्द्रियाणि संयम्य	384/38	समाधिशतक	30
संक्षेपेण यदत्रोक्तं	387/38	तत्त्वानुशासन	140
स्रष्टाऽस्य जगतः	393/39	आदिपुराण	4/16
स्रष्टा सर्गबहिर्भूत	393/39	आदिपुराण	4/17
सृजेद् विनाऽपि	394/39	आदिपुराण	4/21
संक्लिष्टासुरोदीरित	409/40	तत्त्वार्थसूत्र	3/5
सव्वट्ठसिद्धिइंदय	414/40	तिलोयपण्णत्ति	8/652
संगच्चाएण फुडं	439/42	आराधनासार	31
सत्त तयाओ	445/43	भगवती-आराधना	1024
सयलकुहियाण पिंडं	455/45	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	83
सव्वासु अवत्थासु	460/46	भगवती-आराधना	1005
स्वपरयोरेकत्व	217/23,	समयसार, आ. ख्या.	314
स्वपरिणामोपात्तस्य	99/11	सर्वार्थसिद्धि	7/22
साधारणमाहारो	332/35	षट्खण्डागम	14/5, 6 सू. 122
साधारणं च केषांचित्	341/35	लाटी संहिता	2/91
सामायिके सारम्भाः	436/42	रत्नकरण्डश्रावकाचार	102
सिद्धोहं शुद्धोहं	29/2	तत्त्वसार	28
सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्त	30/2	समयसारकलश	185
सिक्खावयं च तिदियं	168/16	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	361
सीदुण्ह वायपिउलं	182/17-18	रयणसार	23

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं	12/मंगलाचरण	सूत्रप्राभृत	2
सुप्रापं न पुनः पुंसां	44/2	ज्ञानार्णव	2/189
सुरधणु तडिव्व चवला	50/3	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	8
सुट्ठु असारे संसारे	146/14	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	62
सुद्धो सुद्धादेसो	142/14, 194/20	समयसार	12
सुद्धं तु वियाणंतो	194/20, 381/38	समयसार	186
सुखं दुःखानुबन्धीदं	345/35	आदिपुराण	8/77
सुहभावादो सग्गसुह	427/42	रयणसार	57
सुहजोगस्स पवित्ती	430/42	बारस अणुपेक्खा	63
सुविदिदपयत्थसुत्तो	434/42	प्रवचनसार	1/14
सुपात्रे सुफलं दानं	164/16	हरिवंशपुराण	7/119
सेवाल पणग केण्णग	340/35	मूलाचार	215
सो चेव जादि मरणं	64/5	पंचास्तिकाय	18
सोऽहमित्यात्तसंस्कारः	383/38	समाधिशतक	28
षड्जं मयूरो वदति	54/4	नारदीय शिक्षा	1/5/4
हृतोऽयं विषयैर्जन्तु	153/15	आदिपुराण	11/204
हासभयलोहकोह	304/34	भगवती-आराधना	827
हिंसाऽनृतस्तेया	132/13	तत्त्वार्थसूत्र	7/1
हिंडदि घोरमबारं	148/14	प्रवचनसार	1/77
हिदमिदमण्णं पाणं	182/17-18	रयणसार	24
हिंसैव दुर्गतेर्द्वारं	300/34	ज्ञानार्णव	8/19
हिंसादिसु कोहादिसु	424/42	रयणसार	58
हेतौ प्रमत्तयोगे	304/34	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	100

सर्वोदया टीका में प्रमुख विवेचित विषय
(पूर्वार्द्ध, गाथा 1-46)

गाथा/पृष्ठ	स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ	भेद/ प्रकार	विशेष विवरण
टीकाकार का मंगलाचरण पृष्ठ [1-12]	मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम, कर्ता	(1, 2, 3, 4, 5, 6) मंगल के अनेक प्रकार से भेद	प्रतिज्ञावाक्य, समुदाय पातनिका, मंगलादि 6 अधिकार, मंगलाचरण क्यों? कितनी बार, और उसका फल, कुन्दकुन्दाचार्य के विदेहक्षेत्रगमन सम्बन्धी मतान्तर,
ग्रन्थ मंगलाचरण 1 [13-23]	अन्वय, जिन, ध्यान, एकाग्रता, प्रशस्त-अप्रशस्तध्यान, अनुप्रेक्षा, पातनिका	ध्यान (प्रशस्त-अप्रशस्त) शुक्लध्यान-4	ध्यान बिना मुक्ति का निषेध, चिन्तामात्र का निरोध ध्यान नहीं, ध्यानोत्तम से ही मुक्ति, प्रारंभ के 2 शुक्ल ध्यान परम्परा कारण तथा अंतिम दो साक्षात्कारण हैं (मुक्ति के लिए), ध्यान का समय, संहनन, अनुप्रेक्षाओं में क्रमभिन्नता, अनुप्रेक्षाएँ शुभरूप हैं,
पूर्वपीठिका 2 [24-44]	अध्रुव, अशरण, एकत्वानुप्रेक्षा, अन्यत्वानुप्रेक्षा, संसारानुप्रेक्षा, लोकानुप्रेक्षा, निश्चयलोक-व्यवहारलोक, अशुचित्वानुप्रेक्षा, आस्रवानुप्रेक्षा, संवरानुप्रेक्षा, निर्जरानुप्रेक्षा, अबुद्धिपूर्वक, कुशलमूला निर्जरा, धर्मानुप्रेक्षा, धर्म के विभिन्न लक्षण, निश्चय व्यवहार धर्म,	लोक, 2, 3 धर्म-10 निर्जरा-2	ज्ञानी-अज्ञानी की मान्यता का फल अनुप्रेक्षा विषयक, निश्चय-व्यवहार शरण, एकत्व-अन्यत्वानुप्रेक्षा में अंतर, भव्य-अभव्यकी अपेक्षा संसार की स्थिति, तीनों लोकों का प्रमाण, आस्रव के हेतुओं का गुणस्थानों में क्रम, संवर के हेतु, निर्जरा में मुख्य हेतु तथा तप में भी ध्यान, निश्चय-व्यवहार धर्म में

गाथा/पृष्ठ	स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ	भेद/ प्रकार	विशेष विवरण
	बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा		साध्य-साधन भाव की सिद्धि, व्यवहार धर्म सर्वथा हेय नहीं, बोध-बोधि में अंतर, अनुप्रेक्षा चिन्तन का फल,
	अध्रुवानुप्रेक्षा (प्रथम अधिकार, गाथा 3-7, पृ. 45-78)		
3 [46-50]	देव, भावदेव, मनुज, मनुष्य, चक्रवर्ती		पातनिका, अनित्य पदार्थों संबंधी गाथाएँ, मोह छोड़ शुद्धात्म ध्यान का उपदेश
4 [51-59]	अरोग	स्पर्श-8, रस-5, गंध-2, वर्ण-5, शब्द-7	सात स्वरों के उद्भव स्थान, शास्त्रीय संज्ञाएँ, 1 आँख तथा सम्पूर्ण शरीर के रोगों की संख्या, विषयों से विरक्ति का उपदेश, अनित्यसम्बन्धी गाथाएँ
5 [60-67]	इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य, किल्विषक, अहमिन्द्र, बलभद्र राजा, अधिराज, महाराज, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, अर्धचक्री, पर्याय, अर्थ-व्यंजन पर्याय, क्रमवर्ती पर्याय		शुद्धोपयोग पुरुषार्थ का उपदेश, विभिन्न ग्रन्थों की गाथाएँ

गाथा/पृष्ठ	स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ	भेद/ प्रकार	विशेष विवरण
6 [68-73]	शरीर, भोग, उपभोग,		आत्मा-शरीर का परस्पर संश्लेष संबंध, हंसवत्-भेदज्ञानी साधक, बलदेवादि पर्याय उपचरित असद्भूत नय का विषय, भोगोपभोगजनित सुख सुखाभास है,
7 [74-78]	शुद्धनय	नय-2	परमार्थ दृष्टि ही कर्मक्षय की साधिका है। भगवान की देशना दो नयों के अनुरूप, आत्मवेदी को आत्मा में ही आनंद, शुद्धनय से आत्मा का स्वभाव, प्रथम अधिकार उपसंहार

अशरणानुप्रेक्षा

(द्वितीय अधिकार, गाथा 8-13, पृ. 79-138)

8 [80-84]	लोक, जन्म-मरण, विद्या	लोक-3, प्राण-10, महानिमित्त-8, विद्या-3	पातनिका, निश्चय से जीव का मरण नहीं, एकेन्द्रियादि जीवों में प्राणों की संख्या, विद्याओं का विश्लेषण,
9 [85-90]	दुर्ग		राज्य के सात अंग, सामानिक आत्मरक्ष देवों की संख्या, सात प्रकार की सेना, वल्लभा-अग्रमहिषी देवियों की संख्या, ऐरावत हाथी का वर्णन, इन्द्र की आयु, व्यवहार-निश्चय शरण,

गाथा/पृष्ठ	स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ	भेद/ प्रकार	विशेष विवरण
10 [91-96]	अर्द्धचक्री, सकल चक्रवर्ती,	निधि-9, रत्न-14 चतुरंगबल-4,चक्रवर्ती-2	9 निधि, 14 रत्नों के नामादि विवरण, मृत्यु से भय त्याग का उपदेश
11 [97-108]	जाति, मरण, भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी, प्रायोपगमन मरण, सल्लेखना, सविचार-अविचार भक्तप्रत्याख्यान मरण, बंध, प्रकृति, प्रदेश, अनुभाग, स्थितिबंध, उदय, सत्त्व,	योनियाँ-84 लाख, मरण-5, पण्डितमरण-3, भक्तप्रत्याख्यान-2 बंध-4, कर्म-8-148, प्रदेशबंध-2	योनि-जाति में आधार-आधेय सम्बन्ध, कौन मरण किसके होता है, भक्तप्रत्याख्यान के 3 प्रकार-कालप्रमाण-फलों का वर्णन, परिकर्मयुक्त सल्लेखना का उपदेश, शुद्धचिदात्मा ही शरणभूत है, नैसर्गिक-विस्रसोपचय प्रदेशबंध में अंतर, बंध में हेतु तत्त्व, गुणस्थानों में बंध के हेतु, जीव के कर्म-नोकर्म व्यवहार दृष्टि से उपास्य-उपासकभाव
12 [109-119]	अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, परमेष्ठी, केवली	आचार-5, परमेष्ठी-5, आत्मा-3, परमात्मा-2	अर्हत् के प्राकृतरूप, स्वात्मोपलब्धि ही सिद्धि है, निश्चय-व्यवहार से केवली का विषय, सभी परमेष्ठी आत्मस्थ हैं, व्यवहार-निश्चय शरण, में शुद्धात्मा ही शरण है।
13 [120-138]	सम्यग्दर्शन, ज्ञान, दर्शन, निश्चय-व्यवहार, सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान,	सम्यग्दर्शन-2, सम्यग्ज्ञान-5,	सम्यक्- शब्द की व्युत्पत्ति, दर्शन से श्रद्धान ग्रहण के हेतु, दर्शन ज्ञानोपयोग में अंतर, दर्शनमोहनीय

गाथा/पृष्ठ	स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ	भेद/ प्रकार	विशेष विवरण
	निश्चयसम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सकल-विकल चारित्र व्रत, व्यवहार निश्चय चारित्र, तप, व्यवहार-निश्चय तप	सम्यग्ज्ञान भावना-5, चारित्र-5, सम्यक्चारित्र-2, 3, 2, व्रत-5, प्रतिमा-11, चारित्र-2, व्यवहार चारित्र-3, तप-2, 12	व दर्शनावरणी कर्म में अंतर, सविकल्प-निर्विकल्प दर्शन, वीतराग चारित्र का अविनाभावी ही निश्चय सम्यक्त्व, शुद्धात्म भावनारूप सम्यक्त्व, सराग सम्यक्त्व ही है, साध्य-साधक भाव, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान में अंतर, सम्यक्त्वाचरण चारित्र की चारित्र संज्ञा उपचार से, सम्यक्त्वाचरण चारित्र, देशचारित्र सकलचारित्र से भिन्न, व्यवहारचारित्र से निश्चय की सिद्धि प्रायश्चित्त तप की अंतरंग तप संज्ञा क्यों?, आराधनायुक्त आत्मा ही शरण है, उपसंहार,

एकत्वानुप्रेक्षा

(तृतीय अधिकार, गाथा 14-20, पृ. 139-198)

गाथा/पृष्ठ	स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ	भेद/ प्रकार	विशेष विवरण
14 [140-149]	कर्म,	कर्म-8	पातनिका, पुद्गल अपनी कर्मपरिणति (द्रव्यकर्म) का कारण है, व्यवहार से आत्मा पौद्गलिक कर्म का कारण है, निश्चय से भावकर्मो का, एक समयबद्ध कर्मों की संख्या, जीव स्वयं ही कर्मो का कर्ता भोक्ता है, संसार की सागर आदि, जीव की अरहट आदि संज्ञाएँ, मिथ्यात्व-अज्ञान संसार-भ्रमण के मुख्य हेतु,

गाथा/पृष्ठ	स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ	भेद/ प्रकार	विशेष विवरण
15 [150-157]		इन्द्रियविषय-28, पाप-5,	पंचेन्द्रियों के विषय-सेवन से दु:ख, हाथी, मछली, भौंरा, पतंगा, हरिण का विषयासक्ति में उदाहरण का विवरण, लोभ, पाप का प्रमुख कारण, तथा उसके दुष्परिणाम, पाप-कर्मों का कर्ता-भोक्ता जीव एकाकी होता है, पापत्याग का उपदेश
16 [158-169]	दान, सत्पात्र, अतिथिसंविभाग व्रत	दान-4, श्रावकावश्यक-6 पात्र-3	सम्यग्दृष्टि का दान ही धर्मनिमित्तक है, मिथ्यादृष्टि/ मिथ्यादृष्टि/अभव्य का नहीं, इसका खुलासा, पुण्यफल भोगने में सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि में अंतर, व्यवहार धर्म निश्चय का साधक, चतुर्थ व पंचम गुणस्थान में निश्चय धर्मध्यान नहीं, इसके हेतु, सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि पात्रों में दिये गये दान का फल, अपात्रों को दिये गये दान का फल
17-18 [170-183]	साधु, उत्तम मध्यम जघन्य पात्र, श्रावक, अविरतसम्यग्दृष्टि, समय,	नवधाभक्ति-9, दाता के गुण-7	श्रद्धान-ज्ञान बिना संयम प्रवृत्ति का निषेध, सम्यक्त्व है या नहीं, यह केवलीगम्य, अपात्र- कुपात्र, परीक्षा, प्रतिग्रहादि,अवधि-मन:पर्ययज्ञान गम्य है, अनुमानगम्य श्रद्धा, भक्ति, शक्ति, विज्ञान, अक्षुब्धता, है, द्रव्य-भावजैन में अंतर, नवधाभक्ति का क्षमा, त्याग

गाथा/पृष्ठ	स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ	भेद/ प्रकार	विशेष विवरण
			विवरण, आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक भी नवधाभक्ति के पात्र हैं, दानयोग्य द्रव्य कैसा हो? सत्पात्रों को दान देना श्रावक का प्रमुख धर्म,
19 [184-188]			दर्शन से सम्यग्दर्शन, निर्ग्रन्थमुनि का भाव, सम्यक्त्वभ्रष्ट ही भ्रष्ट, सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र से रहित भ्रष्टों में भ्रष्ट है, व्यवहारचारित्रभ्रष्ट मुक्ति पा सकते हैं, वीतराग चारित्र के अविनाभावी निश्चयसम्यक्त्व सेवन का उपदेश।
20 [189-198]	उपयोग, स्वभावज्ञानोपयोग-दर्शनोपयोग	उपयोग-2, दर्शनोपयोग-4, ज्ञानोपयोग-8, प्रत्यक्षज्ञान-4 परोक्षज्ञान-4, ज्ञानोपयोग-2, विभावज्ञानोपयोग-2, सम्यग्विभावज्ञाना-4 मिथ्याज्ञान-3, दर्शनोपयोग-2	सम्बन्ध स्वार्थ से ही समृद्ध व नष्ट होते हैं, जीव-शरीर में परस्पर अन्योन्यावगाह सम्बन्ध, तादात्म्यसम्बन्ध नहीं, आत्मा द्रव्यदृष्टि से सर्वथा शुद्ध है, व्यवहार से नहीं (शक्तिरूप है, पर व्यक्तिरूप शुद्ध नहीं), शुद्ध-अशुद्ध आत्मा के आश्रय से शुद्धाशुद्धावस्था की प्राप्ति, जीव को उपयोगमय न मानने पर दोष, ब्रह्माद्वैतवाद, अवतारवाद, एकान्तवादी, नैयायिकों के मत का निराकरण, तीनों रत्नत्रय से युक्त एक आत्मरूप पद ही आस्वादन-योग्य है, उपसंहार।

गाथा/पृष्ठ	स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ	भेद/ प्रकार	विशेष विवरण
		अन्यत्वानुप्रेक्षा (चतुर्थ अधिकार, गाथा 21-23, पृ. 199-218)	
21 [200-206]	माता-पिता, सहोदर, धर्मपत्नी, वधू, अच्छी पत्नी		पातनिका, गाथान्वय, उपकार्य-उपकारक भावरूप सभी सम्बन्ध निश्चयनय से असद्भूत हैं, व्यवहार से सद्भूत हैं, सम्बन्ध-ऐक्यभावना कर्मबंध का हेतु, सम्बन्ध क्षणिक होते हैं, निजात्मा सम्बन्ध ही शाश्वत है।
22 [207-210]	इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग आर्तध्यान		ममत्वभाव ही राग-द्वेष के उत्पादक, शोक आर्तध्यानरूप, आर्तपद की निर्युक्ति, मोह का माहात्म्य, विभिन्न गाथाओं द्वारा, निःश्रेयस-सिद्धि का उपदेश।
23 [211-218]	अन्यत्व, व्यवहार नय, अन्यत्वानुप्रेक्षा, अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय		देहात्मवादियों-चार्वाकमत का निराकरण, देह आत्मा नहीं है तो मैं सुखी-दुःखी तथा अशरीरी परमात्मा की स्तुति कैसे? शंका का निराकरण, ज्ञानी का देह-आत्मा भिन्नता सम्बन्धी विचार, देह-आत्मा का पार्थक्य ही भेदविज्ञान, अन्यत्व का ज्ञान ही नहीं, बल्कि शुद्धात्मा की उपासना भी आवश्यक है। उपसंहार

गाथा/पृष्ठ	स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ	भेद/ प्रकार	विशेष विवरण
		संसारानुप्रेक्षा (पंचमाधिकार, गाथा 24-38, पृ. 219-388)	
24 [221-226]	भय, इहलोकभय, परलोकभय, अरक्षाभय, अगुप्तिभय, वेदनाभय, आकस्मिकभय, सम्यग्दर्शन, निःशंकितगुण	भय-7, संसार-5	पातनिका, अपेच्छंतो के चार अर्थ जिनमार्ग के प्रति श्रद्धान रहित जीव मूढ़ ही है, पंचविध संसार नित्यनिगोद जीवों को छोड़कर अन्य जीवों का ही संभव है, मोह मोह छोड़ श्रद्धानी बनें।
25 [227-230]	नोकर्मद्रव्यपरिवर्तन, कर्मद्रव्यपरिवर्तन	द्रव्यपरिवर्तन-2	जीव के द्वारा भोगे गए पुद्गलद्रव्य का अनेकरूप से प्रमाण, द्रव्यसंसार के स्वरूप चिन्तन का फल, संसारनिरोध का मार्ग
26 [231-233]	लोक, अलोकाकाश, क्षेत्रपरिवर्तन, स्वक्षेत्र-परक्षेत्र परिवर्तन	क्षेत्रपरिवर्तन-2	परकीय भाव छोड़ने योग्य तथा निजात्मा ही आश्रय योग्य है।
27 [234-249]	उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणीकाल, अवसर्पिणीकाल, मनु, हुण्डावसर्पिणीकाल, एकदिन, एकहोरा, एकघड़ी, कला, काष्ठा, निमिष, आवली,	कालचक्र-2, उत्सर्पिणी-6 अवसर्पिणी-6, कुलकर -14, शलाकापुरुष-63, कल्की, उपकल्की-42, व्यवहारकाल-2, काल-2	सुषमा-सुषमाकाल का वर्णन,भोगभूमि में कौन उत्पन्न होते हैं, सुषमा का वर्णन, सुषमा-दुषमाकाल का वर्णन, दुषमा-सुषमा काल का वर्णन, दुषमाकाल का वर्णन, दुषमा-दुषमाकाल, प्रलय का वर्णन, उत्सर्पिणीकाल का प्रारंभ, अतिदुषमा, दुषमा, सुषमा-

गाथा/पृष्ठ	स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ	भेद/ प्रकार	विशेष विवरण
	समय, कालपरिवर्तन,		दुषमा, सुषमा, सुषमा-सुषमा काल का वर्णन, वर्ष से समय तक काल का प्रमाण, व्यवहारकाल पराधीन है,
28 [250-259]	निश्चय, कल्पातीत, करणलब्धि, मिथ्यादर्शन, मिथ्यात्व, मिथ्यादृष्टि, कुदृष्टि, भवपरिवर्तन, भवपरिवर्तनकाल	लब्धि-5	मिथ्यात्व के कारण संसार-मुक्ति का अभाव, संसार-भ्रमण में नरक से ग्रैवेयक तक के जीव ही क्यों ग्राह्य हैं? सर्वार्थसिद्धि आदि तक क्यों नहीं, सम्यक्त्व प्राप्ति का समय, नरकों में जीव कितनी बार लगातार उत्पन्न हो पाता है, कौन से नरक से निकला जीव क्या होता है, उत्पन्न होने में अंतर का प्रमाण, देव से देव में उत्पत्ति नहीं होती, संसार-विरक्ति में हेतु संसारानुप्रेक्षा,
29 [260-265]	बंध, स्थान, शास्त्रीयभाषा में स्थान, कर्मानुभाग से स्थान, योग, योगस्थान, अनुभागबंध-अध्यवसाय-स्थान, कषाय-अध्यवसायस्थान, स्थितिस्थान, भावपरिवर्तन,	बंध-4, संसार-5	मोहनीयकर्म की जघन्य-उत्कृष्ट स्थिति, भावपरिवर्तन में योग व अनुभाग स्थान ही अपेक्षित हैं, पंचपरावर्तनों में अल्पबहुत्व,

गाथा/पृष्ठ	स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ	भेद/ प्रकार	विशेष विवरण
30 [266-271]	पाप,		पापकर्मों के आस्रव में हेतु क्रियाएँ भी पापरूप हैं, मोही जीव हिताहित नहीं जानता, धनार्थ पापकर्म करता है, धनार्जन से क्या लाभ? समीचीन ज्ञान का उपदेश ही वास्तविक धन है। धन का दान न करने से संसारभ्रमण, दान से पापकर्म कम होता है, दान के लिए धनसंचय नहीं किया जाता।
31 [272-278]	कांक्षा, धर्म, बहिरात्मा,	आत्मा-3, बहिरात्मा-3 श्रावकावश्यक-6	कांक्षा के पर्यायवाची नाम, धर्मबुद्धि न होने से जीव की दशा, बहिरात्मा के गुणस्थान तथा उनमें 3 भेद, चार्वाकमतानुयायी नास्तिक बहिरात्मा है। उनकी मान्यता तथा हेतुओं द्वारा खण्डन,
32 [279-285]	मिथ्यात्व, दर्शनमोहनीय, अवर्णवाद, केवली-श्रुत-संघ-धर्म-देव अवर्णवाद, सद्धर्म-कुधर्म, सुलिंग-कुलिंग, सुतीर्थ-कुतीर्थ, निश्चयतीर्थ-व्यवहारतीर्थ	मिथ्यात्व-5	दर्शनमोह के आस्रव के हेतु, मिथ्यात्व मंदोदय से सम्यक्त्व प्राप्ति संभव है, मिथ्यात्वोदय से जीव का आचरण, व्यवहारतीर्थ निश्चय की प्राप्ति के साधक, सुधर्म-सुलिंग-सुतीर्थ में आदर रखे, शेष में नहीं।
33 [286-294]	मधु, परद्रव्य, परकलत्र,		मधु-सेवन से साक्षात्-परम्परा से हिंसा, तथा मांसभक्षण दोष, 1 बूंद मधु-सेवन से दोष, मधु से पुष्पासव, गुलकन्द

गाथा/पृष्ठ	स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ	भेद/ प्रकार	विशेष विवरण
			का भी ग्रहण है, मांस-सेवन से होने वाली हिंसा, मदिरा तथा अन्य मादक पदार्थ भी हिंसारूप ही हैं, मदिरा के निकटवर्ती, तथा उत्पन्नदोष, भक्ष्याभक्ष्य विवेक न होना तथा सामाजिक व नैतिक मर्यादा का उल्लंघन भी संसार के कारण हैं, चोरी करने के दुष्परिणाम, परस्त्रीसेवन भी त्याज्य है।
34 [295-328]	मोह, पाप, हिंसा, प्रमत्त, भावद्रव्य हिंसा, असत्, असत्य, असत्यवचन, तथा चारों भेदों का स्वरूप, (सद्भूत अर्थ का निषेधक, असद्भूत पदार्थ का उद्भावक, अनालोच्यकथन, निन्दनीय) गर्हितवचन, सावद्यवचन, अप्रिय-वचन, चोरी, अब्रह्मचर्य, (मैथुन,) दृढ़ब्रह्मचारी, वेश्या, धर्मपत्नी, परिग्रह, निर्ग्रन्थता, अपरिग्रहमहाव्रत, परिग्रहपरिमाणाणुव्रत	कर्म-2, इन्द्रियविषय-28, मोह-अनेक, पाप-5, हिंसा-4, असत्यवचन-4, परिग्रह-2, बाह्यपरिग्रह-10 अतंरगपरिग्रह-14, उपकरण-4	मोह के चिह्न, मोही की दशा, पापबंध के कारण/ आस्रव, द्रव्यहिंसा, भावहिंसा ही है, हिंसा से दोष, प्रमत्त आत्मा ही हिंसा तथा अप्रमत आत्मा ही अहिंसा है, हितकारी कटुवचन असत्य नहीं है, प्रमादसहित योग ही असत्यवचनों का कारण, असत्य के अलावा अन्य भी वचन, त्याज्य वचन, चोरी महापाप त्याग उपदेश, अस्तेयव्रत अतिचार/भावनाएँ, गुण, फल, एक बार संभोग से उत्पन्न हिंसा, अब्रह्मसेवन के दस कारण, ब्रह्मचर्य भोगपत्नी, विनाशक क्रियाएँ, व्रत की भावनाएँ, वेश्या का स्वभाव, सेवन से उत्पन्न दोष, परस्त्रीसेवन-उत्पन्न दुष्परिणाम, ब्रह्मचर्यव्रत के अतिचार, संकल्पमात्र परिग्रह नहीं, बाह्य व आभ्यन्तर

गाथा/पृष्ठ	स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ	भेद/ प्रकार	विशेष विवरण
			परिग्रह में कार्यकारण सम्बन्ध की सिद्धि, निश्चय से आभ्यन्तर परिग्रह ही बंध का कारण, अपरिग्रह से उत्पन्न गुण तथा परिग्रह से उत्पन्न दोष, अपरिग्रहव्रत की भावनाएँ/अतिचार,
35 [329-343]	प्रत्येकशरीर वनस्पतिकायिक, साधारण, साधारणशरीरी, प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित, निगोद, बादर, सूक्ष्म, नित्य-इतरनिगोद स्कन्ध, अण्डर, आवास, पुलवी, प्रत्येक-साधारण, प्रतिष्ठित, अप्रतिष्ठित धातु, विकलेन्द्रिय	निगोद-2, योनियाँ-84 लाख, जीव-2, संसारी जीव-2, स्थावर-5, वनस्पतिकायिक-2, निगोदजीव-2, बादरनिगोद-2, नित्य इतर (पर्या., अपर्या.), बादरनिगोद -2(योनिभूत, अयोनिभूत वनस्पति की जाति-2, सम्मूर्च्छन-2, प्रत्येकशरीरी वनस्पति-5	प्रत्येकशरीरी कौन हैं? एकनिगोद शरीर में जीवराशि का प्रमाण, निगोद जीवों का तद्भवस्थ आकार, आयु, एक बादर या सूक्ष्म निगोद शरीर में अनंतानंत साधारण जीव पर्याप्तक ही होते हैं या अपर्याप्तक ही, सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव निगोद ही होते हैं, पर सभी सूक्ष्म निगोद जीव वनस्पति ही हों- यह आवश्यक नहीं, निगोदराशि का अवस्थान, बादरनिगोद की योनिभूत वनस्पतियाँ, प्रतिष्ठित प्रत्येकशरीरी वनस्पतिरूपी स्कन्ध (आलू आदि) में अनंत जीवों की शारीरिक रचना, बीज से उत्पन्न वनस्पतियों के प्रकार, सम्मूर्छन वनस्पतियाँ, बादरकाय वनस्पतियाँ, सूक्ष्मकाय वनस्पति का आकार/अवस्थान, प्रत्येक-साधारण शरीर में अंतर, साधारण वनस्पतियाँ, प्रतिष्ठित-अप्रतिप्रष्ठित में अंतर,

गाथा/पृष्ठ	स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ	भेद/ प्रकार	विशेष विवरण
36 [344-359]	संसार, भूत, संयोग-वियोग, आर्तध्यान, इष्टवियोगजन्य आर्तध्यान, लाभ-अलाभ, देवमूढ़ता, निष्कांक्षित अंग, सुख-दु:ख, श्रमण,		संयोग-वियोग दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं, इष्टवियोग--अनिष्ट संयोग जन्य दु:ख असातावेदनीय के आस्रव के हेतु हैं, संयोग-वियोग जन्य भाव रागद्वेष से उत्पन्न होते हैं, ज्ञानी का विचार, लाभालाभ पूर्वोपार्जित कर्मों के अधीन, सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि की भोगाकांक्षा सम्बन्धी विचार, तथा अंतर, सम्यग्दृष्टि का पुण्य निदान बिना मोक्ष का ही कारण, लौकिक सुख सुखाभास है तथा दु:खरूप ही है, वास्तविक सुख मोक्ष में,
37 [360-375]	जीव का अर्थ, कर्म (व्याकरणशास्त्र), (क्रियात्मक) कर्म, सर्वघाती-देशघाती कर्म, नय, प्रमाण, निश्चयनय, शुद्धनय	जीव-2, नय-2, निश्चय नय-2 का	मुक्तजीव पुन: उत्पन्न नहीं होते, अवतारवाद निराकरण, संसार घोर कान्तार है, जिसके भ्रमण का कारण कर्म है, (रागादि भावकर्म द्रव्यकर्म परिणमन में निमित्त तथा द्रव्य कर्म भावकर्म में निमित्त) द्रव्यकर्म व भावकर्म में निमित्त-नैमित्तिक भाव होता है, जीव और कर्म में नहीं, निमित्त-उपादान में अंतर, व्यवहारनय से निमित्त-नैमित्तिक भाव काल्पनिक नहीं वास्तविक, निश्चयनय से उपादान कारण ही मुख्य है, निश्चयनय से क्या-क्या नहीं, निश्चय व्यवहारनय का विषय-

गाथा/पृष्ठ	स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ	भेद/ प्रकार	विशेष विवरण
			अंतर, अशुद्ध-शुद्ध निश्चयनय में अंतर, व्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्ता-भोक्ता, अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से पुण्य-पाप कर्मों का, अशुद्ध निश्चयनय से रागादि भावों का। शुद्ध निश्चयनय से नहीं। निश्चय नय का आलम्बन ही श्रेयस्कर है।
38 [376-388]	सिद्ध, चारित्र, ज्ञान, सज्ज्ञान, सम्यग्ज्ञान बहिरात्मा, प्रारब्ध-निष्पन्नयोगी, सविकल्प-निर्विकल्प ध्यान,	आत्मा-3, ध्यान-2	समस्त दुःखों का उच्छेद मुक्ति में ही, सज्ज्ञान वही जो चारित्र में परिणत हो अन्यथा अज्ञान ही, बहिरात्मा भाव त्याज्य है, शुद्ध निश्चय के आश्रयभूत सिद्धात्मा उपादेय है, उपादेय बुद्धि की सार्थकता, उपासना ही ध्यान प्रक्रिया का अंग, स्वात्मालम्बन ध्यान भी निश्चयध्यान है, प्रारब्ध-निष्पन्न योगी के सविकल्प व निर्विकल्प दोनों ही ध्यान होते हैं— इसका विवरण, आगमानुसार पाँचों परमेष्ठी तथा अध्यात्मानुसार सिद्धात्मा ही उपादेय ध्यानयोग्य है, संसारानुप्रेक्षा चिन्तन का फल

गाथा/पृष्ठ	स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ	भेद/ प्रकार	विशेष विवरण
		लोकानुप्रेक्षा **(षष्ठाधिकार, गाथा 39-42, पृ. 389-440)**	
39 [390-397]	लोक, क्षेत्र	पदार्थ-2, अजीव-5, लोक-3, वातवलय-3	पातनिका लोक अनादि, शाश्वत है, सृष्टिकर्तावादी की मान्यता का निराकरण, सृष्टि का न कर्ता, न संहारक है, तीनों लोकों का आकार, प्रमाण, लोक कछुए पर नहीं, न शेषनाग पर टिका है, अपितु स्वप्रतिष्ठित है।
40 [398-415]	अधोलोक, इन्द्रक-श्रेणीबद्ध प्रकीर्णक बिल, मनुष्यलोक, मोक्ष, सिद्धगति, ईषत्प्राग्भारक्षेत्र	नरकभूमियाँ-7, नरक-7, खरभाग की भूमियाँ-16, नरकपटल-49, बिल-84 लाख, द्वीपसमुद्र असंख्यात, कुलाचल-6, क्षेत्र-7, कर्मभूमियाँ-15, भोगभूमियाँ-30, मनुष्यलोक-398, नन्दीश्वर द्वीप-52, कुण्डल द्वीप-2, रुचक द्वीप-4	अधोलोक का वर्णन, प्रथमादि नरकों में बिलों, पटलों की संख्या, नारकियों के देह की ऊँचाई, आयु, जन्मभूमियों के आकार, स्थान, विस्तार, उनके दु:ख, दुर्गन्धि, पीड़ा-दु:ख के अनेकानेक कारण, शीतोष्ण बिलों का विभाग/संख्या, जन्म के समय आयुधों पर गिरकर ऊपर उठने की ऊँचाई, भूख के, प्यास, वेदना आहार, रोग, पारस्परिक दु:ख, देवकृतदु:ख, नरकगति आस्रव का त्याग करने तथा व्रतनियमादि का उपदेश मध्यलोकवर्णन, द्वीप-समुद्रों के नाम, जम्बूद्वीपादि का विस्तार अढ़ाईद्वीप तक ही मनुष्यक्षेत्र, हिमवान पर्वत का आकार, भरतक्षेत्र का विस्तार, कर्मभूमि-भोगभूमि

गाथा/पृष्ठ	स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ	भेद/ प्रकार	विशेष विवरण
		अकृत्रिम चैत्यालय, स्वर्गपटल-63	के तिर्यञ्च-मनुष्यों की आयु, मध्यलोक के अकृत्रिम चैत्यालयों की संख्या, ईषत्प्राग्भार आठवीं भूमि का विस्तार आदि वर्णन, सिद्धों का आवास, कार्य-कारण समयसार का श्रद्धान कर उसे उपादेय समझ, उसमें रति का उपदेश।
41 [416-422]	इन्द्रक-श्रेणीबद्ध प्रकीर्णक विमान	स्वर्ग-16, ग्रैवैयक-9, अनुदिश-9, अनुत्तर-5 इन्द्र-12, स्वर्गपटल-63, इन्द्रक कल्पवासी अकृत्रिम जिनालय -8497023	सुमेरुपर्वत की चूलिका से स्वर्गपटलों की ऊँचाई, चूलिका मेरु का विस्तार, प्रत्येक स्वर्ग का विस्तार, सिद्धशिला का विस्तार, सोलह स्वर्गों में पटलों की संख्या/नाम, अकृत्रिम स्वर्ग में जिनालयों की संख्या, देवगति में बाधासहित ही सुख है, जबकि मोक्ष में बाधारहित, उसे पाने में ही यत्न करो,
42 [423-440]	अशुभभाव, अशुभोपयोग, शुभभाव, शुभोपयोगी, शुभोपयोग, शुभोपयोगयुक्त चर्या, शुभोपयोगी साधु, शुद्धोपयोग, शुद्धोपयोगी मुनि	अशुभोपयोग के कारण-5, अप्रशस्तध्यान-2 अशुभलेश्या-3, संज्ञा-4, ध्यान की हेतु सामग्री-5	नरकगति व तिर्यञ्चगति के आस्रव के हेतु, अशुभोपयोग में चारित्र का अल्पमात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता, से नरक-तिर्यञ्चगति की प्राप्ति, शुभोपयोग से मनुष्य-देवगति की प्राप्ति, चार प्रकार का दानादि कार्य शुभोपयोग ही है, लौकिकजनों से वार्तालाप मुनि का

गाथा/पृष्ठ	स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ	भेद/ प्रकार	विशेष विवरण
			निन्दित नहीं, शुभोपयोग से पुण्यास्रव तथा पाप का संवर और परम्परा से निर्जरापूर्वक मोक्ष मिलता है, निर्जरा के उपाय, शुभोपयोग का स्वामी कौन? विस्तार, गुणस्थान, शुभयोग शुभ उपयोग में अंतर, शुद्धोपयोग में गुणस्थान, शुद्धोपयोग से सभी को मोक्ष क्यों नहीं, गृहस्थों के निर्विकल्प ध्यान का निषेध, हेतु, उपसंहार,

अशुचित्वानुप्रेक्षा

(सप्तमाधिकार, गाथा 43-46, पृ. 441-470)

43 [442-447]		हड्डियाँ-300, मांसपेशियाँ-500, त्वचा-7, स्नायु-900, सिराएँ-700, शिराजाल-4, महाशिराएँ-16, मांसरज्जू-2, मांसखण्ड-7, रोम-अस्सी लाख करोड़, मलस्थान-7, थूणाएँ-3, मर्मस्थान-107, धातु-उपधातु-7-7,	पातनिका, औदारिक शरीर की धातु-उपधातु प्रमाण, प्रक्रिया, शरीर की अपवित्रता का वर्णन, शरीर ही संसार-दु:ख का मूलकारण है, अत: उससे विरक्ति भाव करे, ताकि अशरीरी अवस्था की प्राप्ति हो,

गाथा/पृष्ठ	स्वरूप/ लक्षण/ व्युत्पत्ति/ अर्थ	भेद/ प्रकार	विशेष विवरण
44 [448-452]	कलि मूर्त,		तीर्थंकरों के जन्मातिशयों के नाम, नवमलद्वार, शंका-यदि शरीर अचेतन ही है तो उसके घात में हिंसा का पाप कैसे? जीव, व्यवहारनय से मूर्त है, शरीर के दुर्गन्धमय आदि स्वभाव के चिन्तन से लाभ
45 [453-455]			रसादि धातु निर्माण की प्रक्रिया, समय, मूत्र, पीव, कृमि की बहुलता, अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनय से देह-जीव का तथा शुद्धनिश्चयनय से देह जीव का स्वरूप नहीं है।
46 [456-470]	शरीर, औदारिक शरीर, गर्भ, सम्मूर्च्छनज, सम्मूर्छन, विक्रियिक शरीर, एकत्व-पृथक्त्व विक्रिया, आहारक शरीर, तैजसशरीर, अनिस्सरणात्मक-निस्सरणात्मक शरीर, कार्मण शरीर, कार्मण	शरीर-5, विक्रिया-2, तैजसशरीर-2, निस्सरणात्मक-तैजसशरीर-2	गर्भस्थ जीव की वृद्धि-प्रक्रिया क्रम, तिर्यञ्चों में गर्भकाल का समय, सम्मूर्च्छन जीवों का वर्णन, कहाँ कैसी विक्रियाँ होती है- इसका वर्णन, शंका-तिर्यञ्चों-मनुष्यों में वैक्रियिक काययोग का स्वामित्व क्यों नहीं कहा?, आहारकशरीर की उत्पत्ति के 3 कारण, तथा विशेष वर्णन, तैजसशरीर संबंधी खुलासा, शरीरों में सूक्ष्मता तथा प्रदेशों का प्रमाण, 5 शरीरों से रहित ही अशरीरी सिद्ध होता है। अशुचित्व भावना भाने का फल, उपसंहार।

ooo

'बारस अणुवेक्खा' की गाथाओं के पाठान्तर-भेद

बारस अणुवेक्खा के कई संस्करण प्राप्त हैं। कुछ स्थलों पर पाठभेद भी दृष्टिगोचर होते हैं। विशेष रूप से जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर द्वारा श्री आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी महोत्सव के उपलक्ष में ई. 1989 में (वी.सं. 2515) प्रकाशित तथा श्री पं. नरेन्द्र कुमार भिसीकर शास्त्री द्वारा अनुवादित संस्करण की अपेक्षा जो पाठ-भेद प्राप्त हैं, उन्हें यहाँ उल्लिखित किया जा रहा है-

गाथा क्रमांक	पृष्ठ संख्या	सर्वोदया टीका	सोलापुर संस्करण
1.	13	(i) णमिदूण	(i) णमिऊण
		(ii) दो य जिणे	(ii) दो व जिणे
2.	24	(i) अद्धुवमसरणमेयत्त	(i) अद्धुवमसरणमेगत्त
		(ii) चिंतेज्जा	(ii) चिंतेज्जो
3.	46	(i) जाण	(i) याण
		(ii) भिच्च य	(ii) भिच्च
		(iii) संबंधिणो	(iii) संबंधीणो व
		(iv) पिदिवयाणिच्चा	(iv) पिदि वियाणिच्चा
5.	60	(i) घन	(i) घण
7.	74	(i) विहवेहिं	(i) विभवेहिं
9.	85	(i) अइराविदो	(i) अइरावणो

गाथा क्रमांक	पृष्ठ संख्या	सर्वोदया टीका	सोलापुर संस्करण
10.	91	(i) चउदस	(i) चउदह
		(ii) पेच्छंते	(ii) पेच्छंतो
		(iii) कहिए	(iii) कह्ये
		(iv) काले	(iv) कालो
11.	97	(i) जादि	(i) जाइ
		(ii) जर	(ii) जरा
		(iii) रोग	(iii) रुजा
12.	109	(i) सिद्धाइरिया	(i) सिद्धाऽऽइरिया
		(ii) उवज्झाय	(ii) उवझाया
		(iii) परमेट्ठी	(iii) परमेट्टी
16.	158	(i) मणुय	(i) मणुव
17.	170	(i) भणिदं	(i) भणियं
		(ii) सम्मादिट्ठी	(ii) सम्मादिट्ठी
18.	170	(i) णिद्दिट्ठो	(i) णिद्दिट्टो
		(ii) जिणसमए	(ii) जिणसमये
		(iii) सम्मत्त रयणरहिदो	(iii) सम्मत्त रयण रहिओ
		(iv) अपत्तमिदि	(iv) णपत्तमिदि
20.	189	(i) सुद्धेयत्तमुपादेयं, एवं	(i) सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं
		(ii) चिन्तेज्ज	(ii) चिंतेह

गाथा क्रमांक	पृष्ठ संख्या	सर्वोदया टीका	सोलापुर संस्करण
21.	200	(i) मादापिदा	(i) मादा पिदर
22.	207	(i) वुड्ढं	(i) बुड्ढं
23.	211	(i) जं होज्ज	(i) होज्ज
24.	221	(i) जादि	(i) जाइ
25.	227	(i) भुत्तुज्झिदा	(i) भुत्तुज्झिया
		(ii) परिवट्ट	(ii) परियट्ट
26.	231	(i) ओगाहणेण	(i) उग्गाहणेण
28.	250	(i) उपरित्तणा	(i) उवरिल्लिया
30.	266	(i) पावबुद्धीए	(i) पापबुद्धीए
31.	272	(i) तिव्वकंखाए	(i) तिव्वं कंरवाए
		(ii) चइदूण	(ii) चइऊण
32.	279	(i) मिच्छोदएण	(i) मिच्छोदयेण
		(ii) जेण्हभासिदं	(ii) जोण्हभासियं
		(iii) कुड्डियधम्मकुलिंगं	(iii) कुधम्म-कुलिंग-कुतित्थं
33.	286	(i) हंतूण	(i) हंसूण
		(ii) सेविदूण	(ii) सेविऊण
		(iii) गहिदूण	(iii) गहिऊण

गाथा क्रमांक	पृष्ठ संख्या	सर्वोदया टीका	सोलापुर संस्करण
34.	295	(i) कुणदि	(i) कुणइ
		(ii) अहण्णिसं	(ii) च अहणिसं
		(iii) सहिदो	(iii) सहिओ
		(iv) परिपडदि	(iv) परिंपडदि
35.	329	(i) वियलिंदिएसु	(i) वियलिंदियेसु
		(ii) मणुवे	(ii) मणुये
37.	360	(i) णिच्चयणयेण	(i) णिच्चयणय
		(ii) कम्मणिम्मुक्को	(ii) कम्म विम्मुक्को
38.	376	(i) विचिंतिज्जो	(i) विचिंत्तिज्जो (नीचे की लाईन)
39.	390	(i) पयत्थाणं	(i) पदत्थाणं
		(ii) णिरूच्चदे	(ii) णिरुच्चए
		(iii) हवेदि	(iii) हवेइ
		(iv) अह-मज्झिम	(iv) अध-मज्झिम
40.	399	(i) तिसट्ठी भेदो	(i) तिसट्ठिभेओ
		(ii) ऐसो	(ii) एत्तो
41.	416	(i) तेसट्ठी	(i) तेसट्टी
42.	423	(i) नरसोक्खं	(i) णर-सोक्खं
		(ii) लहदि	(ii) लहइ
		(iii) लोगं विचिंतिज्जा	(iii) लोयं विचितिज्जो

पूर्वार्द्ध

बारस अणुवेक्खा

सर्वोदया टीका

सम्पादन एवं अनुवाद

प्रो. दामोदर शास्त्री

भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली - 110 003

संस्थापक : स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन, स्व. श्रीमती रमा जैन

परम पूज्य सर्वोदय, रत्नत्रय वार्धिनी एवं श्रमण प्रबोधिनी संस्कृत टीका कर्ता

गणाचार्य श्री 108 डॉ. विरागसागर जी महाराज

पूरा नाम— श्री अरविन्द जैन (टिन्नु)

पिता का नाम—श्री कपूरचन्द जी जैन (संघस्थ क्षु. विश्ववैद्यसागर जी)

माता का नाम— श्रीमती श्यामादेवी जैन (समाधिस्थ श्रमणी आर्यिका विशान्त श्री माताजी)

जन्म—02-05-1963 गुरुवार, पथरिया (म.प्र.) (वैशाख सुदी 09 वि. सं. 2020)

बहन— श्रीमती मीना जैन और श्रीमती विमला जैन,

भाई— श्री विजय कुमार, श्री सुरेन्द्र कुमार और बा. ब्र. श्री नरेन्द्र कुमार जैन।

लौकिक शिक्षा—इंटर म.प्र. पथरिया, श्री शान्ति निकेतन दि. जैन संस्कृत विद्यालय, कटनी (म.प्र.)

क्षुल्लक दीक्षा—20-02-1980, बुढ़ार, शहडोल (म.प्र.)

नामकरण— पूज्य क्षुल्लक श्री 108 पूर्णसागर जी

क्षुल्लक दीक्षा गुरु— प. पू. तपस्वी सम्राट आचार्य री 108 सन्मति सागर जी

मुनि दीक्षा—09-11-1983, औरंगाबाद, महा.

दीक्षा गुरु—प. पू. वात्सल्य रत्नाकर आचार्य श्री 108 विमल सागर जी

आचार्य पद—08-11-1992, द्रोणागिरि म.प्र. (कार्तिक शु. 13 वि. सं. 2049)

संयमी सृजन—आज तक आचार्य-08, मुनि-66, गणिनी-4, आर्यिका-64, ऐलक-05, क्षुल्लक-32, क्षुल्लिका-23, कुल-202, प्रशिष्य-100 से अधिक

सल्लेखनाएँ—82 तथा अनेकों तिर्यंक प्राणी।

पूर्वार्द्ध

सर्वोदया टीका

सम्पादन एवं अनुवाद

प्रो. दामोदर शास्त्री

भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली - 110 003

संस्थापक : स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन, स्व. श्रीमती रमा जैन